7.5

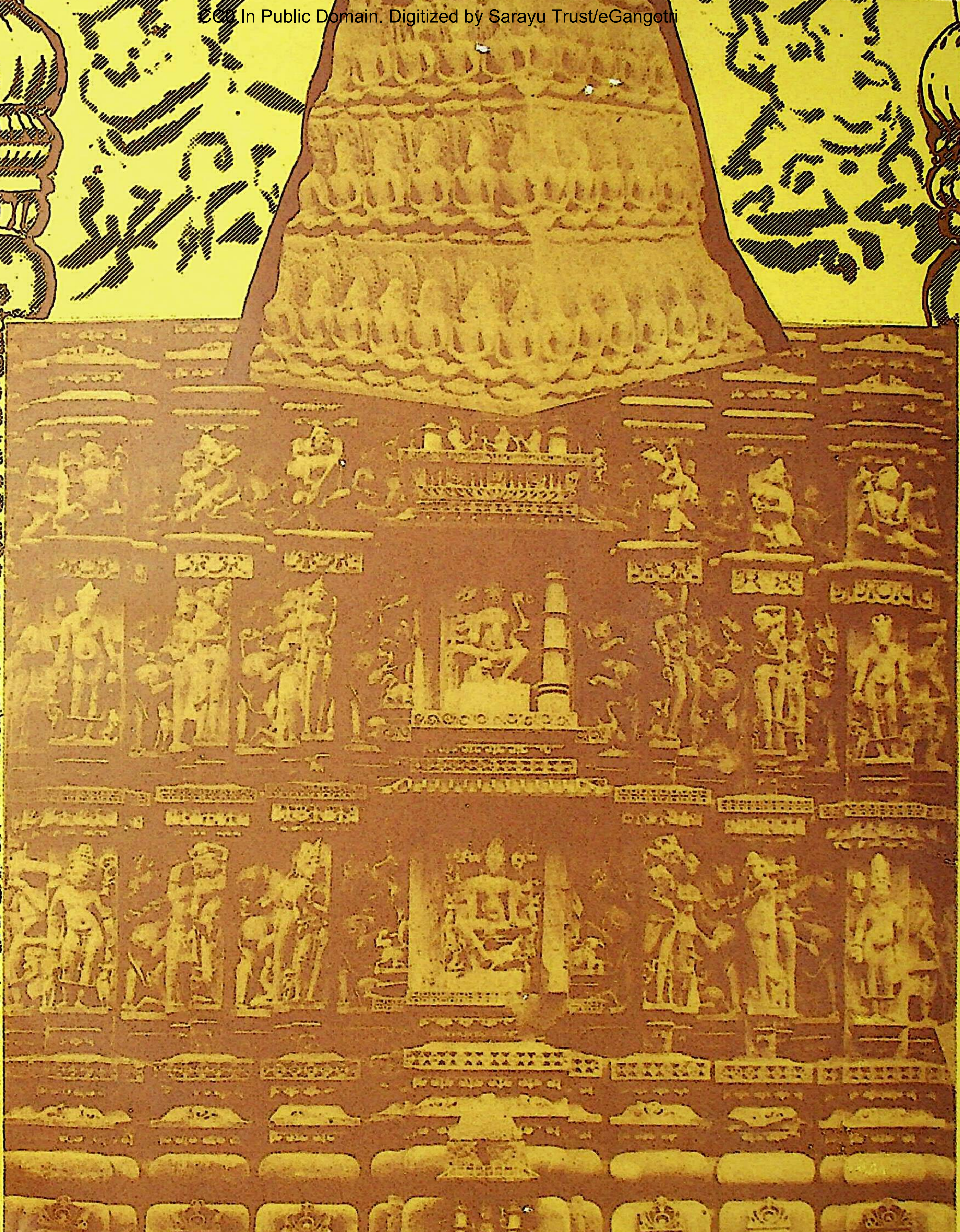

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० २११३....
दिनांक. १० [illegible]
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-५

हि० ११५५

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।

इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवरनिलयानां भावतोहं स्मरामि ।।

जैन कला
एवं
स्थापत्य

खण्ड 1

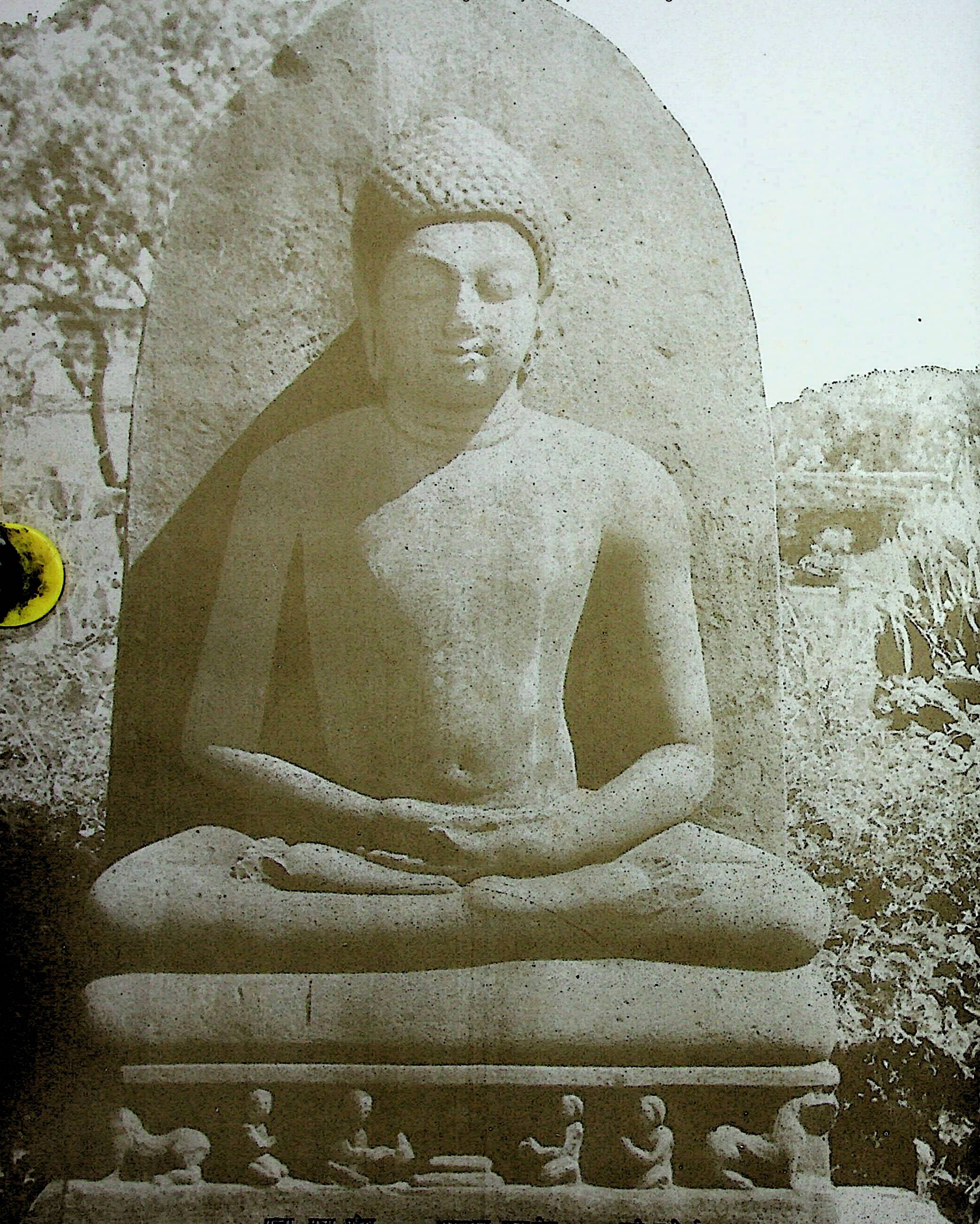

पन्ना, मध्य प्रदेश   भगवान महावीर   छठी शती ई०

जैन कला
एवं
स्थापत्य

भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण
महोत्सव के पावन अवसर पर प्रकाशित

मूल-संपादक

अमलानंद घोष

भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण

तीन खण्डों में प्रकाशित

खण्ड 1

भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली

मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित

हिन्दी संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन

©
१९७५
भारतीय ज्ञानपीठ

तीन खण्डों का मूल्य
रु० ५५०

प्रकाशक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७ कनॉट प्लेस
नई दिल्ली-११०००१.

मुद्रक : ओमप्रकाश, संचालक, कैक्सटन प्रेस, प्रा० लि०, 2-ई रानी झाँसी रोड,
नई दिल्ली-११००५५.

प्राक्कथन

जैन-विद्या को अब भारतीय-विद्या का एक महत्त्वपूर्ण और संग्रथित-अंग माना जाने लगा है। यह उचित ही है, क्योंकि 'जैन-विद्या' कहने पर हमारे मन में एक ऐसी विशिष्ट सांस्कृतिक धारा का चित्र सजीव हो जाता है जिसने भारतीय दर्शन, साहित्य और कला के साथ-साथ एक ऐसी जीवन-पद्धति को अत्यंत समृद्ध बनाया है जिसमें श्रावकों और साधुओं के लिए सामाजिक दायित्वों के निर्वाह और आध्यात्मिक उन्नति के हेतु सुचिंतित ढंग से प्रगति के सोपानों की रचना की गयी है और जिसके पीछे एक सुदृढ़ परंपरा का निर्माण हुआ है। भारतीय विद्याओं में रुचि रखनेवाले विद्वानों ने अब उन भ्रांत धारणाओं का परित्याग कर दिया है जिनके अंतर्गत यह माना जाता था कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा है, या तीर्थंकर महावीर जैन धर्म के आदि संस्थापक हैं।

इतिहास के अध्ययन के आधार पर अब तो विद्वान् निश्चित रूप से यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व हुए थे, और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के इतिहास का काल महाभारत और गीता के उन विख्यात कृष्ण के साथ जुड़ा हुआ है जो परस्पर चचेरे भाई थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ या वृषभ थे जिनका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार आया है और प्रस्तुत कला-ग्रंथ के अनेक लेखों में विद्वानों ने जिनका संदर्भ दिया है।

यही स्थिति भारतीय दर्शन के क्षेत्र में है। जैन धर्म को 'नास्तिक' धर्म की संज्ञा अब कोई इस आधार पर नहीं देता कि यह धर्म इस सृष्टि को किसी ईश्वर द्वारा रची गयी नहीं मानता। जैन धर्म आत्मा की अनादि सत्ता में विश्वास करता है और साथ ही पाँच अन्य द्रव्यों की सत्ता में। वे अन्य पाँच द्रव्य हैं – पुद्गल (जड़ तत्त्व जिसमें ऊर्जा भी सम्मिलित है), धर्म (गति का माध्यम), अधर्म (स्थिति का माध्यम), आकाश (जो सारे विश्व को अवगाह देता है) और काल (समय)। यह धर्म मानता है कि प्रत्येक आत्मा में क्षमता है कि वह निर्वाण प्राप्त करे, अर्थात् परमात्म-पद पाये। भारतीय दर्शन को इस धर्म ने अनेकांत के महान् सिद्धांत का अवदान दिया जिस सिद्धांत में दार्शनिक वाद-विवादों के समाधान की क्षमता है और जो जैन धर्म के एक अन्य आधारभूत सिद्धांत 'अहिंसा' (मन-वचन-काय से किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाना) से संबद्ध किये जाने पर सामाजिक विषमताओं का निराकरण करता है।

जैन धर्म की अमूल्य प्रेरणा के फलस्वरूप भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि हुई – धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में, और धर्मनिरपेक्ष साहित्य के क्षेत्र में भी। यह साहित्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

भाषाओं के अनेक रूप-माध्यमों में रचा गया। कन्नड़ और तमिल-जैसी भाषाओं के आधुनिक रूप-विकास में इन भाषाओं के प्राचीन जैन आचार्यों के कृतित्व का योगदान है, यह बात सभी भाषाविद् स्वीकार करते हैं। साहित्यिक विधाओं का कोई रूप – काव्य, नाटक, कथा तथा टीका-व्याख्या – ऐसा नहीं जिसे जैन ग्रंथकारों ने अपनी प्रतिभा से अलंकृत न किया हो, वे चाहे जिस भी धर्म के उपासकों के परिवार में जनमे हों।

अध्येताओं, इतिहासज्ञों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस युग में जैनविद्या के एक अत्यंत परिपूर्ण आयाम का उद्घाटन किया है। वे यह देखकर चकित हैं कि जैन-कला का एक क्रमबद्ध इतिहास है; इसे छुट-पुट रूप में देखना अपनी दृष्टि को सीमित कर लेना है। जैन कला भारतीय कला-इतिहास का अभिन्न अंग है, और इस कला ने प्रत्येक युग की कला को प्रभावित किया है तथा स्वयं भी उसके प्रभाव को ग्रहण किया है। इस जैन कला का मूर्तरूप क्या है इसे प्रत्यक्ष देखने के लिए सारे देश के विभिन्न अंचलों की श्रमसाध्य यात्रा करनी पड़ती है। इसका रूप क्या है, इसे समझने और इसका विधिवत् अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले विद्वानों की और इस विषय में रुचि रखनेवाले सामान्य पाठक की भी पहली आवश्यकता यह है कि उसे सार रूप में इस सब कला-निधि का परिचय पढ़ने को मिल जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही 'जैन कला और स्थापत्य' शीर्षक इस ग्रंथ की रचना तीन खण्डों में की गयी है (आशा के अनुरूप यह 'अद्भुत' प्रमाणित हो !)। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन कला और स्थापत्य के विधिवत् अध्ययन में सहायक होने के उद्देश्य से भारतीय ज्ञानपीठ ने इस प्रकार की कलाकृतियों के लगभग दस हज़ार से अधिक छायांकन (फोटो) देश-विदेश के अनेक स्रोतों से संगृहीत कर लिये हैं और यह संग्रह दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा है। हम श्री मधुसूदन नरहर देशपाण्डे, भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग के महानिदेशक, के आभारी हैं कि उन्होंने हमें इस कार्य में तथा हमारी अन्य गति-विधियों में सहायता दी, हमारा मार्ग-दर्शन किया।

इस ग्रंथ के मूल प्रेरणा-स्रोत भारत के औद्योगिक विकास के नेता, और भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक, श्री साहू शांतिप्रसाद जैन हैं। श्री साहूजी की बलवती इच्छा थी कि भगवान् महावीर की पच्चीसवीं शती के पुण्य अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ अपनी प्रकाशन-योजनाओं में इस ग्रंथ को प्राथमिकता दे। भारतीय ज्ञानपीठ का नाम देश-विदेश के विद्वानों में एक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थान के रूप में सुपरिचित है। भारतीय विद्या के विद्वान् ज्ञानपीठ के शोध-प्रकाशनों से प्रभावित हैं। भारतीय समसामायिक साहित्य की प्रगति के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने नयी पीढ़ी के प्रतिभा-संपन्न लेखकों की कृतियों का प्रकाशन किया है तथा यह संस्था प्रतिवर्ष भारतीय साहित्य की सर्जनात्मक कृतियों में से सर्वश्रेष्ठ का वरण कर उसे पुरस्कृत करती है। ज्ञानपीठ-पुरस्कार भारत का सर्वोच्च साहित्य-पुरस्कार माना जाता है।

इस ग्रंथ की रूप-रेखा के निर्धारण में प्रारंभ में कुछ कठिनाई रही। पहले इसका एक विस्तृत रूप सोचा गया और अपेक्षा की गयी कि जैन पुरातत्त्व के जानकार विद्वानों का संपादक-मंडल उस

रूप-रेखा को क्रियान्वित करने में सहायक होगा। ऐसे विद्वान् बहुत ही गिने-चुने हैं और वे सब अनेक प्रकार के दायित्वों से पूर्व-बद्ध हैं। अंत में हमारा सुखद निर्णय यह रहा कि हम कठिनाई के उत्ताप का समाधान श्री अमलानंद घोष जैसे वट-वृक्ष की छाया में प्राप्त करें। श्री घोष, भारत सरकार के पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग के महानिदेशक के पद से सेवा-निवृत्त हो चुके हैं। उन्होंने हमारे अनुरोध को माना और ग्रंथ के संपादन का दायित्व स्वीकार किया। ग्रंथ की योजना को भली-भाँति देख-समझ कर श्री घोष ने परामर्श दिया कि चूँकि यह ग्रंथ अपने ढंग का पहला प्रयास है और भगवान् महावीर के निर्वाण-महोत्सव पर अवश्य प्रकाशित कर देना है, अतः योजना को अत्यधिक विस्तृत न बनाकर, इसे सारभूत और संक्षिप्त बनाना अधिक उचित और उपयोगी होगा। संक्षिप्त बनाते-बनाते भी यह रूप इतना बड़ा हो गया कि दो खण्डों की कल्पना करनी पड़ी और अब तो वह तीन खण्डों में क्रियान्वित हो रही है। योजना बना लेना एक बात थी, किन्तु उसे पूरा करने के दायित्व को सँभालना दूसरी बात है। ग्रंथ के लेखकों को योजना भेजी गयी और उन्हें अपनी ओर से पर्याप्त समय भी दिया गया, किन्तु समय की सीमा ने उनका साथ नहीं दिया। मात्र सोच लेने से कि लेख लिखना है, कलम नहीं चल पड़ती। इस पुस्तक के लेखक प्रायः सभी अपने-अपने दैनिक दायित्वों से बँधे हैं, उनके पास समय का अभाव है। विषय की जानकारी होते हुए भी, सामग्री को सुचिंतित ढंग से व्यवस्थित करना होता है, लिखते हुए अनेकानेक संदर्भ खोजने पड़ते हैं, और लेख के लिए उपयुक्त चित्रों को छाँटना-जुटाना तो कार्य को नितांत दुःसाध्य बना देता है। लेखकों की कठिनाई ने हमारी कठिनाइयों को कई गुना बढ़ा दिया।

क्या पाठक कल्पना कर सकते हैं कि योजना को क्रियान्वित करने के लिए हमें लेखकों को, संग्रहालयों को, फोटोग्राफरों और कलाकारों को देश-विदेश में बार-बार कितने पत्र, स्मरण-पत्र और तार आदि देने पड़े? यह संख्या है ४८९१! स्मरण-पत्र पानेवालों की झुँझलाहट का अनुमान लगाया जा सकता है। भेजनेवालों का तो, खैर, कर्त्तव्य ही है, वह। यदि ये पत्र कहीं दुर्विनीत लगे हों, तो हम क्षमा-प्रार्थी हैं। यह सब लिखने का उद्देश्य केवल इतना है कि विद्वान्-पाठकों को यदि इस ग्रंथ में कहीं कोई त्रुटि या अधूरापन दिखे तो, हमारी अशक्यता समझें और हमें संशोधन-संबंधी सुझाव दें ताकि अगला संस्करण अधिक समुचित बनाया जा सके। दूसरा उद्देश्य यह है कि कला-ग्रंथों की योजना बनानेवाले धीरज से काम लें। यह ग्रंथ तो एक मार्ग-दर्शक है। भविष्य में इस प्रकार के अनेक ग्रंथ प्रकाशित होंगे तब जैन कला का पूरा स्वरूप प्रत्यक्ष हो पायेगा।

भगवान् महावीर की पुण्य निर्वाण शती के अवसर पर यह ग्रंथ प्रकाशित हो सका, यह भारतीय ज्ञानपीठ के लिए सौभाग्य की बात है। भारतीय ज्ञानपीठ श्री अमलानंद घोष के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है कि उन्होंने इस ग्रंथ के संपादन का दायित्व लिया; और इसी अवधि में एक वर्ष के इण्डोनेशिया के प्रवास से लौटने के उपरांत इस दायित्व का पुनर्ग्रहण किया। वह जब प्रवास पर गये तो स्पष्ट कह गये थे कि हम अन्य प्रबंध कर लें। हमने अपना काम जारी रखा, और उनके लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। यह बहुत ठीक हुआ, कि सारे सूत्र ज्यों-के-त्यों जुड़ गये। श्री घोष के

साथ काम करने का मेरा अनुभव बहुत सुखद रहा है। इस दायित्व को उन्होंने जिस अध्यवसाय और निष्ठा से निभाया है, वह प्रेरणाप्रद है। कला और स्थापत्य के क्षेत्र में श्री घोष एक आदर्श संपादक माने जाते हैं। उनकी सहयोगी तत्परता के कारण इस ग्रंथ का मूल अंग्रेजी का प्रथम खण्ड निर्वाण-महोत्सव वर्ष के शुभारंभ के अवसर पर प्रकाशित हो सका, जिसका विधिवत् विमोचन १७ नवम्बर, १९७४ की विशाल जनसभा में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के हाथों हुआ। श्री घोष की विद्वत्ता, संस्कृत भाषा और साहित्य की व्यंजनाओं की उनकी सूक्ष्मदृष्टि और, सर्वोपरि, कला-प्रकाशनों के विस्तृत तकनीकी अनुभव ने इस प्रकाशन को सुंदर और निर्दोष बनाने की दिशा में योगदान दिया है, यद्यपि श्री घोष स्वयं भी जानते हैं कि इस संबंध में समय रहते और भी क्या—कुछ हो सकता था।

भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन से इस योजना के क्रियान्वयन में हमें सहज सहायता और मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है। प्रत्येक कठिनाई के निराकरण की उनकी तत्परता और मान-दण्डों की रक्षा का उनका आग्रह हमारी पूँजी है।

मूर्तिदेवी ग्रंथमाला की स्थापना के समय से ही इसके संपादक और अब ज्ञानपीठ के ट्रस्टी भी, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने मूलपाठों के स्पष्टीकरण आदि में जो सहायता दी है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

जैन इतिहास, कला और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ, ने प्रारंभ के अनेक अध्यायों का अध्ययन करके अपनी टिप्पणियाँ दीं, जिनका यथासंभव उपयोग हमने किया है। वे धन्यवाद के अधिकारी हैं।

मूल अंग्रेजी ग्रंथ के लिए जिन विद्वानों ने लेख भेजे, उनके प्रति हमारा आभार! पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग के मित्रों ने अपने सहयोग द्वारा हमें उपकृत किया है।

यह ग्रंथ जो आपके हाथ में है, वास्तव में मूल अंग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद है। अनुवाद सदा ही कठिन होता है, विशेषकर कला-विषयक ग्रंथ का जिसमें वाक्यों की गठन को सुलझाना, तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्यायों को खोजना, उनके अर्थ के प्रति आश्वस्त होना, भाषा को बोधगम्य बनाते हुए भी मूल के वाक्य-विन्यास और ध्वनि की सूक्ष्मता को सुरक्षित रखना आदि दुष्कर तत्त्वों को ध्यान में रखना पड़ता है। इस ग्रंथ के अनुवाद की दिशा में कितने व्यक्तियों के साथ सम्पर्क किया गया, कितने प्रयोग किये गये और अंततोगत्वा किस प्रकार संशोधन की प्रक्रिया में प्रायः पूरे-पूरे अनुवाद के रूप को बदल देना पड़ा है, इसका अनुमान भुक्त-भोगी ही लगा सकते हैं। फिर भी संतोष कहाँ होता है? कला जैसा गूढ़ विषय और कलाकार द्वारा निरूपित कलाकृति की सूक्ष्म विशेषताओं को वाणी देनेवाली अंग्रेजी शब्दावली ने अनुवाद की प्रक्रिया को समय की सीमा की दृष्टि से और भी दुःसाध्य बना दिया। रातदिन के श्रम, यत्किंचित् ज्ञान और संस्कार के अवदान के कारण ही यह

संभव हो पाया कि निर्वाण महोत्सव वर्ष की पुण्यदायिनी महावीर जयन्ती पर यह ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हो गया। भिन्न-भिन्न अध्यायों का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अनुवाद किया है, अतः संशोधन के समय यथासंभव एकरूपता लाने का प्रयास किया गया है। इस ग्रंथ की पाद-टिप्पणियों का प्रस्तुतीकरण भारतीय मानक संस्था द्वारा निर्धारित नियमों (मानक संख्या IS : 2381—1963) के अनुसार किया गया है जो पुस्तकालय-विज्ञान की कुछ गिनी-चुनी पुस्तकों को छोड़कर भारतीय प्रकाशन-जगत में प्रथम प्रयास है।

अनुवादकों में श्री राजमल जैन, श्री गोपीलाल अमर और डॉ० जगदीश चन्द्रिकेश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवाद-कार्य में जिनका सहयोग आंशिक रूप से प्राप्त हुआ है, वे हैं––श्री रमेशचन्द्र शर्मा, श्री हीरा प्रसाद त्रिपाठी, श्री राधाकान्त भारती, और श्रीमती शोभिता जैन।

भारतीय ज्ञानपीठ के सहयोगियों में श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने कलाग्रंथ के अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन में तो सहयोग दिया ही, हिन्दी अनुवाद का मूल से मिलान और संशोधन की प्रक्रिया में भी हाथ बंटाया। उन्होंने ग्रंथ की अनुक्रमणिका तैयार की है जो ग्रंथ के तीसरे खंड में जा रही है। उनकी कार्यक्षमता, गतिशीलता और निष्ठा सराहनीय हैं। प्रूफ-संशोधन का अत्यंत कठिन काम ज्ञानपीठ के प्रकाशन-सहयोगी श्री भोलानाथ विम्ब ने किया। अत्यल्प समय में प्रेस-कापी और प्रूफों के परिमार्जन का काम ज्ञानपीठ के सहयोगियों के सहारे संभव हो पाया है। व्यक्तिशः और सामूहिक रूप से वे सब सराहना और धन्यवाद के पात्र हैं। श्री गोपीलाल अमर और डॉ० गुलाबचन्द्र जैन निर्वाण-महोत्सव की अन्य प्रकाशन-योजनाओं में सहयोगी रहे हैं।

ग्रंथ के मुद्रक, कैक्सटन प्रेस के संचालक श्री ओमप्रकाश का प्रयत्न सराहनीय है कि उन्होंने इतने कम समय में मुद्रण का इतना बड़ा दायित्व तत्परता के साथ निभाया। उन्हें तथा उनके सहयोगी संचालकों और प्रेस के कर्मचारी-वर्ग के प्रति हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य है।

यदि इस कला-ग्रंथ के तीनों खण्डों ने पाठकों को जैन कला के महत्त्व का दिग्दर्शन कराया, उनकी सांस्कृतिक रुचि में एक नया आयाम जोड़ा, और उन्हें सुख प्राप्त हुआ तो ज्ञानपीठ अपने इस प्रयास को सार्थक मानेगी। यों, भगवान् महावीर के पावन निर्वाण महोत्सव से श्रद्धांजलि के रूप में संबद्ध हो जाना, इस प्रकाशन के लिए कम सौभाग्य की बात नहीं।

नई दिल्ली
महावीर जयन्ती, १९७५

लक्ष्मीचन्द्र जैन
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

विषय-सूची

पृष्ठ

प्राक्कथन ... ... (७)

चित्र-सूची ... ... (१६)

भाग 1

प्रास्ताविक

अध्याय 1 संपादक का अभिमत 3
अमलानंद घोष

अध्याय 2 पृष्ठभूमि और परंपरा 15
मधुसूदन नरहर देशपाण्डे, महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण,
नई दिल्ली

अध्याय 3 जैन धर्म का प्रसार 23
प्रो० शांताराम भालचंद्र देव, अध्यक्ष, भारतीय आद्येतिहास,
प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व विभाग, दक्कन कॉलेज, पूना

अध्याय 4 जैन कला का उद्गम और उसकी आत्मा 37
डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

अध्याय 5 जैन कला की आचारिक पृष्ठभूमि 43
डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनविद्या
स्नातकोत्तर अध्ययन तथा शोध विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर

भाग 2

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 ई० पू० से 300 ई०

अध्याय 6 मथुरा 51
श्रीमती देबला मित्रा, निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण,
नई दिल्ली

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय 7 पूर्व भारत 72
श्रीमती देबला मित्रा

अध्याय 8 पश्चिम भारत 88
डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह, उप-निदेशक, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा

अध्याय 9 दक्षिण भारत 96
डॉ० रं० चम्पकलक्ष्मी, असोशियेट प्रोफेसर, ऐतिहासिक अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भाग 3

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 से 600 ई०

अध्याय 10 मथुरा 111
डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

अध्याय 11 पूर्व भारत 122
डॉ० रमानाथ मिश्र, विजिटिंग फेलो, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला

अध्याय 12 मध्य भारत 133
डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह

अध्याय 13 पश्चिम भारत 139
डा० उमाकांत प्रेमानंद शाह

भाग 4

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

600 से 1000 ई०

अध्याय 14 उत्तर भारत 149
कृष्णदेव, भूतपूर्व निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली; तथा मुनीशचन्द्र जोशी, अधीक्षक पुरातत्त्व, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय 15 पूर्व भारत 159
डा० प्रियतोष बनर्जी, उप-निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

अध्याय 16 मध्य भारत 175
कृष्णदेव

अध्याय 17 पश्चिम भारत 187
कृष्णदेव

अध्याय 18 दक्षिणापथ 191
के.आर.श्रीनिवासन, भूतपूर्व अधीक्षक पुरातत्त्व, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, मद्रास

चित्र-सूची

छायाचित्रों या रेखाचित्रों के शीर्षकों के आगे कोष्ठकों में कॉपीराइट के धारक का नाम दिया गया है। संग्रहालयों में कुछ छायाचित्र भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा भेजे हुए हैं। ऐसी सभी स्थितियों में कॉपीराइट का अधिकार संबंधित संग्रहालय तथा भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण का है। छायाचित्र के लिए केवल चित्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस सूची में शब्दों के निम्नलिखित संक्षिप्त रूप प्रयुक्त किये गये हैं :

पु सं म=पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा

भा पु स=भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

रा सं ल=राज्य संग्रहालय, लखनऊ

छायाचित्र

अध्याय 6

1 मथुरा : आयाग-पट (पु सं म, क्यू-2) (भा पु स, सौजन्य पु सं म)

2 क मथुरा : स्तूप के प्रवेशद्वार का सरदल, (ए) पुरोभाग, (बी) पृष्ठभाग (रा सं ल, जे-535) (पु सं म)

ख मथुरा : खण्डित आयाग-पट (रा सं ल, जे-255) (भा पु स, सौजन्य पु सं म)

3 मथुरा : शिल्पांकित शिलापट्ट (रा सं ल, जे-250) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

4 मथुरा : वेदिका स्तंभ (रा सं ल, जे-283; बी, रा सं ल, जे-288; सी, रा सं ल, जे-282) (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)

5 मथुरा : वेदिका का कोण स्तंभ, चारों ओर का दृश्य (रा सं ल, जे-356) (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)

6 मथुरा : वेदिका सूचियाँ (तकिए) (ए, रा सं ल, जे-427; बी, रा सं ल, जे-422; सी, रा सं ल, जे-403; डी, रा सं ल, जे-365) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

7 मथुरा : वेदिका के उष्णीष (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)

8 मथुरा : वेदिका स्तंभ (ए, रा सं ल, जे-277; बी तथा सी, राष्ट्रीय संग्रहालय) डी, पृष्ठ दृश्य (भा पु स सौजन्य रा सं ल तथा राष्ट्रीय संग्रहालय)

9 क मथुरा : सोपान में प्रयुक्त एक वेदिका स्तंभ (पु सं म, 14.369) (पु सं म)

ख मथुरा : खण्डित सरदल (ए, रा सं ल, जे-544; बी, रा सं ल, जे-547) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

10 क मथुरा : प्रवेशद्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल जे-593 ए) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

ख प्रवेशद्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल, जे-593 बी) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

11 क मथुरा : सरदल का टोड़ा (रा सं ल, जे-594) (रा सं ल)

ख मथुरा : तोरण स्तंभ, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल, जे-532) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

12 मथुरा : खण्डित तोरण शीर्ष, पुरोभाग (राष्ट्रीय संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य राष्ट्रीय संग्रहालय)

13 मथुरा : खण्डित तोरण शीर्ष, पृष्ठ भाग (राष्ट्रीय संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य राष्ट्रीय संग्रहालय)

14 मथुरा : आयाग-पट (रा सं ल, जे-250) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

15 मथुरा : आयाग-पट (पु सं म, 47.49) (भा पु स, सौजन्य पु सं म)

16 मथुरा : आयाग-पट (रा सं ल, जे-248) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

17 मथुरा : तीर्थंकर-मूर्ति (रा सं ल, जे-15) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

18 मथुरा : सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, दो ओर का दृश्य (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

19 मथुरा : आर्यवती यक्षी (रा सं ल, जे-1) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

20 मथुरा : सरस्वती (रा सं ल, जे-24) भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

अध्याय 7

21 क लोहानीपुर : तीर्थंकर-मूर्ति का धड़ (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)

ख लोहानीपुर : तीर्थंकर-मूर्ति का धड़ (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)

22 क चौसा : तीर्थंकर कांस्य-मूर्ति (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)

ख चौसा : ऋषभनाथ, कांस्य-मूर्ति (भा पु स. सौजन्य पटना संग्रहालय)

ग चौसा : अशोक वृक्ष तथा धर्म-चक्र, कांस्य निर्मित (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)

23 उदयगिरि : गुफा सं० 9, बाहरी भाग (भा पु स)

24 उदयगिरि : गुफा सं० 9, निचला तल, उपास्य-निर्मिति, पूजा-दृश्य (भा पु स)

25 उदयगिरि : गुफा सं० 1, बाहरी भाग (भा पु स)

26 खण्डगिरि : गुफा सं० 3, बाहरी भाग (भा पु स)

27 खण्डगिरि : गुफा सं० 3, तोरण शीर्ष स्थित (कल्प) वृक्ष-पूजा (भा पु स)

28 खण्डगिरि : गुफा सं० 3, तोरण शीर्ष पर गज-लक्ष्मी (भा पु स)

29 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, मुख्य भाग, द्वितल भवन का शिल्पांकन (भा पु स)

30 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति, संगीतकारों से घिरी नर्तकी (भा पु स)

31 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियाँ (भा पु स)

32 क उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे को पिछलो भित्ति की शिल्पाकृतियाँ (भा पु स)

ख उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियाँ (भा पु स)

33 क उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियाँ (भा पु स)

ख उदयगिरि : गुफा सं० 10, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियाँ (भा पु स)

34 उदयगिरि : पर्वत शिखर पर अर्धवृत्ताकार मंदिर (भा पु स)

35 उदयगिरि : पार्श्व भित्ति से सधा हुआ ढलुवाँ मार्ग (भा पु स)

36 क उदयगिरि : यक्षी (भा पु स)

ख उदयगिरि : यक्षी, पृष्ठ भाग (भा पु स)

अध्याय 8

37 प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : पार्श्वनाथ, कांस्य मूर्ति (प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय)

38 जूनागढ़ : बाबा प्यारा की गुफा (भा पु स)

अध्याय 9

39 क मांगुलम : अभिलेख का एक अंश (भा पु स)

ख शित्तन्नवासल : जैन मुनियों की आवास-गुफा (भा पु स)

40 शित्तन्नवासल : अभिलेखांकित प्रस्तर-शय्या (भा पु स)

41 तेनिमलै : जैन मुनियों की आवास-गुफा, अलग पड़ी चट्टान पर उत्कीर्ण परवर्ती शिल्पांकन (भा पु स)

42 पुगलूर : जैन मुनियों की आवास-गुफा (भा पु स)

अध्याय 10

43 मथुरा : तीर्थंकर मूर्ति (रा सं ल, जे-104) (रा सं ल)

44 मथुरा : तीर्थंकर मूर्ति (रा सं ल, जे-118) (रा सं ल)

45 मथुरा : तीर्थंकर मूर्ति (रा सं ल, ओ-181) (रा सं ल)

46 मथुरा : तीर्थंकर ऋषभनाथ (पु सं म, बी-7) (पु सं म)

47 क मथुरा : तीर्थंकर नेमिनाथ (रा स ल, जे-121) (रा सं ल)
ख मथुरा : तीर्थंकर ऋषभनाथ (पु सं म, 12.268) (पु सं म)
48 मथुरा : तीर्थंकर मूर्ति का शीर्ष (पु सं म, बी-44) (पु सं म)
49 मथुरा : तीर्थंकर का शीर्ष (पु सं म, 33.2348) (पु सं म)
50 मथुरा : तीर्थंकर मूर्ति का शीर्ष (रा सं ल, जे-164) (रा सं ल)

अध्याय 11

51 क राजगिर : सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, बाहरी भाग (भा पु स)
ख राजगिर : सोनभण्डार, पूर्वी गुफा, दक्षिणी भित्ति पर तीर्थंकरों की उत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
52 राजगिर : सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, अन्तःभाग, फर्श पर चौमुखी, परवर्ती शिल्प (भा पु स)
53 राजगिर : वैभार पर्वत के मंदिर में तीर्थंकर नेमिनाथ (भा पु स)
54 क चौसा : तीर्थंकर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)
ख चौसा : तीर्थंकर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)
55 क चौसा : तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)
ख चौसा : तीर्थंकर पार्श्वनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)
56 चौसा : तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

अध्याय 12

57 क दुर्जनपुर : तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)
ख दुर्जनपुर : ऊपर वाली मूर्ति के पादपीठ पर अभिलेख (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)
58 दुर्जनपुर : तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)
59 दुर्जनपुर : तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)
60 क उदयगिरि : गुफा भित्ति पर उत्कीर्ण तीर्थंकर तथा उनके पार्श्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक पश्चात-कालीन प्रतिमा (उ. प्रे. शाह, चित्र राजकमल स्टूडियो, विदिशा)
ख ग्वालियर : शैलोत्कीर्ण तीर्थंकर मूर्तियाँ (पुरातत्त्व विभाग, मध्यप्रदेश)
61 विदिशा : तीर्थंकर मूर्ति (ग्वालियर संग्रहालय) (पुरातत्त्व विभाग, मध्य प्रदेश)
62 सीरा पहाड़ी : तीर्थंकर महावीर (भा पु स)
63 सीरा पहाड़ी : तीर्थंकर ऋषभनाथ (भा पु स)
64 सीरा पहाड़ी : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (भा पु स)

चित्र-सूची

अध्याय 13

65 क अकोटा : तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)

ख अकोटा : जीवन्त स्वामी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)

66 क अकोटा : ऋषभनाथ का शीर्ष, (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)

ख अकोटा : तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति का शीर्ष (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे शाह)

67 क वलभी : कांस्य तीर्थंकर मूर्तियाँ (प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय)

ग अकोटा : यक्ष और यक्षी के साथ तीर्थंकर ऋषभनाथ की कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे शाह)

68 अकोटा : जीवन्त स्वामी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)

अध्याय 14

69 घानेराव : महावीर मंदिर (भा पु स)

70 घानेराव : महावीर मंदिर, बहिर्भाग, (उठान) (भा पु स)

71 घानेराव : महावीर मंदिर, झरोखा (भा पु स)

72 घानेराव : महावीर मंदिर, वितान (भा पु स)

73 ओसिया : महावीर मंदिर, गर्भगृह का द्वार (भा पु स)

74 ओसिया : महावीर मंदिर (भा पु स)

75 ओसिया : महावीर मंदिर, झरोखा (भा पु स)

76 नीलकण्ठ : तीर्थंकर मूर्ति (भा पु स)

77 क नीलकण्ठ : तीर्थंकर मूर्ति (भा पु स)

ख नीलकण्ठ : तीर्थंकर मूर्ति (भा पु स)

78 मथुरा संग्रहालय : चक्रेश्वरी यक्षी (पु सं म)

79 मथुरा संग्रहालय : अम्बिका यक्षी (पु सं म)

80 क लखनऊ संग्रहालय : तीर्थंकर सुविधिनाथ (रा सं ल)

ख लखनऊ संग्रहालय : तोरण शीर्ष का एक भाग (रा सं ल)

अध्याय 15

81 क सुरोहोर : तीर्थंकर ऋषभनाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)

ख नालगोड़ा : अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)

82 क सात देउलिया : अष्टापद-तीर्थ (स्टेट आर्क्यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)
ख सात देउलिया : मंदिर (शैलेन्द्रनाथ सामंत)
83 क अम्बिकानगर : तीर्थंकर ऋषभनाथ (भा पु स)
ख अम्बिकानगर : मंदिर (भा पु स)
84 क पाकबीरा : तीर्थंकर शान्तिनाथ, अधोभाग (स्टेट आर्क्यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)
ख पाकबीरा : तीर्थंकर पार्श्वनाथ, अधोभाग (स्टेट आर्क्यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)
85 क पोड़ासिंगिडी : तीर्थंकर ऋषभनाथ (राज्य पुरातत्त्व विभाग, उड़ीसा)
ख चरंपा : तीर्थंकर शान्तिनाथ (भुवनेश्वर संग्रहालय) (राज्य संग्रहालय भुवनेश्वर) (भा पु स, सौजन्य राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर)
86 खण्डगिरि : गुफा सं० 1, तीर्थंकर पार्श्वनाथ और नेमिनाथ, अधोभाग में अंकित यक्षियाँ (भा पु स)
87 खण्डगिरि : गुफा सं० 8, तीर्थंकर अभिनन्दननाथ और सम्भवनाथ, अधोभाग में अंकित यक्षियाँ (भा पु स)
88 मयूरभंज : तीर्थंकर ऋषभनाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)
89 क देवली : पंचायतन मंदिर (भा पु स)
ख राजगिर : वैभार पर्वत स्थित मंदिर (भा पु स)
90 क राजगिर : बहुरूपिणी यक्षी के साथ तीर्थंकर मुनिसुव्रत (भा पु स)
ख राजगिर : वैभार पर्वत पर तीर्थंकर ऋषभनाथ (भा पु स)
91 क बिहार : अम्बिका यक्षी (नाहर संग्रह) (पी. सी. नाहर)
ख बिहार : यक्षी, कांस्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)
92 क बिहार : तीर्थंकर चन्द्रप्रभ (भारतीय संग्रहालय)
ख सूरज पहाड़ : शैलोत्कीर्ण तीर्थंकर (भा पु स)

अध्याय 16

93 क कुण्डलपुर : मंदिर (भा पु स)
ख कुण्डलपुर : दो तीर्थंकर मूर्तियाँ (नीरज जैन)
94 क कुण्डलपुर : तीर्थंकर अभिनन्दननाथ (नीरज जैन)
ख कुण्डलपुर : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (नीरज जैन)
95 क पिथौरा : पतियानी देवी का मंदिर (नीरज जैन)
ख पिथौरा : पतियानी देवी के मंदिर का सरदल (नीरज जैन)

96 पिथौरा : पतियानी देवी का मंदिर, द्वारपाल (नीरज जैन)
97 क जबलपुर : तीर्थंकर धर्मनाथ (नागपुर संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य नागपुर संग्रहालय)
ख तेवर : तीर्थंकर मूर्ति (नीरज जैन)
98 क तेवर : अभि-लेखांकित यक्षियाँ (नीरज जैन)
ख गंधावल : तीर्थंकर मूर्तियां (भा पु स)
99 रायपुर संग्रहालय : सहस्रकूट (भा पु स, सौजन्य रायपुर संग्रहालय)
100 क ग्यारसपुर : तीर्थंकर और यक्षियाँ (भा पु स)
ख ग्यारसपुर : मालादेवी मंदिर, अलंकृत कीर्तिमुख (भा पु स)
101 ग्यारसपुर : मालादेवी मंदिर (भा पु स)
102 ग्यारसपुर : मालादेवी मंदिर, मुखमण्डप (भा पु स)
103 ग्यारसपुर : मालादेवी मंदिर, शिखर (भा पु स)
104 ग्यारसपुर : मालादेवी मंदिर, जंघा (भा पु स)
105 देवगढ़ : मंदिर सं० 18 (भा पु स)
106 देवगढ़ : मंदिर सं० 21, आंतर-शिल्पांकन (भा पु स)
107 देवगढ़ : मंदिर सं० 12, दायाँ भाग, प्राकार में जड़ दी गयी तीर्थंकर मूर्तियाँ
108 देवगढ़ : मदिर सं 12, शिखर और परवर्ती छतरी (भा पु स)

अध्याय 17

109 अकोटा : अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)
110 अकोटा : तीर्थंकर पार्श्वनाथ,कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)
111 अकोटा : चतुर्विशति-कांस्य पट्ट (बड़ौदा संग्रहालय)
112 अकोटा : चमरधारिणी, कांस्य - मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

अध्याय 18

113 क वादामी : जैन गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)
ख वादामी : जैन गुफा-मंदिर, अंतःभाग (भा पु स)
114 क वादामी : जैन गुफा-मंदिर, गोम्मटेश्वर (भा पु स)
ख वादामी : जैन गुफा-मंदिर, तीर्थंकर ऋषभनाथ (भा पु स)

चित्र-सूची

115 बादामी : जैन गुफा-मंदिर, तीर्थंकर पार्श्वनाथ (भा पु स)
116 क ऐहोले : मैनाबस्ति गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)
ख ऐहोले : जैन गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)
117 एलोरा : इन्द्र सभा (गुफा सं॰ 32), बाहरी भाग (भा पु स)
118 क एलोरा : इन्द्र सभा (गुफा सं॰ 32, तीर्थंकर पार्श्वनाथ (भा पु स)
ख एलोरा : गोम्मटेश्वर (गुफा सं॰ 32) (भा पु स)
119 एलोरा : स्तंभ गुफा सं॰ 32 (भा पु स)
120 क एलोरा : गुफा सं॰ 33, बाहरी भाग (भा पु स)
ख ऐहोले : मेगुटी मंदिर (भा पु स)
121 एलोरा : कुबेर, गुफा सं॰ 33 (भा पु स)
122 एलोरा : अम्बिका यक्षी, गुफा सं॰ 33 (भा पु स)
123 एलोरा : तीर्थंकर, गुफा सं॰ 33 (भा पु स)
124 एलोरा : अंत:भाग, गुफा सं॰ 33 (भा पु स)
125 एलोरा : विमान-मंदिर, गुफा सं॰ 33 (भा पु स)
126 पटडकल : जैन मंदिर (भा पु स)

रेखा-चित्र

पृष्ठ

1 मोहन-जो-दड़ो : सेलखड़ी में उकेरी मुद्रा (भा पु स) 22

2 कंकाली टीला : ईंट निर्मित स्तूप की रूपरेखा (स्मिथ के अनुसार) (भा पु स) 56

3 उदयगिरि एवं खण्डगिरि : गुफाओं की रूपरेखा (भा पु स) 78

4 उदयगिरि : पहाड़ी अधित्यका पर अर्धवृत्ताकार भवन की रूपरेखा (भा पु स) 82

5 जूनागढ़ : वावा प्यारा की गुफा, गुफा सं 'के' का प्रवेशद्वार (वर्जेस के अनुसार) (भा पु स) 93

6 वाराणसी : अजितनाथ की मूर्ति का सिर (रा सं ल , 49,199 (रा सं ल) 114

7 मथुरा : पादपीठों पर अंकित सिंह, 1–4, कुषाणकालीन
(रा सं ल, जे–20, जे–30, जे–34, जे–26) ; 5–6 गुप्तकालीन
(रा सं ल, जे–118, जे 121) (रा सं ल) 116

8 मथुरा : श्रीवत्स चिन्ह, 1–3 कुषाणकालीन (रा सं ल , जे–16, जे–36, जे–177);
4–6 गुप्तकालीन (रा सं ल, जे–188 ; पु सं म,
बी–6, बी–7) (रा सं ल) 121

9 देवगढ़ : मंदिरों की रूपरेखा (भा पु स) 184

मुखपृष्ठ चित्र

पन्ना, मध्यप्रदेश : भगवान् महावीर, छठी शती ई० (नीरज जैन)

भाग 1

प्रास्ताविक

अध्याय 1

संपादक का अभिमत

प्राच्यशोध के विकास और साहित्यिक प्रकाशनों में संलग्न सांस्कृतिक संस्था भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री ने सन् १९७१ के प्रारंभ में मुझसे यह अनुरोध किया कि मैं भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शती के अवसर पर प्रकाशन के लिए प्रस्तावित ग्रंथ 'जैन कला और स्थापत्य' का संपादन करूँ। मैंने इस कार्य के लिए तुरंत ही अपनी स्वीकृति दे दी। यह इसलिए कि अब तक प्रकाशित ग्रंथों में यह अपने प्रकार का पहला ग्रंथ नियोजित था और कोई भी व्यक्ति इससे संबद्ध होकर प्रसन्नता का ही अनुभव करेगा। वैसे, भारतीय कला के इतिहास-ग्रंथों में जैन स्मारकों और मूर्तिकला को प्रमुख स्थान प्राप्त रहता है, और विभिन्न स्मारकों और मूर्तियों या इनके समूहों पर इक्के-दुक्के प्रबंध और लेख भी उपलब्ध हैं, किंतु ऐसा कोई विस्तृत ग्रंथ कदाचित् ही हो जिसमें, अपने धर्म को मूर्त रूप देने के लिए जैन तत्त्वावधान में पल्लवित, कला और स्थापत्य का ही पृथक् रूप से विवेचन हो। वर्तमान में, इस विषय से संबंधित जो सर्वेक्षण मिलते हैं, वे न केवल अपर्याप्त हैं अपितु कभी-कभी त्रुटिपूर्ण होने के साथ-ही-साथ उनका झुकाव किसी एक दृष्टिकोण के प्रति प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के ग्रंथ के औचित्य पर संदेह नहीं किया जा सकता, तदपि इसकी प्रतिपाद्य सामग्री की ऐकांतिक प्रकृति पर जोर देना बुद्धिमानी नहीं होगी। यह कल्पना करना कठिन है कि किसी भी जैन कलात्मक या वास्तुशिल्पीय कृति का संबंध भारतीय कला और स्थापत्य की मुख्य धारा से नहीं है या उसे इस धारा से अलग करके देखा जा सकता है। यह भी ठीक है कि जैनधर्म की विशिष्ट धार्मिक और पौराणिक संकल्पनाओं ने ऐसे शिल्प-प्रकारों को जन्म दिया जो अन्य संप्रदायों की कलाकृतियों में नहीं पाये जाते; किन्तु तब भी, ये शिल्पांकन उस प्रदेश और काल की शैली के अनुरूप हैं जहाँ इनका निर्माण हुआ। इस प्रकार जहाँ एक ओर जैन पौराणिक आख्यानों के विशिष्ट रूप — समवसरण, नंदीश्वर द्वीप, अष्टापद आदि की अनुकृतियाँ विशेष रूप से जैन हैं,

वहीं दूसरी ओर उनमें भी उस प्रदेश की तत्कालीन शैली को अपनाया गया है जहाँ इनका निर्माण हुआ।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मुहर (खड़िया मिट्टी की मुद्रा) पर उकेरी कायोत्सर्ग मूर्ति पर यदि हम अभी विचार न करें तो भी लोहानीपुर की मौर्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ (अध्याय ७) यह सूचित करती हैं कि इस बात की सर्वाधिक संभावना है कि जैनधर्म पूजा-हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मणधर्म से आगे था। बौद्ध या ब्राह्मण धर्म से संबंधित देवताओं की इतनी प्राचीन प्रतिमाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं, यद्यपि इन धर्मों की समकालीन या लगभग समकालीन यक्ष-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी शैली पर लोहानीपुर की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। महावीर के समय में इस प्रकार की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा थी, इसका प्रमाण नहीं मिल सका है। स्वयं महावीर के समकालीन वीतभयपत्तन के नृपति उद्दायन की रानी (जिसके बारे में अन्य किसी स्रोत से हमें जानकारी नहीं है) चन्दनकाष्ठ से निर्मित तीर्थंकर (अध्याय ८) की पूजा करती थीं। इस आख्यान का प्रतिरूप बुद्ध के समकालीन कौशाम्बी के उदयन संबंधी आख्यान में मिलता है कि उसने इसी सामग्री से निर्मित[1] बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की थी। यहाँ तक कि दोनों शासकों के नामों की साम्यता भी संभवतः आकस्मिक न हो।

मथुरा से प्राप्त तीर्थंकरों और यक्षियों की परवर्ती मूर्तियाँ उत्कर्षशील मथुरा शैली की विशिष्ट कृतियाँ हैं। उनमें प्रतिमा-निर्माण विषयक जो भी साङ्गोपाङ्गता पायी जाती है, उसे छोड़कर उनमें ऐसी कोई भिन्न बात नहीं है जो उन्हें अन्य संप्रदायों की समकालीन मूर्तियों से, शैली की दृष्टि से, पृथक् सिद्ध करे। यही बात अन्य सभी प्रदेशों और परवर्ती शताब्दियों की कला पर भी लागू होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मथुरा में भी यक्षियों की मूर्तियों में हम प्रतिमा-निर्माण-विषयक सामान्य रूप-विन्यास-विवरण ही पाते हैं, किन्तु वे परवर्ती युगों में विकसित होते जाते हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों में इस प्रकार के विवरण अधिकांशतः चिह्नों (लांछनों) और यक्ष-यक्षियों को सम्मिलित करने तक सीमित हैं। ये चिह्न पहचान के लिए होते हैं। इनके प्रयोग के संबंध में गुप्त-युग में भी विभिन्नता रही है। तीर्थंकरों की परिकल्पना में उत्कट संयम का समावेश है अतः उनकी मूर्तियों के निर्माण में अलंकरण की गुंजाइश नहीं रहती, किन्तु सादगी की यह बात सामान्यतः बुद्ध प्रतिमाओं के बारे में भी सही है। तो भी, अलंकरण की यह इच्छा महावीर की जीवन्तस्वामी प्रतिमा की एक नयी संकल्पना करके पूर्ण की गयी। इसी प्रकार की कल्पना का उदाहरण पूर्वी भारत की बुद्ध की मुकुटधारी मध्यकालीन प्रतिमा है।

---

[1] बील (सेमुअल). बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ़ द वेस्टर्न वर्ल्ड. 1. 1884. लन्दन. पृ 235. / व्ही-ली. लाइफ़ ऑफ़ ह्वेनसांग. 1882. लन्दन. पृ 91.

मूर्तिकला विषयक संकल्पनाओं का अन्य दिशाओं में भी पारस्परिक प्रभाव पड़ा। वैसे धर्मचक्र की संकल्पना जैनधर्म और बौद्धधर्म[1] दोनों ही में समान रही होगी, किन्तु हिरन के पार्श्व में उसे प्रदर्शित करने का चलन केवल बौद्धों में ही विशेष रूप से था, जो कि मृगदाव में बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश के दृश्य का स्मरण दिलाता था। यों मध्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमाओं में भी हम यह संयोग पाते हैं। खण्डगिरि की गुफा-८ में गणेश मूर्ति से पहले सात यक्षियों का दृश्य ब्राह्मणधर्म की सप्तमातृका-समूह का स्मरण कराता है; और जिला पुरुलिया के पाकवीर नामक स्थान (अध्याय १५) में प्राप्त तीर्थंकर के पाद-पीठ पर लिंग की विद्यमानता धार्मिक और मूर्तिकला विषयक समन्वय की अपनी कहानी कहते हैं। और, न ही ऋषभनाथ और शिव का जटा और बैल से संबंधित होना बिलकुल ही आकस्मिक है।

संभवतः लोहानीपुर की मौर्यकालीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ एक ऐसे ईंट-निर्मित जिनालय में प्रतिष्ठित की गयी थीं जिसके स्वरूप के वारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। मथुरा के प्राचीन ऐतिहासिक जिनालय आज हमें अपने टूटे-फूटे भागों की विद्यमानता से ही ज्ञात हैं (अध्याय ६)। जिस काल से हमें पूर्ण रूप से निर्मित मंदिर मिलते हैं, उन्हें हम अन्य धर्मों के मंदिरों की आयोजना और शिल्प से भिन्न नहीं पाते। और, न ही शिल्पशास्त्रों में यह वताया गया है कि जैन मंदिरों की कौन-सी अपनी भवन-निर्माण संबंधी विशेषताएँ होती हैं, क्योंकि स्पष्टतः ऐसा विवरण देने की आवश्यकता ही नहीं थी।

यह ठीक है कि जैन, ब्राह्मण और बौद्ध मंदिरों में जो अंतर परिलक्षित होता है वह स्वभावतः मुख्य मंदिर में प्रतिष्ठित देवता, पार्श्ववर्ती देवी-देवता तथा अपनी-अपनी पौराणिक कथाओं के अनुसार मूर्तियों के तक्षण आदि के कारण होगा ही, किन्तु निर्माण संबंधी कोई वास्तविक अंतर नहीं है जो संप्रदाय विशेष की मान्यताओं एवं परंपराओं के कारण ही हो। उदाहरणार्थ, खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की योजना वहाँ के ब्राह्मण्य मंदिरों से भिन्न हो सकती है, किन्तु वहाँ के ब्राह्मण्य मंदिर स्वयं भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मंदिरों की योजनाओं में जो भिन्नता है, वह पूजा की विभिन्न पद्धतियों के कारण है, जैसा कि कुछ लोगों का मत है।[2] उक्त स्थान के सभी मंदिरों पर खजुराहो-कला की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

---

[1] कहा जाता है कि ऋषभनाथ ने तक्षशिला में धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था इसलिए कुछ विद्वानों के अनुसार यह मुख्यतः एक जैन प्रतीक है। [कान्तिसागर. खण्डहरों का वैभव. द्वितीय संस्करण. बनारस. 1959. पृ 59] किन्तु इस आख्यान का जिसमें यह कथा भी सम्मलित है कि ऋषभदेव ने यवन देश (आयोनिया, पश्चिमी एशिया का एक यूनानी देश) का भ्रमण किया था, पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक तथ्यों से खण्डन होता है क्योंकि पुरातात्विक दृष्टि से तक्षशिला छठी-पांचवीं शती ई० पू० से पहले अस्तित्व में नहीं आया था और आयोनिया-राज्य आठवीं-सातवीं शती से पहले स्थापित नहीं हुआ था, जबकि अनुश्रुति यह है कि ऋषभनाथ अत्यन्त प्राचीन युग में हुए थे.

[2] ज़न्नास (एलिकी) तथा ओवोये' (जीनीन). खजुराहोज' ग्रैवेनहागे. 1960. पृ 147-48. लेखक स्वयं ही यह स्वीकार करते हैं कि खजुराहो में स्थित जैन मंदिरों में भी परस्पर शिल्पगत अंतर है.

धार्मिक भवनों के वास्तुशिल्पीय अलंकरण में किसी प्रकार का धर्मगत अंतर नहीं है। सभी धर्मों की मूर्तियों में जीवनानंद की एक ही प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है, केवल उनको छोड़कर जिनकी प्रकृति नितान्त धार्मिक है। उनमें यक्षी, सेविका, नायिका, अप्सरा, सुर-सुन्दरी या अलस-कन्याएँ, जो भी उन्हें कहें, वे अकेली या मिथुनों के रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं और किसी भी धर्म के संयमप्रेरक उपदेश तथा आचार-नियम देवालयों में उनकी विद्यमानता को रोक नहीं सके। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही वे सर्वत्र विद्यमान हैं, जैसा कि सांची के बौद्ध स्तूपों या मथुरा के अवशेषों और जैन स्तूपों की लघु अनुकृतियों से सिद्ध है। मथुरा में एक मूर्तियुक्त स्तूप पर नग्न यक्षियाँ विद्यमान हैं और उन्हें वेदिका-स्तम्भों पर कामोद्दीपक भङ्गिमाओं में देखा जा सकता है। वैसे यह सत्य है कि जैन प्रतिमा-विज्ञान किन्हीं तांत्रिक, ब्राह्मण और बौद्ध देवी-देवताओं के संदर्भ में चित्रित ब्रह्माण्ड-व्यापी कामशक्ति को अंकित करने की अनुमति नहीं देता, फिर भी खजुराहो तथा अन्य स्थानों के मध्ययुगीन जैन मंदिरों में कामुक-युग्म छद्मरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। छत्तीसगढ़[1] में आरंग नामक स्थान में मंदिर के शिखर पर तो वे अत्यन्त मुक्त रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे सिद्ध होता है कि ऐसे चित्रणों पर तांत्रिकवाद या कौल पाशुपतवाद आदि का प्रभाव ढूँढ़ने का प्रयास निरर्थक परिश्रम ही है। कलाकार ने अपने आपको उस धर्म के कठोर नियमों से निरपेक्ष होकर, जिसकी सेवा में वह कार्यरत था, अपने युग के उस शिल्प-विधान को अपनाया, जिसे न केवल उसका युग पूरी मान्यता प्रदान करता था, अपितु जिसमें वह स्वयं भी आनन्द लेता था। उसी प्रकार एक ओर जहाँ धर्म-ग्रंथ जैन भिक्षुओं को चित्रित आवासों में रहने का निषेध करते थे,[2] वहीं दूसरी ओर साधु लोग अपने गुफा-मंदिरों में आनन्दप्रद चित्रकारी भी सह लेते थे। इस प्रकार की थी कलात्मक अलंकरण की प्रेरणा !

बहुधा अलंकृत और अपने शिखर में चारों ओर एक ही तीर्थंकर की प्रतिमाओं से युक्त मानस्तम्भ जैन मंदिरों के सम्मुख, प्रायः पाये जाते हैं। विशेष रूप से दक्षिण भारत में, इनमें ब्राह्मण्य मंदिरों के सामने स्थित और गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता के प्रतीक से युक्त ध्वज-स्तम्भों का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का एक प्राचीन उदाहरण ई० पू० दूसरी शती का बेसनगर (विदिशा) का प्रसिद्ध गरुड़ स्तंभ है।[3] वस्तुतः, यह अनुमान किया जाता है कि सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित धार्मिक भवनों के सामने अशोक-स्तंभ आवश्यक रूप से बनाये गये थे।[4]

---

[1] जन्नास तथा ओबोये, पूर्वोक्त, पृ 151. / **भारती, रिसर्च बुलेटिन ऑफ द कॉलेज ऑफ इण्डॉलॉजी**, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय. 3; 1959-60; पृ 48 में एल. के. त्रिपाठी. / कान्तिसागर, पूर्वोक्त, पृ 125.

[2] कान्तिसागर, पूर्वोक्त, पृ 24-25.

[3] हाल के उत्खनन से एक ही पंक्ति में अन्य स्तंभों की नींव और उनके पास ही में एक मंदिर के पुरावशेष मिले हैं. **इण्डियन आर्क्यालॉजी–ए रिव्यू**, 1964-65. 1965. नई दिल्ली. पृ 19. / वही, 1965-66. 1966. पृ 23.

[4] घोष (ए). **पिलर्स ऑफ़ अशोक, देयर परपज़.** ईस्ट एण्ड वेस्ट, न्यू सीरीज. 17. 1967. रोम. पृ 273-75.

एक विशिष्ट प्रकार की जैन मूर्ति सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के रूप में निर्मित होती है जिसे सामान्यतः चौमुखी कहा जाता है और जिसका सबसे प्राचीन रूप मथुरा से प्राप्त हुआ है। इसमें साधारणतः एक चौकोर स्तंभ पर चारों ओर जिन-प्रतिमा उत्कीर्ण की जाती है। चौमुखी की एक प्रकार की संकल्पना बौद्धों को भी ज्ञात थी; लघु बौद्ध स्तूपों पर कभी-कभी बुद्ध की प्रतिमा का और बौद्ध देवताओं का अंकन स्तूपों के चारों ओर के आलों में पाया जाता है, यद्यपि उनका मूर्तन एक ओर भी हुआ है।[1] यहाँ तक कि सांची के विख्यात स्तूप को भी गुप्त-युग में प्रत्येक कोने में एक-एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना द्वारा चौमुखी का-सा स्वरूप प्रदान किया गया था।

जैन साहित्य में स्तूपों का बहुलता से उल्लेख मिलता है, किन्तु अभी तक केवल ईसा के तत्काल पहले और बाद की शतियों के मथुरा स्थित कंकाली टीले या एकाधिक स्तूपों के ही पुरावशेष मिले हैं। इन स्तूपों के विभिन्न भाग और स्तूप-शिल्प के नमूने कदाचित् ही कोई ऐसी विशेषता प्रदर्शित करते हैं जो समकालीन बौद्ध स्तूपों में परिलक्षित न हो। इसी प्रकार स्वरूप और समय की दृष्टि से जैन स्तूपों की उत्पत्ति बौद्ध स्तूपों से भिन्न नहीं रही होगी। प्राचीन जैन स्तूपों के उल्लेख (यथा, वैशाली का एक स्तूप जो कि राम के समकालीन माने जानेवाले बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत को समर्पित था) के समान ही बौद्ध साहित्य में भी स्तूपों के उल्लेख पाये जाते हैं। नेपाल की तराई के निग्लिवा स्थान में बुद्ध के पूर्वावतार कनकमुनि के स्तूप का प्रमाण अशोक के शिलालेख से मिलता है। मथुरा के जैन स्तूप (अध्याय ६) के लिए प्रयुक्त 'देवनिर्मित' विशेषण हमें शायद बहुत अधिक प्राचीनकाल तक न ले जाये। इस शब्द से केवल यही ज्ञात होता है कि यह प्राचीन स्तूप भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा से देखा-माना जाता था।

ऊपर की पंक्तियों में बहुत कुछ यह दर्शाया जा चुका है (यदि इसकी कोई आवश्यकता रही हो तो) कि जैन मूर्तिकला और स्मारकों को भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की प्रमुख निधि से न तो अलग ही किया जा सकता है और न ही ऐसा किया जाना चाहिए, क्योंकि वे इस निधि का एक आवश्यक और अभिन्न अंग हैं। अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को दृश्य रूप देने की पूर्ति के लिए जैन धर्मावलंबियों ने भी विकास के उसी पथ का सभी युगों में अनुगमन किया जिसका अन्य धर्मों के अनुयायियों ने। हाँ, अपनी पौराणिक कथाओं और धार्मिक विश्वासों में जो कुछ भी विशेष था, उसे भी उन्होंने मूर्त रूप दिया। किन्तु इस परिप्रेक्ष्य में भी वे भारतीय कला और स्थापत्य के विकास के मुख्य मार्ग को छोड़कर अलग नहीं गये। पश्चिम भारत में निर्मित जैन मंदिर मध्ययुगीन मंदिरों में

---

[1] पहाड़पुर मंदिर की दूसरी वेदिका पर चार विस्तृत देवकुलिकाएं हैं, जिनमें कभी प्रतिमाएं स्थापित रही होंगी। इनकी विद्यमानता के आधार पर इस मंदिर का सादृश्य चौमुखी से किया गया है। सरस्वती (एस के). स्ट्रगल फॉर एम्पायर. सम्पा : आर सी मजूमदार तथा ए डी पुसालकर. 1957. बम्बई. पृ 637-38. लेकिन इसमें वेदिकायुक्त भाग के शीर्ष की मुख्य वेदी पर ध्यान नहीं दिया गया है जिसकी विद्यमानता का सरलता से अनुमान ईंटों के चबूतरे को घेरनेवाली पर्याप्त रूप से मोटी दीवारों की ईंटों की चौकोर रेखा से होता है. दीक्षित (के एन). एक्सकेवेशन्स ऐट पहाड़पुर. **मेमोयर्स ऑफ द आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. 55.** 1936. दिल्ली. पृ 15.

सर्वोत्कृष्ट एवं अद्भुत अलंकरण-बाहुल्य के कारण अन्य मंदिरों से आगे निकल जाने पर भी तत्कालीन भारतीय आदर्श की सीमारेखा में ही रहे।

अगर अगले पृष्ठों से यह स्पष्ट हो सके कि जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को कितनी प्रचुर मूर्त देन है (आध्यात्मिक देन को छोड़कर जो प्रायः विदित है) तो प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य बहुत कुछ पूरा हो सकेगा।

भारत के बाहर जैन पुरावशेषों के प्रमाण नहीं मिलते। श्रीलंका के बौद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ महावंश में उल्लेख मिलता है कि राजा पाण्डुकाभय ने अपनी राजधानी में एक निर्ग्रंथ विहार का निर्माण कराया था।[1] चौथी शती ई० पू० में श्रीलंका में जैनों की विद्यमानता आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि उस समय तक जैनधर्म उड़ीसा, और संभवतः दक्षिण भारत में पहले से ही फैल चुका था। किन्तु उसके विहार के कोई अवशेष अभी तक पहचाने नहीं जा सके। न ही दक्षिण-पूर्व एशिया में जैनधर्म के प्रसार का कोई विश्वसनीय प्रमाण है, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि पश्चिमी भारत के वणिकों (उनमें से कुछ जैन भी होने चाहिए) ने इन प्रदेशों का भ्रमण किया था, किन्तु बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के विपरीत यह मत वहाँ दृढ़ता से स्थापित न हो सका;[2] यही बात गंधार प्रदेश और उसके समीपवर्ती उत्तर-पश्चिम क्षेत्र पर लागू होती है।[3]

* * *

अब हम प्रस्तुत ग्रंथ पर विचार करें। श्री कलम्बूर शिवराममूर्ति, निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, श्री मधुसूदन नरहर देशपाण्डे, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के महनिदेशक और सर्वेक्षण के कुछ अन्य अधिकारियों तथा विशेष रूप से मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, के साथ हुए मेरे विचार-विमर्श

---

[1] **महावंसो**. संपा : एन के भगत. देवनागरी पालि टेक्स्ट सीरीज. 12. द्वितीय संस्करण. 1959. बम्बई. पृ 74./ जैन (हीरालाल). **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान**. 1962. भोपाल. पृ 35.

[2] कुछ विद्वान् इण्डोनेशिया में प्रम्बानन के शिव मंदिर में जैन प्रभाव देखते हैं। तुलनीय : जैन, पूर्वोक्त, पृ 141. फर्गुसन के आधार पर यह किसी पुष्ट प्रमाण पर आधारित नहीं है, मुख्य मंदिर में प्रधान प्रतिमा शिव की है (जिसे बौद्ध विद्वान् किसी मृत शासक का शव बताते हैं) और मंदिर में तीन तरफ गौण देवता हैं, पार्श्ववर्ती देवताओं की संकल्पना।

[3] गन्धार प्रदेश में जैन अवश्य विद्यमान रहे होंगे (ह्वेनसांग ने उन्हें वहाँ सातवीं शती में देखा था), फिर भी मार्शल की इस संदेहास्पद मान्यता का कोई औचित्य नहीं है कि तक्षशिला के दूसरे नगर सिरकप के कुछ स्तूप जैनों से संबंधित हैं। मार्शल (जॉन). **गाइड टु तक्षशिला**. कैम्ब्रिज. 1960. 72-74, पृ 69; आगे देखिए अध्याय 8. यह परंपरा कि तीर्थंकरों ने उत्तर पश्चिम का भ्रमण किया था संदिग्ध है ठीक उसी प्रकार जैसे यह धारणा कि बुद्ध भी वहाँ पहुंचे थे. बील, पूर्वोक्त, 1, 1884, पृष्ठ 30 (फ़ाहियान) और 67 आदि (ह्वेनसांग).

के परिणामस्वरूप इस ग्रंथ की रूप-रेखा तैयार हुई। इस ग्रंथ के अध्यायों को लिखने के लिए सक्षम विद्वानों से निवेदन किया गया और एक निश्चित समय भी निर्धारित कर दिया गया। इस प्रकार के सहकारी प्रयत्न के साथ जैसा साधारणतः होता है, कुछ विद्वानों ने कुछ भी लिखने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, बहुतों ने अपने लेख समय पर भेज दिये और कुछ ने अंतिम क्षणों में। कुछ अध्याय, जो बहुत देर से प्राप्त हुए थे, संक्षिप्त और अपूर्ण पाये गये, और जब इस तथ्य की ओर संबंधित विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तो उन्होंने कमी पूरी करने के लिए और समय माँगा। उन्हें समय देने का तात्पर्य था, प्रकाशन में अनिश्चित विलम्ब और मेरा इसी ग्रंथ से अनिश्चित काल तक संबद्ध रहना। चित्रात्मक सामग्री के साथ भी यही बात हुई। इस संबंध में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के समृद्ध चित्र-स्रोतों और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संग्रह किये जा रहे जैन पुरावशेषों के चित्रों के विशाल संग्रह ने कमी पूरी की। तो भी, कुछ कमी अब भी है।

इन सब बातों से इस ग्रंथ के गुण और दोष स्पष्ट हो सकेंगे। किन्तु इनका निर्णय पाठक स्वयं ही करेंगे। ग्रंथ के जो अंश आलोच्य हैं उनका तीव्र भान मेरे सिवा अन्य किसी व्यक्ति को नहीं हो सकता क्योंकि मुझे तो इसके एक-एक अध्याय को अनेक स्थितियों में पढ़ना पड़ा है तथा चित्रों को सजाना-सँवारना पड़ा है।

जब इस ग्रंथ की सामग्री संग्रहीत करने का काम कुछ आगे बढ़ा, तब फरवरी १९७३ में मुझे एकवर्षीय अनुबंध पर इण्डोनेशिया जाना पड़ा। भारतीय ज्ञानपीठ के साथ न्याय करने की दृष्टि से मैंने सम्पादकीय कार्य से बिना शर्त त्यागपत्र दे दिया ताकि मेरी अनुपस्थिति से ग्रंथ की प्रगति में बाधा न पड़े और भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री को मैंने यह स्पष्ट सलाह दी कि वे यह कार्य किसी ऐसे अन्य व्यक्ति को सौंप दें जो इसे अच्छी तरह कर सके। किन्तु जब गतवर्ष फरवरी में मैं भारत लौटा तब मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि ग्रंथ मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियों द्वारा मुझमें व्यक्त विश्वास ने मुझे प्रभावित किया और मैं टूटी शृंखला को तत्परता से जोड़ने में लग गया। ऐसा नहीं था कि मेरी अनुपस्थिति में कोई प्रगति न हुई हो। कुछ और अध्याय प्राप्त हुए थे और यह भी निर्णय लिया गया था कि भारत के, और जहाँ तक संभव हो सके, विदेशों के संग्रहालयों में उपलब्ध जैन कलाकृतियों पर अध्याय जोड़े जायें। सक्षम विद्वानों से पहले ही अनुरोध किया गया था कि वे अपने अधिकारगत संग्रहों पर लिखें। वह सब प्राप्त सामग्री समाविष्ट की गयी है। किन्तु ऊपर दिये गये कारणों से वह भी अपूर्ण रह गयी है। कुछ संग्रहालय, यथा पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा, और राजकीय संग्रहालय, लखनऊ, जानबूझकर छोड़ दिये गये हैं क्योंकि उनकी विषयवस्तु का अधिकांश स्मारकों और मूर्तिकला संबंधी अध्यायों में आ गया है। यहाँ यह सूचना देना उचित होगा कि निर्वाण महोत्सव के अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा जैन कलाकृतियों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जा रहा है और ज्ञानपीठ उनका एक सूचीपत्र भी प्रकाशित करेगा।

इस ग्रंथ की योजना के बारे में भी मुझे कुछ कहना है। कुछ परिचयात्मक अध्यायों के पश्चात् ग्रंथ का मूलभाग अर्थात् स्मारक और मूर्तिकला का विवेचन प्रारम्भ होता है, जिसका विभाजन निम्नलिखित कालों में किया गया हैं : (१) ई० पू० ३०० से ३०० ई०, (२) ३०० ई० से ६०० ई०, (३) ६०० ई० से १००० ई०, (४) १००० से १३०० ई०, और (५) १३०० ई० से १८०० ई० तक। यह काल-विभाजन बहुत कुछ परंपरागत है जो कि क्रमशः आद्य ऐतिहासिक युग, आर्ष युग (क्लासिकल—कम से कम जहाँ तक उत्तर भारत का संबंध है), पूर्व-मध्य युग और उत्तर-मध्य युग, कहे जानेवाले युगों से मिलता-जुलता है। इस विभाजन को बनाये रखना सदैव ही सरल नहीं रहा। उदाहरणार्थ, जब किसी मूर्ति की तिथि उसकी शैली के आधार पर निश्चित की जानी हो, तब एकाधिक विद्वान् उसे अपने अध्याय में सम्मिलित करना चाहेंगे क्योंकि ऐसे मामलों में कुछ मत-विभिन्नता अनिवार्य है। इस प्रकार की सामग्री को एक अध्याय में रखने और दूसरे से उसे निकालने में संपादक ने स्वयं निर्णय लिया है। इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव स्मारकों के संबंध में भी हुआ है, बल्कि यहाँ यह कठिनाई इस कारण और बढ़ गयी है कि मंदिरों में परिवर्द्धनों और परिवर्तनों के कारण संश्लिष्ट-समूह (कॉम्प्लेक्स) का विभाजन एक से अधिक युग में कर सकना कठिन प्रतीत हुआ है क्योंकि संश्लिष्ट के विभाजन के बिना यह कार्य संभव नहीं। यहाँ भी मुझे अपना ही निर्णय लेना पड़ा; कुछ मामलों में एक संश्लिष्ट को किसी विशेष युग के अंतर्गत रखा गया है जबकि उसके कुछ भाग दूसरे युग से संबंधित हैं।

ऊपर दिये गये अधिकांश युगों को निम्न प्रकार प्रदेशों में विभक्त किया गया है : (१) उत्तर भारत, (२) पूर्व भारत, (३) मध्य भारत, (४) पश्चिम भारत, (५) दक्षिणापथ, और (६) दक्षिण भारत। यहाँ भी यह विभाजन पूर्णतः संतोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। तो भी, काम चलाने के लिए उत्तर की परिभाषा यह की गयी है कि उसमें दक्षिण-पूर्व राजस्थान (जो पश्चिमी भारत के अंतर्गत रखा गया है) और उत्तर प्रदेश के एक भाग, बुंदेलखण्ड (जो मध्य भारत के अंतर्गत आया है) को छोड़कर शेष उत्तर भारत में सम्मिलित हैं। ऐसा करते समय सामान्यतः प्राचीन सांस्कृतिक और राजनैतिक संदर्भों को ध्यान में रखा गया है। पूर्वी भारत में बिहार, पश्चिम-बंगाल, असम और उड़ीसा सम्मिलित माने गये हैं (एक या दो अध्यायों में बाँग्लादेश को भी सम्मिलित किया गया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह व्यवस्थित नहीं है और आशा करता हूँ कि इसे राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं माना जायेगा, क्योंकि वहाँ प्राप्त बहुत थोड़े जैन पुरावशेषों के लिए अलग से प्रदेश बनाना उचित प्रतीत नहीं हुआ)। मध्य भारत से तात्पर्य मध्य प्रदेश और बुंदेलखण्ड से है। पश्चिम भारत में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुजरात और दक्षिण-पूर्व राजस्थान सम्मिलित हैं। दक्षिणापथ स्वतः स्पष्ट है। दक्षिण भारत में कर्नाटक के दक्षिणी जिले और निःसंदेह, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश और केरल सम्मिलित हैं। इन सीमाओं का कभी-कभी अतिक्रमण हुआ है किन्तु वह क्षम्य है।

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना उचित होगा कि ३०० ई० पू० से ३०० ई० और ३०० ई० से ६०० ई० की अवधियों के अन्तर्गत 'उत्तर भारत' का स्थान मथुरा ने ले लिया है। यह उचित ही

है क्योंकि इन अवधियों की लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारतीय जैन सामग्री मथुरा[1] से प्राप्त हुई है।

ईसा-पूर्व ३०० से ३०० ई० तक की अवधि में मध्य भारत का वर्णन नहीं आता है। इसका सीधा-सा कारण यह है कि इस प्रदेश और इससे संबंधित अवधि में जैन पुरावशेषों का अभाव है, यद्यपि इनके संबंध में विक्रमादित्य, कालकाचार्य, गर्दभिल्ल, सातवाहन से संबंधित घटनाचक्रों के आख्यानों का बाहुल्य है।[2] सरगुजा जिले की रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित जोगीमारा-सीताबेंग गुफाओं के कुछ चित्रों की जैनों से संबद्धता वतायी गयी है[3] किन्तु इन चित्रों के और अधिक अध्ययन की आवश्यकता है।

इसी प्रकार दक्षिणापथ में ३०० ई० पू० से ३०० ई० और ३०० ई० से ६०० ई०[4] की अवधियों के बीच, और दक्षिण भारत में उक्त अंतिम अवधि में कोई जैन पुरावशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। अतएव उक्त अवधियों से संबंधित कोई अध्याय ग्रंथ में सम्मिलित नहीं किया गया है।

---

[1] ईसा-पूर्व 300 से 300 ई० की अवधि के अंतर्गत जिस संभव कमी की यहाँ पूर्ति की जा सकती है वह है इलाहाबाद जिले में कौशाम्बी के निकट पभोसा की एक कृत्रिम गुफा। जैसा कि ए० फुहरर ने **मानुमेण्टल एण्टिक्विटीज ऐण्ड इन्स्क्रिप्शंस इन द नार्थ वेटर्न प्राविन्स ऐण्ड अवध.** आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, न्यू सीरीज़. 2. (न्यू इम्पीरियल सीरीज़. 12) 1891. इलाहाबाद. पृष्ठ 143-44 में वर्णन किया है—यह गुफा के पहाड़ी मुख-भाग के ऊपर है। इसका आकार 2.7×1.4 मीटर और ऊँचाई 1 मीटर है। इसका दरवाजा 0.66×0.53 मीटर और इसकी दो खिड़कियाँ 0 48×0.43 मीटर हैं। भीतर, दक्षिण पार्श्व में तकिया सहित एक प्रस्तर शय्या है। उक्त लिपि में कुछ शिलालेखों के अतिरिक्त दो शिलालेख और हैं जिनमें कहा गया है कि इस गुफा का निर्माण आषाढ़सेन ने कराया था जो अपने अन्य आनुवंशिक संबंधों के अतिरिक्त राजा बहसतिमित्र का मामा था। इस बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) की पहचान सामान्य रूप से उसी नाम के मगध-नरेश से की जाती है जिसे उड़ीसा के खारवेल द्वारा ईसा से पहली या दूसरी (जिसकी संभावना कम है) शती में पराजित किया गया था। इस गुफा का निर्माण काश्यपीय अर्हंतों के लिए किया गया था। क्योंकि महावीर काश्यप गोत्र के थे, अतः यह कहा जाता है कि जिन अर्हंतों के लिए इस गुफा का निर्माण हुआ था वे जैन थे। हीरालाल जैन, पूर्वोक्त पृ 309.

[2] उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने मेरा ध्यान अपने लेख **सुवर्ण भूमि में कालकाचार्य** (विवरण उपलब्ध नहीं) की ओर आकर्षित किया है जिसमें उन्होंने कालकाचार्य को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है.

[3] रायकृष्णदास. **भारत की चित्रकला.** 1962. इलाहाबाद. पृ 2. देखिए ब्लाख (टी). **आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया. एनुअल रिपोर्ट.** 1903-04. 1906. कलकत्ता. पृ 12 एवं परवर्ती. / एम० वेंकटरमैया द्वारा 1961 ई० में गुफाओं के संबंध में एक सम्पूर्ण तथा सचित्र रिपोर्ट तैयार की गयी थी जो भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अभिलेखागार में उपलब्ध है।

[4] जैन, पूर्वोक्त, पृ 311./फर्गुसन (जेम्स) तथा बर्जेस (जेम्स). **केव टेम्पल्स ऑफ़ इण्डिया.** 1880. लन्दन. पृ 491 के आधार पर कहते हैं कि धाराशिव गुफाओं का समूह जो उस्मानाबाद से अधिक दूर नहीं है, जैन है; क्योंकि उसमें तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। किन्तु, इस बात की अधिक संभावना है कि मूलरूप से वे बौद्ध थीं और कालांतर में जैनों द्वारा प्रयोग में लायी गयीं। इन गुफाओं का निर्माण 500 ई० और 620 ई० के बीच हुआ।

यह पूरा ग्रंथ कई भागों में विभक्त है। उनमें से कुछ इतने विस्तृत नहीं हैं कि वे भाग कहे जा सकें, किन्तु अध्यायों का वर्गीकरण इस विधि से सुविधाजनक हो गया है। यह ग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित होगा। पहले खण्ड में परिचयात्मक अध्याय (भाग १), और ईसा-पूर्व ३०० से ३०० ई० के स्मारक और मूर्तिकला संबंधी सामग्री (भाग २); ३०० ई० से ६०० ई० (भाग ३); ६०० ई० से १००० ई० (भाग ४)[1] सम्मिलित किये गये हैं। इसके बाद के दो खण्डों में निम्नलिखित सामग्री होगी; स्मारकों और मूर्तिकला संबंधी शेष दो अध्याय, क्रमशः १००० ई० से १३०० ई० (भाग ५); और १३००-१८०० ई० (भाग ६); चित्रकला : भित्तिचित्र और लघुचित्र ; विविध अध्याय; देश-विदेश के संग्रहालयों में जैन पुरावशेषों संबंधी अध्याय; तकनीकी शब्दों की सूची (यदि आवश्यक समझी गयी) और सभी खण्डों की संपूर्ण अनुक्रमणिका।

यहाँ मुझे अपने संपादकीय उत्तरदायित्व का भी उल्लेख कर देना चाहिए। लेखों में कहीं-कहीं मैंने शाब्दिक परिवर्तन किये हैं और यहाँ तक कि तुलना करने और मत-विभिन्नता की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रति-संदर्भ जोड़कर सामग्री को फिर से व्यवस्थित किया है। किसी विशेष प्रश्न पर मत-वैभिन्य की स्थिति में मैंने अपनी राय व्यक्त की है, किन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम आयी है।

कहीं-कहीं मैंने स्वयं ही किसी अध्याय के कुछ भाग निकाल दिये हैं क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सामग्री अन्य अध्यायों के उपयुक्त है। कुछ अन्य विषयों में मैंने उन्हें वहीं रहने दिया है, यद्यपि वे अन्य किसी अध्याय के योग्य थे। कहीं-कहीं मैंने लेखकों द्वारा प्रेषित चित्रों को नहीं रखा है और उनके स्थान पर ऐसे चित्रों का प्रयोग किया है जो उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं हैं[2] किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है। स्वविवेक से लिये गये इन सभी निर्णयों के तथा (अंग्रेजी संस्करण में) छपाई की जो भी गलतियाँ रह गयी हों उनका मैं उत्तरदायित्व लेता हूँ। किन्तु यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं उन सभी विचारों से सहमत होने का या उनके सही होने का उत्तरदायित्व नहीं लेता जो विभिन्न लेखकों द्वारा व्यवत किये गये हैं। लेखक ही अपने विवरण और विचारों के लिए उत्तरदायी हैं। न ही मेरा इस ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद से सम्बन्ध है जिसे भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित कर रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन और छपाई में मुझे अनेक व्यक्तियों से मित्रवत् सहायता मिली है। इस सूची में सबसे पहला नाम श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, का है जिन्होंने यह कार्य मुझे सौंपा (यद्यपि इसमें विशेष रूप से समापन के समय अनेक समस्याएँ आयीं और अनेक चिंतापूर्ण

---

[1] छपाई की आवश्यकताओं को देखते हुए इस पुस्तक के छपते-छपते यह निश्चय किया गया कि 600 ई० से 1000 ई० की अवधि में दक्षिण भारत संबंधी अध्याय पहले खण्ड से निकालकर दूसरे खण्ड में छापा जाये।

[2] पहले तो अध्यायों की टाइप की हुई प्रति संबंधित लेखक को अनुमोदन के लिए भेजी जाती रही किन्तु बाद में समय की कमी के कारण ऐसा करते रहना संभव नहीं हो सका।

परिस्थितियाँ भी आयीं)। मुझे इस बात की और भी प्रसन्नता है कि उन्होंने सदा ही सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया और मेरी कठिनाइयों को समझा। उनके साथ काम करना मेरे लिए सदा ही आनन्द का विषय रहा; जिसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ज्ञानपीठ के शोध-विभाग के श्री गोपीलाल अमर और श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने पत्र-व्यवहार में हाथ बँटाने, आवश्यक चित्रों को तुरंत छाँटने और आवश्यकता होने पर विभिन्न स्थानों पर तत्परतापूर्वक आ-जाकर मुझे अत्यधिक सहयोग दिया है। संस्कृत, प्राकृत और जैन विद्या के विद्वान् होने के कारण श्री अमर ने मुझे कुछ तकनीकी सहायता भी दी है। मैं इन दोनों को तथा ज्ञानपीठ के सहायकों एवं टाइपकारों को धन्यवाद देता हूँ क्योंकि इन्होंने सदैव ही मेरी सहायता की है।

यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि उन लेखकों के सहयोग के बिना, जिन्होंने हमारे अनुरोध पर अपने लेख भेजे, इस ग्रंथ का प्रकाशन ही संभव नहीं था। उनके सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मेरे इण्डोनेशिया चले जाने पर कुछ अध्याय जैन इतिहास के विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन को समालोचना के लिए भेजे गये थे। उन्होंने जो समालोचनाएँ कृपापूर्वक की थीं उनमें से अनेक का उपयोग आभार-प्रदर्शन के साथ किया गया है। उनकी महत्त्वपूर्ण राय के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्री कलम्बूर शिवराममूर्ति, निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अधिकारियों से मेरे पुराने संबंध इस कार्य को गति देने में सहायक हुए हैं। श्री शिवराममूर्ति और सर्वेक्षण के महानिदेशक श्री मधुसूदन नरहर देशपाण्डे ने प्रारंभ से ही प्रस्तुत ग्रंथ में गहरी रुचि प्रदर्शित की है। सर्वेक्षण के दो नवयुवक अधिकारियों, श्री मुनीशचन्द्र जोशी, अधीक्षक, पुरातत्व, और श्री ब्रजमोहन पाण्डे, उपअधीक्षक, पुरातत्व, ने सदैव सहयोग दिया है। श्री जोशी ने मुझे अनेक तकनीकी समस्याओं में सहायता दी और श्री पाण्डे ने संदर्भों का परीक्षण किया और यथासंभव एकरूपता लाने के अतिरिक्त अपूर्ण विवरण पूर्ण किये हैं। सभी संदर्भों का परीक्षण करना उनके लिए संभव नहीं हो सका क्योंकि केन्द्रीय पुरातत्व पुस्तकालय में संबंधित शोध पत्रिकाएँ और पुस्तकें, विशेषतः जैन ग्रंथ, उपलब्ध नहीं थे। श्री पाण्डे की सहायता यहीं तक सीमित नहीं रही। मेरे द्वारा थोड़ा-सा संकेत करने पर उन्होंने तत्परता से प्रूफ-संशोधन-कार्य का दायित्व ले लिया और इस प्रकार के ग्रंथ के श्रमसाध्य प्रूफ-संशोधन-कार्य को भी सफलतापूर्वक कर दिया। सर्वेक्षण के फोटोग्राफर और मानचित्रकारों ने सदैव मेरी सहर्ष सहायता की और उनसे जो अपेक्षा की गयी वह उन्होंने पूरी की। वे सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं विशेष रूप से डॉ० आर० चम्पकलक्ष्मी, असोशियेट-प्रोफेसर, सेण्टर ऑफ़ हिस्टोरिकल स्टडीज़, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, का उल्लेख करना चाहता हूँ जो इस ग्रंथ से बाद में संबद्ध

हुईं। दक्षिण भारत में जैनधर्म संबंधी अपने विशिष्ट ज्ञान के कारण उन्होंने अत्यन्त अल्प समय में प्रस्तुत ग्रंथ के लिए कुछ अध्याय दक्षिणापथ और दक्षिण भारत संबंधी लिख दिये जो कि उनके नाम से छपे हैं। अध्याय-संपादन और इन अध्यायों के लिए उपयुक्त चित्र ढूँढ़ निकालने में सहयोग देने के लिए वे न केवल तत्परता से तैयार हो गयीं अपितु उन्होंने इसमें मेरी सहायता भी की। मैं उनका आभारी हूँ। उक्त केन्द्र के असोशियेट-प्रोफेसर डॉ० बी० डी० चट्टोपाध्याय ने प्रूफ-संशोधन में सहर्ष मेरा हाथ बँटाया। उन्हें भी मेरा धन्यवाद।

इस प्रस्तावना के अंत में मैं यह नहीं भूलूँगा कि मुझे भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री शान्तिप्रसाद जैन, और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन, अध्यक्षा, ज्ञानपीठ न्यासधारी मण्डल, को विशेष धन्यवाद देना है। यद्यपि उनसे मेरा व्यक्तिगत संपर्क कम ही रहा है, तो भी मैंने सदा ही यह अनुभव किया है कि इस योजना के मार्ग-दर्शक और प्रेरणा-स्रोत वे ही हैं। इन्हीं के कारण यह प्रकाशन संभव हो सका है।

नवम्बर 1, 1974 **अमलानन्द घोष**

अध्याय 2

पृष्ठभूमि और परंपरा

जैनधर्म की गणना भारत के प्राचीनतम धर्मों में है। जैन परंपरा के अनुसार यह धर्म शाश्वत है और चौबीस तीर्थंकरों द्वारा[1] अपने-अपने युग में प्रतिपादित होता रहा है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ थे और चौबीसवें अर्थात् अंतिम थे, वर्धमान महावीर। उनके नाम, वर्ण, चिह्न (लांछन), अनुचर, यक्ष एवं यक्षियाँ और जन्म तथा निर्वाण के स्थान यथाक्रम अग्रलिखित हैं :[2]

१. ऋषभनाथ या आदिनाथ; स्वर्णिम, वृषभ, गोमुख, चक्रेश्वरी, विनीतनगर, (दिगंबर) कैलास या (श्वेतांबर) अष्टापद।

२. अजितनाथ; स्वर्णिम, गज, महायक्ष, (दि०) रोहिणी या (श्वे०) अजितवला, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

३. संभवनाथ; स्वर्णिम, अश्व, त्रिमुख, (दि०) प्रज्ञप्ति या (श्वे०) दुरितारि, श्रावस्ती, सम्मेदशिखर।

४. अभिनन्दननाथ, स्वर्णिम, वानर, (दि०) यक्षेश्वर या (श्वे०) यक्षनायक, (दि०); वज्रशृंखला या (श्वे०) कालिका, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

---

[1] प्रत्येक तीर्थंकर के अंतराल की जैन परंपरानुसार जो अवधि निर्दिष्ट है वह प्रायः अविश्वसनीय लगती है, विशेष रूप से तब जब कोई पल्य और सागर के मापदण्डों पर विचार करे. यह सब लिखने का उद्देश्य इस धर्म की नितान्त प्राचीनता की ओर ध्यान दिलाना है.

[2] जैसा कि इस तालिका से प्रकट होगा, ये विविध प्रतीक अधिकतर प्राणिवर्ग और वनस्पति-जगत् से लिये गये हैं. परंपरानुसार मांगलिक महत्त्व के स्वस्तिक, श्रीवत्स और नन्द्यावर्त भी नितान्त प्राचीन हैं. वज्र एकमात्र ऐसी वस्तु है जो इन्द्र के साथ निकटता से संबद्ध होने के साथ-साथ युद्ध के उपयोग में आनेवाला एक अस्त्र भी है. इन प्रतीकों से सर्वात्मवाद की मान्यता का, और इनमें चुने गये प्राणियों और वनस्पतियों की विशेषताओं को रेखांकित करने का संकेत मिलता प्रतीत होता है. इनमें से ये कुछ प्रतीक हड़प्पा की मुद्राओं पर भी अंकित हैं, पर इतनी-सी समानता से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जन्म के स्थानों में से, अबतक हो सकी उसकी पहचान के अनुसार, सबसे पश्चिम में मथुरा है, और सबसे पूर्व में चम्पा। ऐसा कोई स्थान नहीं जो निश्चित रूप से मध्य भारत में, दक्षिणापथ में या दक्षिण भारत में स्थित हो। निर्वाण का स्थान अधिकतर सम्मेदशिखर (हजारीबाग जिले में पारसनाथ पहाड़ी) है, नेमिनाथ का निर्वाण काठियावाड़ के गिरिनगर में हुआ, क्योंकि वे उस यादव राजवंश के थे जो मथुरा से पश्चिम भारत तक फैला हुआ था.

५. सुमतिनाथ; स्वर्णिम, चक्रवाक, तुम्बुरु, (दि०) पुरुषदत्ता या (श्वे०) महाकाली, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

६. पद्मप्रभ; रक्तिम, कमलपुष्प, कुसुम, (दि०) मनोवेगा या मनोगुप्ता या (श्वे०) श्यामा अच्युता, कौशाम्बी, सम्मेदशिखर।

७. सुपार्श्वनाथ; स्वर्णिम, (दि०) स्वस्तिक या (श्वे०) नन्द्यावर्त, (दि०) वरनन्दिन् या (श्वे०) मातंग, (दि०) काली या (श्वे०) शान्ता, वाराणसी, सम्मेदशिखर।

८. चन्द्रप्रभ; धवल, अर्धचन्द्र, (दि०) विजय या श्याम या (श्वे०) विजय, (दि०) ज्वालामालिनी या (श्वे०) भृकुटि, चन्द्रपुरी, सम्मेदशिखर।

९. सुविधिनाथ या पुष्पदन्त; धवल, मकर, अजित, (दि०) महाकाली या (श्वे०) सुतारका, काकन्दीनगर, सम्मेदशिखर।

१०. शीतलनाथ; स्वर्णिम, (दि०) कल्पवृक्ष या (श्वे०) श्रीवत्स, ब्रह्मा या ब्रह्मेश्वर, (दि०) मानवी या (श्वे०) अशोका, भद्रपुर, सम्मेदशिखर।

११. श्रेयांसनाथ; स्वर्णिम, गेंडा, (दि०) ईश्वर या (श्वे०) यक्षेश; (दि०) गौरी या (श्वे०) मानवी, सिंहपुर, सम्मेदशिखर।

१२. वासुपूज्य; रक्तिम, भैंसा, कुमार; (दि०) गान्धारी या (श्वे०) चण्डा, चम्पापुरी, चम्पापुरी।

१३. विमलनाथ; स्वर्णिम, सूकर, षण्मुख, (दि०) वैरोटी या (श्वे०) विदिता, काम्पिल्यपुर, सम्मेदशिखर।

१४. अनन्तनाथ; स्वर्णिम, सेही, पाताल, (दि०) अनन्तमती या (श्वे०) अंकुशा, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

१५. धर्मनाथ; स्वर्णिम, वज्र, किन्नर, (दि०) मानसी या (श्वे०) कन्दर्पा, रत्नपुरी सम्मेदशिखर।

१६. शान्तिनाथ; स्वर्णिम, हरिण, (दि०) किंपुरुष या (श्वे०) गरुड, (दि०) महामानसी या (श्वे०) निर्वाणी, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर।

१७. कुन्थुनाथ; स्वर्णिम, बकरा, गन्धर्व, (दि०) विजया या (श्वे०) बला, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर।

१८. अरनाथ; पीत या स्वर्णिम, (दि०) तगरपुष्प या मत्स्य या (श्वे०) नन्द्यावर्त, (दि०) केन्द्र या (श्वे०) यक्षेन्द्र, (दि०) अजिता या (श्वे०) धना, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर।

१९. (दि०) मल्लिनाथ या (श्वे०) मल्ली[1]; नारी, नीला, कलश, कुबेर, (दि०) अपराजिता या (श्वे०) धरणप्रिया, मिथिला, सम्मेदशिखर।

२०. मुनिसुव्रत; श्याम, कच्छप, वरुण, (दि०) बहुरूपिणी या (श्वे०) नरदत्ता, राजगृह, सम्मेदशिखर।

२१. नमिनाथ; स्वर्णिम, नीलकमल, भृकुटि, (दि०) चामुण्डी या (श्वे०) गान्धारी, मिथिला, सम्मेदशिखर।

२२. अरिष्टनेमि या नेमिनाथ; श्याम, शंख, (दि०) सर्वाह्ण या (श्वे०) गोमेध, (दि०) कूष्माण्डिनी या (श्वे०) अम्बिका, शौरियपुर, गिरिनगर।

२३. पार्श्वनाथ; श्याम, सर्प, धरणेन्द्र, पद्मावती, वाराणसी, सम्मेदशिखर।

२४. वर्धमान महावीर; स्वर्णिम, सिंह, मातंग, सिद्धायिका, कुण्डग्राम, पावापुरी।

चौवीस तीर्थंकरों में अंतिम और नातपुत्त (नातिपुत्त) के नाम से भी प्रसिद्ध वर्धमान महावीर के पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ थे जिनका निर्वाण महावीर के निर्वाण अर्थात् ५२७ ई० पू० से दो सौ पचास वर्ष पूर्व, सौ वर्ष की परिपक्व अवस्था में हुआ माना जाता है। वास्तव में, महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे (महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्छिज्जा—आचारांगसूत्र) और कल्पसूत्र में उल्लेख है कि महावीर ने ठीक उसी मार्ग का अनुसरण किया जिसका उपदेश उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने किया था। प्राचीनतम जैन आगमों में उत्तराध्ययन-सूत्र के तेईसवें अध्याय में उल्लिखित पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी और महावीर के अनुयायी गौतम के संवाद से पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रायः पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है। चातुर्याम धर्म (चाउज्जाम धम्म) और महावीर के पंच महाव्रत (पंच सिक्खियो) की मौलिक एकता पर भी बल दिया गया है। इस प्रकार, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ई० पू० ८७७ से ७७७ ई० पू० तक के जीवनकाल के विषय में हमें निश्चित आधार मिल जाते हैं। पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में, और सब तीर्थंकरों की भाँति, क्षत्रिय राजपरिवार में हुआ माना जाता है। पार्श्वनाथ के जीवन वृत्तान्त से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने अहिच्छत्त (बरेली जिले में अहिच्छत्र), आमलकप्प (वैशाली जिले में वैशाली के निकट), हत्थिणाउर (मेरठ जिले में हस्तिनापुर), कम्पिल्लपुर (फर्रुखाबाद जिले में कम्पिल), कोसंबी (इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी), रायगिह (नालंदा जिले में राजगिर), सागेय और सावत्थी (गोंडा—बहराइच जिलों में सहेठ-महेठ) नगरों की यात्रा की थी। पार्श्वनाथ का निर्वाण सम्मेदशिखर (हजारीबाग जिले में स्थित पारसनाथ पहाड़ी) पर हुआ। जहाँ व्यवस्थित रूप से पुरातात्त्विक उत्खनन हुआ है उन वाराणसी (राजघाट), अहिच्छत्र, हस्तिनापुर और कौशाम्बी नगरों का इतिहास, वहाँ से प्राप्त मृत्तिका-भाण्डों तथा भूरे रंग के चित्रित मिट्टी के बड़े बरतनों के आधार पर छठी शती ई० पू० से कुछ शती पूर्व तक निश्चित रूप

---

[1] श्वेतांबर परंपरा के अनुसार मल्ली को नारी तीर्थंकर माना गया है. दिगंबर इसे अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कोई भी नारी मुक्ति के लिए सक्षम नहीं है. वे इस तीर्थंकर का नाम मल्लिनाथ मानते हैं.

से जा पहुंचा है। इसलिए यह संभावना बन पड़ती है कि ये स्थान पार्श्वनाथ के क्रियाकलापों से संबद्ध रहे हैं। तथापि, जब हम पार्श्वनाथ से पहले के समय की बात करते हैं तब एक-एक तीर्थंकर के समयांतराल और उनके चरित्र-वर्णन के संबंध में आख्यानों के एक साम्राज्य में ही पहुँच जाते हैं।

परिपुष्ट परंपरा के अनुसार, बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ का जन्म अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय के शौरियपुर (आगरा जिले में बटेश्वर के निकट, सौरीपुर के स्थानीय नाम से प्रसिद्ध) के यादव परिवार में हुआ था। उनका उल्लेख महाभारत के नायक कृष्ण के चचेरे भाई के रूप में हुआ है। इन तीर्थंकर राजकुमार का विवाह गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ़) के शासक उग्रसेन की पुत्री राजकुमारी राजुलमती के साथ होनेवाला था। किन्तु राजकुमार नेमि ने विवाह की वर-यात्रा के समय, विवाह-भोज हेतु काटे जाने के लिए लाये गये पशुओं को देखा। इस घटना ने उनके हृदय को संताप से भर दिया और उन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। माना जाता है कि उन्होंने गिरनार पर्वत पर तपश्चरण किया, केवल-ज्ञान प्राप्त किया और कई वर्ष पश्चात् निर्वाण प्राप्त किया। प्रतीत होता है कि इन्होंने जैन धर्म के प्रथम मौलिक सिद्धांत अहिंसा पर विशेष रूप से बल दिया। यद्यपि अनुश्रुति यही है कि इनका संबंध महाभारत आख्यान के कृष्ण[1] के चचेरे भाई के रूप में था, तथापि इस आख्यानात्मक संदर्भ को एक निश्चित भाषा में कह पाना और इसकी ऐतिहासिकता सिद्ध कर पाना कठिन है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि यदि इस परंपरा का कोई भी आधार है तो नेमिनाथ का समय पार्श्वनाथ के समय से पहले था।

इससे पूर्व-स्थिति का विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। वे मिथिला के राजा थे और उपनिषत्कालीन दार्शनिक राजा जनक के परिवार के थे। डॉ० हीरालाल जैन[2] ने यह सुझाव दिया है कि इस आख्यानात्मक संबंध का कुछ अस्पष्ट ऐतिहासिक आधार रहा होना चाहिए। इनका तर्क अग्रलिखित तथ्य पर आधारित है: उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में नमिनाथ के वैराग्य का कथानक आता है। उसी में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण गाथा (६) है जिससे मिलते-जुलते पद्य बौद्ध महाजनक जातक में और महाभारत के शान्तिपर्व में भी है:

(१) सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे णत्थि किंचन।
मिहिलाए दज्झमाणाए न मे दज्झहि किंचन॥ (उत्तराध्ययन)
(२) सुसुखंवत जीवामो वेसं नो नत्थि किंचन।
मिहिलाए दहमानाए न मे किंचि अदह्यते॥ (जातक)
(३) मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते। (महाभारत)

तथापि, विचार और अभिव्यक्ति की समानता का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता और जो तर्कसंगत निर्णय निकल सकता है वह यह है कि ये तीनों उद्धरण एक सामान्य स्रोत पर आधारित

---

[1] तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि कृष्ण की गणना त्रेसठ शलाका पुरुषों में से नौ वासुदेवों में की गयी है।

[2] जैन (हीरालाल). **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान.** 1962. भोपाल. पृ 19.

हैं तथा उनसे एक ऐसे राजा का परिचय मिलता है जो त्याग (वैराग्य) का जीवंत उदाहरण था।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के संबंध में परंपराओं पर विचार करते हुए डॉ० हीरालाल जैन वैदिक और पौराणिक दोनों संदर्भों का उल्लेख करते हैं।[1] वैदिक परंपरा का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल (२-३) में मिलता है जिसमें वातरशन मुनियों को मलिन (पिशंग) वस्त्र पहने हुए बताया गया है [या फिर उनका शरीर धूलि-धूसरित होने से लगता था कि मानो उनका रंग ही पीला (पिशंग) था]। इन मुनियों के विषय में आगे कहा गया है कि वे उन्मादित मनःस्थिति में रहते थे और मौन का अभ्यास करते थे। आगे की ऋचा में उन मुनियों को केशी (जटाजूटवाले) कहा गया है।

वातरशन या केशी मुनियों के इस विवरण से, डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार, साधुओं के एक ऐसे वर्ग का संकेत मिलता है जिनमें ऋषभनाथ कदाचित् सर्वाधिक महान् थे। वेद और भागवत पुराण में वर्णित इन मुनियों का विवरण जैन मुनिचर्या की विशिष्ट प्रकृति और प्राचीनता को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय रहस्यवाद के विकास की रूपरेखा देते हुए आर० डी० रानाडे ने[2] भागवत पुराण स्कंद ५ श्लोक ५-६ से एक अन्य प्रकार के योगी का मनोरंजक प्रसंग उद्धृत किया है जिसकी परम विदेहता ही उसकी आत्मानुभूति का स्पष्टतम प्रमाण था। उद्धरण यह है: 'हम पढ़ते हैं कि अपने पुत्र भरत को पृथ्वी का राज्य सौंपकर किस प्रकार उन्होंने संसार से निर्लिप्त और एकांत जीवन बिताने का निश्चय किया; कैसे उन्होंने एक अंधे, बहरे या गूँगे मनुष्य का जीवन बिताना आरंभ किया; किस प्रकार वे नगरों और ग्रामों में, खानों और उद्यानों में, वनों और पर्वतों में समान मनोभाव से रहने लगे; किस प्रकार उन्होंने उन लोगों से घोर अपमानित होकर भी मन में विकार न आने दिया जिन्होंने उनपर पत्थर और गोबर फेंका या उनपर मूत्र-त्याग किया या उन्हें सभी प्रकार से तिरस्कार का पात्र बनाया; यह सब होते हुए भी किस प्रकार उनका दीप्त मुखमण्डल और पुष्ट-सुगठित शरीर, उनके सबल हस्त और मुसकराते होंठ राजकीय अन्तःपुर की महिलाओं को आकृष्ट करते थे; वे अपने शरीर से किस सीमा तक निर्मोह थे कि वे उसी स्थान पर मलत्याग कर देते जहाँ वे भोजन करते, तथापि, उनका मल कितना सुगंधित था कि उसके दस मील आसपास का क्षेत्र उससे सुवासित हो उठता; कितना अटल अधिकार था उनका उपनिषदों में वर्णित सुख की सभी अवस्थाओं पर; कैसे उन्होंने अंततोगत्वा संकल्प किया शरीर पर विजय पाने का; जब उन्होंने भौतिक शरीर में अपने सूक्ष्म शरीर को विलीन करने का निश्चय किया उस समय वे कर्नाटक तथा अन्य प्रदेशों में भ्रमण कर रहे थे; वहाँ दिगंबर, एकाकी और उन्मत्तवत् भ्रमण करते समय वे बाँस के झुरमुट से

---

[1] जैन, पूर्वोक्त, पृ 13-17.

[2] रानाडे (आर डी). **इण्डियन मिस्टिसिज्म : मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र**. 1933. पूना. पृ 9.

उत्पन्न भीषण दावानल की लपटों में जा फंसे थे और तब किस प्रकार उन्होंने अपने शरीर का अंतिम समर्पण अग्निदेव को कर दिया था।' यह विवरण वस्तुतः जैन परंपरा के अनुरूप है जिसमें उनके आरंभिक जीवन के अन्य विवरण भी विद्यमान हैं। कहा गया है कि उनकी दो पत्नियाँ थीं– सुमंगला और सुनंदा; पहली ने भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया और दूसरी ने बाहुबली और सुन्दरी को। सुनंदा ने और भी अट्ठानवें पुत्रों को जन्म दिया। इस परंपरा से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऋषभदेव बचपन में जब एक बार पिता की गोद में बैठे थे तभी हाथ में इक्षु (गन्ना) लिये वहाँ इन्द्र आया। गन्ने को देखते ही ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए अपना मांगलिक लक्षणों से युक्त हाथ फैला दिया। बालक की इक्षु के प्रति अभिरुचि देखकर इन्द्र ने उस परिवार का नाम इक्ष्वाकु रख दिया।

इस परंपरा से यह भी ज्ञात होता है कि विवाह-संस्था का आरंभ सर्वप्रथम ऋषभदेव ने किया था। कहा गया है कि असि और मसी का प्रचलन भी उन्होंने किया। कृषि के प्रथम जनक भी वही बताये गये हैं। ब्राह्मी लिपि और स्याही (मसी) द्वारा लेखन की कला भी उन्हीं के द्वारा प्रचलित की गयी। यह संभव नहीं कि जैन सिद्धांतों के इस पारंपरिक निर्माता के व्यक्तित्व को आख्यानों का कुहासा दूर करके प्रकाश में लाया जाये। एक बात पूर्णतया निश्चित है कि भारत में साधुवृत्ति अत्यंत पुरातनकाल से चली आ रही है और जैन मुनिचर्या के जो आदर्श ऋषभदेव ने प्रस्तुत किये वे ब्राह्मण परंपरा से अत्यधिक भिन्न हैं। यह भिन्नता उपनिषद्काल में और भी मुखर हो उठती है, यद्यपि साधुवृत्ति की विभिन्न शाखाओं के विकास का तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण सरल बात नहीं है। रानाडे का कथन है[1] कि 'इस मान्यता के प्रमाण हैं कि उपनिषद्कालीन दार्शनिक विचारधारा पर इस विलक्षण और रहस्यवादी आचार का पालन करनेवाले भ्रमणशील साधुओं और उपदेशकों का व्यापक प्रभाव था. . . .जैसा कि कहा जा चुका है, उपनिषदों की मूल भावना की संतोषजनक व्याख्या केवल तभी संभव है जब इस प्रकार सांसारिक बंधनों के परित्याग और गृहविरत भ्रमणशील जीवन को अपनाने वाली मुनिचर्या के अतिरिक्त प्रभाव को स्वीकार कर लिया जाये। रिस डेविड्स का अनुमान है कि जिन वैदिक अध्येताओं या ब्रह्मचारियों ने भ्रमणशील साधु का जीवन बिताने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग किया उनके द्वारा साधुचर्या उतने उदार मानदण्डों पर गठित नहीं की जा सकी होगी जो मानदंड जैन मुनिचर्या के थे। ड्यूसन के मतानुसार परंपरा का विकास इससे भी कम स्तर पर इस प्रकार के प्रयत्न द्वारा हुआ होगा जिसमें कि व्यावहारिक परिधान को आत्मज्ञान जैसे आध्यात्मिक सिद्धांत से जोड़ा गया हो और जिसका उद्देश्य था–(१) सभी वासनाओं और उनके फलस्वरूप सब प्रकार के नीतिविरुद्ध आचार का संभावित निराकरण जिसके लिए संन्यास या परित्याग ही सर्वाधिक उपयोगी साधन था, और (२) प्राणायाम और ध्यान-योग के यथाविधि परिपालन से उत्पन्न निरोध शक्ति के द्वारा द्वैत की भावना का निराकरण। नियमित आश्रम या जीवन के सर्वमान्य व्यवहार के रूप में जो

---

[1] रानाडे (आर डी) तथा बेलवलकर (एस के). **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी : द क्रिएटिव पीरियड.** पूना. पृ 400.

प्रव्रज्या (गृहविरत श्रमण) और साधुत्व का विधान है उसके परिपालन के लिए एक साधक द्वारा अपनाये गये अभ्यासों और आदर्शों में सर्वथा परिवर्तन केवल तत्कालीन आध्यात्मिक उपदेश के फलस्वरूप या अनिवार्य तर्कसंगत परिणाम के कारण नहीं आ सकता। इसके साथ-ही-साथ — संबहुला नानातिट्ठिया. . .नानादिट्ठिका नानाखंतिका नानारुचिका नानादिट्ठि-निस्सयनिस्सिता—(बड़े गणों में चलनेवाले, विभिन्न उपदेष्टाओं का अनुगमन करनेवाले. . .विभिन्न मान्यताएँ रखनेवाले, विभिन्न आचारों का पालन करनेवाले, विभिन्न रुचियोंवाले और विभिन्न आध्यात्मिक मान्यताओं पर दृढ़ विश्वास रखनेवाले) साधुगणों के तत्कालीन साहित्य में जो बहुत-से निश्चित और निरंतर उल्लेख आये हैं उन्हें देखते हुए यह सोचना उचित होगा कि इस विशेषता के अकस्मात् सामने आने के कुछ जाने-पहचाने बहिरंग कारण भी हैं। इनमें से एक यह है कि आर्य संस्कृति के मार्गदर्शक सामूहिक रूप से जब पूर्व दिशा में बढ़े, तब वे किन्हीं ऐसी जातियों के संपर्क में आये जो किसी दूसरे ही सोपान पर खड़ी थीं। इस दूसरे माध्यम से प्राप्त की गयी भ्रमणशील साधुओं की संस्था में, स्वभावतः, इस कारण से कुछ परिवर्तन आया होगा कि वह आर्यों की आचार संहिता और अनुशासन के शेष भाग में घुल-मिल सके, किन्तु इस नवोदित संस्था की उत्तराधिकार में प्राप्त प्रवृत्ति कालांतर में प्रतिष्ठापित मानदण्डों को नकारने के लिए विवश हुई। यहाँ तक कि ऐसे समय जब यह संस्था समाज से अलग-थलग वन-प्रांतरों या पर्वत-कंदराओं में रह रही थी, उसने दर्शन का उपदेश घर-घर जाकर देना आरंभ कर दिया और परंपरा से परिचित शिक्षित वर्ग से अपना संपर्क न्यूनतर कर लिया, जिसके फलस्वरूप विभिन्न मान्यताओं और रुचियोंवाले बुद्धिजीवियों में निश्चित रूप से अभीष्ट परिवर्तन आया। उपनिषदुत्तरकाल के अध्ययन के स्रोत के रूप में मान्य ग्रंथों अर्थात् जैन और बौद्ध आगमों तथा आंशिक रूप से महाभारत में ऐसे विभिन्न चैत्यवासियों, साध्वियों और श्रमणों के विशद प्रसंग भरे पड़े हैं जो सब प्रकार के विषयों पर बौद्धिक विचार-विमर्श तथा आत्मिक अनुसंधान में संलग्न रहते थे, प्रत्येक मुख्य उपदेष्टा या गणाचार्य अधिकतम गणों या शिष्यों को आकृष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहता था क्योंकि उनकी संख्या उस उपदेष्टा की योग्यता की सूचक मानी जाती थी।'

ब्राह्मण-साधुवृत्ति से सर्वथा भिन्न जैन मुनिसंघ की स्वतंत्र प्रकृति और उद्भव को भली भाँति समझने में इस लंबे कथानक से पर्याप्त सहायता मिलती है। श्रमणों का यह मार्ग सम्पूर्ण निवृत्ति (सांसारिक जीवन से पूर्णतया पराङ्मुखता) और समस्त अनगारत्व (गृहत्यागी की अवस्था) तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का समन्वित रूप है। मन (मनस्), शरीर (काय), और वाणी (वाच्) के सब प्रकार से निरोध अर्थात् त्रिगुप्ति की धारणा से साधुत्व का आदर्श इस सीमा तक अधिक निखर उठता है कि वह निरंतर उपवास (संलेखना) में प्रतिफलित हो जाता है, जिसका विधान इस धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म में नहीं है। जैन साधुत्व के ऐसे ही अद्वितीय आचारों में आलोचना अर्थात् अपने पापों की स्वीकारोक्ति और प्रतिक्रमण अर्थात् पापों के परिशोधन का नित्यकर्म उल्लेखनीय हैं।

जैन साधुत्व का एक और अद्वितीय आचार है, कायोत्सर्ग मुद्रा में तपश्चरण—जिसमें साधु इस प्रकार खड़ा रहता है कि उसके हाथ या भुजाएँ शारीरिक अनुभूति से असंपृक्त हो जाते हैं। यह मुद्रा,

कुछ विद्वानों के अनुसार, हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा (रेखाचित्र १). पर अंकित है, जिसपर ऊपर की पंक्ति में एक साधु वन में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा है और एक बैल के पास बैठा एक गृहस्थ-श्रावक उसकी पूजा कर रहा है, और नीचे की पंक्ति में सात आकृतियाँ, तथोक्त कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हैं। इस समीकरण से हड़प्पाकाल में जैन धर्म के अस्तित्व का संकेत मिलता है। अन्य विद्वानों ने तथाकथित पशुपतिवाली प्रसिद्ध मुद्रा का एक तीर्थंकर (कदाचित् ऋषभनाथ) से समीकरण होने का संकेत किया है। इस प्रकार के 'समीकरण' अंतिम नहीं माने जा सकते जबतक कि इन मुद्राओं पर अंकित लिपि को पढ़ नहीं लिया जाता।

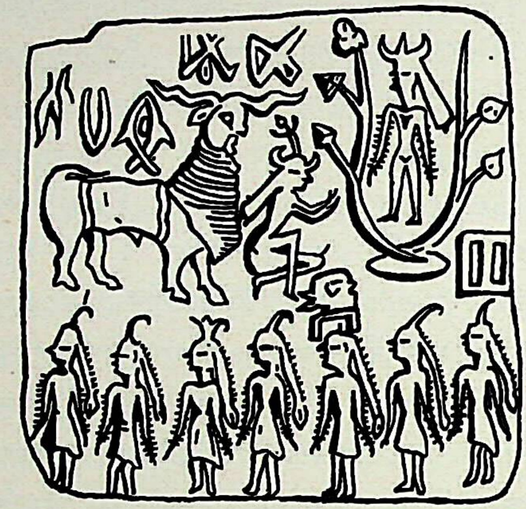

रेखाचित्र 1. मोहन-जो-दड़ो : सेलखड़ी में उकेरी मुद्रा

अंत में यह कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा उपदिष्ट साधुत्व की परंपरा निस्संदेह अत्यन्त प्राचीन है किन्तु अन्य अनेक भ्रमणशील साधुओं के मतों से भिन्न जैन मत की व्यवस्थित आचार-संहिता पार्श्वनाथ और महावीर की ही देन है। जैन पुराणों में चौबीस तीर्थंकरों के विधान से यह अभीष्ट है कि तपश्चरण के इस सिद्धांत के आरंभिक या समकालीन भाष्यकारों का स्मरण रहे और उनकी महिमा बढ़े तथा साथ ही जैन धर्म की सनातनता स्थापित रहे। इसलिए पार्वश्नाथ से पहले के तीर्थंकरों की समय-सीमा की यथावत् मान्यता या उनकी ऐतिहासिकता, हमारे वर्तमान ज्ञान की परिसीमा के कारण अव्यवहार्य होगी।

मधुसूदन नरहर देशपाण्डे

अध्याय 3

जैन धर्म का प्रसार

महावीर

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और. महावीर के निर्वाण के मध्य ढाई सौ वर्ष लंबे अंतराल में जैन धर्म के प्रसार अथवा उसकी स्थिति के विषय में प्रायः कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। 'सूत्रकृतांग'[1] से यह प्रतीत होता है कि इस अवधि में ३६३ मत-मतांतरों का उदय हुआ था परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि इन विचारधाराओं का जैन धर्म के साथ कितना और क्या संबंध था। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ के निर्वाणोपरांत उस काल में ऐसा कोई उल्लेखनीय व्यक्तित्व सामने नहीं आया जो जैन-धर्म को पुनःसंगठित कर उसका प्रसार कर पाता।

किन्तु, महावीर ने इस परिस्थिति में परिवर्तन ला दिया और अपने चरित्र, दूरदर्शिता एवं क्रियाशीलता के बल पर जैन धर्म को संगठित कर उन्होंने उसका प्रसार किया। महावीर का जन्म वैशाली के एक उपनगर कुण्डग्राम में हुआ था जो अब बसुकुण्ड कहलाता है। उनकी माता प्रसिद्ध वैशाली नगर (उत्तर बिहार के वैशाली जिले में आधुनिक बसाढ़) में जनमी थीं। महावीर का निर्वाण पावा में हुआ, जिसकी पहचान वर्तमान पटना जिलांतर्गत पावापुरी के साथ की जाती है। इससे प्रतीत होता है कि महावीर बिहार से घनिष्ठतम रूप से संबद्ध रहे।

महावीर का जीवनवृत्त सुविदित है। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया था। उसके उपरांत बारह वर्ष तक तपस्या की और तत्पश्चात् तीस वर्ष पर्यंत विहार करके धर्म-प्रचार किया। उनके निर्वाण की परंपरामान्य तिथि ईसा-पूर्व ५२७ है। वैसे कुछ विद्वान् इस तिथि को ईसा-पूर्व ४६७ मानने के पक्ष में हैं।

महावीर ने तीस वर्ष के अपने धर्म-प्रचार-काल में एक स्थान से दूसरे स्थान पर निरंतर भ्रमण किया। कहा जाता है कि उन्होंने अनेक स्थानों का भ्रमण करके धर्म का प्रचार किया, जो इस बात का भी सूचक है कि उनका प्रभाव कितने क्षेत्रों में व्याप्त था। ये स्थान हैं : आलवी

---

[1] **जैन सूत्राज. सूत्रकृतांग सूत्र.** भाग 2. अनुः हरमन जेकोबी. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट. 45. 1895. ऑक्सफोर्ड. पृ 315, टीका पृ 208 तथा परवर्ती.

अथवा आलंभिक (श्रावस्ती और राजगृह के मध्य), अस्थिकग्राम (वैशाली से पावा जानेवाले मार्ग पर), भद्रिक (वर्तमान मुंगेर), भोगपुर (पावा और वैशाली के मध्य), चंपा (भागलपुर के निकट चंपानगर अथवा चंपापुर), चोरगसंनिवेश (बंगाल स्थित छोरेय), दढभूमि (सिंहभूम जिले में दल भूम), जंबुसण्ड (पावापुरी के निकट), कजंगल (संथाल परगना में कंकजोर), कौशांबी (इलाहाबाद के निकट कोसम), राढा (पश्चिम बंगाल), लोहग्गला (राँची जिले में लोहारडागा), मध्यम-पावा (पावापुरी), मलय (निर्गय-विहार), मिथिला (नेपाल की तराई स्थित जनकपुर), नालंदा (नालंदा जिला), पुरिमताल (विहार का पुरुलिया स्थान, अन्य मतानुसार उत्तर प्रदेश का प्रयाग, इलाहाबाद), राजगृह (नालंदा जिले में राजगिर), श्रावस्ती (गोंडा-वहराइच जिलों में सहेठ-महेठ), सेयविया (सहेठ-महेठ के निकट), सिद्धार्थपुर (वीरभूम जिले का सिद्धनगर), सुब्भभूमि (दक्षिण-पश्चिमी वंगाल का सुहम), सुंसुमारपुर (मिरजापुर जिले में चुनार के निकट), तोसलि (पुरी जिले में धौली), वाराणसी एवं वैशाली (वसाढ़) । कतिपय अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर ने और भी कुछ सुदूर स्थानों में विहार किया था ।

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त, जिनकी पहचान संभव है, महावीर से संबद्ध ऐसे भी कुछ स्थान हैं जिनकी स्थिति निश्चित नहीं की जा सकती । इससे इतना तो स्पष्ट है कि महावीर ने विहार, पश्चिम वंगाल के पश्चिमी जिलों तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में जैन धर्म-प्रचार का प्रयास किया था । अतएव ऐसा लगता है कि पार्श्वनाथ और महावीर दोनों के प्रभाव-क्षेत्र प्रायः अभिन्न रहे हैं । यह भी संभव है कि पार्श्वनाथ और महावीर के अंतराल में किसी प्रकार की कोई धार्मिक अराजकता रही हो जिसके कारण महावीर ने अपना जीवन उसी क्षेत्र में जैन धर्म को पुनर्गठित करने में व्यतीत कर दिया जहाँ पहले पार्श्वनाथ द्वारा धर्म-प्रसार किया जा चुका था ।

महावीर के अनुयायी पर्याप्त संख्या में रहे होंगे, यथा— चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएँ तथा पाँच लाख के लगभग श्रावक-श्राविकाएँ । अनेक राजा और रानियाँ, राजकुमार और राजकुमारियाँ उनके भक्त थे, किन्तु उन सब की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना संभव नहीं है । इस संवंध में कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि उस काल के प्रायः सोलह महाजनपद महावीर के प्रभाव-क्षेत्र में थे, जवकि श्री घटगे का कथन है कि 'परवर्ती जैन अनुश्रुति जिसे पर्याप्त ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त नहीं है, तत्कालीन उत्तर-भारत के प्रायः सभी राजाओं से महावीर का पारिवारिक संबंध वताती है क्योंकि उनकी रानियाँ उन महाराजा चेटक की पुत्रियाँ बतायी जाती हैं जो महावीर के मामा थे ।[1]

महावीर के कतिपय प्रतिद्वंद्वी भी रहे प्रतीत होते हैं जिनमें से एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी आजीविक संप्रदाय का संस्थापक गोसाल मंक्खलिपुत्त था । वह श्रावस्ती का निवासी था । परंतु उसके सुनिश्चित

---

[1] घटगे (ए एम). **एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी**. संपा : आर सी मजूमदार तथा ए डी पुसालकर. 1960. वंबई. पृ 415 . एक अन्य परंपरा के अनुसार चेटक महावीर के नाना थे.

प्रभाव-क्षेत्र का निर्णय करना दुष्कर है। यह तो सुविदित है कि आजीविकों का अस्तित्व अशोक के समय में और उसके भी उपरान्त रहा।

महावीर के ग्यारह मुख्य शिष्य या गणधर थे जिन्होंने जैन संघ को उपयुक्त रूप में अनुशासित रखा था। ये सभी गणधर ब्राह्मण थे जो बिहार की छोटी-छोटी बस्तियों से आये प्रतीत होते हैं। उनमें मात्र दो गणधर राजगृह और मिथिला – जैसे नगरों से आये थे। इससे यह पुनः प्रमाणित होता है कि महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म का प्रसार, विस्तार पश्चिम-वंगाल और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तक ही सीमित रहा।

महावीर के संगठन-कौशल तथा उनके गणधरों की निष्ठा ने जैन संघ को सुव्यवस्थित बनाये रखा। किन्तु, महावीर के जीवनकाल में ही बहुरय तथा जीवपएसिय नामक दो पृथक् संघ गठित हुए वताये जाते हैं। यद्यपि उन्हें कोई विशेष समर्थन प्राप्त हुआ नहीं लगता। अंत में दिगंवर-श्वेतांवर नामक संघभेद ही ऐसा हुआ जिसने जैन धर्म के विकास-क्रम, प्रसार-क्षेत्र, मुनिचर्या और प्रतिमा-विज्ञान को प्रभावित किया।[1]

महावीरोपरांत का सहस्राब्द

दिगंवर-श्वेतांवर संघभेद के प्रसंग में ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रसार का उल्लेख मिलता है। परंतु इसपर चर्चा करने के पूर्व हम महावीर के निर्वाणोपरांत तथा मौर्यों से पूर्व के युग में उत्तर भारत में जैन धर्म के प्रसार का लेखा-जोखा ले लें।

ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी में हुए नन्दों के कतिपय पूर्वजों का महावीर के साथ कुछ संवंध रहा प्रतीत होता है। अनुश्रुति है कि महाराज सेणिय बम्भसार (बिम्बिसार) और उसका पुत्र कूणिय या अजातसत्तु (अजातशत्रु) महावीर के भक्त थे। अजातशत्रु के शासनकाल में ही गौतम बुद्ध और महावीर के निर्वाण हुए। किन्तु यदि महावीर का निर्वाण ईसा-पूर्व ५२७ और बुद्ध का ४८७ या ४८३ में हुआ मानें तो इस कथन को सिद्ध करने में कठिनाई आती है। बौद्ध ग्रंथों में इस नरेश के प्रति की गयी निन्दा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका झुकाव जैन धर्म की ओर था। यही वात उसके उत्तराधिकारी उदायी के विषय में कही जा सकती है, जिसके द्वारा पाटलिपुत्र में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया गया बताया जाता है तथा जिसके राजमहल में जैन साधुओं का निर्बाध रूप से आना-जाना था। यद्यपि पाटलिपुत्र में उक्त मंदिर के अस्तित्व का कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है तथापि यह संभावना है कि इस नरेश के समय में यह प्रसिद्ध राजधानी जैन धर्म का केन्द्र वन गयी थी।

उसके उत्तराधिकारी नन्द राजाओं ने भी जैन धर्म को अल्पाधिक संरक्षण प्रदान किया प्रतीत होता है। एक अनुश्रुति के अनुसार नवम नन्द का जैन मंत्री सगडाल सुप्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलभद्र का

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : देव (एस बी). **हिस्ट्री ऑफ जैन मॉनकिज्म**. 1956. पूना. पृ 80 तथा परवर्ती.

पिता था। मुद्राराक्षस नाटक में वर्णन मिलता है कि जैन साधुओं को राजा नन्द का विश्वास प्राप्त था। संभवतः इसीलिए चाणक्य ने नन्द को राजपद से हटाने के लिए एक जैन साधु की सेवाओं का उपयोग किया था।

साहित्यिक साक्ष्यों से कहीं अधिक विश्वसनीय ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी (कुछ विद्वानों के अनुसार द्वितीय शताब्दी) में हुए कलिंग के शासक चेतिवंशीय महाराजा खारवेल के शिलालेख का साक्ष्य उपलब्ध है। इस अभिलेख के अनुसार यह नरेश अपने शासन के बारहवें वर्ष में कलिंग की तीर्थंकर प्रतिमा को जिसे मगध का नन्दराज लूटकर ले गया था, वापस कलिंग ले आया था। इससे स्पष्ट है कि नन्दों के समय तक जैन धर्म का प्रसार कलिंग देश पर्यंत हो चुका था। व्यवहारभाष्य में भी राजा तोसलिक का उल्लेख प्राप्त होता है जो तोसलि नगर में विराजमान एक तीर्थंकर-प्रतिमा की मनोयोगपूर्वक रक्षा में दत्तचित्त था।

नन्दों के उत्तराधिकारी मौर्यवंशीय राजाओं में से कई जैन धर्म के प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ एक अविच्छिन्न जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्म की ओर दृढ़ झुकाव था। अनुश्रुति है कि भद्रबाहु नामक सुप्रसिद्ध जैनाचार्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मगध में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की थी और वह अपने परम शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गये थे तथा यह भी कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने सल्लेखना व्रत-पूर्वक समाधिमरण किया था। यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग से संबंधित शिलालेखीय साक्ष्य सन् ६५० जितना प्राचीन है।[1] चन्द्रगुप्त के समय में जैन मुनियों की उपस्थिति के समर्थन में कुछ विद्वान् चन्द्रगुप्त की राजसभा में आये यूनानी राजदूत मैगस्थनीज द्वारा किये गये श्रमणों के उल्लेख को प्रस्तुत करते हैं। यदि हम शिलालेख में उल्लिखित अनुश्रुति को, इतनी परवर्ती होने पर भी, स्वीकार करते हैं तो उससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिण भारत में चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में ही जैन धर्म का प्रसार हो चुका था।

चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के विषय में जैन स्रोत मौन हैं। बिन्दुसार के उत्तराधिकारी अशोक के विषय में तो यह सुविदित ही है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल पक्षधर था। कदाचित् इसीलिए जैन स्रोत अशोक के विषय में पूर्णतया मौन हैं। कुछ विद्वान् अशोक की अहिंसापालन विषयक विज्ञप्तियों और सर्वधर्म-समभाव की घोषणा में आवश्यकता से अधिक अर्थ निकालने की चेष्टा करते हैं। ये तो मात्र अशोक की नैतिक उदारता और सहिष्णुता की भावना के परिचायक हैं, क्योंकि उसने ये आदेश प्रसारित किये थे कि ब्राह्मणों, श्रमणों, निर्ग्रंथों और आजीविकों को उचित सम्मान और सुरक्षा प्रदान की जाये।

किन्तु, जैन ग्रंथ अशोक के पुत्र कुणाल के विषय में, जो उज्जयिनी प्रदेश का राज्यपाल था, अधिक विशद विवरण देते हैं। बाद के वर्षों में उसने अपने पिता अशोक को प्रसन्न करके उनसे यह

---

[1] एपीग्राफिया कर्नाटिका. 2. संशोधित संस्करण. 1923. पृ 6-7. इंस्क्रिप्शन 31.

प्रार्थना की थी कि राज्य उसे दे दिया जाये। कहा जाता है कि अशोक ने कुणाल के पुत्र सम्प्रति को मध्य भारत स्थित उज्जैन में अपने प्रतिनिधि के रूप में राजा नियुक्त किया था और कुणाल ने कालांतर में समूचे दक्षिणापथ को विजित कर लिया था। अशोक की मृत्यु के उपरांत सम्प्रति उज्जैन पर और दशरथ पाटलिपुत्र पर शासनारूढ़ रहे प्रतीत होते हैं।

सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रसार में प्रभूत योग दिया। साहित्यिक साक्ष्यों के अनुसार वह आर्य सुहस्ति का शिष्य था और जैन साधुओं को भोजन एवं वस्त्र प्रदान करता था। यदि यह सत्य है तो इसका अर्थ है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी के अंत तक जैन धर्म मध्य प्रदेश में प्रसार पा चुका था। सम्प्रति को उज्जैन प्रांत में जैन पर्वों के मानने तथा जिन-प्रतिमा-पूजोत्सव करने का श्रेय दिया जाता है। बृहत्-कल्पसूत्र-भाष्य[1] के अनुसार उसने अन्द (आँध्र), दमिल (द्रविड़), महरट्ट (महाराष्ट्र) और कुडुक्क (कोड़गु) प्रदेशों को जैन साधुओं के विहार के लिए सुरक्षित वना दिया था।

मौर्यकाल में जैन धर्म का जन-साधारण पर प्रभाव था, इसका समर्थन पटना के निकटवर्ती लोहानीपुर से प्राप्त जिन-बिम्ब के धड़ से भी होता है। यद्यपि सम्प्रति को अनेक जैन मंदिरों के निर्माण कराने का श्रेय दिया जाता है परंतु आज इन मंदिरों का कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं है जो इस तथ्य की पुष्टि कर सके।

प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व के कलिंग-नरेश चेतिवंशीय खारवेल का उल्लेख हम पहले (पृष्ठ २६) कर चुके हैं, जो उस कलिंग-जिन-बिम्ब को पुनः अपनी राजधानी (कलिंग) में ले आया था जिसे लूटकर नन्दराज मगध ले गया था। उड़ीसा में भुवनेश्वर की निकटवर्ती पहाड़ियों में स्थित हाथीगुंफा में प्राप्त खारवेल का शिलालेख जैन धर्म के विषय में भी प्रसंगतः रोचक विवरण प्रस्तुत करता है। यह शिलालेख अर्हंतों एवं सिद्धों की वंदना से प्रारंभ होता है और यह भी सूचित करता है कि खारवेल ने चौंसठ-अक्षरी सप्तांगों को संकलित कराया था जो मौर्यकाल में नष्ट हो गये थे। इससे स्पष्ट है कि खारवेल जैन धर्म के साथ सक्रिय रूप से संबद्ध था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है (पृष्ठ २५), जैन धर्म के समस्त निन्हवों (भिन्न मत-संप्रदाय) में दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद ही गंभीरतम था क्योंकि इसी के कारण जैन धर्म स्थायी रूप से दो आम्नायों में विभक्त हो गया। उक्त मतभेद के जन्म के विषय में दिगंबर एवं श्वेतांबरों द्वारा दिये गये कथानकों के विस्तार में जाना यहाँ अधिक समीचीन नहीं है, मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि दिगंबर-आम्नाय के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष ने जैन मुनिसंघ के एक भाग को आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण-भारत की ओर विहार कर जाने के लिए विवश किया और जो मुनि मगध में ही रह गये थे उन्हें खण्डवस्त्र धारण करने की छूट दे दी गयी। ये अर्द्ध-फालक मुनि ही श्वेतांबरों के पूर्व रूप थे। इसके विपरीत श्वेतांबरों का कहना है कि शिव-

---

[1] बृहत्-कल्पसूत्र-भाष्य. 3. 3275-89.

भूति नामक साधु ने क्रोध के आवेश में नग्नत्व स्वीकार किया था। अतएव इन सांप्रदायिक कथनों को स्वीकार करने की अपेक्षा यह कहना अधिक निरापद होगा कि उस काल में ऐसे दो वर्गों का अस्तित्व था, जिनमें से एक स्थितिपालक या शुद्धाचारी था जो नग्नता पर बल देता था और दूसरा शारीरिक रूप से वृद्ध तथा अक्षम जैन साधुओं का वर्ग था जो पहले वर्ग के दिगंबरत्व का समर्थक नहीं था। कालांतर में यही शुद्धाचारी (जिनकल्पी) और शिथिलाचारी (स्थविरकल्पी) साधु क्रमशः दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों के रूप में प्रतिफलित हो गये होंगे। जो भी हो, यह बात युक्तियुक्त प्रतीत होती है कि इन दोनों संप्रदायों के मध्य मतभेद धीरे-धीरे बढ़ते गये, जो ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग अंत तक रूढ़ हो गये।

उज्जैन से आगे के भारत के पश्चिमी भाग ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में ही जैन धर्म के प्रभाव में आ गये प्रतीत होते हैं। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति मौर्य के भाई सालिशुक ने सौराष्ट्र[1] में जैन धर्म के प्रसार में योग दिया। गुजरात-काठियावाड़ के साथ जैन धर्म का परंपरागत संबंध बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय तक पहुँचता है जिन्होंने काठियावाड़ में मुनिदीक्षा ली थी।[2] इस प्रकार प्रायः ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक कलिंग, अवन्ति और सौराष्ट्र जैन धर्म के प्रभाव में आ गये प्रतीत होते हैं।

उत्तरकालीन जैन साहित्य में प्रतिष्ठान – उत्तरी दक्षिणापथ में स्थित वर्तमान पैठन – में शासन करनेवाले सातवाहनवंशी नरेश सालाहण या शालिवाहन से संबंधित कथानक प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। कालकाचार्य ने, जिनका पौराणिक संबंध पश्चिमी भारत के शक शासक के साथ रहा था, शालिवाहन से भी संपर्क किया बताया जाता है। हाल ही में प्रो० सांकलिया ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग के एक शिलालेख को प्रकाश में लाये हैं, जिसका प्रारंभ, उनके अनुसार, एक जैन मंत्र के साथ होता है।[3] तथापि, सातवाहनों के साथ जैनों के व्यापक संबंधों के प्रमाण अत्यल्प ही हैं।

सुदूर दक्षिण में सिंहनन्दिन् द्वारा ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग गंग राज्य की स्थापना के साथ-साथ जैन धर्म ने वस्तुतः राष्ट्र-धर्म का रूप प्राप्त कर लिया था। कोंगुणिवर्मन, अविनीत तथा शिवमार जैसे राजा तथा उनके उत्तराधिकारी भी जैन धर्म के परम उपासक थे, जिन्होंने जैन मंदिरों, मठों तथा अन्य प्रतिष्ठानों के लिए अनुदान दिये थे।[4]

---

[1] **जर्नल ऑफ द बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी.** 16; 1930; 29-31.

[2] **इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली.** 16; 1940; 314.

[3] **स्वाध्याय** (गुजराती जर्नल), बड़ौदा.7,4; 419 तथा परवर्ती.

[4] अयंगर (के) तथा राव (एस). **स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म.** 1922. मद्रास. पृ 110-11. / विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : कृष्णराव (एम वी). **गंगाज ऑफ तलकाड.** 1936. मद्रास. पृ 204-05.

गंग राजाओं की भाँति कदम्ब राजा (चौथी शती ई० से) भी जैन धर्म के संरक्षक थे। काकुत्स्थवर्मन, मृगेशवर्मन, रविवर्मन एवम् देववर्मन के शासनकालों के शिलालेख कदम्ब राज्य में जैन धर्म की लोकप्रियता के साक्षी हैं।[1] इन अभिलेखों में श्वेतपटों, निग्रंथों तथा कूर्चकों (नग्न तपस्वियों) के उल्लेख हैं जो कि विभिन्न साधुसंघों में संगठित रहे प्रतीत होते हैं। ये अभिलेख देव-प्रतिमाओं की घृत-पूजा जैसी कतिपय प्रथाओं का भी उल्लेख करते हैं।

ऐसे भी कुछ साक्ष्य मिले हैं जिनसे विदित होता है कि सुदूर दक्षिण के कतिपय चेरवंशीय नरेश भी जैन आचार्यों के संरक्षक रहे थे।[2] गुएरिनॉट ने चोल शासनकाल के कुछ शिलालेखों का विवरण दिया है जिनमें जैन संस्थाओं के लिए भूमि प्रदान किये जाने का उल्लेख मिलता है।[3]

अब हम पुनः मध्य एवं उत्तर भारत में जैन धर्म के प्रसार की स्थिति पर विचार करेंगे। ऐसी अनुश्रुति है कि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग उज्जैन में सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य का उदय हुआ था जिसे प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैन धर्म में दीक्षित किया था।[4] प्रसिद्ध कालकाचार्य कथानक से विदित होता है कि किस प्रकार उक्त आचार्य ने पश्चिम और मध्यभारत में शकराज का प्रवेश कराया था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि मध्य भारत और दक्षिणापथ में, जहाँ जैन धर्म का प्रथम संपर्क संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में हुआ था, जैन धर्म की प्रवृत्ति किन्हीं अंशों में बनी रही। इसका समर्थन हाल ही में पूना जिले में प्राप्त ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के एक जैन गुफा-शिलालेख से होता है।[5]

उत्तर भारत में मथुरा जैन धर्म का महान् केन्द्र था। जैन स्तूप के अवशेष तथा साथ में प्राप्त शिलालेख, जिनमें से कुछ ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी तक के हैं, मथुरा क्षेत्र में जैन धर्म की संपन्न स्थिति की सूचना देते हैं। मथुरा स्थित कंकाली टीले के उत्खनन से ईंट-निर्मित स्तूप के अवशेष, तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ, उनके जीवन की घटनाओं के अंकन से युक्त मूर्तिखंड, आयागपट, तोरण तथा वेदिका-स्तंभ आदि प्रकाश में आये हैं जो अधिकांशतः कुषाणकालीन हैं। व्यवहारभाष्य (५,२७) के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मथुरा में एक रत्नजटित स्तूप था तथा मथुरानिवासी जैन धर्म के अनुयायी थे और वे अपने घरों में तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा करते थे।

मथुरा से प्राप्त ये साक्ष्य जैन धर्म के विकास के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। अनेकानेक शिलालेख यह तथ्य प्रकट करते हैं कि तत्कालीन समाज के व्यापारी तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति बहुत

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : मोरेस (जॉर्ज एम). **कदम्बकुल.** 1931. बम्बई. पृ 254-55.

[2] **जैन एण्टीक्वेरी.** 12, 2; 1946-47; 74.

[3] गुएरिनॉट (ए). **रिपरटॉयर द ऐपीग्राफिए जैन.** 1908. पेरिस. संख्या 167,171 तथा 478.

[4] क्लाट (जोहन्स). **इण्डियन एण्टीक्वेरी.** 11; 1882; 247 और 251.

[5] यह सूचना प्रोफेसर एच डी सांकलिया के सौजन्य से प्राप्त हुई है.

बड़ी संख्या में जैन धर्मानुयायी थे, क्योंकि दान देनेवालों में कोषाध्यक्ष, गंधी, धातुकर्मी (लुहार, ठठेरे आदि), गोष्ठियों के सदस्य, ग्राम-प्रमुख, सार्थवाहों की पत्नियाँ, व्यापारी, नर्तकों की पत्नियाँ, स्वर्णकार तथा गणिका जैसे वर्गों के व्यक्ति संमिलित थे ।[1] इन शिलालेखों में विभिन्न गणों, कुलों शाखाओं तथा संभागों का भी उल्लेख है जिनसे ज्ञात होता है कि जैनसंघ सुगठित एवं सुव्यवस्थित था । तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाओं की प्राप्ति से यह भी सिद्ध होता है कि इस काल तक मूर्तिपूजा पूर्णरूपेण स्थापित एवं प्रचलित हो चुकी थी ।

ईसा सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में सौराष्ट्र में जैन धर्म की प्रवृत्ति का अनुमान, कुछ विद्वानों के अनुसार, जूनागढ़ के निकट बाबा-प्यारा मठ में पाये गये जैन-प्रतीकों से लगाया जा सकता है ।[2] किन्तु यह साक्ष्य पूर्णतया विश्वासप्रद नहीं है । क्षत्रप शासक जयदामन के पौत्र के जूनागढ़वाले शिलालेख में 'केवलज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है,[3] जो वस्तुतः एक जैन पारिभाषिक शब्द है । इससे विदित होता है कि काठियावाड़ में जैन धर्म का अस्तित्व कम से कम ईसा सन् की प्राथमिक शताब्दियों से रहा है । प्रोफेसर सांकलिया ने इस संबंध में वर्तमान राजकोट जिलांतर्गत गोंडल से प्राप्त तीर्थंकर-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है । जिनका समय वह सन् ३०० के लगभग निर्धारित करते हैं ।[4] इससे आगे की शताब्दियों में गुजरात में जैन धर्म का प्रबल प्रभाव रहा, यह इस बात से स्पष्ट है कि वलभी में दो सम्मेलन (संगीतियाँ) आयोजित हुए थे, जिनमें से प्रथम चौथी शताब्दी में तथा द्वितीय पाँचवीं शताब्दी में हुए बताये जाते हैं, किन्तु इन सम्मेलनों की तिथियों के विषय में मतैक्य नहीं है ।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि ईसा सन् के आरंभ होने तक तथा उसकी प्रारंभिक शताब्दियों में जैन धर्म का कार्यक्षेत्र पूर्वी भारत से मध्य एवं पश्चिम भारत की ओर स्थानांतरित हो गया था ।

उत्तर भारत में कुषाणों के पतनोपरांत गुप्त-शासकों ने ब्राह्मण धर्म को पुनरुज्जीवित एवं संगठित करने में सहायता दी । तथापि यह मानना सदोष होगा कि उस काल में जैन धर्म का गत्य-वरोध हुआ । यद्यपि गुप्त-शासक मूलतः वैष्णव थे तथापि उन्होंने उल्लेखनीय धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया । अब यह विदित है कि प्रारंभिक गुप्त-शासक रामगुप्त के समय में तीर्थंकर-प्रतिमाओं

---

[1] देव, पूर्वोक्त, पृ 101.

[2] वर्जेस (जेम्स). **रिपोर्ट ऑन दि एंटीक्विटीज ऑफ़ काठियावाड़ एण्ड कच्छ.** आर्कयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया, न्यू इंपीरियल सीरीज़. 1876. लंदन. / सांकलिया (एच डी). **आर्कयॉलॉजी ऑफ गुजरात.** 1941. बम्बई. पृ 47-53.

[3] **ऐपीग्राफिया इण्डिका.** 16; 1921-22; 239.

[4] सांकलिया, पूर्वोक्त, 1941, पृ 233.

की प्रतिष्ठा हुई थी। कुमारगुप्त के शासनकाल में उत्कीर्ण उदयगिरि गुफा के शिलालेख में पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठापना का उल्लेख मिलता है।[1] मथुरा के एक शिलालेख में एक श्राविका द्वारा कोट्टियगण के अपने गुरु के उपदेश से एक प्रतिमा की स्थापना कराये जाने का उल्लेख है।[2] कुमारगुप्त के उतराधिकारी स्कंदगुप्त के शासनकाल से भी संबंधित इस प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है। कहाऊँ स्तंभ के लेख में, जो कि सन् ४६०-६१ का है, मद्र नामक व्यक्ति द्वारा पाँच तीर्थंकर मूर्तियों की प्रतिष्ठापना का वर्णन है।[3] इन यत्र-तत्र बिखरे साक्ष्यों में उस विवरण को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो कि वाँग्लादेश में पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है और बुधगुप्त के शासनकाल का है। उसमें एक ब्राह्मण दंपति द्वारा एक जैन विहार की आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिए भूमि-दान का उल्लेख है।[4]

इस संदर्भ में हैवेल का यह कथन उद्धरणीय है कि : 'गुप्त सम्राटों की राजधानी ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र बन गयी थी, किन्तु जन-सामान्य अपने पूर्वजों की धार्मिक परंपराओं का ही पालन करता था, और भारत के अधिकांश भागों में बौद्ध एवं जैन विहार सार्वजनिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में कार्य कर रहे थे।[5]

परवर्ती इतिहास

उत्तर भारत में गुप्त-साम्राज्य के पतनोपरांत हर्षवर्धन के राज्यारंभ तक का इतिहास धूमिल-सा है। यद्यपि हर्ष का बौद्ध धर्म से घनिष्ठ संबंध था, तथापि जैसा कि जैन गृहस्थों द्वारा बिहार के जैन संस्थानों को दिये गये दानों से ज्ञात होता है, जैन धर्म ने इस काल में अपना अस्तित्व बनाये रखा। यों उसकी स्थिति दुर्बल ही रही।[6] हर्ष के परवर्ती काल में जैन धर्म ने राजपूताना, गुजरात और मध्य भारत में प्रसार पाया।

देवगढ़ से प्राप्त प्रतीहारकालीन कतिपय शिलालेख सन् ८६२ के लगभग वहाँ एक स्तंभ के स्थापित किये जाने का उल्लेख करते हैं। देवगढ़ में जैन मंदिरों के एक समूह के अवशेष तथा बड़ी

---

[1] फ्लीट (जे एफ). **इंस्क्रिपसन्स ऑफ दि अर्ली गुप्ता किंग्स.** कोर्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम. 3. 1888. कलकत्ता. पृ 258.

[2] **ऐपीग्राफिया इण्डिका.** 2; 1894; 210.

[3] फ्लीट, पूर्वोक्त, पृ 66-67.

[4] **ऐपीग्राफिया इण्डिका** . 20; 1929-30; 59.

[5] उद्धरण : देव, पूर्वोक्त, पृ 104.

[6] ग्लासेनेप (एच वी). **डेर जैनिज्मस** (गुजराती अनुवाद). पृ 46.

संख्या में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।[1] जोधपुर के निकट ओसिया स प्राप्त वत्सराज (७७८-८१२) के शासनकाल के एक अन्य शिलालेख में एक जैन मंदिर के निर्माण का विवरण है।[2] इससे ज्ञात होता है कि प्रतीहारों के शासनकाल में जैन धर्म सक्रिय रहा, यद्यपि उसके वैभव के दिन वीत चुके थे।

नौवीं शताव्दी से वुंदेलखण्ड क्षेत्र के शासक चंदेल राजाओं के समय में जैन धर्म अपने लुप्त वैभव को पुनः प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। खजुराहो में आदिनाथ, और पार्श्वनाथ के भव्य मंदिर तथा घंटाई मंदिर के अवशेष इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि इस क्षेत्र में जैन धर्म के अनुयायी विशाल संख्या में थे। धंगराज, मदनवर्मन और परमार्द्दिन के शासनकालों के भी जैन धार्मिक शिलालेख उपलब्ध हैं। वास्तु-स्मारकों तथा मूर्तियों के अवशेष तथा शिलालेख यह सिद्ध करते हैं कि नौवीं से वारहवीं शताव्दी के मध्य महोवा, खजुराहो, तथा अन्य स्थान जैन धर्म के महान् केन्द्र थे।

हैहयों (नौवीं से तेरहवीं शताव्दी) परमारों (लगभग दसवीं से तेरहवीं शताब्दी), कच्छपघातों, (लगभग सन् ९५० से ११२५) और गाहड़वाल राजाओं के (लगभग १०७५ से सन् १२००) के शासनकालों में मालवा, गुजरात, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के भागों में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव रहा जैसा कि इन क्षेत्रों में स्थान-स्थान पर पाये गये अनेकानेक शिलालेखों, प्रतिमाओं और भग्न मंदिरों से समर्थित होता है। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में मालवा के कुछ परमार राजाओं, यथा सिंधुराज, मुञ्ज, भोज और जयसिंह ने अनेकानेक प्रसिद्ध जैन विद्वानों एवं साहित्यकारों को प्रश्रय प्रदान किया था। आशाधर जैसे कुछ अन्य लब्धप्रतिष्ठ जैन विद्वान् इसी वंश के नरेश अर्जुन वर्मन के प्रश्रय में पल्लवित हुए। परमारों के राज्य में कई जैन उच्च पदों पर भी आसीन थे।

मध्यकालीन गुजरात में राष्ट्रकूटों (सन् ७३३-९७५) के, और विशेषकर चौलुक्यों (सन् ९४०-१२९९) के शासनकालों में जैन धर्म को प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त हुआ। राष्ट्रकूट-कालीन कुछ ताम्र-पत्रों में जैन संघ के कई समुदायों के अस्तित्व का उल्लेख है; उदाहरणार्थ, कर्कराज सुवर्णवर्ष के सन् ८२१ के एक ताम्र-पत्र-लेख में सेनसंघ और मूलसंघ की विद्यमानता का तथा नागसारिका (वर्तमान नवसारी) में स्थित एक जैन मंदिर एवं जैन विहार का उल्लेख है।[3]

चौलुक्य नरेशों के शासनकाल में श्वेतांबर जैन संप्रदाय ने गुजरात में अपना दृढ़ प्रभाव स्थापित कर लिया था। इस वंश का शासक भीमदेव उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रश्रयदाता था।

---

[1] **आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स.** 10. संपा : एलेक्जेंडर कनिंघम. 1880. कलकत्ता. पृ 100-01

[2] **आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल.** प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1906-07. पृ 15 तथा **आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया.** एनुअल रिपोर्ट, 1908-9. पृ 108.

[3] **एपीग्राफिया इण्डिका.** 21; 1931-32; 136-144.

यद्यपि वह शैव मतावलंबी था तथापि उसने मंत्री विमल को आबू पर्वत पर प्रसिद्ध विमलवसही मंदिर के निर्माण कराने की अनुमति प्रदान की थी। विश्वास किया जाता है कि राजा जयसिंह की सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र से घनिष्ठ मैत्री थी। इस काल में श्वेतांबर और दिगंबर आचार्यों के मध्य शास्त्रार्थ भी होते थे।

जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने पालिताना, गिरनार और तारंगा में जैन मंदिरों का निर्माण कराया था तथा विशेष दिनों में पशु-बंध पर भी प्रतिबंध लगाया था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि कुमारपाल के प्रयास के फलस्वरूप गुजरात के निवासी आज पर्यंत भी शाकाहारी हैं।

कुमारपाल के उपरांत जैन धर्म के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हुई और कहा जाता है कि उसके उत्तराधिकारी ने कुछ जैन मंदिरों को भी ध्वस्त करा दिया था। किन्तु राजकीय संरक्षण के समाप्त हो जाने पर भी प्रतीत होता है कि जैन धर्म को जैन मंत्रियों, व्यापारियों एवं जन-साधारण का बहुत संपोषण और समर्थन मिलता रहा। आबू, गिरनार और शत्रुंजय पर्वतों के मंदिरों का निर्माण बघेले राजाओं के मंत्रियों द्वारा कराया गया था। इस काल के अनेक अभिलेख साक्षी हैं कि इस समय जैन धर्म को व्यापक लोकप्रिय समर्थन प्राप्त था।

मध्यकालीन राजपूताने के शासक वंशों द्वारा जैन धर्म को प्रदत्त राज्याश्रय का साक्ष्य इस काल के जैनों की दान-प्रशस्तियों से प्राप्त होता है। मध्यकाल में पश्चिम भारत में जैन धर्म को जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उसने एक स्थायी प्रभाव छोड़ा जिसके परिणामस्वरूप गुजरात और राजस्थान में आज भी पर्याप्त संख्या में जैन धर्मानुयायी विद्यमान हैं।

पूर्ववर्ती शताब्दियों में दक्षिणापथ में जैन धर्म के प्रसार का जो अल्प एवं अस्पष्ट साक्ष्य प्राप्त है, उसकी अपेक्षा बादामी के चालुक्यों (सन् ५३५-७५७) के काल में जैनधर्म की स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ। सातवीं शताब्दी में यहाँ जैन धर्म की समृद्ध स्थिति का परिचय अनेक शिलालेखीय साक्ष्यों से प्राप्त होता है। कोल्हापुर से प्राप्त ताम्र-पत्रों और बीजापुर जिलांतर्गत ऐहोले, धारवाड़ जिलांतर्गत लक्ष्मेश्वर और अदूर से प्राप्त शिलालेखों में जैन मंदिरों के निर्माण तथा उनकी व्यवस्था के लिए भूमि के अनुदान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] इसके अतिरिक्त इस अवधि में बादामी, ऐहोले एवं धाराशिव की गुफाओं में पायी गयी जैन प्रतिमाएँ और प्रतीक दक्षिणापथ में जैन धर्म की उपस्थिति की सूचक हैं।

मान्यखेट के राष्ट्रकूटों (सन् ७३३-९७५) के शासनकाल में जैन धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त रहा प्रतीत होता है। इस वंश के कई राजाओं का जैन धर्म के प्रति अत्यंत झुकाव रहा।[2] यह

---

[1] देव, पूर्वोक्त, पृ 116-17.

[2] अल्तेकर (अनन्त सदाशिव). **राष्ट्रकूट्स एण्ड देयर टाइम्स.** 1934. पूना. पृ 272-74

भी कहा जाता है कि जिनसेन, अमोघवर्ष (सन् ८१४-७८) के गुरु थे। उसके उत्तराधिकारियों कृष्ण-द्वितीय (सन् ८७८-९१४), इंद्र-तृतीय (लगभग सन् ९१४-२२) तथा इंद्र-चतुर्थ (लगभग सन् ९७३-८२) ने जैन धर्म को अपना प्रश्रय दिया तथा जैन मंदिरों के लिए अनुदान दिये थे। यह भी प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों के सामंत, यथा सौंदत्ति के रट्ट, भी जैन धर्म के प्रश्रयदाता थे। एलोरा की जैन गुफाएँ, जिनके निर्माण का समय राष्ट्रकूट-काल निर्धारित किया जा सकता है, दक्षिणापथ में जैन धर्म की संपन्न स्थिति के साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

आगे चलकर जैन धर्म को कल्याणी के चालुक्यों (सन् ९७३-१२००), देवगिरि के यादवों (सन् ११८७-१३१८) तथा शिलाहारों (सन् ८१०-१२६०) के शासनकालों में और अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन महाराष्ट्र के दक्षिणवर्ती जिलों तथा कर्नाटक के विभिन्न भागों से प्राप्त अनेक अभिलेखों से होता है। कल्याणी के चालुक्यों के बीस से अधिक अभिलेख उपलब्ध हैं जो दसवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के हैं और अधिकांशतः बेलगाँव, धारवाड़ और वीजापुर जिलों में पाये गये हैं। ये अभिलेख इस क्षेत्र में जैन धर्म के अस्तित्व का साक्ष्य प्रस्तुत करने के अतिरिक्त कुछ अन्य रोचक विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, ये अभिलेख सिद्ध करते हैं कि इस क्षेत्र में दिगंबर जैन धर्म का उत्कर्ष था; केवल शासकवर्ग ही नहीं, अपितु जनसाधारण भी जैन धर्म के प्रति उदार थे; और विभिन्न संस्थानों को दिये गये विपुल भूमि-अनुदानों ने मठपतियों की परंपरा को जन्म देने की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

कलचुरियों के शासनकाल में (ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक), विशेषकर बिज्जल (सन् ११५६-११६८) के समय में, जैन धर्म को दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। तथापि कतिपय शिलालेखों से ज्ञात होता है कि शैवों द्वारा किये गये उत्पीड़न के होते हुए भी जैन धर्म किसी प्रकार अपने को जीवित बनाये रख सका और यादवों के शासनकाल (सन् ११८७-१३१८) में अपने अस्तित्व की समुचित रक्षा में सफल रहा। कोल्हापुर से प्राप्त कुछ शिलालेखों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म की ऐसी ही स्थिति शिलाहारों[1] के शासनकाल में भी रही।

जैन आचार्यों को दिये गये दानों का उल्लेख करनेवाले कतिपय राज्यादेशों से यह प्रमाणित होता है कि पूर्वी चालुक्यों (सन् ६२४-१२७१) के राज्य में जैन धर्म प्रचलित था। वेंकटरमनय्या का कथन है कि जैन साधु अत्यंत सक्रिय थे। देश भर की ध्वस्त बस्तियों में प्राप्त परित्यक्त प्रतिमाएँ सूचित करती हैं कि वहाँ कभी अनगिनत जैन संस्थान रहे थे। पूर्वी चालुक्य राजाओं और उनके प्रजाजनों के अनेक अभिलेखों में बसदियों एवं मंदिरों के निर्माण कराये जाने तथा उनके परिपालन के लिए भूमि एवं धन-दान के विवरण प्राप्त हैं।[2]

---

[1] देव, पूर्वोक्त, पृ 121-22.

[2] वेंकटरमनय्या (एन). **ईस्टर्न चालुक्याज ऑफ बेंगी.** 1950. मद्रास. पृ 288-89.

यही स्थिति होयसलों (सन् ११०६-१३४३) के शासनकाल में थी। इस राज्यवंश की स्थापना का श्रेय ही एक जैन मुनि को दिया जाता है। बताया जाता है कि जैन धर्म एक लंबी अवधि तक निष्क्रिय रहा था, उसे आचार्य गोपीनंदि ने उसी प्रकार संपन्न एवं प्रतिष्ठित बना दिया था जैसा वह गंगों के शासनकाल में था।[1] यह माना जाता है कि इस वंश के वीर बल्लाल-प्रथम (सन् ११०१-०६) तथा नरसिंह-तृतीय (सन्१२६३-९१) जैसे कई राजाओं के जैन धर्म के साथ घनिष्ठ संबंध थे।

सुदूर दक्षिण में कुमारिल, शंकराचार्य तथा माणिक्क वाचकार जैसे ब्राह्मण धर्म के नेताओं का उदय होने पर भी कांची और मदुरा जैनों के सुदृढ़ गढ़ बने रहे। उत्थान-पतन की इस परिवर्तनशील प्रक्रिया में भी सुदूर दक्षिण और दक्षिणापथ सदैव दिगंबर जैन धर्म के गढ़ रहे। परंतु इसमें संदेह नहीं कि शैव धर्म के प्रबल विरोध का सामना करने के कारण आठवीं शताब्दी के लगभग जैन धर्म का प्रभाव शिथिल हो गया था। अप्पर और संबन्दार नामक शैव संतों के प्रभावाधीन पल्लव (चौथी से दसवीं शताब्दी), तथा पाण्ड्य (लगभग तीसरी शताब्दी से ९२० ईसवी) राजाओं ने जैनों का उत्पीड़न किया। दीर्घकालोपरांत विजयनगर और नायक शासकों के काल में जैनों का शैवों एवं वैष्णवों के साथ समझौता हुआ, उदाहरणार्थ, बेलूर के वेंकटाद्रि नायक के शासनकाल के सन् १६३३ ई० के एक शिलालेख में हलेबिडु में एक जैन द्वारा शिवलिंग का उच्छेद करने का उल्लेख है। परिणामस्वरूप एक सांप्रदायिक उपद्रव हुआ, जिसका निपटारा इस प्रकार हुआ कि वहाँ पहले शैवविधि से पूजा होगी, तदनंतर जैनविधि से।[2]

मुसलमानों के आगमन के फलस्वरूप भारत के सभी धर्मों को आघात सहना पड़ा। इसमें जैन धर्म अपवाद नहीं था। तथापि कई ऐसे उदाहरण हैं जब किन्हीं-किन्हीं जैन आचार्यों ने व्यक्तिगत रूप से किसी-किसी मुसलमान शासक को प्रभावित किया, यद्यपि ऐसे उदाहरण गिने-चुने ही हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि मुहम्मद गौरी ने एक दिगंबर मुनि का सम्मान किया था। यह भी कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रबल प्रतापी शासक ने भी जैन आचार्यों के प्रति सम्मान व्यक्त किया था। मुगल सम्राट् अकबर को आचार्य हीरविजय ने प्रभावित किया था और उन्हीं के उपदेश से उसने कई जैन तीर्थों के निकट पशु-बध पर प्रतिबंध लगा दिया था तथा उन तीर्थों को कर से भी मुक्त कर दिया था। कुछ ऐसे भी साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने भी कुछ जैन आचार्यों को प्रश्रय दिया था यद्यपि उसके द्वारा एक जैन अधिकारी को दंडित भी होना

---

[1] **एपीग्राफिया कर्नाटिका**. 2. 1923. इंस्क्रिप्शन 69. पृ 31 और 34. इस वंश की स्थापना का श्रेय कहीं-कहीं सुदत्त वर्धमान नामक जैन मुनि को दिया गया है : सालेतोरे (बी ए). **मिडीवल जैनिज्म विद स्पेशल रैफरेंस टु द विजयनगर एम्पायर**. बंबई. पृ 64-68.

[2] **एपीग्राफिया कर्नाटिका**. . 5. 1902. बेलूर तालुक. इंस्क्रिप्शन 128. पृ. 192.

पड़ा था ।[1]

भारत में मुस्लिम शासन के संभावित परिणामस्वरूप पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग गुजरात के श्वेतांबर जैनों में स्थानकवासी[2] संप्रदाय का उदय हुआ था। उसी अवधि में दिगंबर जैनों में तेरापंथ[3] नाम का वैसा ही संप्रदाय अस्तित्व में आया।

वर्तमान में भारत के अन्य भागों की अपेक्षा पश्चिम भारत, दक्षिणापथ और कर्नाटक में जैन धर्मानुयायियों की संख्या सर्वाधिक है। जहाँ दक्षिणी महाराष्ट्र और कर्नाटक में दिगंबर जैनों की बहुलता है, वहाँ गुजरात में श्वेतांबर मूर्ति-पूजक और पंजाब में स्थानकवासियों का प्राबल्य है। जैन धर्मानुयायियों में अधिकांशतः व्यापारी एवं व्यवसायी हैं, अतः यह समाज आर्थिक दृष्टि से सुसंपन्न है। इस समाज की आर्थिक संपन्नता उसके पर्व एवं पूजा-उत्सवों तथा मंदिरों के निर्माणों में प्रतिबिंबित होती है। ये प्रवृत्तियां आज भी विशाल स्तर पर चलती हैं।

जैन धर्म के प्रसार के उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म अपने जन्मस्थान बिहार से बाहर की ओर फैलता तो गया किन्तु एक अविच्छिन्न गति के साथ नहीं, विविध कारणों से उसका प्रतिफलन धाराओं या तंरगों के रूप में हुआ। जैन धर्म ने राज्याश्रय तथा व्यापारी वर्ग के संरक्षण पर मुख्यतया निर्भर रहने के कारण अपने पीछे मंदिरों, मंदिर-बहुल-नगरों, सचित्र पाण्डुलिपियों, अनगिनत मूर्तियों, तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय अहिंसा के सिद्धांत की अद्भुत धरोहर छोड़ी है।

शांताराम भालचंद्र देव

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : देव, पूर्वोक्त, पृ 135-36.

2-3 [जैन अ-मूर्तिपूजक संप्रदाय — संपा०]

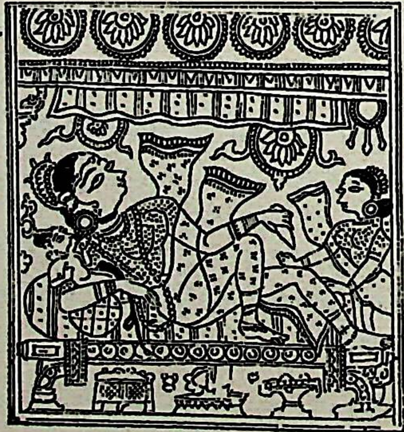

अध्याय 4

जैन कला का उद्गम और उसकी आत्मा

जैन धर्म का उद्देश्य है मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति में जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। सामान्यतः इस मार्ग में कठोर अनुशासन, आत्मसंयम, त्याग और तपस्या की प्रधानता है। किन्तु, एक प्रकार से कला भी 'दिव्यत्व की प्राप्ति का और उसके साथ एकाकार हो जाने का पवित्रतम साधन है,' और कदाचित् यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि 'धर्म के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि में यथार्थ कलाबोध जितना अधिक सहायक है उतना अन्य कुछ नहीं।' संभवतया यही कारण है कि जैनों ने सदैव ललित कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। कलाएँ, निस्सन्देह, मूलतः धर्म की अनुगामिनी रहीं किन्तु उन्होंने इसकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने में भी सहायता की। धर्म के भावनात्मक, भक्ति-परक एवं लोकप्रिय रूपों के पल्लवन के लिए भी कला और स्थापत्य की विविध कृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुई, अतः उन्हें वस्तुतः सुन्दर बनाने में श्रम और धन की कोई कमी नहीं की गयी। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है, वह यद्यपि बहुत विविधतापूर्ण और वैभवशाली है परन्तु उसमें जो श्रृंगारिकता, अश्लीलता या सतहीपन का अभाव है, वह अलग ही स्पष्ट हो जाता है। वह सौंदर्यबोध के आनंद की सृष्टि करती है पर उससे कहीं अधिक, संतुलित, सशक्त, उत्प्रेरक और उत्साहवर्धक है और आत्मोत्सर्ग, शांति और समत्व की भावनाओं को उभारती है। उसके साथ जो एक प्रकार की अलौकिकता जुड़ी है, वह आध्यात्मिक चिंतन एवं उच्च आत्मानुभूति की प्राप्ति में निमित्त है।

विभिन्न शैलियों और युगों की कला एवं स्थापत्य की कृतियाँ समूचे देश में बिखरी हैं, परन्तु जैन तीर्थस्थल विशेष रूप से, सही अर्थों में कला के भण्डार हैं। और, एक जैन मुमुक्षु का आदर्श ठीक वही है, जो 'तीर्थयात्री' शब्द से व्यक्त होता है, जिसका अर्थ है ' ऐसा प्राणी जो सांसारिक जीवन में अजनबी की भाँति यात्रा करता रहता है। वह सांसारिक जीवन जीता है, अपने कर्त्तव्यों का पालन और दायित्वों का निर्वाह सावधानीपूर्वक करता है, तथापि उसकी मनोवृत्ति एक अजनबी द्रष्टा या पर्यवेक्षक की बनी रहती है। वह बाह्य दृश्यों से अपना एकत्व नहीं जोड़ता और न ही सांसारिक संबंधों और पदार्थों में अपने आप को मोहग्रस्त होने देता है। वह एक ऐसा यात्री है जो सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के त्रिविध मार्ग का अवलम्बन लेकर अपनी जीवनयात्रा करता है, और अपनी आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर तबतक बढ़ता चला जाता है जबतक कि वह अपने लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता। वास्तव में, जैन धर्म में पूजनीय या पवित्र स्थान को तीर्थ (घाट) कहते हैं क्योंकि वह दुखों और कष्टों से पूर्ण संसार को पार करने में मुमुक्षु के लिए सहायक होता है और निरंतर जन्म-मरण के उस भ्रमण से मुक्त होने में भी सहायता देता है जो इस सहायता के बिना कभी मिट नहीं सकता। यही कारण है कि जैन तीर्थयात्रा का वास्तविक उद्देश्य आत्मोत्कर्ष है। कदाचित् इसीलिए जैनों ने अपने तीर्थक्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना, वे पर्वतों की चोटियों पर या निर्जन और एकांत घाटियों में जो जनपदों और भौतिकता से ग्रसित सांसारिक जीवन की आपाधापी से भी दूर, हरे-भरे प्राकृतिक दृश्यों तथा शांत मैदानों के मध्य स्थित हैं, और जो एकाग्र ध्यान और आत्मिक चिंतन में सहायक एवं उत्प्रेरक होते हैं। ऐसे स्थान के निरंतर पुनीत संसर्ग से एक अतिरिक्त निर्मलता का संचार होता है और वातावरण आध्यात्मिकता, अलौकिकता, पवित्रता और लोकोत्तर शांति से पुनर्जीवित हो उठता है। वहाँ, वास्तु-स्मारकों (मंदिर–देवालयों आदि) की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थंकर प्रतिमाएँ अपनी अनंत शांति, वीतरागता और एकाग्रता, से भक्त तीर्थयात्री को स्वयं 'परमात्मत्व' के सन्निधान की अनुभूति करा देती है। आश्चर्य नहीं यदि वह पारमार्थिक भावातिरेक में फूट पड़ता है :

'चला जा रहा तीर्थक्षेत्र में अपनाए भगवान को।
सुन्दरता की खोज में, मैं अपनाए भगवान को।'

तीर्थक्षेत्रों की यात्रा भक्त-जीवन की एक अभिलाषा है। ये स्थान, उनके कलात्मक मंदिर, मूर्तियाँ आदि जीवंत स्मारक हैं मुक्तात्माओं के, महापुरुषों के, धार्मिक तथा स्मरणीय घटनाओं के; इनकी यात्रा पुण्यवर्धक और आत्मशोधक होती है, यह एक ऐसी सचाई है जिसका समर्थन तीर्थयात्रियों द्वारा वहाँ बिताये जीवन से होता है। नियम, संयम, उपवास, पूजन, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचनों का श्रवण, भजन-कीर्तन, दान और आहारदान आदि विविध धार्मिक कृत्यों में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है। विभिन्न व्यवसायों और देश के विभिन्न प्रदेशों से आये आबाल-वृद्ध-नर-नारी वहाँ पूर्ण शांति और वात्सल्य से पुनीत विचारों में मग्न रहते हैं।

यह एक तथ्य है कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर को समृद्ध करनेवालों में जैन अग्रणी रहे हैं। देश के सांस्कृतिक-भण्डार को उन्होंने कला और स्थापत्य की अगणित विविध कृतियों से संपन्न किया जिनमें से अनेकों की भव्यता और कला-गरिमा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है कि उनकी उपमा नहीं मिलती और उनपर ईर्ष्या की जा सकती है।

यह भी एक तथ्य है कि जैन कला प्रधानतः धर्मोन्मुख रही, और, जैन जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू की भाँति कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भी उनकी विश्लेषात्मक दृष्टि और यहाँ तक कि वैराग्य की भावना भी इतनी अधिक परिलक्षित है कि परंपरागत जैन कला में नीतिपरक अंकन

अन्य अंकनों पर छा गया दिखता है, इसीलिए किसी-किसी को कभी यह खटक सकता है कि जैन कला में उसके विकास के साधक विशुद्ध सौंदर्य को उभारनेवाले तत्वों का अभाव है । उदाहरणार्थ, मानसार आदि ग्रंथों में ऐसी सूक्ष्म व्याख्याएँ मिलती हैं जिनमें मूर्ति-शिल्प और भवन-निर्माण की एक रूढ़ पद्धति दीख पड़ती है और कलाकार से उसी का कठोरता से पालन करने की अपेक्षा की जाती थी । किन्तु, यही बात बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की कला में भी विद्यमान है, यदि कोई अंतर है तो वह श्रेणी का है ।

जैन मूर्तियों में जिनों या तीर्थंकरों की मूर्तियाँ निस्संदेह सर्वाधिक हैं और इस कारण यह आलोचना तर्कसंगत लगती है कि उनके प्रायः एक-जैसी होने के कारण कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कम मिल सका । पर इनमें भी अनेक मूर्तियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं, यथा– कर्नाटक के श्रवणबेलगोल की विश्वविख्यात विशालाकार गोम्मट-प्रतिमा, जिसके विषय में हैनरिख ज़िम्मर ने लिखा है : 'वह आकार-प्रकार में मानवीय है, किन्तु हिमखण्ड के सदृश मानवोत्तर भी, तभी तो वह जन्म-मरण के चक्र, शारीरिक चिंताओं, व्यक्तिगत नियति, वासनाओं, कष्टों और होनी-अनहोनी के सफल परित्याग की भावना को भलीभाँति चरितार्थ करती है ।' एक अन्य तीर्थंकर-मूर्ति की प्रशंसा में वह कहता है : 'मुक्त पुरुष की मूर्ति न सजीव लगती है न निर्जीव, वह तो अपूर्व, अनंत शांति से ओतप्रोत लगती है ।' एक अन्य द्रष्टा कायोत्सर्ग तीर्थंकर-मूर्ति के विषय में कहता है कि 'अपराजित बल और अक्षय शक्ति मानो जीवंत हो उठे हैं, वह शालवृक्ष (शाल-प्रांशु) की भाँति उन्नत और विशाल हैं ।' अन्य प्रशंसकों के शब्द हैं 'विशालकाय शांति', 'सहज भव्यता', या परिपूर्ण काय-निरोध की सूचक कायोत्सर्ग मुद्रा जिससे ऐसे महापुरुष का संकेत मिलता है जो अनंत, अद्वितीय केवल-ज्ञानगम्य सुख का अनुभव करता है और ऐसे अनुभव से वह उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायु-विहीन स्थान में अचंचल दीप-शिखा ।[1] इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर मूर्तियाँ

---

[1] तुलनीय :

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः
ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
समं काय-शिरो-ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता
योगिनो यत-चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।

(भगवद्‌गीता, अध्याय 6, श्लोक 7, 8, 13 और 19.)

आजानु-लम्ब-बाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्त-मूर्तिश्च
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ।

(वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता, बंगलोर, 1947, 58, 45.)

शान्त-प्रसन्न-मध्यस्थ-नासाग्रस्थाविकार-दृक्
सम्पूर्ण-भाव-रूपानुविद्धाङ्गं लक्षणान्वितम् ।
रौद्रादि-दोष-निर्मुक्तं प्रातिहार्याङ्क-यक्ष-युक्
निर्माप्य विधिना पीठे जिन-बिम्बं निवेशयेत् ।

(आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार, 63, 64. मानसार तथा अन्य ग्रंथ भी द्रष्टव्य.)

उन विजेताओं की प्रतिबिम्ब हैं जो, ज़िम्मर के शब्दों में 'लोकाग्र में सर्वोच्च स्थान पर स्थिर हैं और क्योंकि वे रागभाव से अतीत हैं अतः संभावना नहीं कि उस सर्वोच्च और प्रकाशमय स्थान से स्खलित होकर उनका सहयोग मानवीय गतिविधियों के इस मेघाच्छन्न वातावरण में आ पड़ेगा। तीर्थ-सेतु के कर्त्ता विश्व की घटनाओं और जैविक समस्याओं से भी निर्लिप्त हैं, वे अतीन्द्रिय, निश्चल, सर्वज्ञ, निष्कर्म और शाश्वत शांत हैं।[1] यह तो एक आदर्श है जिसकी उपासना की जाये, प्राप्ति की जाये; यह कोई देवता नहीं जिसे प्रसन्न किया जाये, तृप्त या संतुष्ट किया जाये। स्वभावतः इसी भावना से जैन कला और स्थापत्य की विषय-वस्तु ओतप्रोत है।

किन्तु, दूसरी ओर, इन्द्र और इंद्राणी, तीर्थंकरों के अनुचर यक्ष और यक्षी, देवी सरस्वती, नवग्रह, क्षेत्रपाल और सामान्य भक्त नर-नारी, जैन देव-निकाय के अपेक्षाकृत कम महत्त्व के देवताओं या देवतुल्य मनुष्यों के मूर्तन में, तीर्थंकरों और अतीत के अन्य सुविख्यात पुरुषों के जीवन चरित्र के दृश्यांकनों में, और विविध अलंकरण प्रतीकों के प्रयोग में कलाकार किन्हीं कठोर सिद्धांतों से बंधा न था, वरन् उसे अधिकतर स्वतंत्रता थी। इसके अतिरिक्त भी कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर था, प्राकृतिक दृश्यों तथा समकालीन जीवन की धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों के शिल्पांकन या चित्रांकन द्वारा जो कभी-कभी विलक्षण बन पड़े, जिनसे विपुल ज्ञातव्य तत्त्व प्राप्त होते हैं और जिनमें कलात्मक सौंदर्य समाया हुआ है। पर, इन सबमें भी कलाकार को जैन धर्म की शुद्धाचार नीति को ध्यान में रखना था, इसीलिए उसे शृंगार, अश्लीलता और अनैतिक दृश्यों की उपेक्षा करनी पड़ी।

जहाँ तक स्थापत्य का प्रश्न है, आरंभ में जैन साधु क्योंकि अधिकतर वनों में रहते थे और भ्रमणशील होते थे, अतः जनपदों से दूर पर्वतों के पार्श्वभाग में या चोटियों पर स्थित प्राकृतिक गुफाएँ उनके अस्थायी आश्रय तथा आवास के उपयोग में आयीं। यहाँ तक कि आरंभ में निर्मित गुफाएँ सादी थीं और सल्लेखना धारण करनेवालों के लिए उनमें पालिशदार प्रस्तर-शय्याएँ प्रायः बना दी जाती थीं। तीसरी / चौथी शती ईसवी से, जनपथों से हटकर बने मंदिरों या अधिष्ठानों में लगभग स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति जैन साधुओं के एक बड़े समूह में चल पड़ी, इससे शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिरों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है : 'इस धर्म की विविध व्यावहारिक आवश्यकताओं ने, निस्संदेह, विशेष कार्यों के लिए अपेक्षित भवनों की प्रकृति को भी प्रभावित किया।[2] तथापि, जैन साधु अपने जीवन से संयम-धर्म को कभी अलग न कर सके। संभवतया यही कारण है कि अजंता और एलोरा के युगों में भी, थोड़ी संख्या में ही जैन गुफाओं का निर्माण हुआ, और पाँचवीं से बारहवीं शताब्दियों के मध्य ऐसे लगभग तीन दर्जन मात्र गुफा-मंदिर ही निर्मित किये गये, वे भी केवल दिगंबर आम्नाय द्वारा; श्वेतांम्बर साधुओं ने पहले ही जनपदों में या उनके समीप रहना आरंभ कर दिया था।

---

[1] ज़िम्मर (हैनरिख). **फिलासफ़ीज़ ऑफ इण्डिया.** 1951. न्यूयार्क. पृ 181-82.

[2] स्मिथ (वी ए). **हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डियां एण्ड सीलोन.** 1930. आक्सफोर्ड. पृ 9.

मंदिर-स्थापत्य-कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणामस्वरूप हुआ जो जैनों में कम से कम इतिहास-काल के आरंभ से प्रचलित रही है। वौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि वज्जि देश और वैशाली में अर्हंत-चैत्यों का अस्तित्व था जो बुद्ध-पूर्व अर्थात् महावीर-पूर्व काल से विद्यमान थे, (तुलनीय : महा-परिनिव्वान-सुत्तन्त)। चौथी शती ईसा-पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा-मंदिरों और निर्मित देवालयों या मंदिरों के अस्तित्व के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने लगते हैं।

अपने मंदिरों के निर्माण में जैनों ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की संस्कृति और सिद्धांतों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया जिनके कारण जैनकला को एक अलग ही स्वरूप मिल गया। कुछ स्थानों पर उन्होंने समूचे 'मंदिर-नगर' ही खड़े कर दिये।

मानवीय मूर्तियों के अतिरिक्त, आलंकारिक मूर्तियों के निर्माण में भी जैनों ने अपनी ही शैली अपनायी, और स्थापत्य के क्षेत्र में अपनी विशेष रुचि के अनुरूप स्तंभाधारित भवनों के निर्माण में उच्च कोटि का कौशल प्रदर्शित किया। इनमें से कुछ कला-समृद्ध भवनों की विख्यात कला-मर्मज्ञों ने प्राचीन और आरंभिक मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की सुन्दरतम कृतियों में गणना की है। बहुत बार, उत्कीर्ण और तक्षित कलाकृतियों में मानव-तत्त्व इतना उभर आया है कि विशाल, निर्ग्रंथ दिगंबर जैन मूर्तियों में जो कठोर संयम साकार हो उठा लगता है उसका प्रत्यावर्तन हो गया। कलाकृतियों की अधिकता और विविधता के कारण उत्तरकालीन जैन कला ने इस धर्म की भावात्मकता को अभिव्यक्त किया है।

जैन मंदिरों और वसदियों के सामने, विशेषतः दक्षिण भारत में, स्वतंत्र खड़े स्तंभ जैनों का एक अन्य योगदान हैं। मानस्तंभ कहलानेवाला यह स्तंभ उस स्तंभ का प्रतीक है जो तीर्थंकर के समवसरण (सभागार) के प्रवेशद्वारों के भीतर स्थित कहा जाता है। स्वयं जिन-मंदिर समवसरण का प्रतीक है।

जैन स्थापत्यकला के आद्य रूपों में स्तूप एक रूप है, इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। वहाँ एक ऐसा स्तूप था जिसके विषय में ईसवी सन् के आरंभ तक यह मान्यता थी कि उसका निर्माण सातवें तीर्थंकर के समय में 'देवों' द्वारा हुआ था और पुनर्निर्माण तेईसवें तीर्थंकर के समय में किया गया था। यह स्तूप कदाचित् मध्यकाल के आरंभ तक विद्यमान रहा। किन्तु, गुप्त-काल की समाप्ति के समय तक जैनों की रुचि स्तूप के निर्माण में नहीं रह गयी थी।

एक बात और, जैसा कि लांगहर्स्ट का कहना है, 'स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित महत्त्व समझते हुए हिन्दुओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मंदिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक

स्थान को ही चुना ।'[1] उन्होंने जिन अन्य ललित कलाओं का उत्साहपूर्वक सृजन किया उनमें सुलेखन, अलंकरण, लघुचित्र और भित्तिचित्र, संगीत और नृत्य हैं। उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का भी ध्यान रखा और कला, स्थापत्य, संगीत एवं छंदशास्त्र पर मूल्यवान् ग्रंथों की रचना की ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जैन कला और स्थापत्य में जैन धर्म और जैन संस्कृति के सैद्धांतिक और भावनात्मक आदर्श अत्यधिक प्रतिफलित हुए हैं, जैसाकि होना भी चाहिए था ।[2]

ज्योति प्रसाद जैन

---

1 लांगहर्स्ट (ए एच). **हम्पी रुइन्स.** 1917. मद्रास. पृ 99.

2 तुलनीय : जैन (ज्योति प्रसाद). **जैन सोर्सेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट इण्डिया.** 1964. दिल्ली. अध्याय 10./ जैन (ज्योति प्रसाद). **रिलीजन एण्ड कल्चर ऑफ द जैन्स** (मुद्रण में). अध्याय 8; और प्रस्तुत ग्रंथ के विभिन्न अध्याय.

अध्याय 5

जैन कला की आचारिक पृष्ठभूमि

जैन कला और स्थापत्य की आचारिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करते समय यह जानना आवश्यक है कि जैनों ने पिछली शताब्दियों में देश भर में कला और स्थापत्य की किन विधाओं का सृजन किया है। इन क्षेत्रों में जैनों का योगदान भारतीय परंपरा का एक अभिन्न अंग ही है, तथापि जैनों के धार्मिक-आचारिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए, इस योगदान को भी अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है।

लाक्षणिक कलाओं को ही लें तो, जैन भंडारों में बहुत अधिक मात्रा में संग्रहीत पाण्डुलिपियां मिलती हैं। वास्तव में, यदि उनकी लिपियों का अध्ययन किया जाये, तो भारत के विभिन्न भागों में लेखन-कला के विकास को समझने में हमें बड़ी सहायता मिलेगी। विशेषकर पश्चिम भारत में और थोड़ी-बहुत मात्रा में दक्षिण भारत में इन पाण्डुलिपियों पर सूक्ष्म चित्रकारी की गयी। दक्षिण भारत की कुछ गुफाओं में चित्र बनाये गये हैं। मेरु, नंदीश्वर द्वीप, समवसरण, मानस्तंभ, चैत्य-वृक्ष, स्तूप, आदि का चित्रण किया गया है। जैनों ने कई गुफाओं का भी निर्माण कराया है, जो किसी समय गृह-त्यागी मुनियों के निवास के लिए बनायी गयी थीं किन्तु इनमें से कुछ कालांतर में गुफा-मंदिरों के रूप में परिवर्तित हो गयीं जिनमें तीर्थंकरों, सिद्धों, आचार्यों, साधुओं तथा यक्ष-यक्षियों आदि की मूर्तियाँ हुआ करती थीं।

इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि कला के प्रति सामान्यतः और देवत्व, पूजन, पूज्य एवं पूजा-स्थलों के प्रति विशेषतः, जैनों की मनोवृत्ति क्या रही है। जैन धर्म इस प्रचलित धारणा में विश्वास नहीं करता कि एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में किसी ऐसे ईश्वर का अस्तित्व है जिसमें विश्व के सृजन की शक्ति है और जो इस जगत् के सभी प्राणियों के भाग्य का निर्णय करता है। इसके विपरीत जैनों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता यह है कि धर्म के मार्ग का अनुसरण कर जो भी अपनी उन्नति करना चाहता है, उसके लिए ईश्वर एक सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है। हममें से प्रत्येक की आत्मा अनादि काल से कर्मों के बंधन में जकड़ी हुई है। कर्म अपनी प्रकृति, अवधि, उत्कटता और परिमाण के अनुसार अपना फल स्वतः ही देते रहते हैं। उनके अच्छे-बुरे फलों को भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। ईश्वर का इसमें कोई हाथ नहीं होता। जैन धर्म में देवत्व की उपासना कोई वरदान प्राप्त करने या संकटों से छुटकारा पाने के लिए नहीं की जाती अपितु इसलिए कि उपासक

अपने में उन महान् गुणों का विकास और उपलब्धि कर सके जो कि परमात्मा में पाये जाते हैं क्योंकि वही प्रत्येक आत्मा की चरम आध्यात्मिक परिणति है। तत्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में इस तथ्य की बड़ी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है :

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

जैन पंचपरमेष्ठियों की उपासना करते हैं। ये पंचपरमेष्ठी हैं–(१) अर्हत् अर्थात् चौबीस तीर्थंकर; (२) सिद्ध – मुक्तात्मा; (३) आचार्य –– धर्मगुरु (सामान्यतः आचार्य के प्रतीकात्मक चित्रण द्वारा जिसे स्थापना कहा जाता है); (४) उपाध्याय – शिक्षक; और (५) साधु – सांसारिक संबंधों से विरत मुनि जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं (देखिए : दव्वसंगह गाहा, ५०-५४)। इनका स्मरण करने और इनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए विभिन्न मंत्रों या अक्षरों का प्रयोग होता है (पूर्वोक्त, ४९)। इन परमेष्ठियों के नामों के प्रथमाक्षरों से पवित्र ॐ का निर्माण होता है जिसकी बड़ी धार्मिक महत्ता है। धर्म की दृष्टि से विचार करने पर वास्तव में प्रथम दो (परमेष्ठियों) की ही आराधना की जाती है। इन दोनों में मुख्यतः प्रथम कोटि के अंतर्गत आनेवाले चौबीस तीर्थंकरों की उपासना की जाती है। इन तीर्थंकरों की विस्तृत जीवनियाँ भी अनेक तथ्यों को समाविष्ट करते हुए मिलती हैं। इनकी स्तुति में अनेक गाथाएँ रची गयी हैं जिनमें उनसे कोई वरदान नहीं माँगा गया है। किन्तु जो भक्त इन गाथाओं का पाठ करता है वह अपने में इन परमेष्ठियों के महान् गुणों को विकसित करने की कामना करता है। तीर्थंकरों के प्रति भक्ति प्रकट करने के लिए अनुष्ठान – अनेक प्रकार की पूजाएँ आदि – किये जाते हैं। इन सबका उद्देश्य है धार्मिक क्रिया-कलापों द्वारा आत्मशुद्धि और अंततः कर्मों से छुटकारा पाना ताकि आत्मा परमात्मा बन सके।

जैन आचार-शास्त्र का उद्देश्य राग-द्वेष, आसक्ति और घृणा, जिनके दूसरे रूप चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं, का नाश कर आत्मविकास करना है। इनका निग्रह कर आत्मा परमात्मपद की प्राप्ति की ओर बढ़ सकती है; दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपनी सर्वोच्च आत्मिक स्थिति की ओर पग बढ़ाता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में धर्म को काम और अर्थ की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए क्योंकि धर्म ही व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति कराता है या कर्मों से मुक्ति दिलाता है। और यही तो व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य है। तीर्थंकर की उपासना का अर्थ है अनेक सद्गुणों को अपनी पूर्ण शक्ति और निष्ठापूर्वक अपने में उतारना; यथा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा व्रत-उपवास आदि।

उक्त आचारिक संकल्पनाओं में से अधिकांश की अभिव्यक्ति जैन कला और स्थापत्य में किसी न किसी रूप में हुई है। जैन कला न केवल सौंदर्य के प्रति सुरुचि – जिस सीमा तक वह उसका उन्नयन कर सकती है – को प्रतिबिंबित करती है, वरन् वह मानव की आत्मिक वृत्ति को भी ऊँचा उठाती है एवं अन्य व्यक्तियों का सम्मान करनेवाले मानव समाज के सदस्य के रूप में उसे और भी

सुयोग्य बनाती है। बहुधा जैन कलाकृतियाँ उन महान् संकल्पनाओं की प्रतीक होती हैं जिनसे नैतिक भावनाएं विकसित होती हैं। वह कलाकृति किस काम की जो कोई नैतिक सीख न दे सके और जो स्त्री-पुरुषों को श्रेष्ठतर जीवन की राह अपनाने में सहायक न हो? वास्तव में जैन कलाकृतियों का उद्देश्य हमारी आत्मिक वृत्ति का उन्नयन करना, धार्मिक मूल्यों की ओर प्रेरित करना और जैन दर्शन की दार्शनिक संकल्पनाओं तथा उसके आचार-नियमों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना है। वे मुमुक्षु को अपने से तादात्म्य स्थापित करने और उस उच्च आत्मिक विकास में सहायक होती हैं जिसके लक्षण हैं–अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख।

जैन पाण्डुलिपियों में, जिनमें से कुछ तो ताड़पत्र पर और अन्य कागज पर लिखी गयी हैं, बड़े परिमाण में सूक्ष्म चित्रकारी की गयी है। हमारी सांस्कृतिक विरासत के इतिहास में समकालीन वेशभूषा आदि तथा विभिन्न क्षेत्रों में चित्रकला के क्रमिक विकास के प्रमाण के रूप में तो उनकी महत्ता है ही, किन्तु जिन प्रसंगों को उनमें चित्रित किया गया है वे धार्मिक भावना जगाते हैं तथा उनका आचारिक महत्त्व है। उनमें चित्रित हैं नंदीश्वर द्वीप, अढ़ाई द्वीप, लोक स्वरूप, तीर्थंकरों के जीवन से संबंधित आख्यान – यथा, नेमिनाथ की बरात, तीर्थंकर की माता के स्वप्न, पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग आदि, समवसरण, आहार-दान, गुरू द्वारा शास्त्रपाठ इत्यादि। उनसे जिन कुछ प्रमुख विषयों की सूचना मिलती हैं वे हैं – स्व की तुलना में जगत की विशालता, अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म का सिद्धांत और सत्पात्र को आहार, शास्त्र आदि दान करने जैसे पावन कर्तव्य। शास्त्रों में वर्णित उपदेशों को रंगों के माध्यम से इन चित्रों में दृश्यरूप में उतार दिया गया है ताकि धार्मिक जन अपने जीवन में इनका प्रभाव और अच्छे रूप से ग्रहण करें।

वे सभी गुफाएँ (चाहे वे अलंकृत चित्रांकन-युक्त हों या उनके बिना), जिनमें से कुछ ने कालांतर में गुफा-मंदिरों का रूप ले लिया, और शिलालेख-युक्त निषिधि-चौक हमें जैन साधुओं के संयमित जीवन और उक्त शिलालेखों में वर्णित उनके स्वेच्छया मृत्युवरण या सल्लेखना का स्मरण दिलाते हैं। इस प्रकार के स्मारक सांसारिक बंधनों के प्रति अनासक्ति की भावना को आदर्श रूप प्रदान करते हैं। श्रवणबेलगोल-जैसे स्थानों पर उत्कीर्ण शिलालेख उन संतों, गृहस्थों और गृहणियों की महिमा का वर्णन करते हैं जिन्होंने विहित परिस्थितियों और अवस्थाओं में धार्मिक निष्ठापूर्वक मृत्यु का वरण कर अनासक्ति की उदात्त भावना का परिचय दिया।

भारतीय मूर्तियों में हमें अत्यंत साधारण से लेकर अत्यंत कलात्मक, अलंकार विहीन से लेकर अलंकृत तथा गंभीर से लेकर रौद्र रूपवाली ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं जो अपने समय की सामाजिक-धार्मिक भावना तथा समृद्ध समाज का प्रतिबिम्बन कराती हैं। प्रायः आरंभ से ही, जैन धर्म मूर्तिपूजा से सम्बद्ध रहा है, यह बात यदि अवश्यंभावी नहीं तो स्वाभाविक अवश्य थी। तीर्थंकर आध्यात्मिक आदर्श रहे हैं। उनके महान् गुणों को मूर्त रूप देने और उनमें भक्ति प्रकट करने, उनकी आराधना करने और उनके गुणों को अपने में विकसित करने के लिए तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनाना सरल ही था। कालांतार में, यह सादगीपूर्ण प्रतिमा-पूजन आराधक के साधनों के अनुसार अत्यन्त

जटिल होता गया । ये मूर्तियाँ विभिन्न तीर्थंकरों, सिद्धों, यहाँ तक कि आचार्यों, चौबीस तीर्थंकरों या पंचपरमेष्ठियों, या नव-देवताओं या नंदीश्वर की हैं या वे सर्वतोभद्रिका (चौमुखी मूर्तियाँ), एक ही फलक पर आदिनाथ, पार्श्वनाथ और दो अन्य तीर्थंकरों की हैं या उनमें श्रुत देवता (देवी सरस्वती या द्वादशांग प्रतीक) यक्ष और यक्षियों तथा कुल-देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं जिन्हें जैन धर्म के नये अनुयायी अपने साथ इस धर्म में लाये । सिद्ध की मूर्ति धातु को काटकर बनायी जाती है और निराकार होती है । यदि सिद्ध की कोई मूर्ति बनायी भी जाती है तो उसपर कोई परिचय-चिह्न (लाँछन) नहीं होता । इनके अतिरिक्त धर्म-चक्र, अष्टमंगल, आयाग-पट के प्रतीकात्मक बिम्व भी प्राप्त होते हैं । तीर्थंकरों की मूर्तियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ ऋषभनाथ, चंद्रप्रभ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, शांतिनाथ और महावीर की होती हैं । परवर्ती शताब्दियों में इनके अलग-अलग चिन्ह निर्धारित किये गये । ऋषभनाथ का चिह्न बैल है तो नेमिनाथ का शंख और महावीर का सिंह, आदि । इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा हेतु किये जानेवाले अनुष्ठानों का सम्यक् अध्ययन किया जाना चाहिए । वास्तव में, प्रतिष्ठा के समय मूर्ति की तीर्थंकर के पारंपरिक जीवन के अनुसार प्रतिष्ठापना के लिए 'स एव देवो जिन बिम्ब एषः' सूत्र का उच्चारण किया जाता है । इस प्रकार नयी प्रतिमा में तीर्थंकर के सभी महान् गुणों की प्रतिष्ठापना की जाती है । तदनंतर मूर्ति पूजा के योग्य हो जाती है । जब हम प्रतिष्ठा के अनुष्ठान को देखते हैं तो हमें यह अनुभव होता है कि (गर्भाधान से न भी हो तो) जन्म से लेकर केवलज्ञान (निर्वाण न सही) तक का तीर्थंकर का सारा जीवन हमारी आँखों के सामने मूर्त हो उठा है । उस समय हमें यह अनुभव होता है कि हम किसी पत्थर या धातु के टुकड़े की पूजा नहीं कर रहे वरन् सभी सर्वोच्च गुणों से युक्त तीर्थंकर की ही पूजा कर रहे हैं । तीर्थंकर के जीवन से आराधक को शिक्षा मिलती है । वह उसकी आत्मा को ऊँचा उठाता है और आराधक स्वतः ही कर्मों से मुक्ति पाने के महान् आदर्शों का पालन करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । साथ ही इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ जैन मूर्तियाँ उत्कृष्ट कलाकृतियाँ हैं और अपने इस रूप में वे अतिरिक्त प्रेरणा-स्रोत हैं । तीर्थंकर मूर्तियाँ, चाहे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हों या पद्मासन, ध्यानावस्था में पायी जाती हैं । वे वीतराग मुद्रा में होती हैं और उनकी भाव भङ्गिमा से शांत रस झलकता है । वस्तुतः भक्त जब श्रद्धा से अपना ध्यान इस प्रकार की मूर्ति पर केन्द्रित करता है तब वह कम से कम उन क्षणों में, उसकी मूर्तिमती वीतरागता और शांतरस की भावना में लीन हो जाता है जो कि दैनिक जीवन में दुर्लभ हैं ।

केश-विन्यास की दृष्टि से बाहुबली की दो प्रकार की प्रतिमाएँ मिलती हैं : घुंघराले बालों वाली उनकी मूर्ति अधिक पायी जाती है और वह श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर की मूर्ति से मिलती है । परवर्ती काल में उसकी शैली का अनुकरण किया गया और आज भी किया जा रहा है । गोम्मटेश्वर की मुद्रा भव्य है, मुख पर वीतरागता झलकती है और ध्यान की मुद्रा तो अनुकरणीय ही है । इस प्रकार की मूर्ति के लिए कोई भी व्यक्ति कलाकार की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा । परम निष्ठावान भक्त के मन पर उन गुणों का बड़ा प्रभाव पड़ता है और वह उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न कर सकता है ।

बड़ी संख्या में जैन मंदिर दक्षिण, पश्चिम और अन्यत्र पाये जाते हैं। उनकी शैलियाँ अलग-अलग हैं और उनमें कला सम्बन्धी विभिन्नताएँ भी हैं किन्तु जो भी उनमें भक्तिपूर्वक जाता है, उस पर उनका लगभग एक जैसा ही प्रभाव पड़ता है। उनमें से कुछ — जैसे श्रवणबेलगोला, हलेबिडु, देवगढ़ आबू, राणकपुर, आदि — मंदिर तो वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं तथा शांति और अनासक्ति के रूप में उनका नैतिक प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। आबू के मंदिर के स्थापत्य की अद्भुत उत्कृष्टता तो मंदिर में प्रतिष्ठित जिन-बिम्ब के शांत प्रभाव को भी तिरोहित कर डालती है। जैन मंदिर का प्रयोजन ही यह होता है कि वहाँ बैठकर जैनेंद्र भगवान के गुणों का शांति से मनन किया जा सके और आराधक उनकी ओर स्वयं उन्मुख हो सके। यह भावना मंदिर के निर्माण की शैली से ही जाग्रत की जाती है; गर्भगृह, शुकनासिका, मुखमण्डप आदि वातावरण को गरिमा और शांति प्रदान करते हैं।

दक्षिण के कुछ मंदिरों के सामने पाया जानेवाला मानस्तंभ एक सुन्दर स्तंभ होता है। उत्कृष्ट कलाकारी से युक्त स्तंभ के शीर्षभाग की चतुष्कोण पीठिका पर एक सर्वतोभद्र प्रतिमा होती है जो प्रतीक है इस तथ्य की कि उसके समक्ष मानव कितना तुच्छ है और मंदिर में आने पर उसका अहंकार किस प्रकार दूर हो जाना चाहिए।

वास्तव में जैन कला और स्थापत्य की आचारिक पृष्ठभूमि का उद्देश्य आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करना और भक्तों के मन में पवित्रता, शांति, धैर्य, अनासक्ति, दानशीलता, विद्याव्यसन, और श्रद्धालु जीवन के साथ ही साथ सादगी तथा त्याग की भावना उत्पन्न करना है।

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

भाग 2

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 ई० पू० से 300 ई०

अध्याय 6

मथुरा

प्राचीन इतिहास

शूरसेन महाजनपद की राजधानी मथुरा ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में एक महत्त्वपूर्ण नगर था। ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में नंद साम्राज्य के उदय के साथ-साथ यह जनपद संभवतः मगध साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया और तब राजधानी के रूप में मथुरा का अस्तित्व समाप्त हो गया। मेगस्थनीज ने (लगभग ३०० ईसा-पूर्व), जो नंद साम्राज्य को पराजित करनेवाले चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में ग्रीस का राजदूत था, मेथोरा (मथुरा) और क्लाइसोवोरा (कृष्णपुर) का उल्लेख शौरसेनी साम्राज्य के दो महानगरों के रूप में किया है जो विशेषकर अपनी कृष्णोपासना (ग्रीक हिराक्लीज) के लिए विख्यात थे। मथुरा की समृद्धि का कारण केवल यही नहीं था कि वह कृष्ण की जन्मभूमि थी और परिणामतः भागवत धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ थी, अपितु उसका एक कारण यह भी था कि वह एक ऐसे राजमार्ग पर स्थित थी जो इसे वाणिज्यिक सार्थवाह मार्गों के साथ जोड़ता था। इनमें से एक मार्ग तो तक्षशिला और उससे भी आगे तक जाता था, जिसके परिणामस्वरूप व्यापार के माध्यम से मथुरा में अपार वैभव उमड़ पड़ा था। यह नगर स्वदेशी और पश्चिम एशियाई दोनों प्रकार की विभिन्न परंपराओं का मिलन-स्थल बन गया था। पश्चिम-एशियाई परंपराएँ वहाँ पर धुर उत्तर-पश्चिम से होकर आ रही थीं। इस विश्वनगर में जिस मिश्रित सभ्यता का विकास हुआ वह उसके उन आलंकारिक कला-प्रतीकों, वास्तुशिल्प एवं कला से पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाती हैं जो अपनी समन्वयी प्रकृति के लिए उल्लेखनीय हैं। मथुरा मध्य देश के उन गिने-चुने स्थानों में से एक था जिन्होंने यूनानी संस्कृति का प्रभाव पर्याप्त समय पूर्व ग्रहण कर लिया था। जैसा कि गार्गी संहिता के युग-पुराण-खण्ड से ज्ञात होता है, ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के आरंभ में ही, मौर्यों के मूलोच्छेदक पुष्यमित्र शुंग (लगभग १८७-१५१ ईसा-पूर्व) के सत्तारूढ़ होने से कुछ पूर्व, मथुरा को यवन-आक्रमण का सामना करना पड़ा था। ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में मथुरा शक सत्रपाल राजवंश के शासकों का मुख्यालय बन गया, जिन्होंने स्थानीय मित्रवंशीय शासकों को उखाड़ फेंका था। कालांतर में सत्रपाल राजवंश को कुषाणों ने अपदस्थ कर दिया। कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मथुरा की स्थिति बहुत ही गौरवपूर्ण थी, जो न केवल इन शासकों के शासनकाल के बहुत से शिलालेखों से ही, जिनमें अनेक बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण्य

निर्मितियों एवं मूर्तियों के समर्पण की बात कही गयी है, अपितु कुषाण-शासकों की चित्र-दीर्घा के निर्माण से भी स्पष्ट हो जाती है। कुषाण-शासन के पतनोपरांत, मथुरा में नाग राजवंश की सत्ता हुई, किन्तु चतुर्थ शती ईसवी में गुप्त-साम्राज्य के उदय के साथ मथुरा का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।

जैन परंपरा में मथुरा

मथुरा जैन मतावलंबियों के लिए प्राचीनकाल से ही विशेष रूप से पवित्र स्थान रहा है। तथापि, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि जैन धर्म ने मथुरा की भूमि पर कब पदार्पण किया। परवर्ती जैन धर्मग्रंथों में वर्णित अनुश्रुतियों में मथुरास्थित जैन प्रतिष्ठानों को अत्यंत प्राचीन बताया गया है और उन्हें अनेक तीर्थंकरों के साथ संबद्ध किया गया है। इस प्रकार, जिनप्रभ-सूरि (चौदहवीं शताब्दी) के मतानुसार, मथुरा में स्वर्ण एवं मणि-निर्मित एक स्तूप था, जिसका निर्माण देवी कुबेरा ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के सम्मान में करवाया था। दीर्घकाल पश्चात्, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मथुरा-यात्रा के उपरांत, देवी के आदेश से इस स्तूप पर ईंटों का आवरण चढ़ाया गया और उसके पार्श्व में पार्श्वनाथ की एक प्रस्तर-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी। महावीर-निर्वाण से तेरह शताब्दियों के पश्चात् बप्पभट्टि सूरि की प्रेरणा से इस स्तूप का जीर्णोद्धार किया गया।[1] विविध-तीर्थ-कल्प में मथुरा के श्रीसुपार्श्व-स्तूप को एक महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थल बताया गया है।[2] एक अनुश्रुति में मथुरा को इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की जन्मभूमि[3] बताया गया है, किन्तु उत्तर पुराण के अनुसार उनकी जन्मभूमि मिथिला थी।[4] वासुदेव-कृष्ण और बलराम के सगे चचेरे भाई होने के कारण, बाईसवें तीर्थंकर हरिवंशीय अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का मथुरा के साथ घनिष्ठ संबंध था। कहा जाता है कि उनके पिता समुद्रविजय, जो वसुदेव के भाई थे, शौर्यपुर[5] के शासक

---

[1] जिनप्रभु-सरि. **विविध-तीर्थ-कल्प.** संपा : जिनविजय. 1934. शांतिनिकेतन. पृ 17 तथा परवर्ती. / स्मिथ (विंसेण्ट ए). **जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज ऑफ मथुरा.** आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरीज़. 1901. इलाहाबाद. पृ 13. / शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट.** 1955. बनारस. पृ 9 तथा 62-63.

[2] **विविध-तीर्थ-कल्प.** पृ 85.

[3] भट्टाचार्य (बी सी). **जैन आइकॉनॉग्राफी.** 1939. लाहौर. पृ 80.

[4] वही, पृ 79.

[5] इस स्थान का सामान्यतया एक प्राचीन स्थल के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है. बटेश्वर (जिला आगरा) के निकटवर्ती इस स्थान को सुरपुर, सौरिपुर, सूरजपुर तथा सूर्यपुर नामों से पुकारा गया है; द्रष्टव्य : **उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स आगरा.** संपा : ई बी जोशी. 1965. लखनऊ. पृ 22. कृष्ण का एक उपनाम शौरि भी है, अतः बी. सी. ला ने शौर्यपुर या शौरिपुर का मथुरा के साथ ही तादात्म्य स्थापित किया है (**जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, लैटर्स.** 13; 1947; 21 और 25). बी सी भट्टाचार्यम्, ने इसका द्वारका के साथ तादात्म्य स्थापित किया है (पूर्वोक्त, पृ 81).

थे। विविध-तीर्थ-कल्प से ज्ञात होता है कि नेमिनाथ का मथुरा में एक विशिष्ट सम्माननीय स्थान था।[1] कुषाण और कुषाणोत्तरकाल की अनेक मूर्तियों में इस तीर्थंकर को कृष्ण और बलराम के साथ दिखाया गया है। विवागसूय[2] से ज्ञात होता है कि महावीर मथुरा गये थे और उन्होंने वहाँ अपने प्रवचन किये थे। अपने इस मथुरा-विहार में वह संभवतः भण्डीर-उद्यान में ठहरे थे जो सुदर्शन नामक यक्ष का पावन स्थल था।

प्राचीन जैन पुरावशेष

ये परवर्ती साहित्यिक परंपराएँ तो अभी अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध की जानी हैं, किन्तु पुरातत्त्वीय सामग्री के आधार पर इतना निश्चित है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी तक मथुरा में जैन धर्म दृढ़ता से स्थापित हो चुका था। इस क्षेत्र में अनेक राजनैतिक परिवर्तन होते रहे जिनके परिणामस्वरूप पहले तो वहाँ रञ्जुवुल और शोडास (शोण्डास) के अधीन शक सत्रपाल वंश के शासन की स्थापना हुई और अंततः कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ, किन्तु इन राजनीतिक परिवर्तनों के होते हुए भी जैन धर्म की यहाँ निरंतर अभिवृद्धि होती रही। कुषाणों के शासनकाल में मथुरा असाधारण रूप से वैभवसंपन्न एवं जनाकीर्ण नगर हो गया था और ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मतों की समृद्धि के लिए अनुकूल भूमि सिद्ध हुआ। वस्तुतः कुषाणकाल में इस विश्वनगर की शिल्पशालाओं में सृजनात्मक प्रक्रिया अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुँची, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह महत्त्वपूर्ण धर्मक्षेत्र कला एवं स्थापत्य का एक उर्वर केन्द्र बन गया। वैश्यों, विशेषकर अति समृद्ध व्यापारी वर्ग की धन-सम्पत्ति का जैन वास्तु-स्मारकों की समृद्धि में अत्यधिक योगदान रहा। इस वर्ग में श्रेष्ठी, सार्थवाह, वाणिज, गंधिक आदि सम्मिलित थे और सामान्य भक्तजनों की संख्या में उनका प्रतिशत बहुत ऊँचा था। यह बात व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग में रत परिवारों के समर्पणात्मक अभिलेखों से प्रमाणित हो जाती है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि केवल मथुरा के ही नहीं, अपितु उत्तरी भारत के एक विशाल भू-भाग के विभिन्न मतों और पंथों के अनुयायियों ने उस युग के कलाकारों से कला-कार्य की अनवरत माँग जारी रखी। यही कारण है कि उनके पास अपनी कृतियों पर विशेष ध्यान देने के लिए कोई समय नहीं बच पाता था और उन्हें विवश होकर यंत्रवत् विशाल स्तर पर सर्जन करना पड़ा, जिसका उनकी कलात्मक प्रतिभा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मूर्तियों को केवल रूढ़िगत रूप ही नहीं दिया गया अपितु वे प्रायः नीरस और आकर्षणहीन रहीं।

प्रस्तुत अवधि की मथुरा की कला-शैली निश्चय ही मूल रूप से भारतीय रही, जिसमें मध्य देश की युगों प्राचीन कला-परंपरा के मूल और पल्लवन तथा यक्षों की पुरातन मूर्तियों और भरहुत तथा सांची के वैशिष्ट्य का योगदान था। तथापि, उत्तर-पश्चिम

---

[1] विविध-तीर्थ-कल्प. पृ 85.

[2] वैद्य (पी एल). विवागसूय. 1933. पूना. पृ 45.

से प्राप्त विदेशों के कला-प्रतीकों का मुक्त रूप से समावेश करने की पर्याप्त एवं व्यापक छूट थी, जिसका उद्देश्य अंशत: मिश्रित रुचिसंपन्न ग्राहकों को संतुष्ट करना था। इसे अभिव्यक्ति देने का प्रमुख साधन था चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर जिसे सीकरी, रूपवास और ताँतपुर जैसे स्थानों की खानों से निकाला गया।

ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में एक जैन मंदिर (पासाद) के विद्यमान होने का प्रमाण एक शिलालेख से मिलता है जिसमें उत्तरदासक नामक श्रावक द्वारा एक पासाद-तोरण समर्पित किये जाने का उल्लेख है।[1] एक अन्य शिलालेख में, जो एक शिल्पांकित सरदल-खण्ड पर उत्कीर्ण है और जो कनिष्क-प्रथम से ठीक पहले के युग का है, धामघोषा द्वारा एक पासाद के दान का उल्लेख है।[2] पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा में, सुरक्षित एक आयाग-पट भी लगभग इसी अवधि का है (पु॰ सं॰ म॰,[3] क्यू २, चित्र १)। इसपर उत्कीर्ण शिलालेख में लोणशोभिका की पुत्री वासु नामक गणिका द्वारा, निर्ग्रंथ-अर्हंतायन (अर्हंतों का चैत्यवास) में एक अर्हंत मंदिर (देविकुल), सभा-भवन (आयाग-सभा), प्याऊ (प्रपा) और एक शिलापट्ट के समर्पित किये जाने का उल्लेख है।[4] एक अन्य शिलालेख में जो (अज्ञात संवत् के वर्ष २११ का) संभवत: कुषाणयुग का है और एक खण्डित प्रतिमा के पादपीठ पर अंकित है, अर्हंतों के मंदिर (आयतन) में महावीर की मूर्ति के प्रतिष्ठापन और एक जिनालय (देविकुल) के निर्माण का उल्लेख है।[5] मथुरा संग्रहालय के ही एक खण्डित आयाग-पट पर 'विहार' शब्द अंकित है।[6] बहुसंख्य तीर्थंकर मूर्तियों और जैन-देवी सरस्वती की एक मूर्ति की खोज से यह सिद्ध होता है कि कुषाणयुग में मथुरा में अनेक जैन मंदिर विद्यमान थे, यद्यपि इस बात की सम्भावना को भी पूर्णत: अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनमें से बहुत-सी मूर्तियाँ खुले स्थानों में प्रतिष्ठापित की गयी थीं।

कंकाली टीला : स्तूपों की प्रतिकृतियाँ तथा अवयव

यद्यपि मथुरा के प्रमुख जैन क्षेत्र[7] कंकाली टीले से हार्डिंज, कनिंघम, ग्रावजे और फ्यूरर, द्वारा यत्र-तत्र की गयी खुदाइयों और खोजों में अत्यधिक विशाल संख्या में मूर्तियाँ, आयाग-पट,

---

[1] **एपीग्राफिया इण्डिका.** 2; 1893-94; 198. / ल्यूडर्स (एच). **लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इंसक्रिप्शन्स.** 1912. क्रमांक 93.

[2] **एपीग्राफिया इण्डिका.** 2; 1893-94; 199. / ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 99. / लखनऊ संग्रहालय क्रमांक जे- 540.

[3] पु॰ सं॰ म॰=पुरातत्त्व संग्रहालय मथुरा; रा. स. ल.=राज्य संग्रहालय लखनऊ.

[4] **जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी.** 23; 1940; 69-70. / ल्यूडर्स, पूर्वोक्त. क्रमांक 102.

[5] ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 78./ ल्यूज़न-डि लियू ने इस तिथि को 199 पढ़ा है. द्रष्टव्य : ल्यूज़न-डि लियू (जे ई). **'सीथियन' पीरियड.** लीडन. 1949. पृ 58. आर सी शर्मा ने उसके मत का खण्डन किया है. उन्होंने खोयी हुई प्रतिमा के उपलब्ध चरणों के शैलीगत तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए इस कृति को कुषाणों के शासन के अंत तथा गुप्तवंशीय शासन के आरंभ के मध्यवर्ती संक्रमणकाल का बताया है. द्रष्टव्य : **महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वॉल्यूम.** 1968. बम्बई. पृ 149.

[6] **जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसाइटी.** 23; 1950; 71.

[7] कुछ जैन पुरावशेष सीतल-घाटी, रानी की मण्डी और मनोहरपुर से भी प्राप्त हुए थे.

स्तंभ, स्तंभ-शीर्ष, छत्र, वेदिका-स्तंभ, सूचियाँ, उष्णीष, तोरणखण्ड, तोरणशीर्ष, टोड़े एवं अन्य वास्तु-शिल्पीय कलाकृतियाँ निकली थीं, किन्तु, दुर्भाग्यवश, विचाराधीन अवधि का एक भी स्मारक इस समय उपलब्ध नहीं है। इन छिन्न-भिन्न शिलापट्टों से इस बात का आभास मिलता है कि धनाढ्य एवं धर्मनिष्ठ जैन संप्रदाय के लोगों द्वारा, जिनमें पर्याप्त संख्या में सामान्य महिला उपासक सम्मिलित थीं, निर्मित भव्य स्मारक मूर्तिकला एवं स्थापत्य की दृष्टि से कितने उत्कृष्ट थे। अनेक शिलापट्टों और मूर्तियों पर उत्कीर्ण शिलालेखों में केवल शासकों के नाम ही नहीं लिखे गये हैं अपितु उनसे जैन संघ के संगठन पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, जो अनेक आचार्यों एवं मुनियों के विभिन्न गणों, कुलों और शाखाओं में संगठित था।

यद्यपि फ्यूरर को १८८८ और १८९१ के बीच कंकाली टीले में अपने विशाल खोजकार्य के मध्य ईंटों के एक स्तूप और दो मंदिरों के अवशेष तथा प्रचुर संख्या में ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ग्याहरवीं शताब्दी ईसवी तक के पुरावशेष प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई थी, किन्तु वह भवनों के विस्तृत मानचित्र और छायाचित्रों के विवरण का उचित सूचीकरण कर सकने में असमर्थ रहा, क्योंकि उसका कार्य खुदाई द्वारा मुख्यतः पुरावशेषों, विशेषकर शिलालेखों को खोज निकालने तक ही सीमित रहा। उन पुरावशेषों का पूर्वापर-संबंध क्या था और वे किन-किन भवनों के थे, इसका भी उसने कोई विवरण नहीं रखा। जैन वास्तु-स्मारकों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस आवश्यक सूचीकरण के अभाव में हमें स्वाभाविक रूप से विछिन्न स्मारकों के उत्कीर्ण प्रस्तरपट्टों पर शिल्पांकित रचनाओं के साक्ष्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है।[1]

उपलब्ध साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि कंकाली टीले पर जैन प्रतिष्ठान एक ऐसे स्तूप के चारों ओर निर्मित हुआ था जो कि अत्यंत श्रद्धा एवं आदर की वस्तु बन गया था। वर्ष ७९ (१५७ ईसवी) या ४९ (१२७ ईसवी) के एक शिलालेख[2] में, जो एक अज्ञात मूर्ति के पादपीठ पर अंकित है, तथाकथित देव-निर्मित वोद्व स्तूप पर अर्हंत नन्द्यावर्त[3] की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। इससे यह विदित होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य तक यह स्तूप इतना प्राचीन हो गया था कि इसके निर्माण संबंधी मूल तथ्यों को लोग पूर्णतः भूल गये थे और इसका निर्माण देवों द्वारा किया हुआ माना जाने लगा था। अनुमानतः सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू में (९५९ ई०) एक स्तूप के निर्माण का विवरण देते समय इसी स्तूप का उल्लेख किया है क्योंकि उनके अपने समय में देव-निर्मित स्तूप के रूप में एक स्तूप विख्यात था।

---

[1] विशाल कंकाली टीले के सुव्यवस्थित उत्खनन से कुछ भवनों की संरचना का पता लगने की संभावना है, यद्यपि पिछले उत्खननों से टीले को पर्याप्त क्षति पहुँची है.

[2] ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 47.

[3] कृष्णदत्त वाजपेयी ने इसे मुनिसुव्रत पढ़ा है : महावीर कम्मेमोरेशन वॉल्यूम. 1. आगरा. पृ 189-90.

सोमदेव के मतानुसार इसका निर्माण वज्रकुमार ने करवाया था, जो दिव्य विद्याधरों की अलौकिक शक्तियों से संपन्न था।[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, फ्यूरर को खुदाई में ईंटों का एक स्तूप प्राप्त हुआ था जिसका व्यास १४.३३ मीटर बताया जाता है। इस स्तूप की रूपरेखा के एक सामान्य रेखाचित्र से (रेखाचित्र २)[2] प्रतीत होता है कि यह स्तूप पूर्णरूपेण ईंटों का बना हुआ नहीं था। इसके अभ्यन्तर में ईंटों की चिनाई एक आठ अरोंवाले चक्र के रूप में थी। चक्र के अतिरिक्त उसमें एक वृत्ताकार भित्ति थी, जो ढाँचे को शक्ति प्रदान करने के लिए विकीर्ण अरों को मध्य में जोड़ती थी। इस ढाँचे के भीतर शेष स्थान अनुमानतः चिकनी मिट्टी से भरे हुए थे।

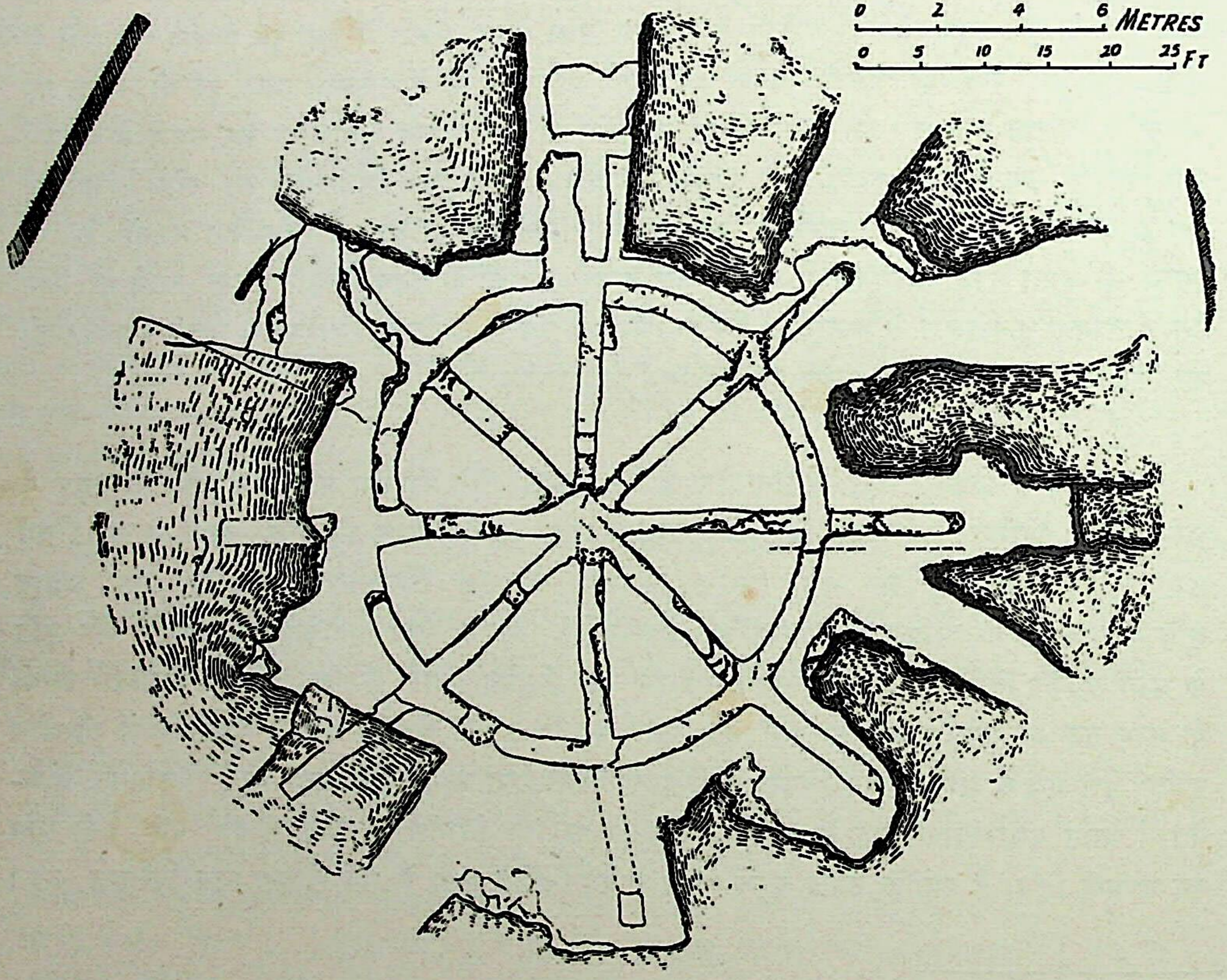

रेखाचित्र 2. कंकाली टीला : ईंट-निर्मित स्तूप की रूपरेखा (स्मिथ के अनुसार)

---

[1] हन्दीक़ी(के के). यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर. 1949. शोलापुर. पृ 416 और 433.

[2] स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 3. तथापि, रेखाचित्र में व्यास 14. 33 मीटर से कहीं अधिक दिखाया गया है .

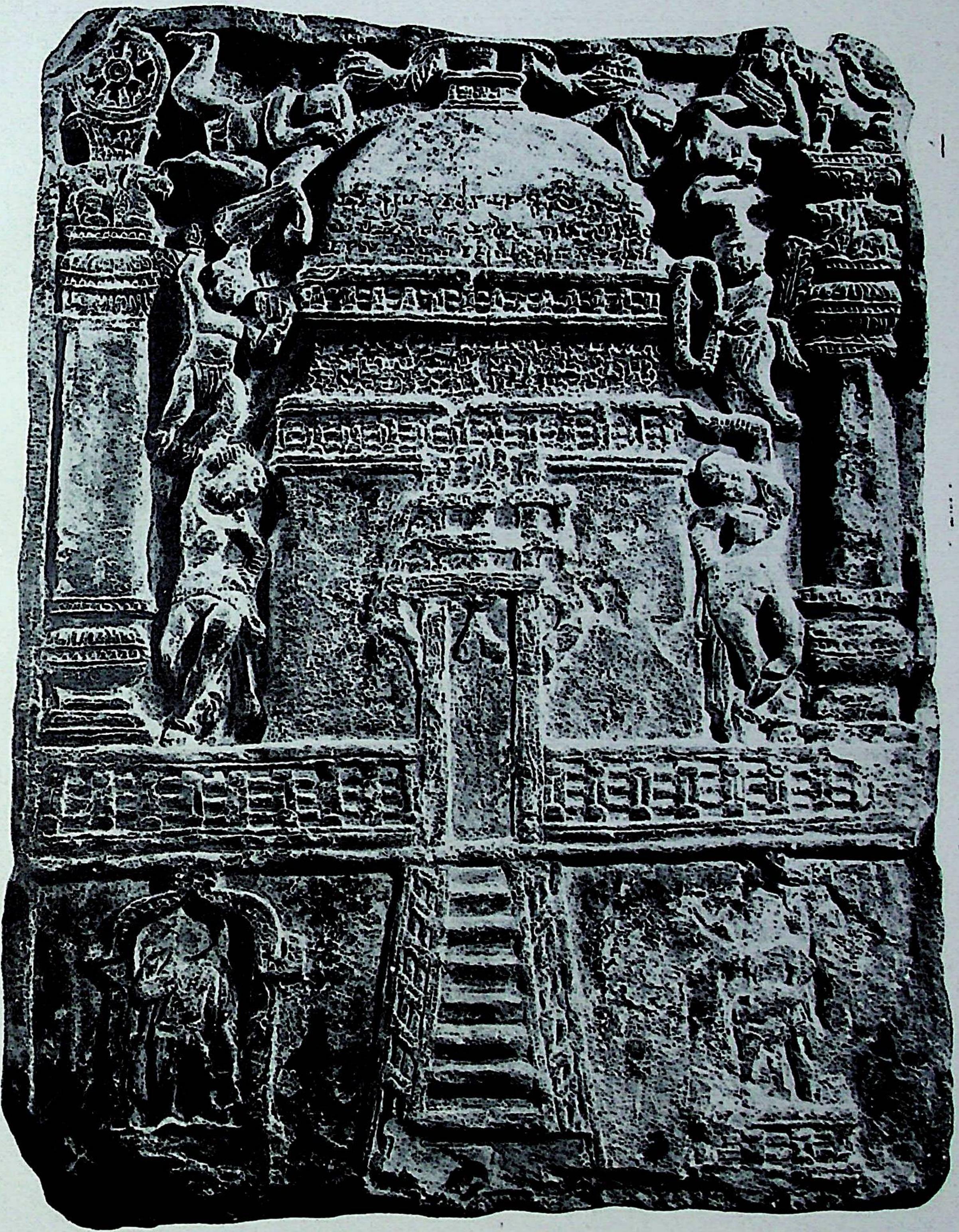

मथुरा — आयाग-पट

चित्र 1

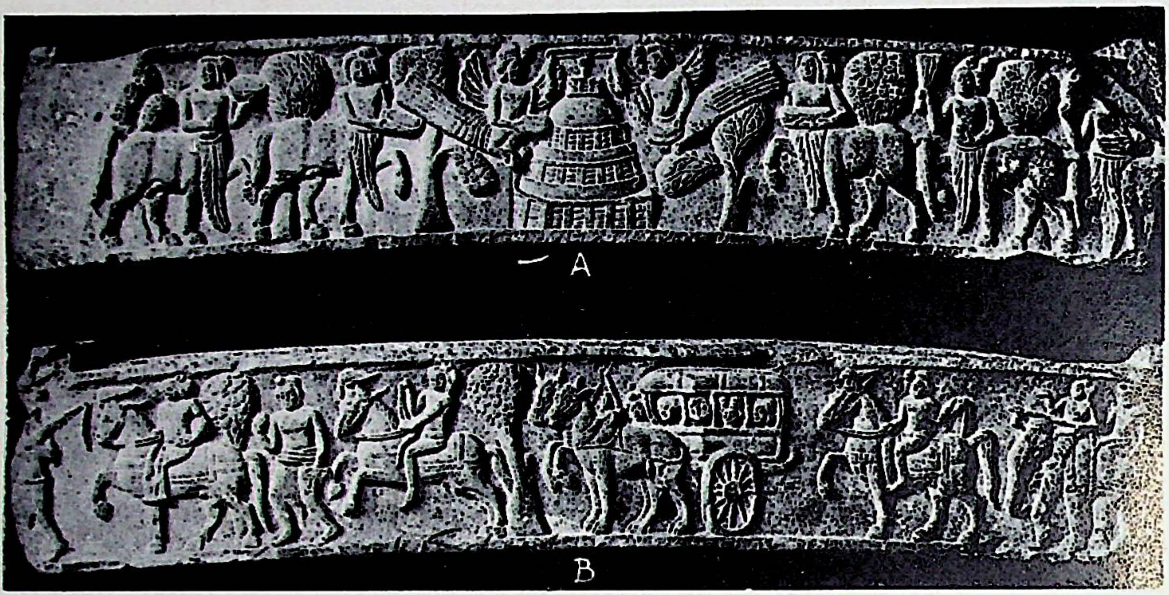

(क) मथुरा — स्तूप के प्रवेश द्वार का सरदल, (अ) पुरो भाग (ब) पृष्ठ भाग

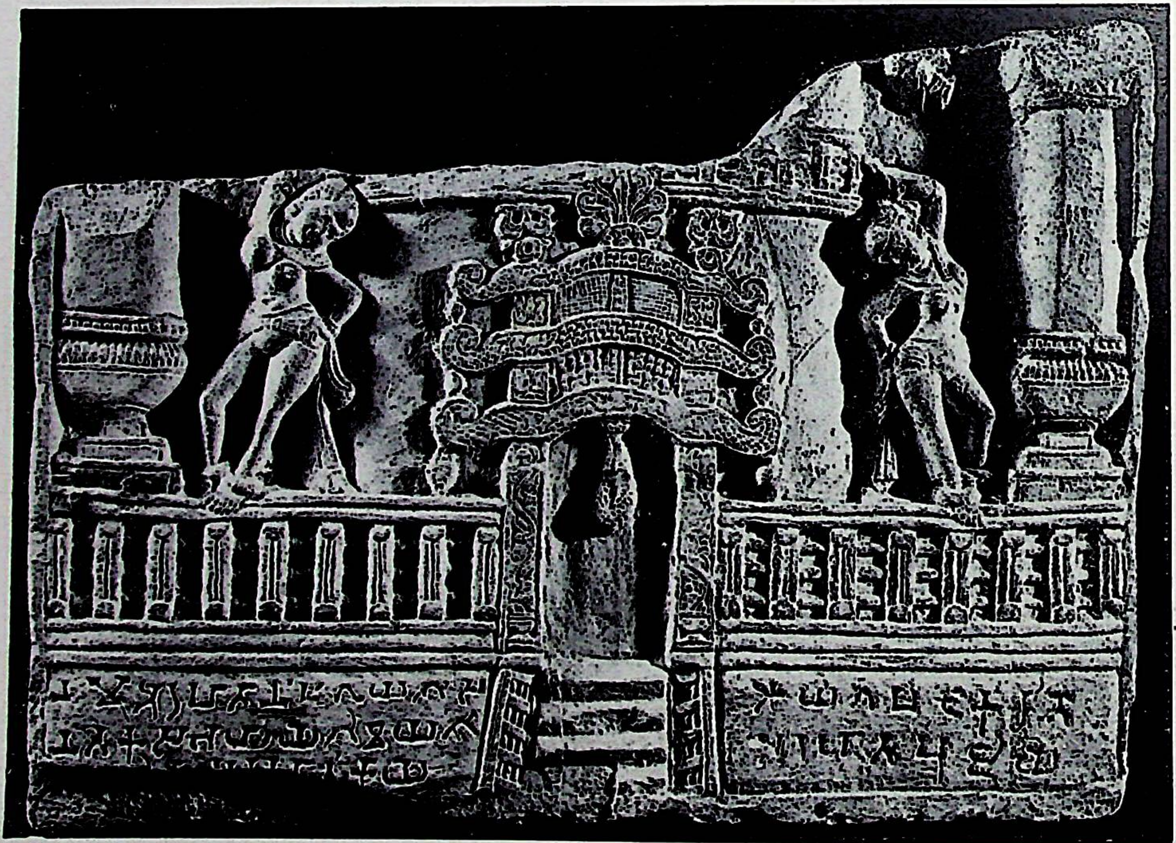

(ख) मथुरा — खण्डित आयाग-पट

चित्र 2

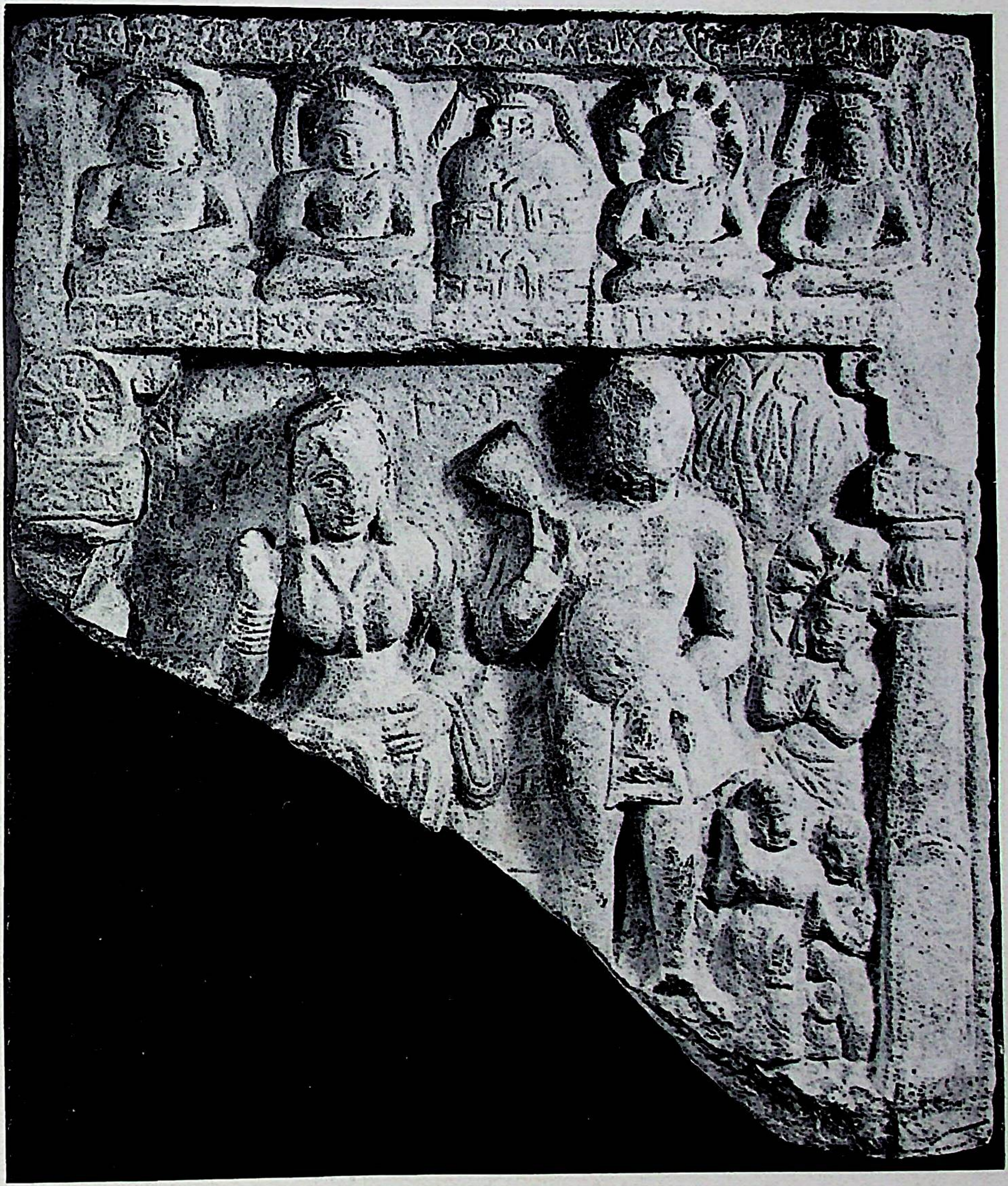

मथुरा — शिल्पांकित शिलापट्ट

चित्र 3

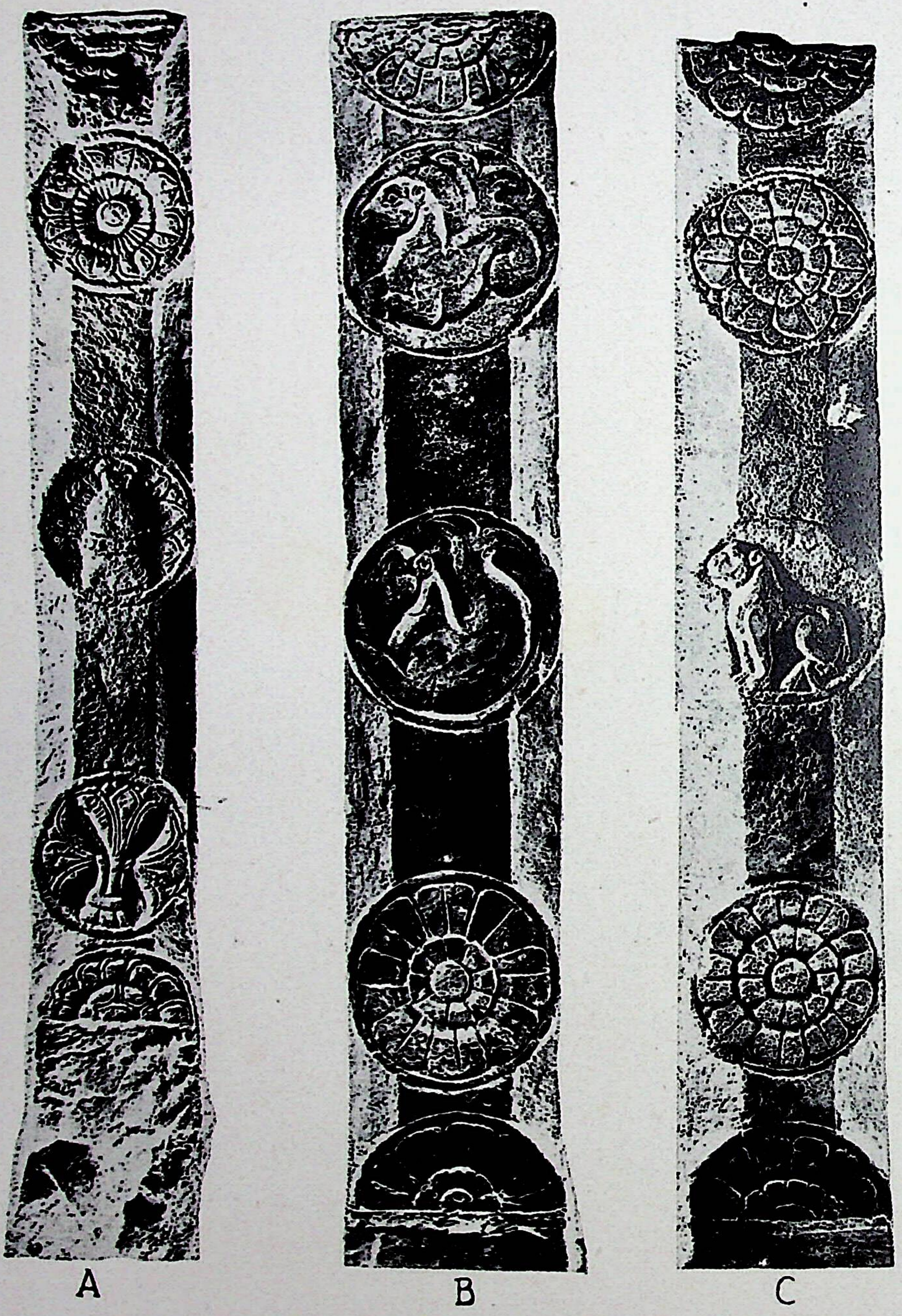

मथुरा — वेदिका स्तम्भ

चित्र 4

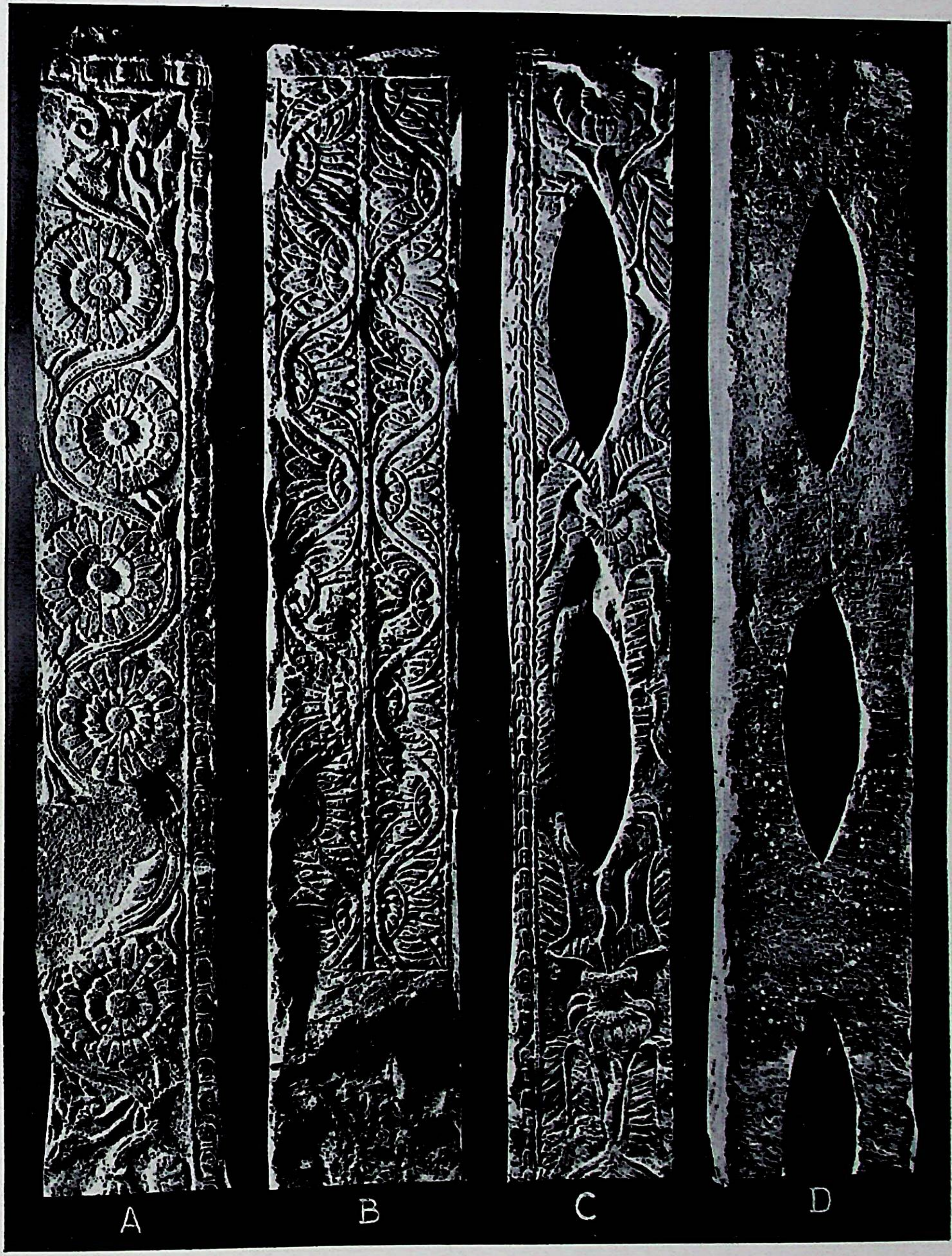

मथुरा — वेदिका का कोण स्तम्भ, चारों ओर का दृश्य

चित्र 5

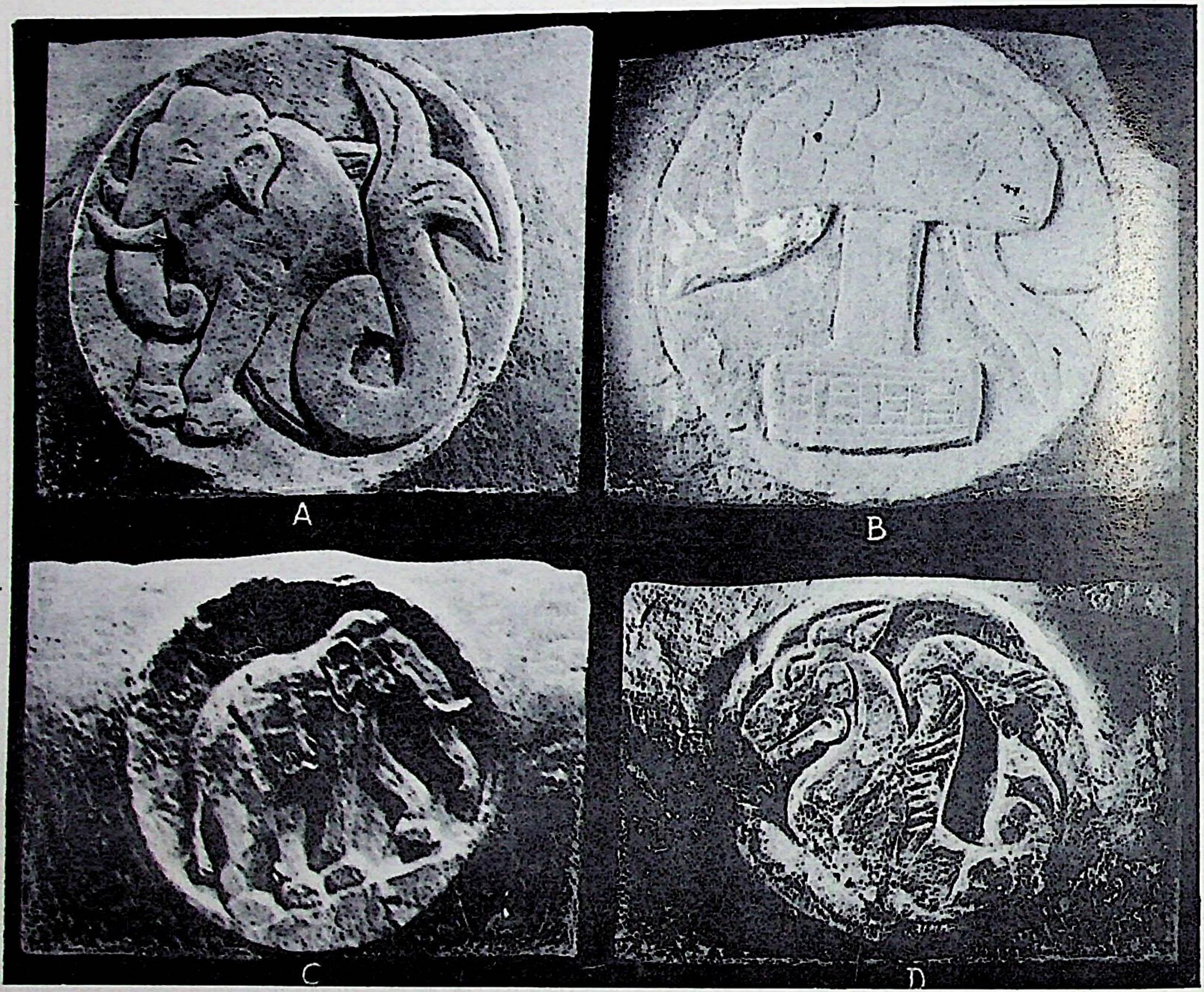

मथुरा — वेदिका सूचियाँ (तकिए)

चित्र 6

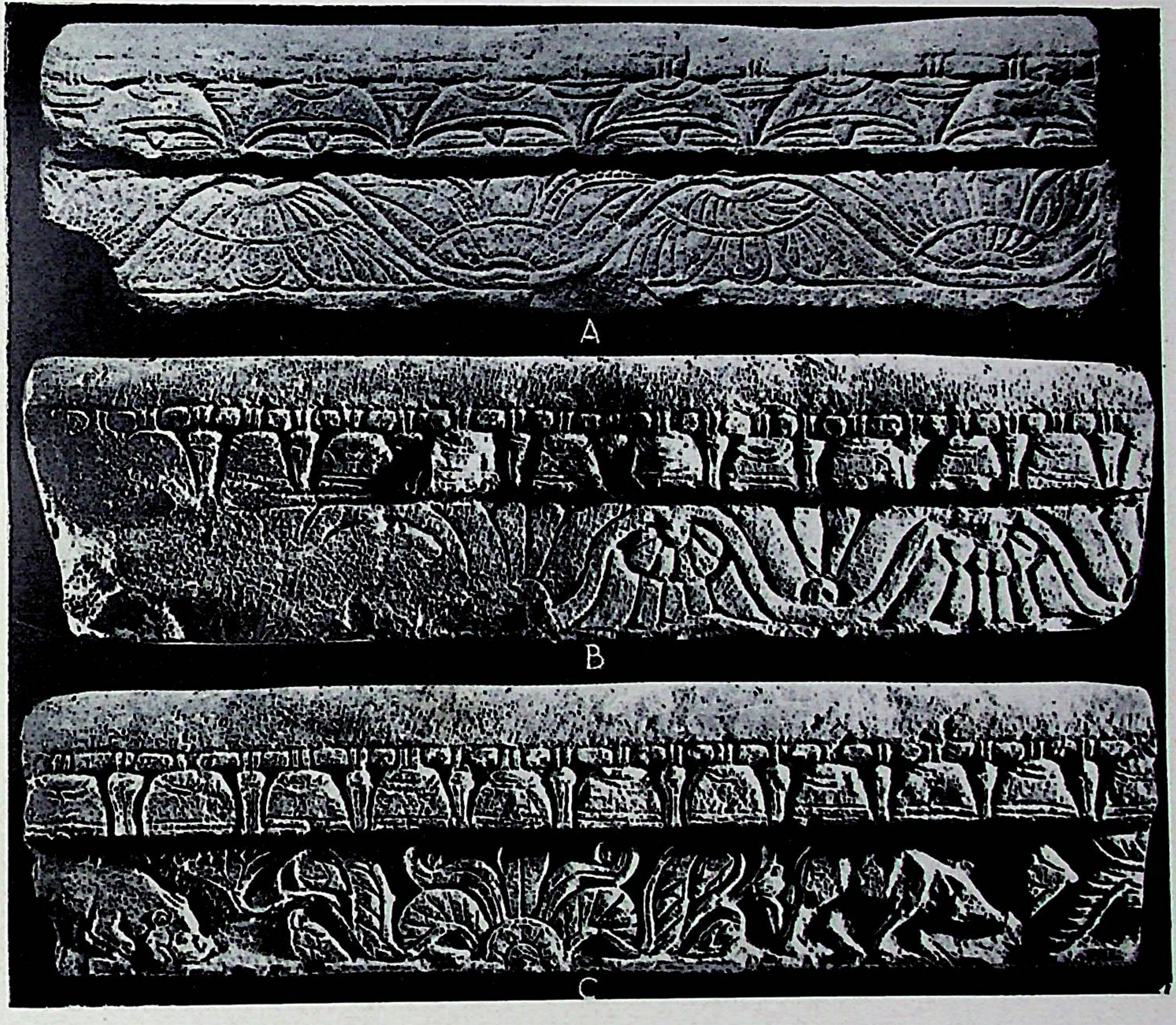

मथुरा — वेदिका के उष्णीष

चित्र 7

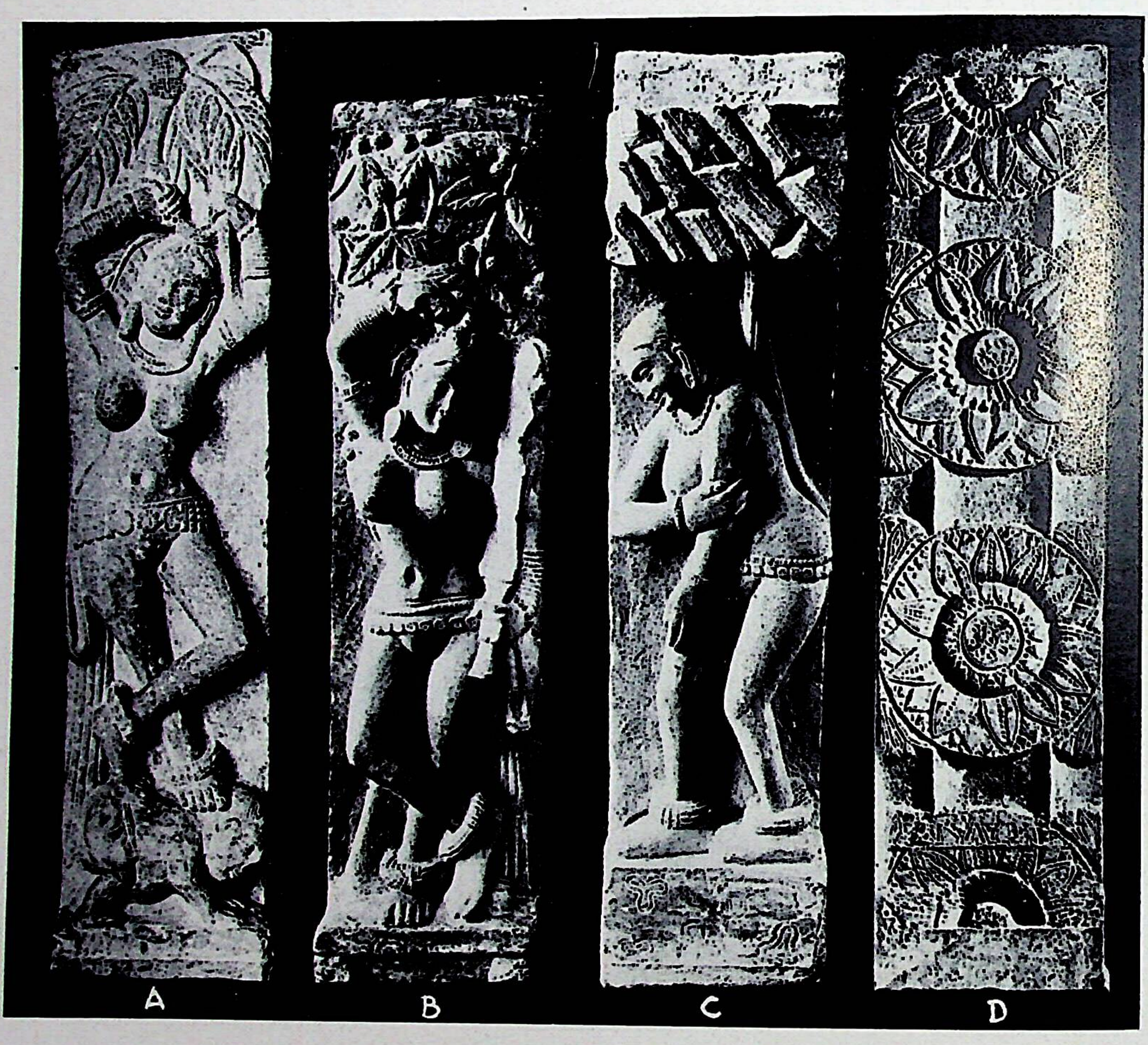

मथुरा — वेदिका स्तम्भ

चित्र 8

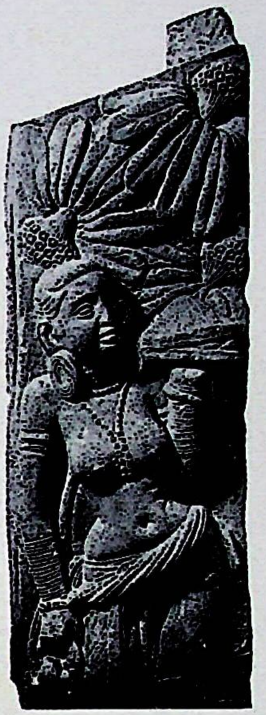

(क) मथुरा — सोपान में प्रयुक्त एक वेदिका स्तम्भ

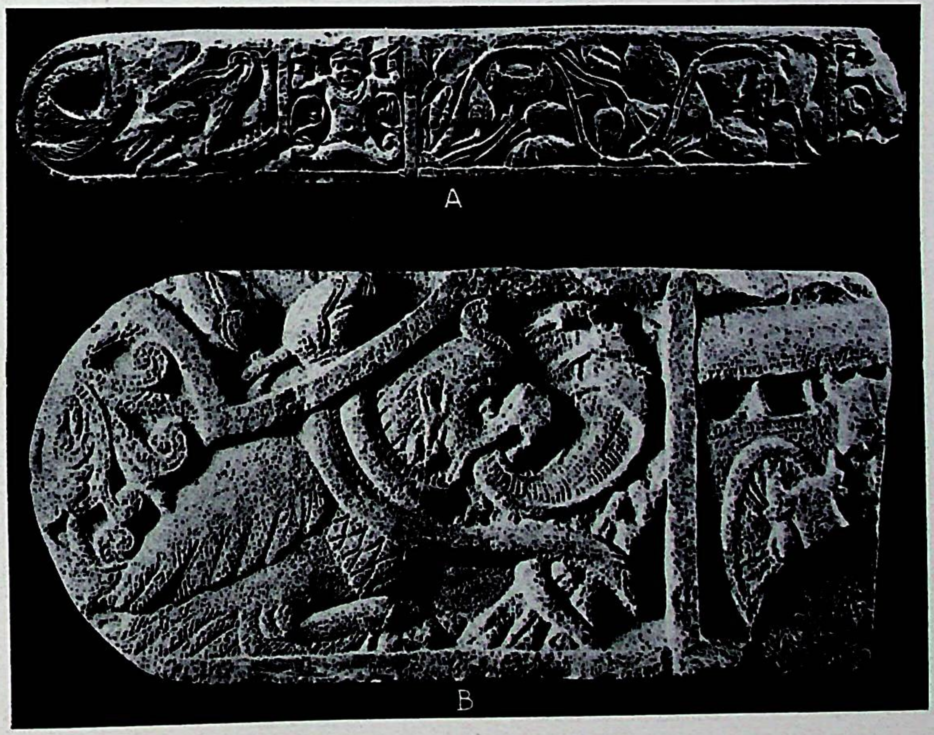

(ख) मथुरा — खण्डित सरदल

चित्र 9

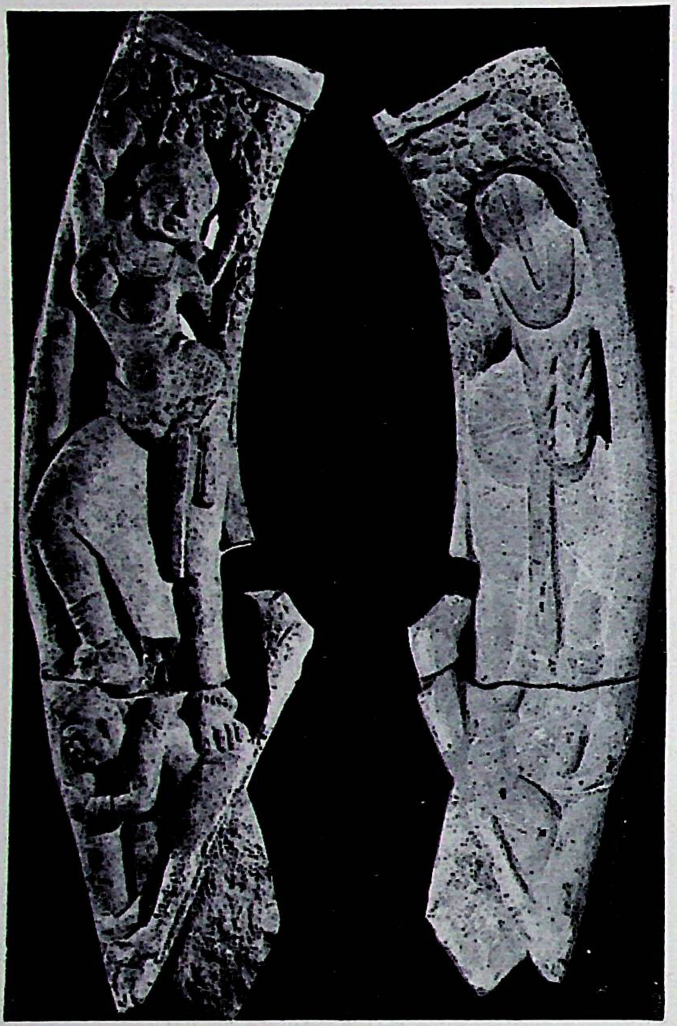

(क) मथुरा — प्रवेश द्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग

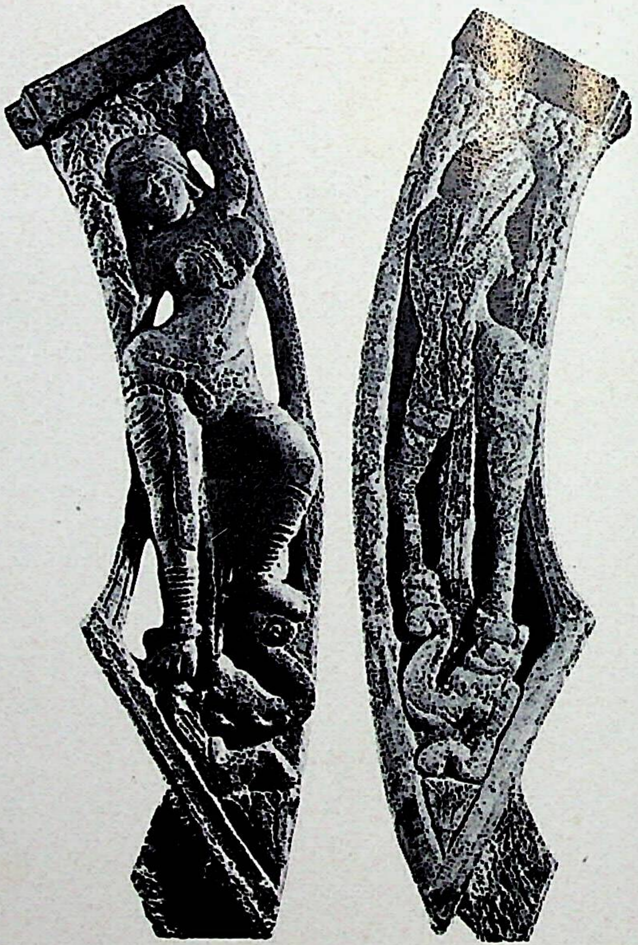

(ख) मथुरा — प्रवेश द्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग

चित्र 10

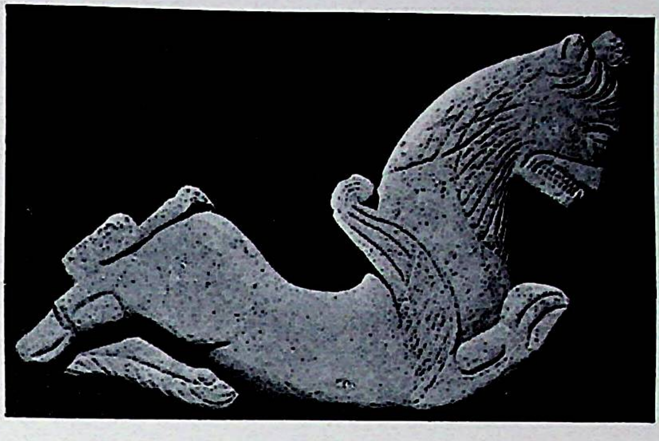

(क) मथुरा — सरदल का टोड़ा

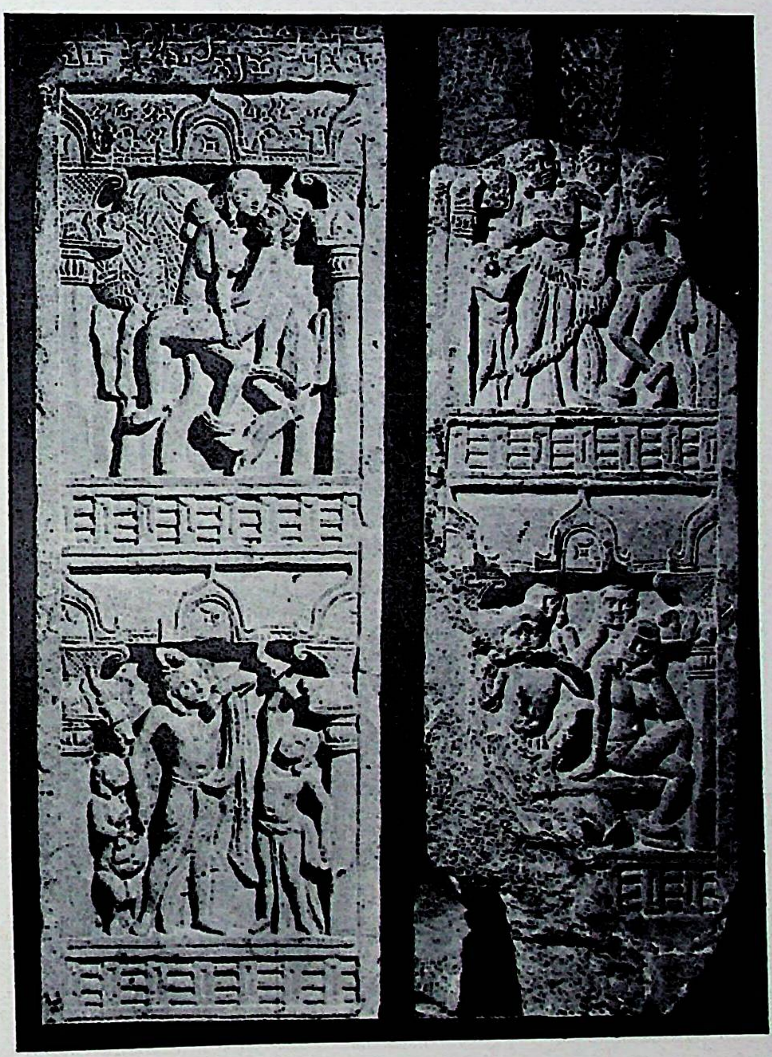

(ख) मथुरा — तोरण स्तम्भ; पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग

चित्र 11

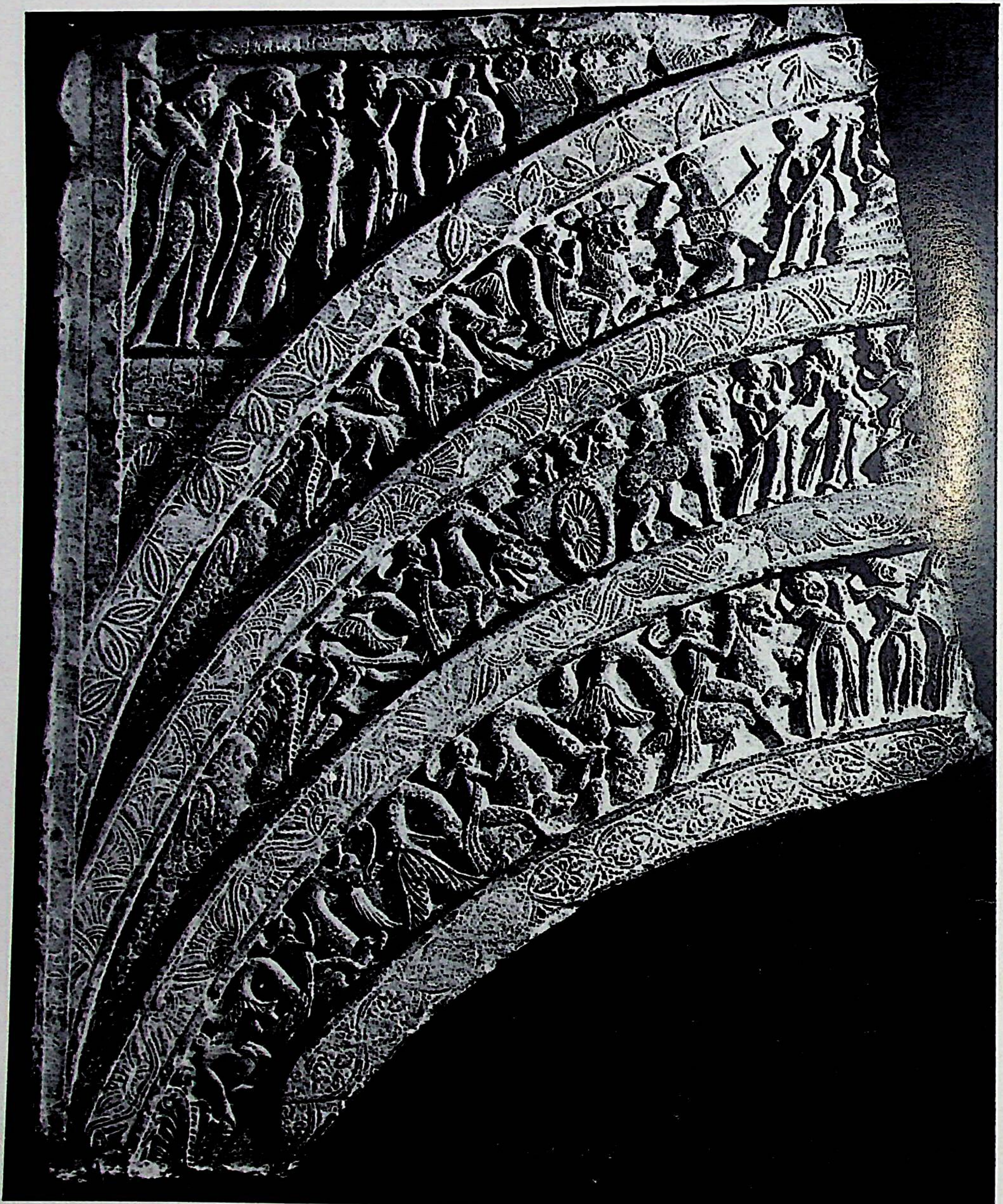

मथुरा — खण्डित तोरण शीर्ष, पुरोभाग

चित्र 12

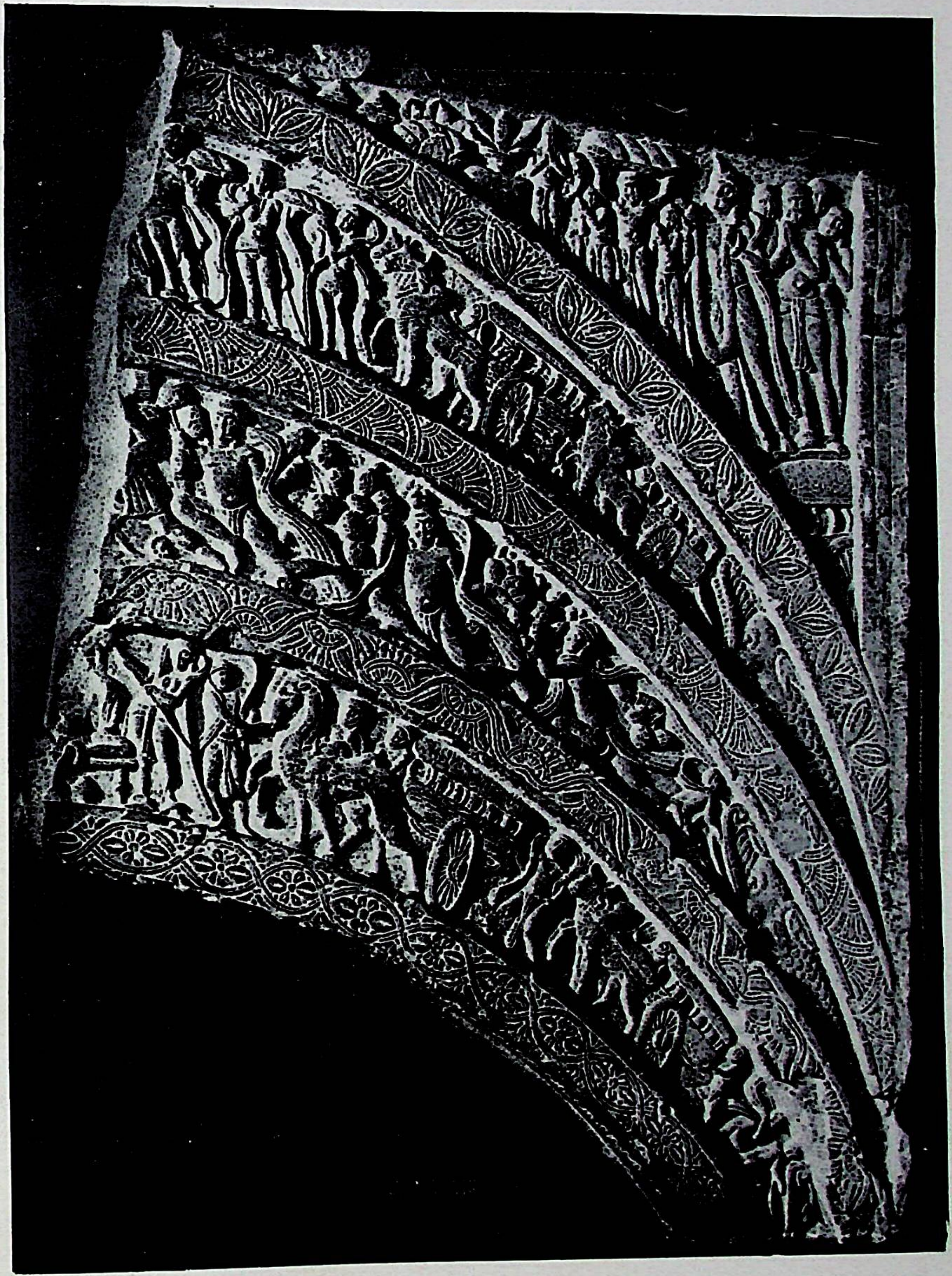

मथुरा — खण्डित तोरण शीर्ष, पृष्ठ भाग

चित्र 13

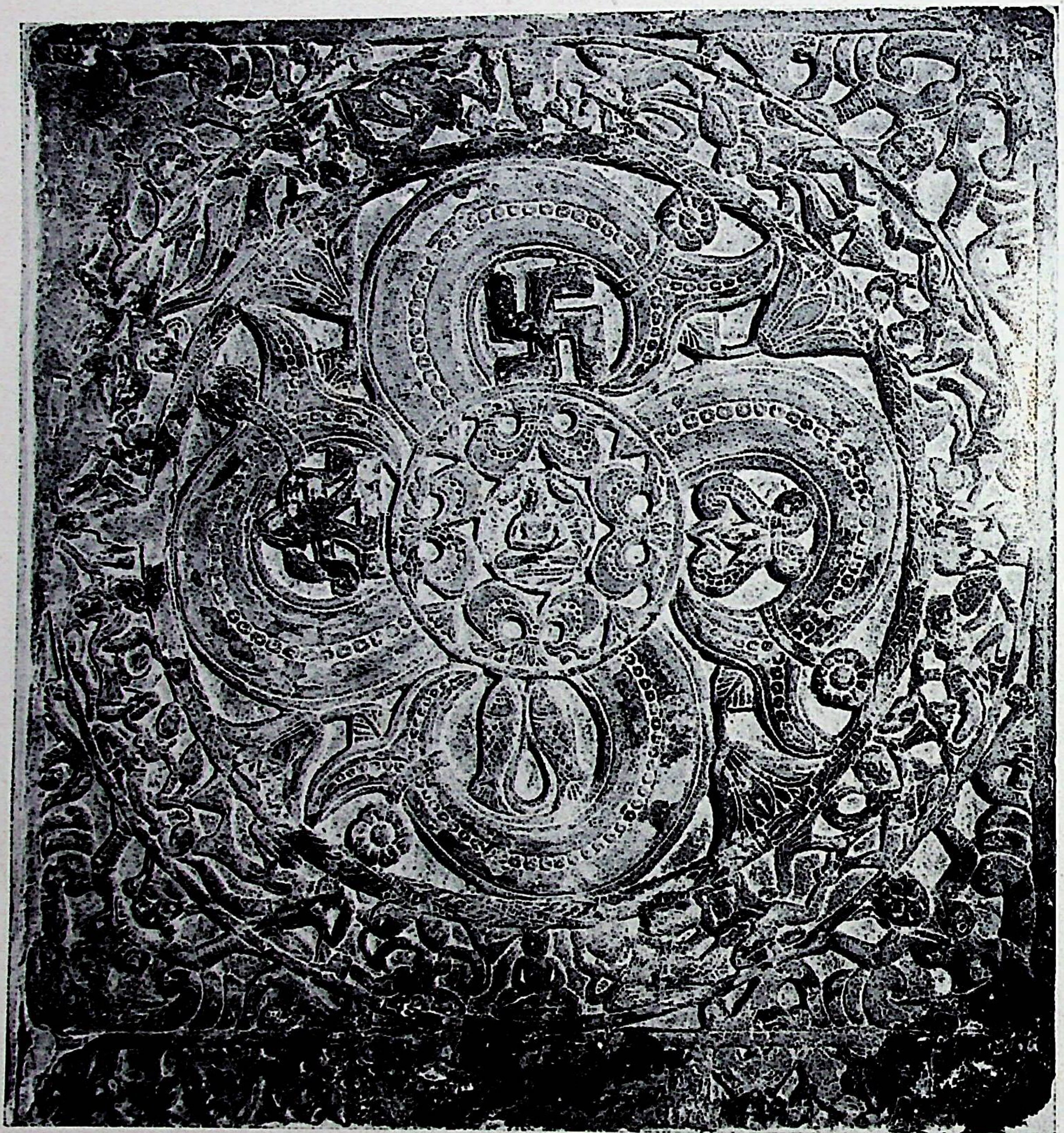

मथुरा — आयाग-पट

चित्र 14

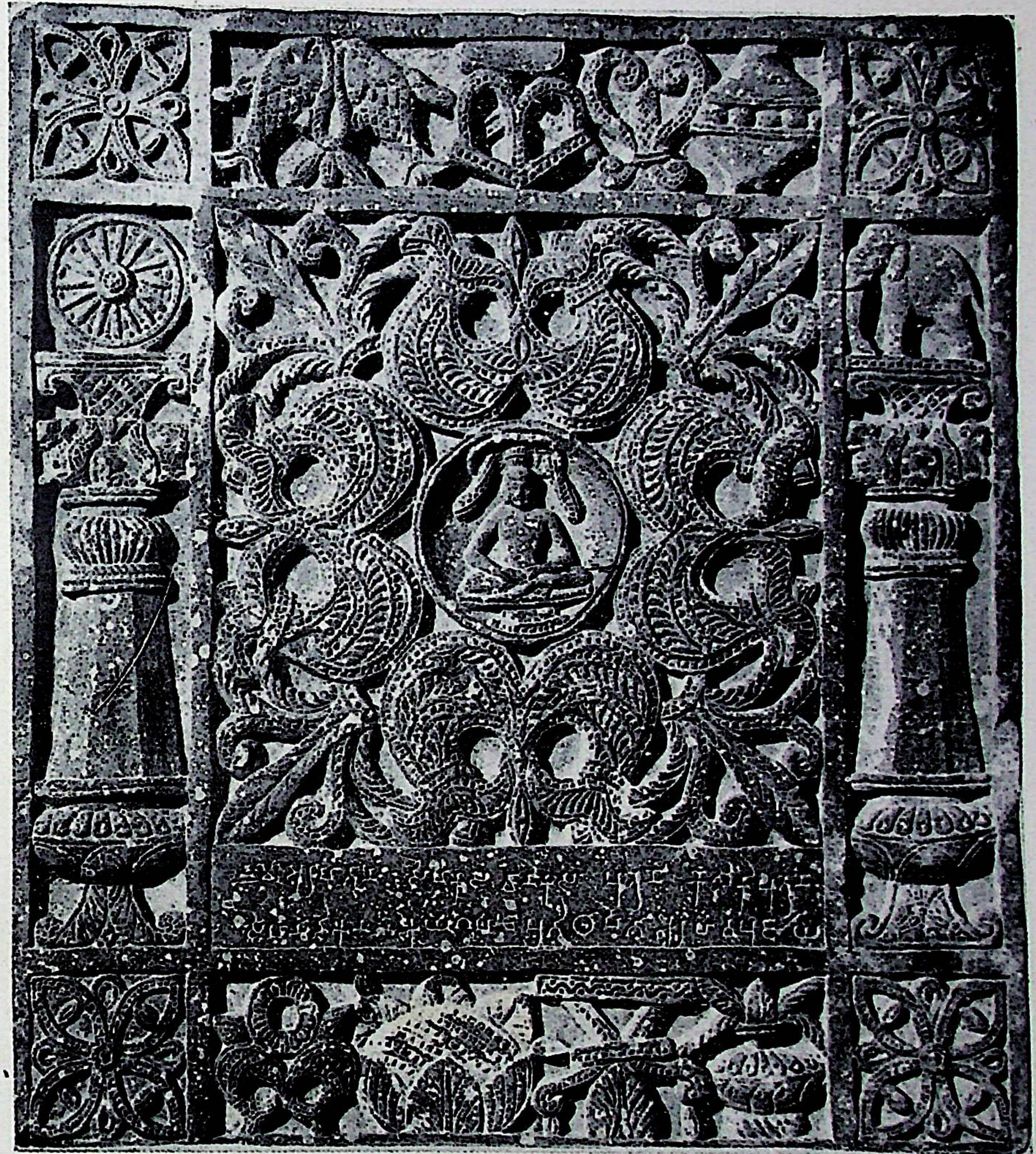

मथुरा — आयाग-पट

चित्र 15

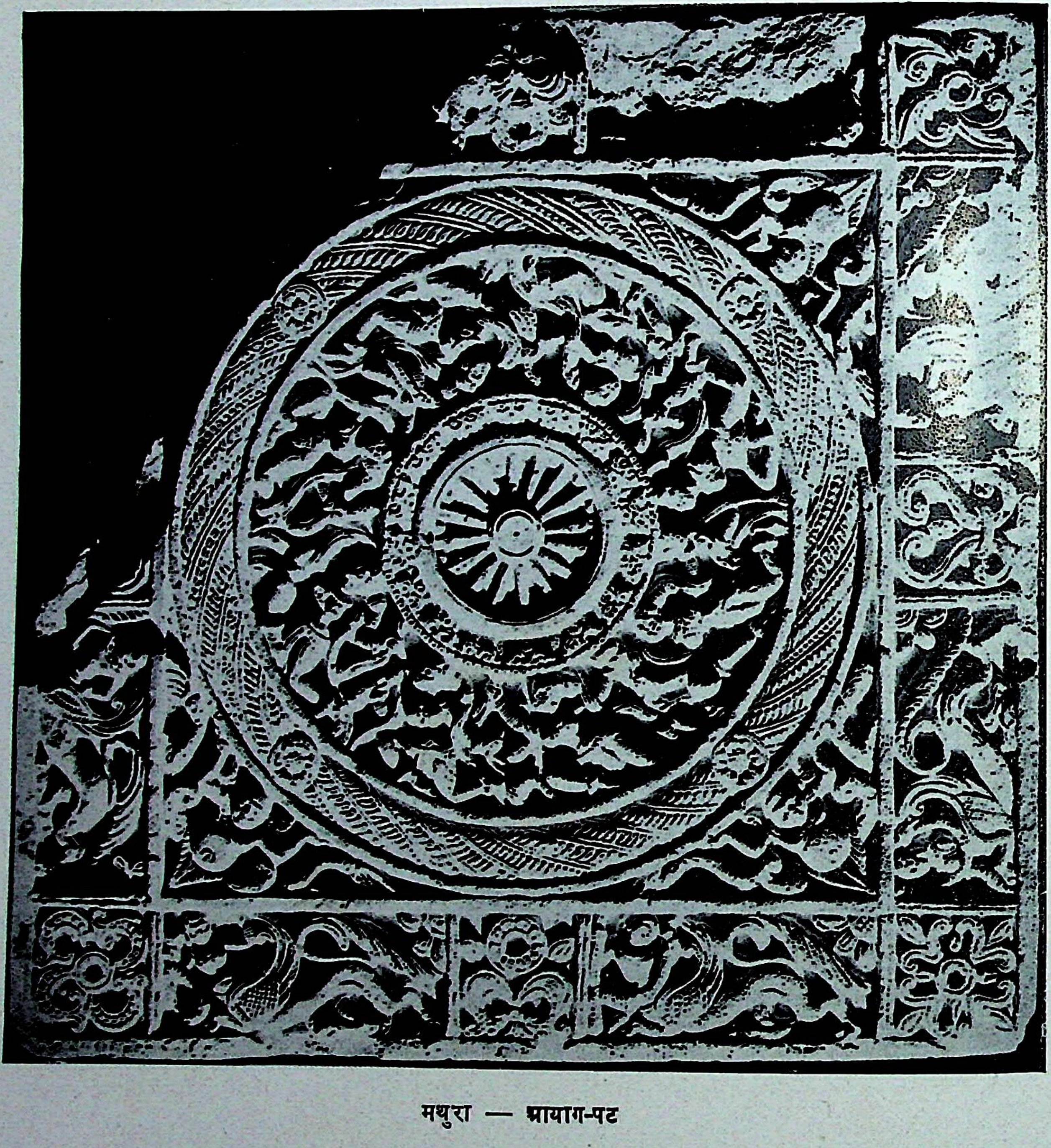

मथुरा — आयाग-पट

चित्र 16

इस स्तूप की ऊँचाई और वाह्य रूप के संबंध में हमें सरदलों, आयाग-पटों और तोरण-शीर्षों इत्यादि के शिल्पांकनों को देखना चाहिए। शिल्पांकनों से, तथा प्रवेशद्वारों और वेदिकाओं के विच्छिन्न प्रस्तर-खण्डों से भी यह प्रतीत होता है कि इस स्थल[1] पर या तो एक से अधिक महत्त्व-पूर्ण स्तूप थे अथवा जो एक मात्र स्तूप था उसका समय-समय पर जीर्णोद्धार तथा अलंकरण किया जाता रहा।

कालक्रमानुसार, स्तूप की सर्वप्रथम अनुकृति एक स्तूप के प्रवेशद्वार के निचले सरदल के (चित्र २ क) पुरोभाग में मिलती है। यह सरदल आजकल राज्य संग्रहालय, लखनऊ में है (रा० सं० ल० जे-५३५)। इसपर उत्कीर्ण मूर्तियों एवं आकृतियों की शैली को ध्यान में रखते हुए, इस सरदल को ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। उत्तरोत्तर घटती हुई तलवेदी-युक्त ढोलाकार शिखरवाला यह स्तूप कुछ-कुछ घंटे की-सी आकृति का है। ढोलाकार शिखर की तलवेदियों के चारों ओर त्रि-दण्डीय वेदिकाएँ हैं। अर्धवृत्ताकार शिखर पर एक वर्गाकार त्रि-दण्डीय वेदिका है जिसके केन्द्र से एक छत्र स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर उठा हुआ है। चौथी वेदिका, जो प्रदक्षिणा-पथ को चारों ओर से घेरे हुए है, भूमितल पर बनायी गयी है। संभव है कि यह स्तूप तथाकथित देव-निर्मित स्तूप ही हो, जिसका आरंभ में कोई प्रस्तर-द्वार नहीं था।

स्तूप की एक अन्य अनुकृति इसी अवधि के एक दूसरे खण्डित सरदल (रा० सं० ल०, जे-५३५) पर है। यह सरदल भी अब लखनऊ संग्रहालय के भण्डार-गृह में है। इस सरदल को चारों ओर से जानबूझकर काट दिया गया था, ताकि इसे वेदिका के कोण-स्तंभ में परिणत किया जा सके। परिणामस्वरूप इसके उत्कीर्ण भाग कई स्थानों पर नष्ट हो गये हैं। शिल्पांकित भाग में एक स्तूप अंकित है, जिसका सबसे निचला भाग तथा अर्धवृत्ताकार शिखर की वेदिका के ऊपर का छत्र लापता है। क्योंकि निचला भाग उपलब्ध नहीं है, अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इसके ढोलाकार शिखर के साथ वेदिकायुक्त दो तलवेदियाँ थीं या नहीं। यदि नहीं थीं, तो निचली वेदिका (इसके नीचे का भाग काट दिया गया है) ने भू-तल वेदिका का कार्य किया होगा। स्तूप के बायें भाग में दो सवारों सहित एक हाथी, एक अश्वारोही और दो बैलों के सिर हैं। ये बैल संभवतया एक गाड़ी खींच रहे थे, जो अब लापता है। उत्कीर्ण भाग में ढाई कोटर हैं। एक संलग्न पार्श्व में सूचियों की चूलों के लिए कोटर भी बने हुए हैं।

स्तूप-स्थापत्य के विकसित स्वरूप का ज्ञान हमें उस सुरक्षित शिल्पांकित शिला-पट्ट (आयाग-पट, पु० सं० म०, क्यू-२; चित्र १) से मिलता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[2]

---

[1] हरिषेण (932 ई०). बृहत्-कथा-कोष. संपा : ए एन उपाध्ये. 1943. बम्बई. पृ 26. इसमें मथुरा के पाँच प्राचीन स्तूपों की स्थापना का विवरण दिया हुआ है.

[2] जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसाइटी. 23; 1950; 69-70.

इसपर अंकित शिलालेख, जिसमें वारांगना वासु द्वारा किये गये विभिन्न समर्पणों का उल्लेख है, (उपर्युक्त, पृष्ठ ५४) पुरालिपिशास्त्रीय दृष्टि से कनिष्क-पूर्व काल का कहा जा सकता है। पूर्वकथित स्तूप की तुलना में इसका विशाल बेलनाकार शिखर स्पष्ट रूप से इतना ऊँचा है कि इससे स्तूप कुछ-कुछ मीनार जैसा दिखाई देता है। इसकी दो तलवेदी हैं, जिनके चारों ओर उत्कीर्ण वेदिकाएँ हैं। अर्द्धवृत्ताकार शिखर के शीर्षभाग पर एक वर्गाकार द्वि-दण्डीय वेदिका है, जिसके केन्द्र में ऊपर की ओर एक छत्र शोभायमान है और उसपर मालाएँ लटक रही हैं। इस स्तूप की एक नवीनता इसकी ऊँची पीठिका है, जो अनुमानतः वर्गाकार है। इस पीठिका के ऊपर निर्मित तलवेदी प्रदक्षिणा-पथ के रूप में प्रयुक्त होती थी। इसके चारों ओर प्रवेशद्वार (तोरण) युक्त एक त्रि-दण्डीय वेदिका है। भूमितल से तलवेदी तक पहुँचने के लिए प्रवेशद्वार के ठीक सामने आठ सीढ़ियोंवाला एक वेदिकायुक्त सोपान है। पीठिका के अग्रभाग पर मकर-तोरणों की-सी आकृति के अर्द्धवृत्ताकार आले बने हुए हैं, जिनमें पादपीठों पर खड्गासन मूर्तियाँ अंकित हैं (दक्षिण पार्श्व में पुरुष और वाम पार्श्व में नारी-मूर्तियाँ हैं)। प्रचुरता से उत्कीर्ण इस तोरण का भर्हुत और सांची के तोरणों के साथ रचनात्मक सादृश्य है। इसमें दो आयताकार उत्कीर्ण स्तंभ हैं, जो तीन अनुप्रस्थ वक्राकार सरदलों को, जिनके सिरे मकरों की आकृति के हैं, अवलंब दिये हुए हैं। सरदलों के बीच दो अवलंबक प्रस्तर-खण्ड हैं, जबकि निचले सरदल के दो मुड़े हुए सिरे दो सिंहाकार टोड़ों पर आधारित हैं। सबसे ऊपर के सरदल पर मुकुट की भाँति स्थित मधुमालती लता का एक कला-प्रतीक अंकित है, जिसके दोनों पार्श्वों में एक त्रि-रत्न या (नन्दिपद) प्रतीक है, जैसा भर्हुत के स्तूप के पूर्वी तोरण में हैं। निचले सरदल के केन्द्रीय भाग से एक कमल-गुच्छ लटका हुआ है, जिसके साथ पुष्पमालाएँ भी हैं। तोरण का शिल्पांकन तत्कालीन शैली पर आधारित है, यह तथ्य आगे वर्णित विच्छिन्न खण्डों की खोज से सिद्ध हो जाता है (पृष्ठ ६३)।

इस स्तूप की एक प्रमुख विशेषता इसके दो ऊँचे-ऊँचे स्तंभ हैं। प्रत्येक स्तंभ सामने के दोनों कोनों पर स्थित है। (यह शिल्पांकन जिस स्तूप की लघु अनुकृति है, संभवतः उस स्तूप के शेष दो कोनों पर भी दो और स्तंभ रहे होंगे)। इन स्तूपों का घट-आधार एक पिरामिड जैसी आकृति के सोपानयुक्त पादपीठ पर टिका हुआ है। स्तंभ का मध्यभाग दायें पार्श्व में वृत्ताकार और बायें पार्श्व में अष्टकोणीय है, उसके ऊपर एक घट और घट के ऊपर शयन-मुद्रा में पंखधारी सिंहयुगल उत्कीर्ण हैं। इन सिंहों के ऊपर एक चौड़ी-चपटी कुण्डलित निर्मित है, जो स्तंभ-शीर्ष पर मुकुट की तरह स्थित आकृति को थामे हुए है। दायें पार्श्व में उसकी रचना एक चक्र की तथा बायें पार्श्व में अगले पैरों को खड़ा करके बैठे हुए सिंह की है। ये स्तंभ पीठिका पर बने स्तूप की ऊँचाई के बराबर हैं। कंकाली-टीले में इस प्रकार के अनेक स्तंभ मिले हैं।

एक अन्य खण्डित आयाग-पट (रा० सं० ल०, जे-२५५) पर एक स्तूप के शिल्पांकन (चित्र २ ख) का निचला भाग सुरक्षित है। स्तूप के उपलब्ध भाग का सामान्य विन्यास और प्रमुख विशेषताएँ पूर्वोक्त स्तूप (पु० सं० म०, क्यू-२) के समान ही हैं, किन्तु उसकी तुलना में इसकी पीठिका

नीची है, जिसके परिणामस्वरूप तोरण तक पहुँचने के लिए केवल चार सीढ़ियाँ हैं, जहाँ से पीठिका के ऊपर वेदिकायुक्त तलवेदी पर पहुँचा जा सकता है। इस तलवेदी पर दो स्तंभ हैं, जैसे कि पूर्वोक्त शिल्पांकन में थे। मुख्य स्तूप के ऊँचे बेलनाकार शिखर की केवल निचली तलवेदी ही सुरक्षित है। प्रचुरता से उत्कीर्ण तोरण के वक्राकार सरदलों के सिरे मुड़ी हुई पूँछोंवाले मकरों के सदृश हैं। सरदलों के बीच वर्गाकार शिलाखण्डों पर (जो तोरण के आयताकार स्तंभों की सीध में हैं) मधुमालती लता और श्रीवत्स जैसे कला-प्रतीक अंकित हैं। सरदलों के केन्द्रीय भाग को जोड़नेवाले दो शिल्पांकित वेदिका स्तंभ हैं और इन स्तंभों तथा शिलाखण्डों के बीच के स्थान में जालियाँ बनी हुई हैं। इस तोरण के शीर्षस्थ तत्त्व वैसे ही हैं जैसे कि पु० सं० म०, क्यू-२ संख्यावाले तोरण में हैं। निचले सरदल के केन्द्रीय भाग से माला सहित एक कमल-गुच्छ लटक रहा है। शिलापट्ट पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि यह आयाग-पट एक नर्तक की पत्नी शिवयशा द्वारा अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित किया गया था।[1] पुरालिपिशास्त्रीय तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह शिलालेख कनिष्क-प्रथम से तुरन्त पहले के युग का माना गया है।

स्तूपों की अन्य अनुकृतियाँ भी हैं। इनमें से एक इस समय नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में रखे हुए तोरण-शीर्ष (चित्र १२) पर अंकित है। यद्यपि विभिन्न विषय-वस्तुओं के एक साथ एकत्रित हो जाने के कारण, इसमें लघु रूप में शिल्पांकन किया गया है, किन्तु फिर भी इसमें मूल स्तूप की सभी आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं—जैसे कि दो वेदिका-युक्त तलवेदियों में एक ऊँचा बेलनाकार शिखर और एक नीचा अर्द्धवृत्ताकार शिखर है; शिखर पर एक वर्गाकार वेदिका और एक छतरी है। एक अन्य तोरण-शीर्ष (रा०सं०ल०, बी २०७)[2] पर भी एक लघु स्तूप का अंकन किया गया है। इसके आधार में एक वेदिका निर्मित है।

एक अन्य लघु चित्रण एक शिला-पट्ट पर है, जो संभवतया एक आयाग-पट (रा० सं० ल०, जे-६२३) है। इसपर वर्ष ९९ का एक शिलालेख है जो अनुमानतः शक संवत् का है।[3] इसमें स्तूप का अंकन ऊपरी भाग में है (चित्र ३), पार्श्व में दोनों ओर पद्मासन मुद्रा में दो-दो तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं, जब कि मुख्य फलक पर कायोत्सर्ग मुद्रा में कण या कण्ह नामक श्रमण की मूर्ति, अभय मुद्रा में खड़ी एक महिला की मूर्ति और तीन भक्तों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पूर्वोक्त पाँच अनुकृतियों की विशेषताओं के विपरीत, इस स्तूप के ढोलाकार शिखर की एक ही तलवेदी है। एक विशेषता यह भी है कि भूमितल पर और ढोलाकार शिखर के ऊपर जो वेदिकाएँ हैं उन दोनों में एक-एक तोरण है। अर्धवृत्ताकार शिखर के ऊपर एक वर्गाकार वेदिका है, जिसके केन्द्र में छत्र की कम ऊँची तथा मोटी यष्टि है।

---

1 एपीग्राफिया इण्डिका. 2; 200. / ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 100.

2 बुलेटिन ऑफ म्यूजियम्स एण्ड आर्क्यॉलॉजी इन यू. पी. 9 ; 1972; 48-49, रेखाचित्र 4.

3 एपीग्राफिया इण्डिका. 10; 1909–10; 117.

एक तलवेदीयुक्त ढोलाकार शिखरवाले स्तूप की कम से कम दो और लघु अनुकृतियाँ हैं। एक तो एक आयाग-पट पर है (रा०सं०ल०, जे-२५०; चित्र-१४), और दूसरी एक वेदिका-स्तंभ के मध्यभाग में कमलवृत्त के भीतर है (रा० सं० ल०, जे-२८३; चित्र ४ क)।

उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि मथुरा के जैन स्तूपों के ढोलाकार शिखरों का, सांची के स्तूप १, २ और ३ की भाँति अलंकरण नहीं किया गया, क्योंकि जैन संप्रदाय के लोग इसे पवित्रता का प्रतीक बनाये रखने के लिए, प्रत्यक्षतः आडंबरहीन तथा सादा स्तूप को पसंद करते रहे। इसके अतिरिक्त सांची के स्तूपों के सदृश, अलंकरण की लालसा की अभिव्यक्ति यहाँ वेदिकाओं और तोरणों पर हुई जो स्तूप के अंग तो हैं, किन्तु उसके अनिवार्य तत्त्व नहीं। कंकाली-टीले से प्राप्त वेदिकाओं और तोरणों के खण्डित भागों में से अनेक कुषाण-पूर्व एवं कुषाणयुग के कलाकारों की प्रशंसनीय उपलब्धि का सार्थक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

सब से प्राचीन वेदिका ईसा-पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी की हो सकती है। उसके खण्डित भागों को देखने से पता चलता है कि वेदिका में स्तंभों की एक श्रृंखला होती थी। सभी स्तंभ तीन सूचियों से परस्पर जुड़े होते थे और उनके ऊपर एक दूसरे छोर तक एक लम्बायमान उष्णीष बना होता था। उष्णीष को बिठाने के लिए स्तंभों के दोनों ओर मसूराकार कोटरों और शीर्ष पर चूल की व्यवस्था स्पष्टतः पुरातन काष्ठकला-शैली द्वारा प्रेरित है, जो तोरणों के अवशेषों में देखी जा सकती है।

स्तंभ (रा० सं० ल०, जे-२८३, जे-२८८ और जे-२८२; चित्र ४) अंशतः वर्गाकार और अंशतः अष्टभुजाकार हैं। अष्टभुजाकार स्तंभ आच्छादित नहीं है। उनके दो ओर तो सूचियों की मसूराकार चूलों को बिठाने के लिए तीन-तीन छिद्र बने हुए हैं, जब कि सामने तथा पीछे की ओर सामान्यतः तीन-तीन कला-पिण्ड और दो-दो अर्धवृत्ताकार कला-पिण्ड (एक अधोभाग में और दूसरा शीर्ष पर) उत्कीर्ण किये गये हैं। पूर्ण और अर्धवृत्ताकार कला-पिण्डों में कम उभारवाले शिल्पांकित कला-प्रतीकों का भण्डार वस्तुतः सीमित है। विभिन्न रूपों में सर्वाधिक प्रचलित कला-प्रतीक कमल का है। अन्य कला-प्रतीकों में, जिनमें पुष्प-गुच्छ, मधुमालती लता, स्तूप (चित्र ४ क), मकर तथा पशुओं के चित्रण (चित्र ४ ग) सम्मिलित हैं, मिश्रित तथा काल्पनिक पशुओं के प्रतीक विशेष रूप से रोचक हैं (चित्र ४ ख)। प्रवेशद्वार पर स्तंभों की रचना कुछ भिन्न प्रकार की है। ये विशिष्ट आयताकार तथा पूर्णरूपेण शिल्पांकित हैं। स्तंभ क्रमांक रा० सं० ल०, जे-३५६ एक ऐसा ही स्तंभ है जो कंकाली - टीले में पाया गया है। इसके तीन ओर लता-गुल्मों के अत्यन्त कलात्मक अंकन हैं (चित्र ५) तथा चौथे अनुत्कीर्ण भाग में सूचियों के लिए तीन मसूराकार कोटर बने हुए हैं। इस स्तंभ विशेष के एक ओर (चित्र ५ ग) दो मसूराकार कोटर हैं, जो स्पष्टतः परवर्ती निर्मिति हैं और जिनके कारण मूल शिल्पांकनों को क्षति पहुँची है। यह भी संभव है कि तोरण की रचना के समय ही ये कोटर भी वेदिका के परवर्ती विस्तार के लिए बना दिये गये हों जैसा कि सांची में है।

कंकाली-टीले में वेदिकाओं की दो भिन्न आकारों की बहुत-सी मसूराकार सूचियाँ (चित्र ६) भी प्राप्त हुई हैं। इन सूचियों पर कला-पिण्डों का विविध कला-प्रतीकों सहित अंकन है, जिनमें कमल-प्रतीक का प्रयोग सर्वाधिक है। कला-पिण्डों पर अन्य प्रतीक भी हैं; यथा, वृक्ष-चैत्य (रा० सं० ल०, जे-४२२; चित्र ६ ख), एक पादपीठ पर कटोरा (?)[1], पंखधारी शंख जिसके मुख से मुद्राएं निस्पंदित हो रही हैं, लता-पल्लव, मधुमालती लता, श्रीवत्स, हंस तथा पशु (रा० सं० ल०, जे-४०३; चित्र ६ ग)। इनमें से बहुत से पशु वस्तुतः काल्पनिक जन्तु हैं (रा० सं० ल०, जे-३६५; चित्र ६ घ), यथा, मनुष्य के सिरवाला सिंह, मत्स्य-पुच्छवाला पंखधारी सिंह, मत्स्य-पुच्छवाला हाथी (रा० सं० ल०, जे-४२७; चित्र ६ क), मत्स्य-पुच्छवाला मकर, मत्स्य-पुच्छवाला भेड़िया, मत्स्य-पुच्छ तथा गृद्ध के सिर और पंखवाला सिंह, पंखधारी बकरी और हिरन।

अनेक भारी-भारी उष्णीष-प्रस्तर प्राप्त हुए थे जिनमें से कुछ ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के माने जा सकते हैं। इनके ऊपर के कोने गोल किये हुए हैं और इनके दो प्रभाग हैं। ऊपरी प्रभाग पर, जो अपेक्षाकृत मोटा है और निचले के ऊपर प्रक्षिप्त है, सामान्यतः एक रज्जु उत्कीर्ण है जिसमें क्रमशः लटकती हुई घण्टियों और कली रूपी झुमकों का अंकन है। निचले प्रभाग पर सामान्यतः अंकित कला-प्रतीक एक रूढ़िगत शैली की लहरदार पट्टी या पुष्पयुक्त विसर्पी लता है (चित्र ७ क और ख)। अन्य कला-प्रतीकों में अलंकृत मधुमालती लता तथा पशुओं के अंकन सम्मिलित हैं (चित्र ७ ग)। अनेक स्थानों पर पशुओं का शिल्पांकन अत्यन्त प्रवीणतापूर्वक किया गया है।

कंकाली-टीले से कुषाणयुग की किसी वेदिका के कुछ महत्त्वपूर्ण स्तंभ प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये स्तंभ पूर्वोक्त स्तंभों से अपेक्षाकृत लघु आकार के हैं, किन्तु विषय-वस्तु की उत्तमता तथा मूर्तिकला संबंधी गुणों की कलात्मक उत्कृष्टता के कारण अधिक चित्ताकर्षक हैं। इनके दो और तीन मसूराकार कोटर (अधिकतर सिरों पर मुड़े हुए) तथा ऊपरी भाग पर एक चूल निर्मित है। पृष्ठभाग में दो पूर्ण तथा दो अर्धकमलयुक्त कला-पिण्ड हैं, प्रत्येक अधोभाग तथा शीर्षभाग में (चित्र ८ घ)। कला-पिण्डों के किनारों पर नीलकमल अंकित हैं। कला-पिण्डों के मध्यवर्ती रिक्त स्थान तीन चरणों में हैं। तथापि, इन स्तंभों को विशिष्टता प्रदान करनेवाली बात यह है कि इनके पुरोभाग के सुस्पष्ट शिल्पांकनों में जीवंत मानव-मूर्तियाँ अंकित हैं। इन सुगठित मूर्तियों का प्रतिरूपण पर्याप्त परिपक्व है और उससे विभिन्न मुद्राओं में मानव-मूर्तियों के शिल्पांकन में शिल्पकार की दक्षता परिलक्षित होती है। सुस्मित कपोलोंवाली ये नारियाँ स्वच्छंद और उल्लसित मुद्रा में दर्शायी गयी हैं। तथा अपने प्रिय आमोद-प्रमोद तथा क्रीड़ा में रत हैं। यह कुछ विलक्षण-सी बात है कि अपनी कठोर आचार-संहिता के होते हुए भी जैन समुदाय ने कलाकार को मुक्त वातावरण में उसके उत्साह और विनोदी अभिरुचि की अभिव्यक्ति के लिए आसक्ति एवं आवेश से युक्त सुंदर, और यहाँ तक कि

---

[1] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के मतानुसार (व्यक्तिगत-पत्र व्यवहार), यह या तो एक शराव-संपुट या प्रतिष्ठान (ठौन) है, जो जैन मांगलिक प्रतीकों में से एक है.

विलासप्रिय तथा कामोत्तेजक नारी-आकृतियों का शिल्पांकन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी। इस प्रकार अंकित है एक स्तंभ पर (रा० सं० ल०, जे-२७७) एक नारी-मूर्ति जो अशोक वृक्ष के नीचे दीन मुद्रा में झुके हुए एक बौने पुरुष की पीठ पर अपनी देह में आकर्षक आकुंचन दिये हुए खड़ी हुई है और एक पुष्पमाल से अपना केशविन्यास कर रही है (चित्र ८ क)। एक दूसरे स्तंभ में, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है, दो सिंहोंवाले एक पादपीठ के ऊपर एक नारी-आकृति प्रायः नृत्य-मुद्रा में खड़ी हुई है, उसके वाम हस्त में एक खड्ग है और दक्षिण हस्त से वह अपने सिर के ऊपर एक कदम्व-पुष्पगुच्छ का स्पर्श कर रही है (चित्र ८ ख)। तीसरे स्तंभ पर (यह भी अब संग्रहालय में है) एक नारी, जो तीन-चौथाई पार्श्वदृश्य में चित्रित है, अपनी कटि को झुकाये हुए ऊपर की चट्टानों से झरते हुए जलप्रपात के नीचे स्नान कर रही है (चित्र ८ ग)।

सोपान की वेदिकाओं पर उत्कीर्ण शिल्पांकन भी कलात्मक दृष्टि से इतने ही उत्कृष्ट हैं। एक स्तंभ पर (चित्र ९ क), जिसका शीर्ष तिरछा है और जिसपर एक चूल है (पु० सं० म०, १४.३६९) तथा जो कुषाणयुगीन माना गया था, अशोक-वृक्ष के नीचे एक नारी का अंकन है जो ऊपर उठे हुए अपने वाम हस्त पर एक थाली रखे हुए है जिसमें कुछ वस्तुएँ रखी हैं और जिसपर शंकु के आकार का ढक्कन लगा हुआ है। नारी अपने दक्षिण हस्त में एक मूँठवाला पात्र पकड़े हुए है जिसका तल ऊँचा है। इसके पृष्ठभाग में पूर्ण और अर्ध-कमलयुक्त कला-पिण्ड उत्कीर्ण हैं जिनके मध्य स्थान में तीन स्तर हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त दो आयाग-पटों (पु० सं० म०, क्यू-२ तथा रा० सं० ल०, जे-२५५) पर उत्कीर्ण शिल्पांकनों में कनिष्क-पूर्व युग के प्रवेशद्वारों का यथार्थ अंकन किया गया है, स्तूपों के तोरणों के अनेक खण्डित भाग प्राप्त हुए थे। प्राचीन तोरण-सरदलों में से एक सरदल रा० सं० ल०, जे-५३५ है, जो संभवतया ईसा-पूर्व प्रथम शताव्दी का है। यह निचले सरदल का मध्य भाग था जो किंचित् वक्राकार है। इसके पुरोभाग में एक स्तूप उत्कीर्ण है जिसकी दो सुपर्ण (अर्ध-मानव तथा अर्ध-पक्षी) एवं पाँच किन्नर पूजा कर रहे हैं और अपने हाथों में विविध प्रकार से एक पुष्पमाल, पुष्पमालाओं युक्त पुष्पपात्र, नीलकमलगुच्छ और एक कमल ग्रहण किये हुए हैं (चित्र २ क)। पंखधारी आकृतियाँ तो असीरियाई तथा फारसी मूर्तिकलाओं में पायी जानेवाली ऐसी ही आकृतियों का स्मरण कराती हैं, किन्तु किन्नर अनुमानतः यूनानी आदिरूपों से प्रेरित होकर बनाये गये हैं। पृष्ठभाग में (चित्र २ ख) भक्तों की एक सोत्साह धर्मयात्रा का चित्रण है। भक्तों में से दो हाथी पर और तीन अश्वों पर आरूढ़ हैं, दो पदयात्री हैं तथा अनेकों एक बैलगाड़ी में हैं और संभवतया वे इस स्तूप के दर्शनों के लिए ही जा रहे हैं। पशु, जो अपनी जीवनी-शक्ति के लिए विख्यात हैं, अत्यन्त सजीव प्रतीत होते हैं; विशेषकर, स्फूर्तिवान अश्वों का सजीव अंकन कलाकार की उत्कृष्ट दक्षता की ओर संकेत करता है। भीतर के मध्यभाग में एक कमल-गुच्छ उत्कीर्ण है।

रा० सं० ल०, जे-५४४ (चित्र ९ क, ख) एक अन्य तोरण-सरदल है। यह सरदल अनुप्रस्थ है तथा पूर्वोक्त सरदलों से कुछ परवर्ती प्रतीत होता है। इसके केन्द्रीय भाग में सम्मोहक सौंदर्य तथा

माधुर्य संपन्न एक विसर्पी लता अत्यंत अलंकृत रूप से उत्कीर्ण है; इसका लहरदार तना उत्कृष्ट रूप से उत्कीर्ण कमलों, कलियों और पत्तियों को आच्छादित किये हुए है। विसर्पी लता के पार्श्व में दोनों ओर (तोरण-स्तंभों की उर्ध्वाधर सीध में) एक-एक वर्गाकार फलक वना हुआ है जिसमें एक वामन व्यक्ति इस प्रकार बैठा है जैसे वह ऊपरी ढाँचे को थामे रखने का प्रयास कर रहा हो। एक विलक्षण बात यह है कि वामन की टाँगें सर्प के समान हैं और उनके अंत में एक टेढ़ी-मेढ़ी पूँछ है। इस प्रकार की आकृतियाँ जो अनेक उत्कीर्ण शिलापट्टों पर भी पायी जाती हैं और जिनमें कनिष्क-पूर्व युग के आयाग-पट भी सम्मिलित हैं, कदाचित् यूनानी संस्कृति के किसी कला-प्रतीक का रूपांतर हैं। इन वर्गाकार फलकों के पश्चात् दो प्रक्षिप्त सिरे हैं (वाम सिरा लापता है), जिनपर मत्स्य-पुच्छ-वाला एक मकर उत्कीर्ण है जिसके मुख में एक मत्स्य है। अंतिम छोर अर्द्धवृत्ताकार है। इस प्रकार के एक अन्य खण्डित सरदल (रा० सं० ल०, जे-५४७) में दाहिनी ओर के सिरे पर एक गरुड़ उत्कीर्ण है जो अपनी चोंच में एक तीन फणवाले ऐसे सर्प को पकड़े हुए है जिसने स्वयं को गरुड़ की ग्रीवा के चारों ओर लपेट लिया है (चित्र ९ ख; ख)। इससे आगे एक अंशतः सुरक्षित फलक है जिसमें एक बैलगाड़ी और बिना जुते हुए बैल अंकित हैं।

कंकाली-टीले में तोरणों में प्रयुक्त दो भिन्न प्रकार के टोड़े मिले हैं। एक प्रकार के टोड़ों में शालभंजिकाओं का अंकन है। तोरण-शालभंजिकाओं के कई ऐसे नमूने हैं जो तोरण-स्तंभों से निकलकर तोरण के निचले सरदल के दो सिरों को सहारा दिये रहते थे। इनमें से दो (रा० सं० ल० जे-५९५ क और ख; चित्र १० क और ख), जो एक ही तोरण के हैं, सुरक्षित हैं। दोनों टोड़ों के आधार में एक चूल है जो स्तंभ के कोटर में बैठा दी जाती थी। टोड़ों के घेरे में वनी दोनों नारी-मूर्तियाँ पुरोभाग की ओर पूर्णतः तथा पृष्ठभाग की ओर अंशतः सज्जित हैं। यद्यपि इनमें कतिपय विशेषताएँ (उदाहरणार्थ—केशविन्यास, आभूषण, चरणों के नीचे की मूर्तियाँ) भर्हुत की वेदिका-मूर्तियों के समान हैं, परन्तु ये अपने अधिक उत्तम प्रतिरूपण के कारण उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं और सांची की तोरण-शालभंजिकाओं की कुछ पूर्ववर्ती प्रतीत होती हैं। एक पुष्पित वृक्ष (संभवतया अशोक) के तने के सहारे झुकी हुई ये दोनों नारियाँ उस वृक्ष की शाखाओं को पकड़े हुए हैं। दाहिने टोड़े पर उत्कीर्ण नारी एक झुके हुए मानव की मूर्ति पर खड़ी है (चित्र १० क), जब कि बायें टोड़े पर अंकित नारी एक हाथी के सिर पर खड़ी है (चित्र १० ख)। इस प्रकार के अन्य सभी टोड़े खण्डित हैं।[1] उनमें से दो टोड़ों में नारी-मूर्ति मत्स्य-पुच्छवाले एक मकर पर खड़ी हुई है। एक अन्य प्रकार के टोड़े में सिंह का निरूपण है, जैसा कि एक आयाग-पट में शिल्पांकित है (पु० सं० म०, क्यू-२; चित्र १)। इस प्रकार के टोड़े की पूर्ण प्रतिकृति (चित्र ११ क) रा० सं० ल०, जे-५९४ है।

तोरण-स्तंभों में कुषाणयुगीन स्तंभों के शिल्पांकन विशेष रूप से उत्कृष्ट हैं। इनमें से एक (चित्र ११ ख) अभिलेखांकित है जिसमें श्राविका बलहस्तिनी द्वारा एक तोरण के समर्पण का उल्लेख

---

[1] स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 36 तथा ग.

है।[1] सांची के सदृश इन स्तंभों के दो पार्श्व नीचे से ऊपर की ओर अनेक फलकों में विभक्त हैं और वेदिका-प्रतीकों द्वारा एक दूसरे से पृथक् किये हुए हैं। इन फलकों की विषय-वस्तु अधिकांशत: ऐहिक है, जिसमें प्रेमक्रीड़ा के दृश्य, राजभवनों का जीवन, मद्यपान करते हुए युगल, नारी का केश-विन्यास करता हुआ पुरुष, अपना शृंगार करती हुई नारी, नृत्य-रत युगल इत्यादि दिखाये गये हैं; किन्तु धार्मिक दृश्यों का भी, जिनमें पुष्प एवं पुष्पमाल ले जाते हुए नर-नारी शिल्पांकित किये गये हैं पूर्णत: अभाव नहीं है। ऐहिक दृश्यों का चित्रण सर्वदा ही स्तंभोंवाला मण्डप है जो सभी पार्श्वों से खुला हुआ है तथा जिसकी छत अर्द्धबेलनाकार है; छत के दो अर्द्धवृत्ताकार सिरों में चैत्य-तोरण अंकित किये गये हैं। छत के आधार-स्तंभों का मध्यदण्ड नीचे वर्गाकार और ऊपर अष्ट-भुजाकार है, जिनमें से कुछ में नुकीले कोनों को ढलवाँ बनाया हुआ है। दण्ड के ऊपर एक प्रक्षिप्त खण्ड है जिसपर कमल की पंखुड़ियाँ बनी हुई हैं और जो शीर्ष-फलक को सहारा दिये हुए है जिस पर पंखधारी सिंह बैठे हुए हैं। सिंहों के ऊपर शनै: शनै: विस्तार को प्राप्त होता हुआ एक प्रखंड है जिसके शीर्ष के कोने कुण्डलित हैं। इस प्रकार के कई स्तंभ कंकाली-टीले में मिले हैं। दो मण्डप एक कमल-सरोवर से संबद्ध हैं, जो स्पष्टत: अभिजात-वर्ग की जल-क्रीड़ा के लिए था। इन दृश्यों का अंकन प्रशंसनीय है। धार्मिक संस्कारों से बाधित न रहकर, कलाकार ने विभिन्न मुद्राओं तथा क्रियाओं में रत स्त्री-पुरुषों का चित्रण करने में अपना कौशल प्रदर्शित किया है।

तोरणों के अन्य उपांगों में, सरदलों के मध्य स्थापित उत्कीर्ण शिलाखण्ड, तोरण-स्तंभों के सिंह-शीर्ष और शिखर-खण्ड मिले थे। इनमें से एक लुप्तप्राय चक्र को थामे हुए त्रि-रत्न[2] (या नन्दि-पद) हैं जो संभवतया शिखर-खण्ड हैं। एक विलक्षणता यह है कि वृत्ताकार भाग के ऊपर इनमें से एक त्रि-रत्न (या नन्दिपद) के ऊपरी भाग में मत्स्य-पुच्छवाले दो मकर बने हुए हैं।

मंदिर तथा विहार

जैसा कि पहले बताया जा चुका है (पृष्ठ ५४), पुरालेखीय साक्ष्यों तथा प्राप्त मूर्तियों से इस बात का संकेत मिलता है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में और उसके पश्चात् जैन मंदिर विद्यमान थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन मुनियों के निवास के लिए विहार भी थे। तथापि, उपलब्ध साक्ष्यों से इन भवनों का इतिहास लिखना संभव नहीं है। यह भी ज्ञात नहीं कि प्राचीनतम जैन-विहार अर्द्धवृत्ताकार था, जैसा कि उदयगिरि में है (अध्याय ७) अथवा अण्डाकार या चतुर्भुजाकार था। मथुरा के कुषाणयुगीन बौद्ध शिल्पांकनों में अर्द्धवृत्ताकार और चतुर्भुजाकार मंदिरों का चित्रण किया गया है।[3] अधिकतर संभावना इस बात की है कि मंदिर, कक्ष और

---

[1] रा० सं०ल० जे–532. / ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 108.

[2] स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 40 और 52.

[3] वोगेल (जे फ). ला स्कल्पचर डि मथुरा. 1930. पेरिस तथा ब्रुसेल्स. चित्र 23 क और ग. इस चित्र की संख्या क वाली उत्कीर्ण आकृति में एक प्राकार-भित्ति के भीतर एक मठ का भी चित्रण किया गया है. प्रवेशद्वार

विहार ईंटों से निर्मित थे तथा स्तंभों, भित्ति-स्तंभों, चौखटों, वातायनों, पटरियों तथा जलनिर्गम-प्रणाली में सामान्यतः पत्थरों का उपयोग किया जाता था। जल-निर्गम प्रणाली के कुछ नमूनों[1] से पता चलता है कि उनपर भी प्रचुर शिल्पांकन किये जाते थे। उनकी भुजाएं मत्स्य और मत्स्य-पुच्छवाले मकर जैसे जलचर प्राणियों (जिनमें कभी-कभी मकर मत्स्य का पीछा करता हुआ अंकित होता था) तथा मांगलिक प्रतीकों से अलंकृत की जाती थीं। वातायनों के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं।[2] एक अक्षत वातायन में चारों कोनों के जोड़ों पर वर्गाकार जाली वनायी हुई है, केन्द्रीय भाग की जाली में हीरक पंक्तियों का काम किया हुआ है। उसकी भुजाओं पर चार पंखुड़ियों वाले पुष्प अंकित हैं। एक खण्डित जाली में पुष्प-समूह अंकित किये गये हैं। प्रत्येक पुष्प में चार पंखुड़ियाँ हैं। एक अन्य खण्डित वातायन में अष्टदल कमल अंकित है।

एक खण्डित तोरण-शीर्ष, जो आधे से कुछ ही कम है और अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है (चित्र १२ और १३), वहुत ही आकर्षक एवं ध्यान देने योग्य है। यह संभवतया किसी मंदिर का खण्ड होगा, जवकि सामान्यतः विश्वास यह किया जाता है कि यह स्तूप के किसी तोरण का है। यह खण्डित तोरण-शीर्ष दोनों ओर प्रचुरता एवं सावधानीपूर्वक उत्कीर्ण किया हुआ है तथा अलंकरण का विन्यास दोनों ओर लगभग एक समान है। प्रत्येक ओर तीन अर्द्धवृत्ताकार (आधे विद्यमान) फलक हैं जो वानस्पतिक तथा विसर्पी लताओंवाले कला-प्रतीकों से अलंकृत चार पट्टियों के भीतर हैं। इसके पुरोभाग के कोने में जो त्रिभुजाकार स्कंध है उसमें स्तूप की ओर जा रहा भक्तजनों का एक समूह शिल्पांकित है; स्तूप के सम्मुख चार पीठिकाएँ हैं जिनके ऊपर आयाग-पट है; जव कि भक्तजनों के चरणों के नीचे एक पहियेदार वंद गाड़ी है। पृष्ठभाग के स्कंध में इसी प्रकार की एक गाड़ी के ऊपर उपासकों का अपेक्षाकृत एक अधिक वड़ा समूह है; भक्तों के इस समूह के सम्मुख एक पूर्ण घट, कमलदलाकार टोकरी जिसमें मालाएं रखी हुई हैं तथा ढक्कनों से ढके हुए तीन कटोरे हैं। दोनों ओर की चंद्राकार फलकों के सिरों में मत्स्य-पुच्छवाले मकर बने हुए हैं; पाँच फलकों में इन मकरों का मुख वाल-आकृतियों द्वारा खोला जा रहा है। दोनों ओर की फलकों के उपलब्ध अंशों के शेष भाग में पुरुष, महिलाएं तथा उड़ते हुए विद्याधर अंकित हैं जो उन इष्टदेवों की ओर जा रहे हैं जो फलकों के केन्द्रीय भाग (विलुप्त) में अंकित थे। कुछ भक्तजन पैदल हैं, जवकि अन्य वृषभों तथा अश्वों द्वारा खींची जा रहीं गाड़ियों में हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी भक्तजन हैं, जो मत्स्य-पुच्छ तथा सर्पों की-सी देहवाले विचित्र पशुओं की पीठ पर सवार हैं। शीर्षस्थ फलक के पुरोभाग में एक विमान अंकित है जिसे संभवतया हंस खीच रहे हैं। अर्धबेलनाकार छतवाली एक आयताकार संरचना भी है जिसके दोनों सिरों पर चैत्य-तोरण हैं और आधार में एक वेदिका है।

के पार्श्व में तोरण जैसे प्रक्षेप हैं. कुटीर की रूपरेखा चतुर्भुजाकार (चतुःशाला) प्रतीत होती है. छतें जो संभवतः खपरैलवाली थीं, त्रिभुजाकार हैं और उनके प्रत्येक सिरे पर एक त्रिकोण है.

[1] स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 42.

[2] वही, चित्र 41.

आयाग-पट

इस तोरण-शीर्ष से ज्ञात होता है कि आयाग-पटों का उपयोग किस ढंग से किया जाता था। जैसा कि पहले वताया जा चुका है, इसमें स्तूप के निकट चार आयताकार ठोस पीठिकाएं हैं। इनमें से प्रत्येक पीठिका के ऊपर एक उत्कीर्ण शिलापट्ट स्थापित किया हुआ दिखाई देता है। इन शिलापट्टों पर उत्कीर्ण आकृतियाँ, निस्संदेह, शिलापट्टों के लघु आकार के कारण लघु रूप में ही अंकित की गयी हैं, फिर भी रूपांकनों की सामान्य व्यवस्था और विन्यास इस वात की ओर संकेत करते हैं कि ये शिलापट्ट निस्संदेह आयाग-पट हैं। स्तूप की निकटतम पीठिका के ऊपर स्थापित शिलापट्ट के मध्यभाग में एक कला-पिण्ड है जो चार त्रि-रत्नों (अथवा नन्दिपदों) के आधार-वृत्त का काम दे रहा है, इन प्रतीकों के ऊपरी अवयव[1] इस केन्द्रीय वृत्त के चारों ओर निर्मित हैं। त्रिरत्नों (या नन्दिपदों) का ऐसा विन्यास आयाग-पटों के अनेक रूपों में पाया जाता है (उदाहरणार्थ, रा० सं० ल०, जे-२४९, जे-२५० और जे-२५३ तथा पु० सं० म० ४८. ३४२४)। इस तोरण-शीर्ष पर चार आयाग-पटों के चित्रण से प्रतीत होता है कि पीठिकाएँ, जिनके ऊपर आयाग-पट स्थापित किये जाते थे, मुख्य स्तूप के निकट, संभवतया उसकी चार आधारभूत भुजाओं के सम्मुख, स्थापित की की जाती थीं। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्वाद्ध के आयाग-पटों की संख्या चार से अधिक है। इसके अतिरिक्त वासु (पृष्ठ ५४) और नन्दिघोष द्वारा स्थापित प्रस्तर-पट्टों पर दिये गये समर्पणात्मक अभिलेखों से[2] प्रतीत होता है कि ये आयाग-पट अर्हंतायन और भण्डीर[3] वृक्ष या कुंज में भी अधिष्ठापित किये जाते थे। भण्डीर शब्द न्यग्रोध (वट) वृक्ष, जो ऋषभनाथ का कैवल्य-वृक्ष था और शिरीष वृक्ष जो सुपार्श्वनाथ का कैवल्य-वृक्ष था दोनों की ओर संकेत करता है। पहला वृक्ष मथुरा का भण्डीर-वट प्राचीनकाल में पवित्र माना जाता था। जैसा कि पहले वताया जा चुका है (पृष्ठ ५३), महावीर मथुरा में अपने प्रवास के मध्य संभवतः भण्डीर-उद्यान में ठहरे थे जो सुदर्शन यक्ष का निवास-स्थान था। स्पष्टतः भण्डीर-वृक्ष या उद्यान महावीर के साथ संबद्ध होने के कारण जैनों के लिए परम पावन था।

---

[1] चौबिया-पाड़ा, मथुरा के एक प्रतिरूप पर (पु०सं० म०, 48.3426), ये अवयव मकरों के एक जोड़े के बने हुए हैं जिन्होंने अपनी सूंढ़ से एक कमल थामकर ऊपर की ओर उठाया हुआ है.

[2] ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 95.

[3] बूलर ने इस शब्द को 'भंदिरे' के रूप में पढ़ा और यह कहा कि इसे 'मंदिरे अर्थात् मदिर में' पढ़ने की प्रवृत्ति होती है. परंतु पहला व्यंजन सादा दिखाई देता है. **एपिग्राफ़िया इण्डिका**. 1; 1892; 397, टिप्पणी क्र० 35. जैसाकि ल्यूडर्स ने संकेत किया है (**इण्डियन एण्टिक्वेरी**. 33; 1904; 151), सही वाचन **भंडिरे** है. इस संबध में ल्यूडर्स ने यह कहा था कि "क्या इसका अर्थ' 'भण्डीर वृक्ष पर' है, या संभवतया यह संस्कृत शब्द 'भण्डारे अर्थात् भण्डार में / पर' है, मैं इस समय निश्चय करने का साहस नहीं कर पा रहा हूं." **विवागसुय** (पृष्ठ 53) में महावीर की मथुरा-यात्रा का विवरण पढ़ने पर व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भण्डीर शब्द जो नंदिघोष के उस शिला-लेख में प्रयुक्त हुआ है जिसमें आयाग-पटों के समर्पण का उल्लेख है, भण्डीर उद्यान या भण्डीर-वृक्ष के लिए है.

उपलब्ध आयाग-पटों में से अधिकतर, जिनका स्वयं अपना एक वर्ग बन गया है कनिष्क-पूर्व युग के माने गये हैं किन्तु कुछ आयाग-पट निस्संदेह कुषाणयुग के हैं। इनमें से अधिकांश उत्कृष्ट शिल्पांकनयुक्त हैं। उपास्य निर्मितियों को विलक्षण शिल्प-सौंदर्य (चित्र १४) से अलंकृत करने के लिए, तथा विदेशी कलाबोध से प्रेरित, अनेकों कला-प्रतीकों की संरचना में कलाकार का कौशल स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन आयाग-पटों का धार्मिक स्वरूप केवल उपलब्ध शिलालेखों से ही स्पष्ट नहीं होता (जिनमें कि अर्हंतों की पूजा के लिए आयाग-पटों की स्थापना का उल्लेख किया गया है), अपितु, स्तूपों (चित्र १ तथा २ ख), तीर्थंकर-मूर्तियों (चित्र १४ और १५), चैत्य-वृक्ष, धर्म-चक्र (चित्र १६) तथा अष्ट-मंगल[1] सहित जैन मांगलिक प्रतीकों के शिल्पांकनों से भी स्पष्ट हो जाता है।

जैसा कि शाह ने कहा है,[2] इन आयाग-पटों का पूर्व-रूप पुढवी-शिलापट्ट (पृथ्वी-शिला-पट्ट) रहा होगा, जो ग्रामीण लोक-देवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र वृक्ष-चैत्यों के नीचे किसी लघु पीठिका के ऊपर रखा गया होगा। आद्य शिल्पांकनों में भक्तगण वृक्षों के नीचे इस प्रकार की वेदियों की पूजा करते हुए मिलते हैं। इस प्रकार की वेदियाँ अत्यंत पवित्र मानी जाती थीं, क्योंकि वे अदृश्य देवताओं का पावन आसन होती थीं एवं उनकी शारीरिक रूप में उपस्थिति का प्रतीक समझी जाती थीं। अदृश्य देवताओं की पूजा स्थानीय लोग किया करते थे, जो इन वेदियों पर अनेक प्रकार के चढ़ावे और भेंट, जिनमें पुष्प-पत्रादि भी सम्मिलित होते थे, अर्पित किया करते थे। लोक-देवताओं की पूजा अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित है और अब भी भारत के अनेक भागों में ग्राम-देवताओं की उपासना के रूप में जीवित है।

आयाग-पटों पर तीर्थंकरों तथा स्तूपों का निरूपण इस बात को सिद्ध करता है कि वेदियों या पीठों पर स्थापित ये शिलापट्ट केवल अर्घ्यपट्टों या बलि-पट्टों के रूप में ही काम नहीं देते थे, जहाँ तीर्थंकरों तथा स्तूपों की पूजा करने के लिए पत्र-पुष्पादि तथा चढ़ावे और भेंट की अन्य वस्तुएं अर्पित की जाती थीं, जैसा कि विशुद्ध आलंकारिक शिलापट्टों के साथ होता था, वरन् ये निरूपण इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि ये आयाग-पट[3] भी, देव-निर्मित स्तूप में स्थापित अर्हंत की मूर्ति की ही भाँति, पूज्य थे। विचाराधीन तोरण-शीर्ष पर अंकित स्तूप के सम्मुख दो आयाग-पटों पर पुष्प-वर्षा का जिस ढंग से चित्रण किया गया है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है।

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, पृ 109-12. / अग्रवाल (वी एस). अष्टमंगलक माला. **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट**, न्यू सीरीज. 2; 1967-68; 1-3.

[2] शाह, पूर्वोक्त, पृ 69.

[3] इस संबंध में बूलर के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं: आयाग शब्द रामायण 1, 32, 12 (बम्बई संस्करण) में प्रयुक्त किया गया है, और टीकाकार ने इसकी व्याख्या याजनीय देवता, एक देवता जिसकी पूजा की जानी चाहिए, अर्थात् श्रद्धा एवं सम्मान की एक वस्तु के रूप में की है. **एपिग्राफिया इण्डिका.** 1; 396, टिप्पणी क्र० 28.

जिस प्रकार वौद्धों की दान-प्रवृत्ति ने सामान्यतः स्तूपों का रूप ग्रहण किया, मथुरा की तत्कालीन जैनों की दान-प्रवृत्ति आयाग-पटों के रूप में रूपायित हुई। पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से धर्मनिष्ठ समर्पणों के रूप में वेदियों पर इन शिलापट्टों का प्रतिष्ठापन करने की प्रथा संभवतः उस समय अप्रचलित हो गयी जव स्तूपों के चारों पार्श्वों में, मंदिरों तथा पवित्र स्थानों में लघु पीठिकाओं या पादपीठों पर तीर्थंकरों की प्रतिष्ठापना करने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित हो गयी।

तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा अन्य प्रतिमाएँ

मथुरा ने, जो कला का एक वहुसर्जक केन्द्र रहा है, जैन प्रतिमा-विज्ञान के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। तीर्थंकरों के जीवन से संवंधित घटनाओं के वहुत कम शिल्पांकन हुए हैं, जैसे कि नीलांजना का नृत्य,[1] जिसे देखकर ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हुआ; और जैसा कि कल्प-सूत्र में वताया गया है, हरिनैगमेषी का चित्रण, जिसने महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से निकालकर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा के कलाकारों एवं उनके ग्राहकों को अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा तीर्थंकर-मूर्तियों ने अधिक आकर्षित किया, परिणामस्वरूप प्रथम शताव्दी ईसवी से लेकर गुप्त-काल तक मथुरा की शिल्पशाला में भारी संख्या में मूर्तियों का निर्माण हुआ।

आद्य तीर्थंकर-मूर्तियाँ आयाग-पटों पर उत्कीर्ण हैं, जिन्हें वूलर ने कनिष्क-पूर्व युग का ठहराया है। इन मूर्तियों में शीर्ष पर छत्र सहित दिगंवर तीर्थंकर को पद्मासन मुद्रा में अंकित किया गया है। लांछन (परिचय-चिह्न) अंकित नहीं किये गये हैं; परिणामतः शीर्ष पर सप्त-फण-नाग-छत्र के द्वारा केवल पार्श्वनाथ को ही पहचाना जा सकता है।

कुषाण युग की मूर्तियाँ भारी संख्या में उपलब्ध हैं, जिनमें वहुत-सी अभिलेखांकित हैं और अनेक पर कुषाण-शासकों की तिथियाँ अंकित हैं, जो कनिष्क[3] शासनकाल के वर्ष ५ से लेकर वासुदेव शासनकाल के वर्ष ९८ तक की हैं। परवर्ती काल के अलंकरण आदि से रहित, इस युग की तीर्थंकर-मूर्तियों की रचना प्रायः समान है, क्योंकि भेद प्रदर्शित करनेवाले लांछनों का प्रयोग भी तवतक विकसित नहीं हुआ था। परिणामस्वरूप समर्पणात्मक शिलालेखों में तीर्थंकरों के नामों के अभाव में,

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, पृ 11. / **बुलेटिन ऑफ म्यूज़ियम्स एण्ड आर्क्यॉलॉजी इन यू पी.** 9; 1972, जून; 47-48.

[2] तथापि, डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का मत (व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में) यह है कि ये शिल्पांकन कंस के कारागार में रह रही देवकी के नवजात शिशुओं के भद्दिलपुर के एक व्यापारी सुदृष्ट की पत्नी अलका के संरक्षण में स्थानांतरण की ओर संकेत करते हैं.

[3] एक मूर्ति पर वर्ष 4 अंकित है (ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 16) जो अनुमानतः कुषाण-शासकों द्वारा प्रयुक्त सवत् का वर्ष है.

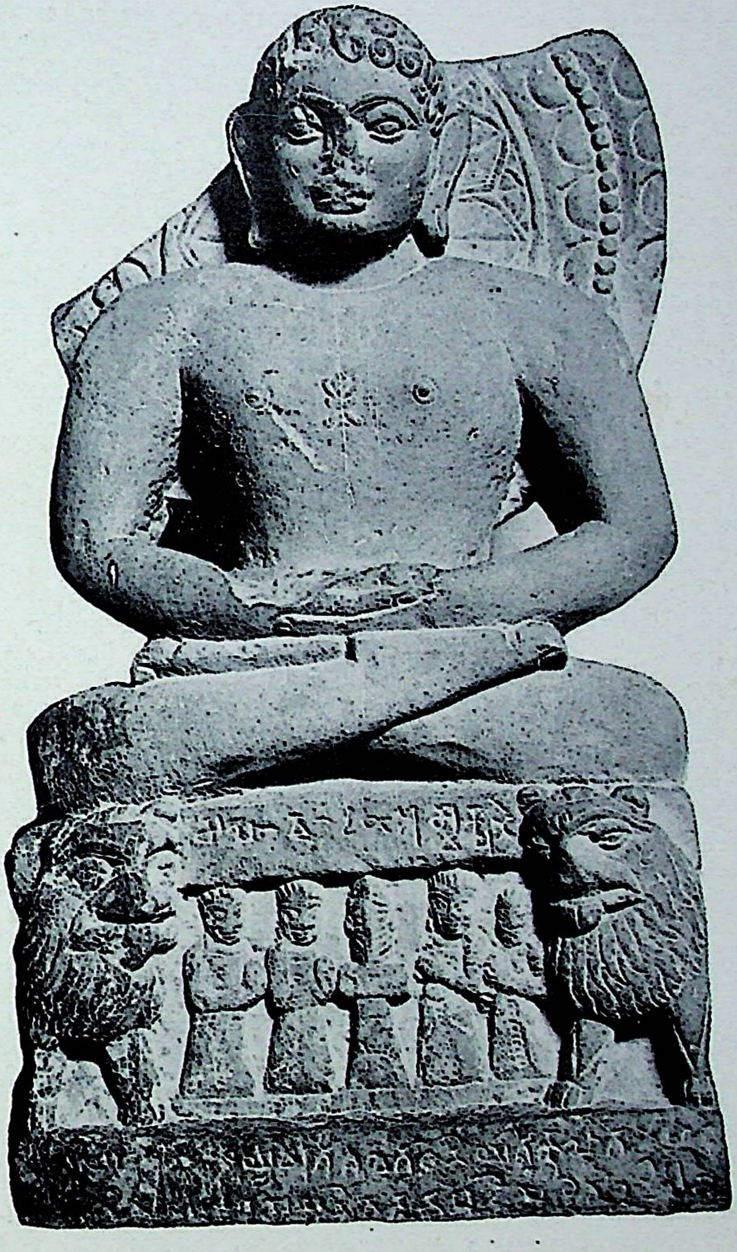

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 17

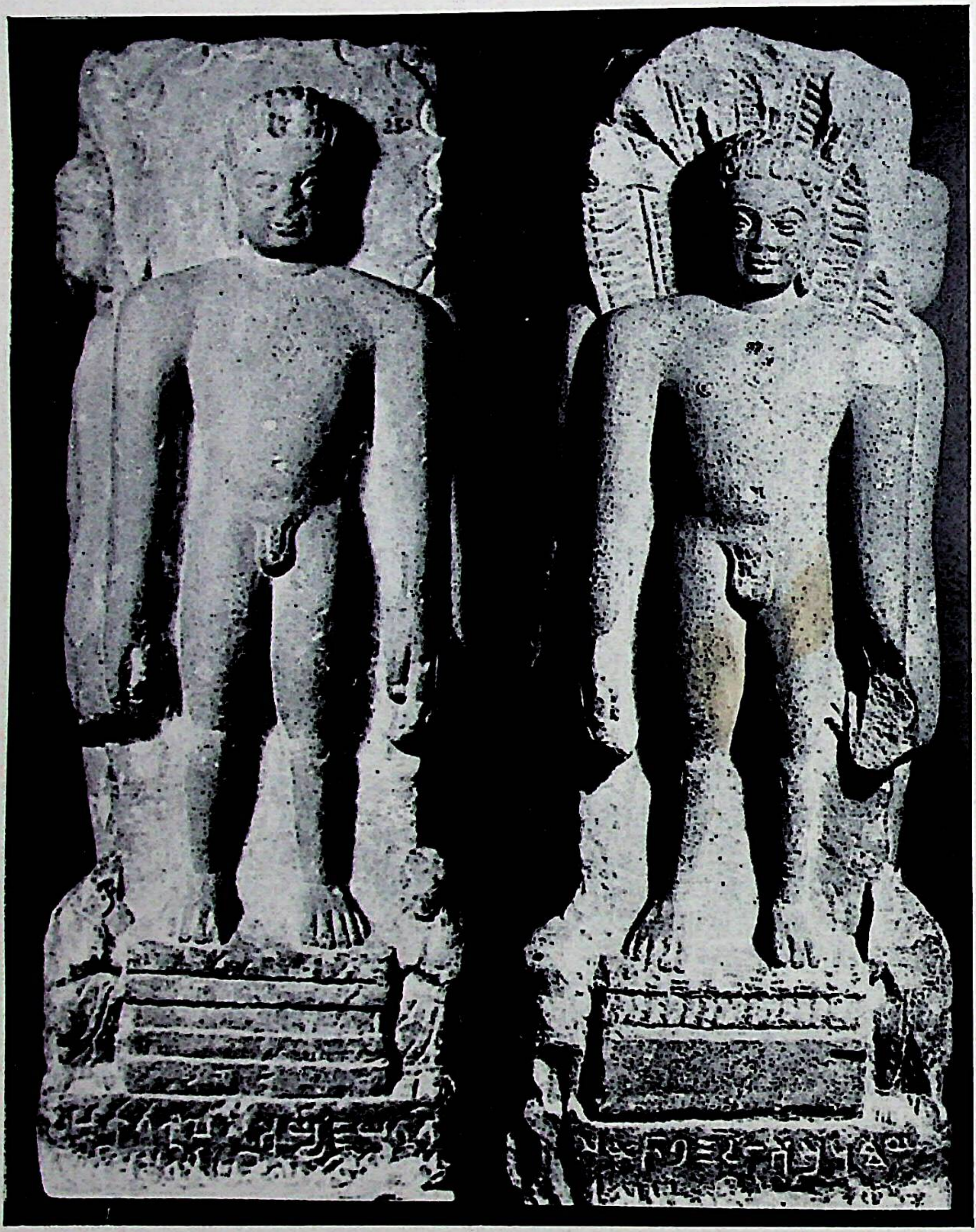

मथुरा — सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, दो ओर का दृश्य

चित्र 18

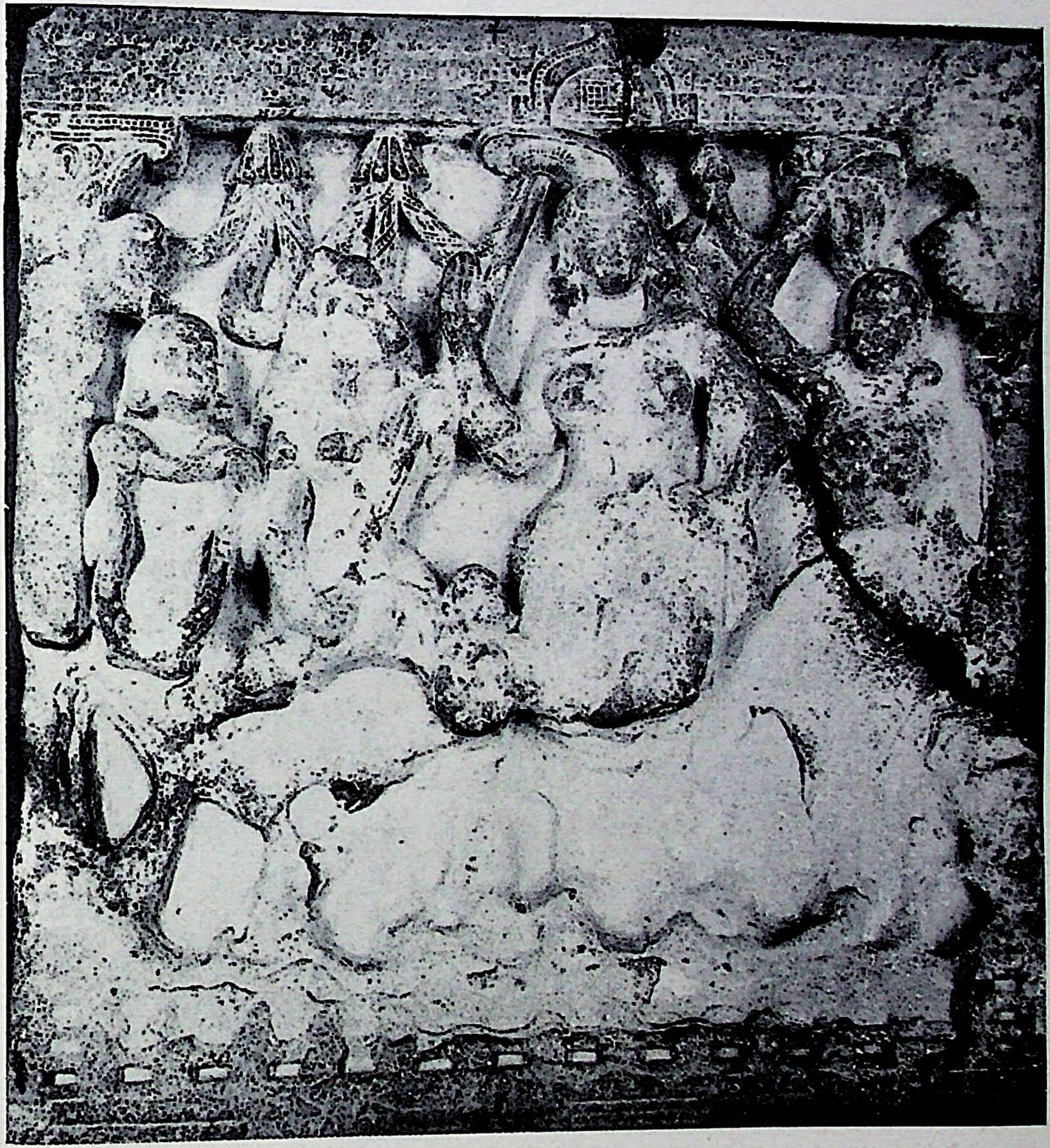

मथुरा — आर्यवती यक्षी

चित्र 19

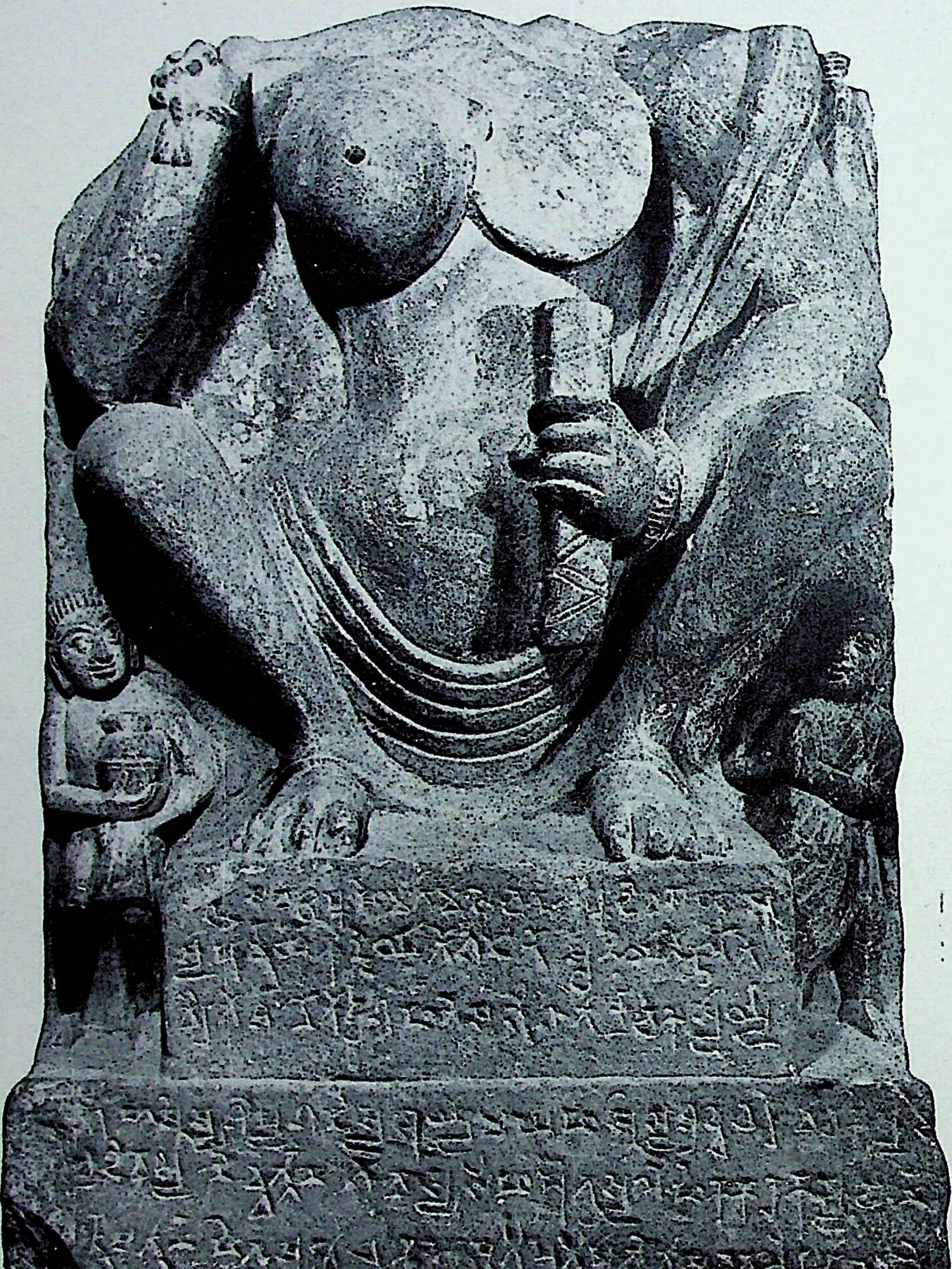

मथुरा — सरस्वती

चित्र 20

पार्श्वनाथ को छोड़कर जिनके शीर्ष पर सर्प के फणोंवाला एक छत्र अंकित रहता है, और ऋषभनाथ को छोड़कर, जिनकी केशराशि उनके स्कंधों पर लहराती है, विभिन्न तीर्थंकरों की पृथक्-पृथक् पहचान करना संभव नहीं है। इन मूर्तियों के, जो सामान्यत: वस्त्रहीन हैं, वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। भामण्डल वृत्ताकार है, जिसका किनारा कुछ मूर्तियों में सीप की कोर के समान उत्कीर्ण है। ये मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा (चित्र १७) पद्मासन में अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित हैं। अनेक मूर्तियों में मुण्डित शीर्ष दिखाये गये हैं, जब कि अन्य अनेक मूर्तियों में केश हैं, जो छोटे और कुण्डलित रूप में घुँघराले हैं अथवा शीर्ष के चारों ओर नवचंद्राकार घूँघरों के रूप में उत्कीर्ण हैं। ऋषभनाथ की मूर्तियों में उलझी हुई लटें पीछे की ओर बिखरी हुई हैं। सामान्यत: उष्णीष नहीं है। पादपीठ के अग्रभाग पर कहीं-कहीं धर्म-चक्र उत्कीर्ण है। परिचय-चिह्नों के अभाव में और चौवीस तीर्थंकरों की मूर्तियों के एक साथ पंक्तिबद्ध रखे जाने के कारण, यह ज्ञात नहीं किया जा सकता कि इस युग में चौवीस तीर्थंकरों की कल्पना कर ली गयी थी और उसे मूर्त रूप प्रदान कर दिया गया था अथवा नहीं, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि कम से कम सात तीर्थंकरों[1] का आविर्भाव हो चुका था। अनेकों चौमुख मूर्तियों की प्राप्ति से सिद्ध होता है कि तीर्थंकरों में चार मथुरा के जैन समुदाय द्वारा विशेष रूप से परम पावन तथा पूज्य मान लिये गये थे। ऐसी मूर्तियों को समर्पणात्मक शिलालेखों में 'प्रतिमा सर्वतोभद्रिका' कहा गया है (परवर्ती कालों में यह 'चौमुख-प्रतिमा' के नाम से विख्यात थी), जिनमें एक प्रतिमा वर्ष ५ की है, जो कि अनुमानत: कनिष्कशासन का वर्ष है।[2] इस प्रकार की आकर्षक प्रतिमाओं में (चित्र १८) एक प्रस्तर-खण्ड के चारों ओर एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति बनी होती है। इस प्रकार की अधिकांश प्रतिमाओं में दो ओर बनी मूर्तियों को सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है कि वे ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की हैं, जो क्रमश: लटों और सर्पफणों से पृथक्-पृथक् पहचान लिये जाते हैं। शेष दो मूर्तियों में से एक निश्चय ही महावीर की है और दूसरी नेमिनाथ की हो सकती है क्योंकि कृष्ण और बलराम का चचेरा भाई होने के कारण नेमिनाथ का मथुरा में विशेष सम्मान किया जाता था। शीर्ष पर छत्र-युक्त ये सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं संभवत: मुख्य स्तूप की पावन परिसीमाओं के भीतर खुले स्थान में प्रतिष्ठित की जाती थीं। यहाँ एक शिलापट्ट का उल्लेख किया जा सकता है जिसपर स्तूपों का वर्णन करते समय विचार किया जा चुका है और जिसपर वर्ष ९९ का एक समर्पणात्मक शिलालेख अंकित है। इस स्तूप के दो पक्षों पर तीर्थंकरों की चार पद्मासन मूर्तियाँ, प्रत्येक ओर दो-दो, शिल्पांकित हैं। एक ओर के ऊपरी भाग में एक मूर्ति पार्श्वनाथ की है। संभव है कि यह फलक चार मूर्तियों की प्रतिष्ठापना का विचार अभिव्यक्त करता हो, जो या तो स्तूप की चार प्रमुख

---

[1] उपलब्ध शिलालेखों में वर्धमान-महावीर, ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) और सम्भवनाथ के नामों का उल्लेख है. शान्तिनाथ का नाम बूलर ने एक समर्पणात्मक शिलालेख में संदेहपूर्वक पढ़ा है. (एपिग्राफ़िया इण्डिका. 1; 383.), जबकि वाजपेयी ने एक शिलालेख में, जो वर्ष 79 (एपिग्राफ़िया इण्डिका. 2; 204) या 49 का है (ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 47). नन्द्यावर्त के स्थान पर मुनिसुव्रत पढ़ा है.

[2] जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसाइटी. 23; 1950; 36.

दिशाओं के सम्मुख या स्तूप के ही चारों ओर बने आलों के भीतर प्रतिष्ठापित की जाती थीं।

कुषाण तथा कुषाणोत्तर-युग के एक महत्त्वपूर्ण वर्ग की मूर्तियों में एक तीर्थंकर का चित्रण किया गया है, जिसे नेमिनाथ के रूप में पहचाना गया है और जिसके पार्श्व में बलराम तथा वासुदेव-कृष्ण की मूर्तियाँ निर्मित हैं। परवर्ती कुषाण युग की इस प्रकार की एक मूर्ति[1] में बलराम को सप्त-फण-छत्र और चार भुजाओं सहित दिखाया गया है। ऊपरी दाहिने हाथ में एक हल है और निचला बायाँ हाथ कमर पर रखा हुआ है। वासुदेव-कृष्ण के ऊपरी बायें हाथ में एक गदा है और ऊपरी दाहिने हाथ में एक चक्र है; शेष दो हाथों में जो वस्तुएँ हैं, वे टूट गयी हैं। मूर्तियों के ऊपर एक प्रक्षिप्त छत्र है तथा वेतस की, जो नेमिनाथ का कैवल्य-वृक्ष था, पत्तियाँ चित्रित की हुई हैं।

अन्य मूर्तियों में दो विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। एक मूर्ति (रा० सं० ल०, जे-१) तीन परिचारिकाओं सहित यक्षी आर्यवती की शिल्पाकृति है, जो लाल बलुआ पत्थर के पूजा-पट्ट पर उत्कीर्ण है। परिचारिकाएं हाथ में छत्र, चमर और माला लिये हुए हैं। उनके साथ हाथ जोड़े हुए एक बाल आकृति है (चित्र १९)[2]। इस पूजा-पट्ट पर, जो संभवत: आयाग-पट है, अमोहिनी का एक समर्पणात्मक शिलालेख है, जो महाक्षत्रप शोडास के वर्ष ७२ (१५ ई०) का है। आर्यवती अपनी बायीं भुजा को कटि के निकट और दक्षिण भुजा को अभय-मुद्रा में रखे हुए सम-पद में खड़ी है; इस आर्यवती का महावीर की माता त्रिशला के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।

दूसरी मूर्ति, जो अब यद्यपि शीर्षविहीन है, अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह अबतक खोज निकाली गयी सरस्वती (चित्र २०)[3] की प्राचीनतम जैन मूर्ति है। वर्ष ५४ (१३२ ई०) की इस मूर्ति पर एक समर्पणात्मक शिलालेख है। एक आयताकार पादपीठ पर ऊपर की ओर घुटने मोड़कर बैठी हुई यह देवी, जिसे विशेष रूप से सरस्वती नाम दिया गया है, कटिस्थित अपने बायें हाथ में एक पुस्तक लिये हुए है। कंधे तक उठे हुए दाहिने हाथ की टूटी हुई हथेली में संभवत: एक माला ग्रहण की हुई थी। इतने पुरातन काल में विद्या की देवी सरस्वती की मूर्ति का प्रतिष्ठापित किया जाना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह ज्ञात होता है कि जैन लोग केवल विद्या की प्राप्ति को

---

[1] पु० सं० म०, 2502. / **जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी.** 23; 1950 ; 50 तथा परवर्ती.

[2] **एपिग्राफिया इण्डिका.** 2 ; 199. / सरकार (डी सी). **सेलैक्ट इंसक्रिप्शन्स.** 1. 1965. कलकत्ता. पृ 120.

[3] रा० सं० ल०, जे-24. / ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 54.

ही भारी महत्त्व नहीं देते थे अपितु उन्होंने अत्यंत प्राचीन काल में ही साहित्यिक गतिविधि भी आरंभ कर दी थी।[1]

प्रथम और द्वितीय ईसवी शताब्दियों की तीर्थंकर-मूर्तियाँ, वेदिका-स्तंभों तथा तोरण-शीर्षों पर अंकित मूर्तियों से पृथक् वर्ग और शैली की हैं। विशाल स्कंध तथा वक्ष एवं आदिम स्थूलता इनकी विशेषता है। उन्मीलित नयनोंवाली इन मूर्तियों की मुद्रा कुछ कठोर है तथा ये अभिव्यक्ति एवं लालित्यविहीन हैं। यह स्थिति इस कारण नहीं हो सकती कि या तो उस युग के कलाकार में कला-कौशल की न्यूनता थी या उसमें यक्षों की आदिकालीन मृण्मूर्तियों की – जो आरंभ में बुद्ध, बोधिसत्वों तथा तीर्थंकरों की मूर्तियों के निर्माण के लिए प्रतिरूप का कार्य देती थीं – विशेषताओं को बनाये रखने की रूढ़िवादी भावना विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि कलाकार के लिए मानव-मूर्तियों की रचना का कार्य सामान्यतः सुगम था किन्तु वह साधुवर्ग के अनुशासन से बँधा हुआ था, जिसके अनुसार उसे तीर्थंकरों की मूर्तियाँ इस रूप में गढ़नी थीं कि उनसे उनके कठोर जीवन एवं तपश्चर्या का महत्त्व झलकता हो। फिर भी, कोई व्यक्ति यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि अपनी आत्मिक शक्ति, दृढ़ इच्छाशक्ति तथा धर्मानुशासन के लिए विख्यात शान्त-मना तीर्थंकरों के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त करने में कलाकार को सफलता नहीं मिली है। यह बात अंगों की रचना, विशेषकर मुखाकृति, से प्रकट होनेवाले भावों से स्पष्ट हो जाती है। अंगों की रचना अधिकांश मूर्तियों में अनुपातहीन और प्रायः स्थूल है। तथापि इस युग के अंत में मूर्तिकारों ने प्रर्याप्त प्रगति की। उनकी मूर्तियों में पूर्णतः तन्मय, शांत एवं चिंतनशील भावना की अभिव्यक्ति, आकर्षक संतुलन, एवं लावण्य जैसे गुणों का उदय होने लगा। गुप्त-काल की आध्यात्मिक रूप से दैदीप्यमान मूर्तियों में ये गुण चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये थे।

देबला मित्रा

---

[1] जैन (ज्योति प्रसाद). **जैन सोर्सेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया** (ई॰ पू॰ 100–900 ई॰). 1964. दिल्ली. पृ 100-19.

अध्याय 7

पूर्व भारत

बिहार

भारत के समस्त प्रदेशों में बिहार जैन धर्म का प्राचीनतम गढ़ रहा है। इसके अनेक ग्राम और नगर भगवान् महावीर की चरण-रज से गौरवान्वित हुए थे। भारत के महाजनपदों में से तीन– वृजि, मगध और अंग–की राजधानियाँ तथा प्रमुख नगर उनसे विशेष रूप से संबंधित रहे हैं। वृजि राज्य-मण्डल में लिच्छवियों और विदेहों सहित आठ या नौ राजकुल सम्मिलित थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली महावीर का जन्मस्थान थी। वे उसके उपनगर कुण्डग्राम में जनमे थे। उनकी माता लिच्छवि-प्रधान चेटक की बहन (एक अन्य परंपरा के अनुसार पुत्री) थीं। अपने भ्रमण के समय महावीर ने अनेक चातुर्मास वैशाली और उसके उपनगर वाणिज्य-ग्राम में विताये थे। छह चातुर्मास उन्होंने विदेह की राजधानी मिथिला में भी व्यतीत किये थे। मगध की राजधानी राजगृह भी चातुर्मास के लिए महावीर का प्रिय स्थान थी। यहाँ और इसके समीपवर्ती नालंदा ग्राम में उन्होंने चौदह चातुर्मास व्यतीत किये। जैन परंपरा के अनुसार, श्रेणिक बिम्वसार, जिसका विवाह वैशाली के चेटक की कन्या चेलना से हुआ था, और उसका पुत्र कुणिक-अजातशत्रु महावीर के भक्त थे। अंग देश की राजधानी चम्पा भी, जिसे बिम्बसार ने मगध साम्राज्य में मिला लिया था, महावीर का प्रिय वासस्थान थी।

महावीर के निर्वाणोपरांत भी पूर्वी भारत में जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी और धर्मपरायण जैन मतावलम्बी उदयभद्र ने मगध (जिसमें लिच्छिवि सामंत प्रदेश को इस समय तक सम्मिलित कर लिया गया था) के सिंहासन पर आसीन होते ही नव-निर्मित राजधानी पाटलिपुत्र में एक जिनालय का निर्माण कराया।[1] नन्द नरेशों की भी जैन धर्म की ओर अनुकूल प्रवृत्ति थी और उनके मंत्री जैन मतावलम्वी थे। जैन परंपराओं के अनुसार नन्द शासन का अंत करनेवाला चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने जीवन के अंतिम दिनों में जैन धर्म के प्रभाव में आ गया था और जब मगध में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तब उसने मुनि भद्रबाहु और बहुत-से

---

[1] मजूमदार (आर सी) तथा पुसालकर (ए डी), संपा. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी. 1960. बम्बई. पृ 29.

अनुयायियों के साथ अपनी राजधानी पाटलिपुत्र को त्यागकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था। कहा जाता है कि यह दुर्भिक्ष बारह वर्षों तक रहा और इसकी समाप्ति के उपरांत पाटलिपुत्र में आगम के संकलन हेतु पहली जैन परिषद् आयोजित की गयी।

यद्यपि चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार बड़े उत्साह के साथ किया, तो भी, उसने निग्रन्थों (जैनों) की अवहेलना नहीं की जैसा कि उसके सप्तम स्तंभ-लेख से विदित होता है। इसमें उसने कहा है कि उसके धर्ममहामात्र बिना किसी भेदभाव के बौद्ध संघों, ब्राह्मणों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों का कार्य समान भाव से करते थे। उसके उत्तराधिकारियों में सम्प्रति धर्मपरायण जैन शासक था। धर्म प्रचार के लिए उसने पर्याप्त प्रयत्न किये और जैन भवनों का निर्माण कराया।[1]

यद्यपि यह निश्चित है कि इस युग में जैन धर्म उत्कर्षशील था, तथापि यह एक समस्यामूलक बात ही है कि बिहार में केवल इस अवधि के ही नहीं अपितु इससे पूर्व की अवधि के भी जैन स्मारकों और पुरावशेषों का नितांत अभाव-सा है। यहाँ तक कि वैशाली (आधुनिक वसाढ़, जिला वैशाली) में भी, जो महावीर से इतनी अधिक संबद्ध रही है और जहाँ मुनिसुव्रतनाथ का एक स्तूप होने की सूचना मिलती है, प्रारंभिक काल का एक भी जैन स्मारक अबतक नहीं मिल सका है।[2]

राजगृह (आधुनिक राजगिर, जिला नालंदा) में जिस प्राचीनतम जैन स्मारक की पहचान की जा सकी है, वह है दो शैलोत्कीर्ण गुफाओं का एक समूह जिसमें से पश्चिमी गुफा को सोनभण्डार कहा जाता है। इस गुफा के अग्रभाग के शिलालेख (जिसमें अर्हंतों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है) की पुरालिपि के आधार पर ये गुफाएँ सामान्यतः ईसा की तीसरी या चौथी शती की बतायी गयी हैं।[3] तथापि जैसा कि श्री सरस्वती[4] का भी मत है, ये गुफाएँ इस अवधि से भी पहले की

---

[1] मजूमदार तथा पुसालकर, पूर्वोक्त, पृ 89. / शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 6.

[2] शाह, पूर्वोक्त, पृ 9 और 62.

[3] कुरैशी (एम एच) तथा घोष (ए). **राजगिर**. 1958. नई दिल्ली. पृ 25.

[4] मजूमदार और पुसालकर, पूर्वोक्त, पृ 503 पर सरस्वती के विचार.
[द्रष्टव्य : अध्याय 11 और चित्र 51 क. पूर्वी गुफा के आद्य गुप्तकालीन शिल्पांकनों और पश्चिमी गुफा की बाह्य भित्ति पर उसी अवधि के इस आशय के शिलालेख की –– कि आचार्यरत्न मुनि वैरदेव ने निर्वाण प्राप्ति के लिए इन दोनों गुफाओं का निर्माण कराया था और उनमें अर्हंतों की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करायी थीं –– कालक्रम की दृष्टि से पृथक् कर पाना कठिन है। यह बात समझ में आती है कि इस प्रदेश में जहाँ शैलोत्कीर्ण वास्तु-स्मारकों का लगभग अभाव है, शैल-स्थापत्य कला का विकास यदि नितांत अविद्यमान न भी रहा हो तो वह धीमा अवश्य रहा होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर सोनभण्डार गुफाओं में और दूसरी ओर बराबर और नागार्जुनी की मौर्य गुफाओं में क्यों समानता है। जिसके आधार पर सरस्वती ने सोनभण्डार गुफा को प्राचीनतर बताया है। इन गुफाओं की प्राचीनता को सिद्ध करने के प्रमाणस्वरूप यह भी बताया गया है कि उक्त शिलालेख ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी का है: जैन (हीरालाल). **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान**. 1962. भोपाल. पृ 308–309. किन्तु पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से यह मानना संभव नहीं है –– संपादक]

प्रतीत होती हैं। जैन मुनियों के रहने योग्य ये गुफाएं विशाल आयताकार कक्ष हैं। भित्तियों से बाहर निकली हुई तोरणाकार छत किसी अप्रकट शिलाफलक से प्रारंभ होती है। पश्चिमी गुफा की एक प्रारंभिक विशिष्टता यह है कि इसके द्वार-स्तंभ ढलुवाँ हैं और ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक चौड़े हैं। यह प्रस्तर-शिल्प में काष्ठ-शिल्प का निरर्थक अनुकरण है। यह गुफा पूर्वी गुफा से बड़ी है। इसमें एक छोटा-सा चौकोर वातायन है, जिसके कोने भी सादे और ढलुवाँ हैं। भित्तियों पर बढ़िया पालिश के भी चिह्न मिलते हैं। इसमें बने कोटरों से पता चलता है कि इसमें पहले द्वार-पट लगे हुए थे।

पाटलिपुत्र (पटना) के उपनगर लोहानीपुर से प्राचीन जैन पुरावशेष मिले हैं। इस स्थान से प्राप्त हुए थे–प्रस्तर के दो नग्न धड़, एक शीर्ष का निचला भाग, एक खण्डित हाथ या पैर और ईंट-निर्मित एक नींवाधार (२.६८ वर्ग मीटर) तथा नींव में घिसी हुई एक छिद्रयुक्त रजतमुद्रा।[1] दुर्भाग्यवश इस खोज के पश्चात् सुनियोजित उत्खनन नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप हम आज तक प्राचीनतम जैन अधिष्ठानों के पुरावशेषों के विषय में अंधकार में हैं। बलुए पत्थर के बने खण्डित शीर्ष और दो में से एक धड़ (चित्र २१ क) में विशिष्ट मौर्ययुगीन पालिश है। स्पष्टत: वे मौर्य-कालीन हैं। शीर्ष, जो धड़ के अनुपात से बड़ा है, प्रत्यक्षत: किसी अन्य मूर्ति का है। नासिका के ऊपर का भाग विद्यमान नहीं है। उपलब्ध भाग की जाँच से प्रतीत होता है कि सुडौल ओष्ठयुक्त मुख गोल था। यद्यपि पालिशयुक्त धड़ की दोनों भुजाओं का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है, तथापि, ऐसा लगता है कि यह मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में थी और उसकी भुजाएं जंघाओं तक लटकती थीं। इस अनुमान को न केवल बाहुओं के अवशिष्ट ऊपरी भाग और शरीर की रचना से समर्थन मिलता है अपितु, जंघाओं पर, जहाँ हथेली या कलाई का स्पर्श होता है, बने चिह्नों के संकेतों से भी। निस्संदेह यह मूर्ति तीर्थंकर की है। धड़ की प्रतिकृति, जो गोल है, बहुत कुछ स्वाभाविक है। उसपर दक्ष कलाकार की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्तिकला संबंधी विशेषताओं की दृष्टि से यह प्रतिकृति लोहानीपुर से प्राप्त दूसरे धड़ (चित्र २१ ख) की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। कायोत्सर्ग मुद्रावाले दूसरे धड़ की भुजाएं छोटी होने से बेडौल लगती हैं। आदिम यक्ष मूर्तियों की परंपरा की तुलना में यह धड़ ईसा-पूर्व दूसरी शती से अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

चौसा (जिला भोजपुर) में अठारह जैन कांस्य मूर्तियों की आकस्मिक प्राप्ति ने इस बात की संभावना को बढ़ा दिया है कि उक्त स्थान या उसके समीपवर्ती स्थानों से प्राचीन जैन पुरावशेष मिल सकते हैं। दुर्भाग्यवश, यहाँ भी सुनियोजित सर्वेक्षण और उत्खनन के आधार पर अन्वेषण नहीं किया

---

[1] जायसवाल (के पी). जैन इमेज ऑफ मौर्य पीरियड. **जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी.** 23; 1937; 130–32. / बनर्जी-शास्त्री (ए). मौर्यन स्कल्पचर्स फ्रॉम लोहानीपुर, पटना, पूर्वोक्त, 24; 1940; 120–24.

गया। प्राप्त पुरावशेषों[1] में तीर्थंकरों की सोलह मूर्तियाँ, एक अशोक वृक्ष और एक स्तंभ पर एक धर्म-चक्र (चित्र २१ ग) सम्मिलित हैं। इनमें से धर्म-चक्र की तिथि ईसा की पहली शताब्दी निर्धारित की जा सकती है।

तीर्थंकरों की मूर्तियों में दस कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं जब कि छह पद्मासन ध्यान-मुद्रा में। यह मूर्ति-समूह इस तथ्य के कारण अत्यंत मूल्यवान हैं कि ये मूर्तियाँ लगभग चार सौ वर्षों के दीर्घकाल में निर्मित हुई हैं और ये प्रायोगिक युग से लेकर गुप्त-युग की सुनिर्मित ललित मूर्तियों के चरमोत्कर्ष तक कांस्य मूर्तिकारों की कलात्मक उपलब्धियों का लेखा प्रस्तुत करती हैं। पद्मासन मूर्तियों में से दो, शैली के आधार पर, परवर्ती कुषाणयुग से आद्यगुप्त-युग तक की हो सकती हैं। शेष चार गुप्त-युग[2] की हैं।

सभी दिगंबर खड्गासन मूर्तियाँ कुषाण-पूर्व से लेकर गुप्त-काल तक की हैं। इनमें से कुछ मूर्तियाँ ठूँठ जैसी टाँगों, अपरिपक्व कौशल और बेडौल प्रतिरूपणवाली हैं तथा लोक-परंपराओं पर आधारित हैं। ये आदिम मूर्तियाँ कुषाणयुग से कुछ पहले की प्रतीत होती हैं। पटना-संग्रहालय की मूर्ति क्रमांक ६५३० (चित्र २२ क) कुषाण-कला का एक सुंदर उदाहरण है। विशाल वक्ष, गोल मुख और उन्मीलित नेत्र इसकी विशेषताएं हैं और यह मथुरा-कला की परंपरा में है। यहाँ भी टाँगों के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया। तीसरी-चौथी शती में निर्मित मूर्तियों में (चित्र २२ ख) विभिन्न अंगों की आनुपातिक और सुंदर रचना में पर्याप्त प्रगति परिलक्षित होती है। किसी भी मूर्ति में परिचय-चिह्न का निर्माण नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की पहचान क्रमशः उनकी जटाओं और फणावली से ही की जा सकती है। एक सुरक्षित मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

पश्चिम बंगाल

यह निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं है कि बंगाल में जैन धर्म कब भलीभाँति प्रतिष्ठित हुआ। आचारांग सूत्र से विदित होता है कि लाढ (अर्थात् राढ) में जिसमें वज्जभूमि (वज्रभूमि) और सुब्भभूमि (सुह्मभूमि) सम्मिलित थी, भ्रमण करते समय महावीर के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया।[3] दिव्यावदान में उल्लिखित एक आख्यान के आधार पर सामान्यतः यह माना जाता है

---

[1] गुप्त (परमेश्वरी लाल), संपा. **पटना म्युजियम कैटेलाग ऑफ एण्टिक्विटीज.** 1965. पटना. पृ 116–17, प्रसाद (हरिकिशोर) जैन ब्रोन्जेज इन पटना म्युजियम. **महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वॉल्यूम.** 1968. बम्बई. पृ 275-83.

[2] [द्रष्टव्य : अध्याय 11 — संपादक]

[3] **जैनसूत्राज.** भाग 1. आचारांग सूत्र. अनु : हरमन जैकोबी. **सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट,** 22. 1884. आक्सफोर्ड. पृ 85.

कि अशोक के शासनकाल में उत्तर बंगाल में पुण्ड्रवर्धननगर जैन धर्म और आजीविक मत का गढ़ था।[1] इस आख्यान के अनुसार, अशोक को जब पता लगा कि पुण्ड्रवर्धननगर (आधुनिक महास्थान-गढ़, जिला बोगरा, बांग्लादेश) के एक निर्ग्रंथ उपासक ने एक ऐसा चित्र बनाया है जिसमें बुद्ध को निर्ग्रंथ के चरणों पर पड़ा दिखाया है, तो उसने पुण्ड्रवर्धननगर के अठारह हजार आजीविकों की हत्या करा दी। कल्पसूत्र के नूतन संस्करण से पहले बंगाल के अधिकांश भाग में जैन धर्म स्थापित हो चुका था। यह बात इस ग्रंथ में वर्णित ताम्रलिप्तिका (प्राचीन ताम्रलिप्ति, आधुनिक तमलुक, जिला मिदनापुर), कोटिवर्षीया (प्राचीन कोटिवर्ष के नाम पर संभवतः पश्चिम दीनाजपुर का बानगढ़) और चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन भद्रबाहु[2] के शिष्य गोदास द्वारा स्थापित एक गण की पुण्ड्रवर्धनीया शाखा के उल्लेखों से सिद्ध होती है। यद्यपि अपने वर्तमान स्वरूप में कल्पसूत्र के पाठ का यह नूतन संस्करण ईसा की पाँचवी-छठी शती से पूर्व का नहीं है, तथापि इसमें प्रचुर मात्रा में प्राचीन परंपराओं का उल्लेख है। जैसा कि मथुरा के पहली शती ईसवी और परवर्ती शिलालेखों से सिद्ध होता है, इन शिलालेखों में कुल और शाखाओं सहित अनेक गणों के नामों का उल्लेख है जिनका विवरण कल्पसूत्र में मिलता है। मथुरा की एक जैन मूर्ति के पादपीठ पर प्राप्त ६२वें वर्ष (१४० ई०) के शिलालेख में शरक नाम से एक जैन भिक्षु का उल्लेख है जिसकी व्याख्या रार[3] का निवासी की गयी है और 'रार' की समता राढ[4] (पश्चिम बंगाल) से की गयी है।

दुर्भाग्य से इस काल का एक भी जैन पुरावशेष बंगाल में नहीं मिला है। जैन संबंधी जो सबसे प्राचीन अभिलेख मिला है, वह है गुप्त-संवत् के १५९वें वर्ष का पहाड़पुर (जिला राजशाही, बांग्ला देश) से प्राप्त ताम्रपत्र।[5] इस ताम्रपत्र में यह उल्लेख है कि बट-गोहाली के विहार में चंदन, धूप, पुष्प, दीपकों आदि से अर्हंतों की विधिवत् पूजा के हेतु एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा भूमि का दान दिया गया था। कहा जाता है कि इस विहार के अधिष्ठाता काशी के पंच-स्तूप-निकाय से संबंधित निर्ग्रंथ श्रमणाचार्य गुहनन्दि के शिष्य और शिष्यों के शिष्य थे। अतः यह बहुत संभव है कि उक्त विहार चतुर्थ शती ई० में पहाड़पुर में विद्यमान रहा हो। जैन धर्म के पूर्वोक्त केन्द्र का अस्तित्व इससे पहले भी यहाँ था या नहीं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

उड़ीसा

बहुत प्राचीन समय से कलिंग (जिसमें उड़ीसा का अधिकांश भाग सम्मिलित था) जैन धर्म का गढ़ था। कहा जाता है कि महावीर ने इस प्रदेश का भ्रमण किया था। ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में

---

[1] दिव्यावदान. बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्स्ट्स. 1959. दरभगा. पृ 277. / मजूमदार (आर सी). जैनिज्म इन एंश्येंट बंगाल. महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वॉल्यूम. 1. पृ 135.

[2] जैकोबी, पूर्वोक्त, पृ 288.

[3] बन्द्योपाध्याय (आर डी). मथुरा इंस्क्रिप्शन्स इन द इण्डियन म्युजियम. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल. न्यू सीरीज. 5; 239-240.

[4] मजूमदार, पूर्वोक्त, पृ 136.

[5] एपिग्राफिया इण्डिका. 20; 1929–30; 59–64.

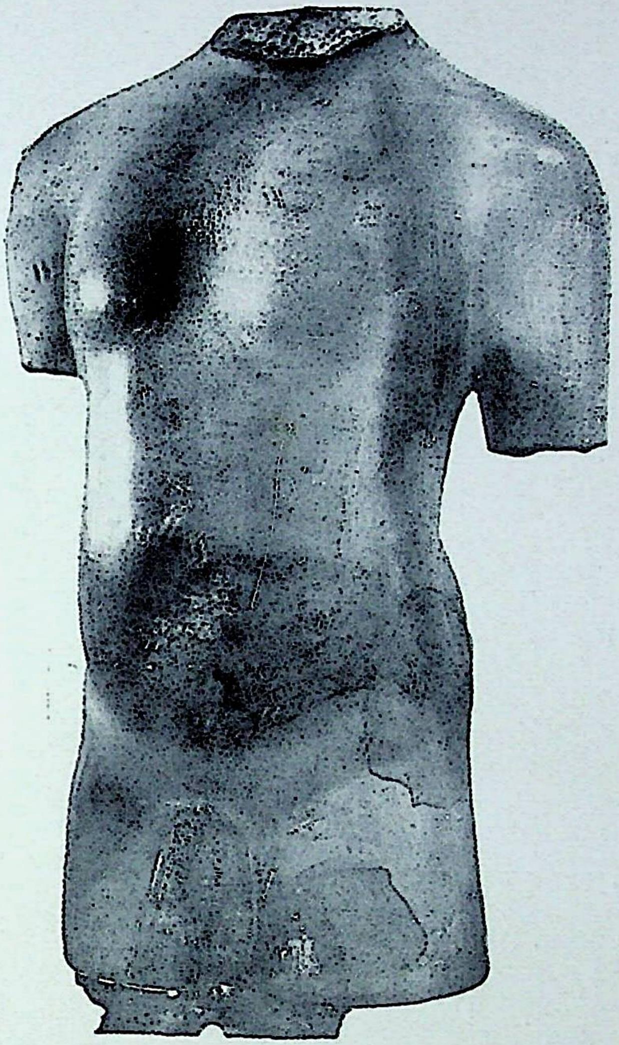

(क) लोहानीपुर — तीर्थंकर मूर्ति का धड़

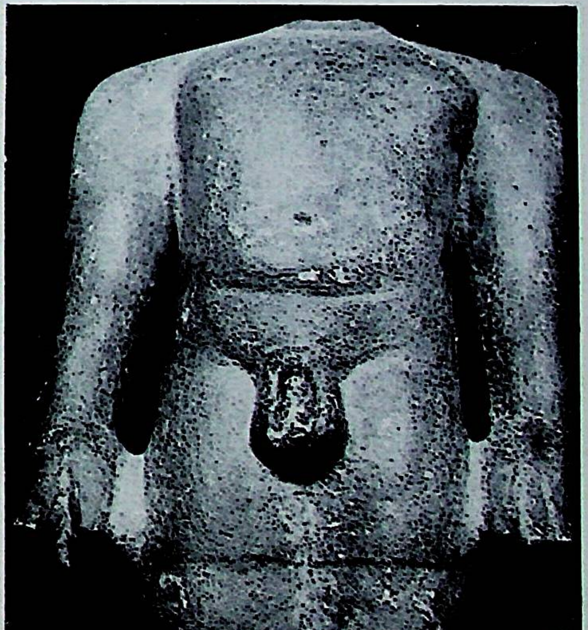

(ख) लोहानीपुर — तीर्थंकर मूर्ति का धड़

चित्र 21

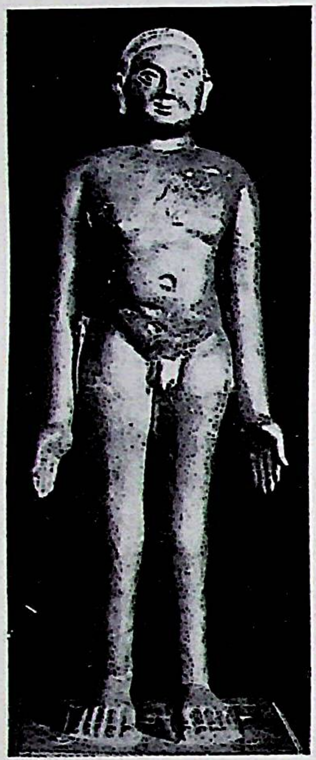

(क) चौसा —— तीर्थंकर,
कांस्य मूर्ति

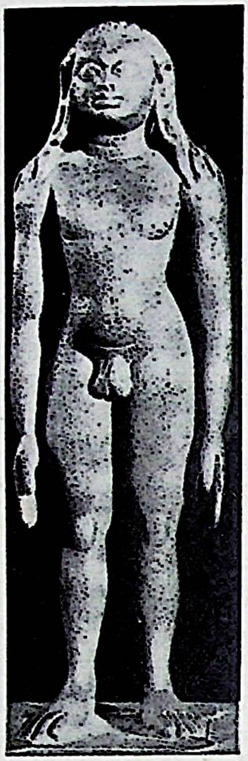

(ख) चौसा —— ऋषभनाथ,
कांस्य मूर्ति

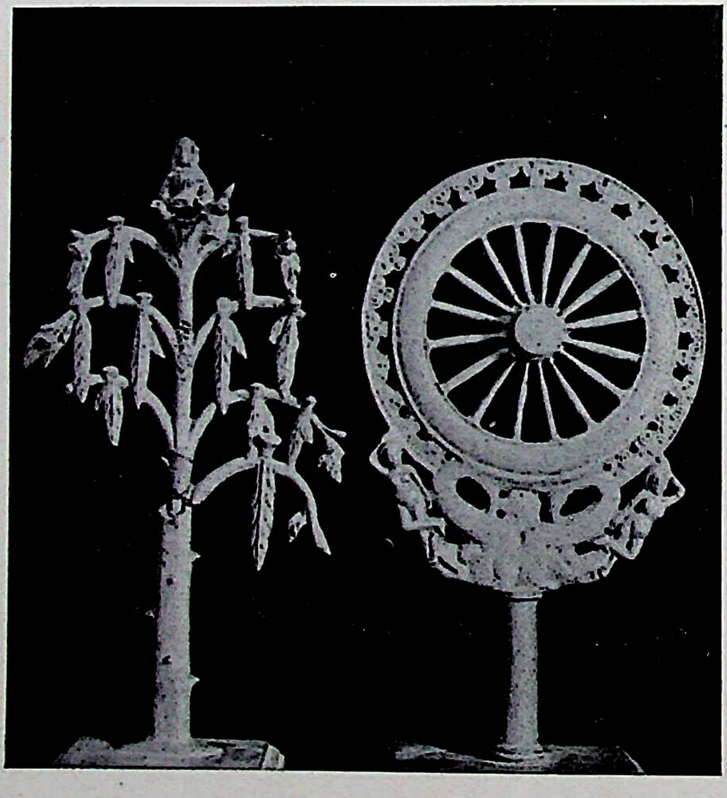

(ग) चौसा — अशोक वृक्ष तथा धर्म चक्र, कांस्य निर्मित

चित्र 22

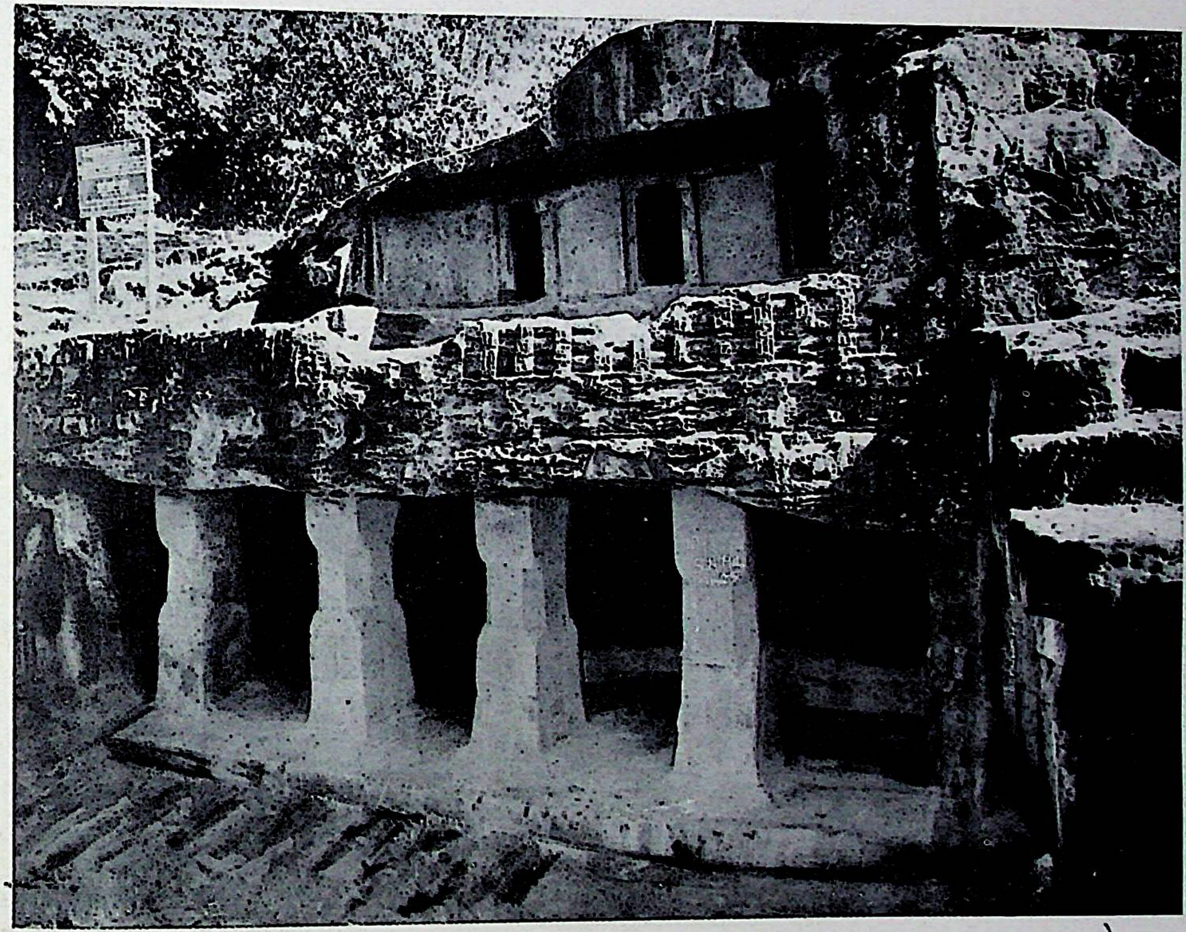

उदयगिरि — गुफा सं० 9, बाहरी भाग

चित्र 23

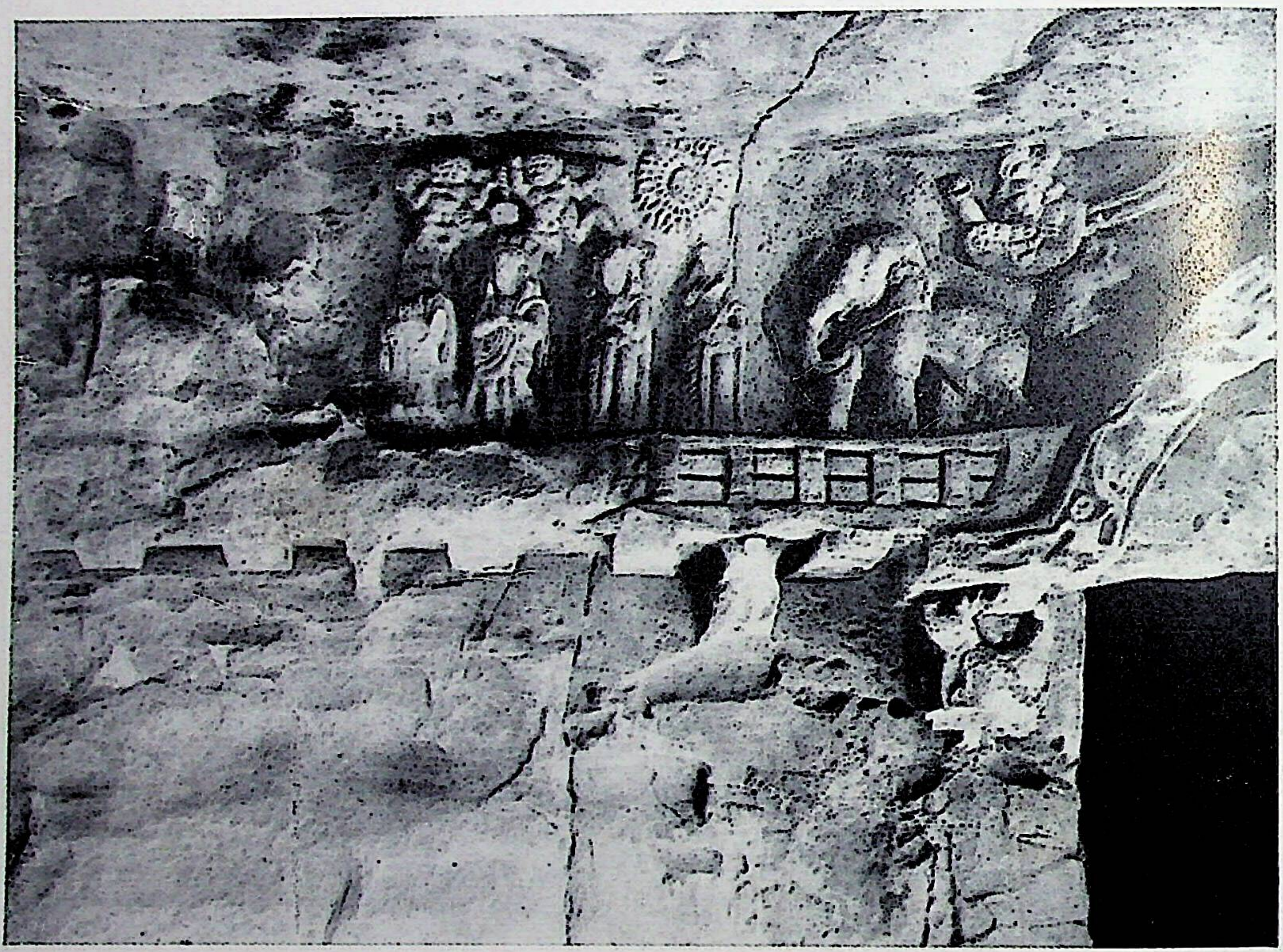

उदयगिरि — गुफा सं० 9, निचला तल, उपास्य-निर्मिति, पूजा-दृश्य

चित्र 24

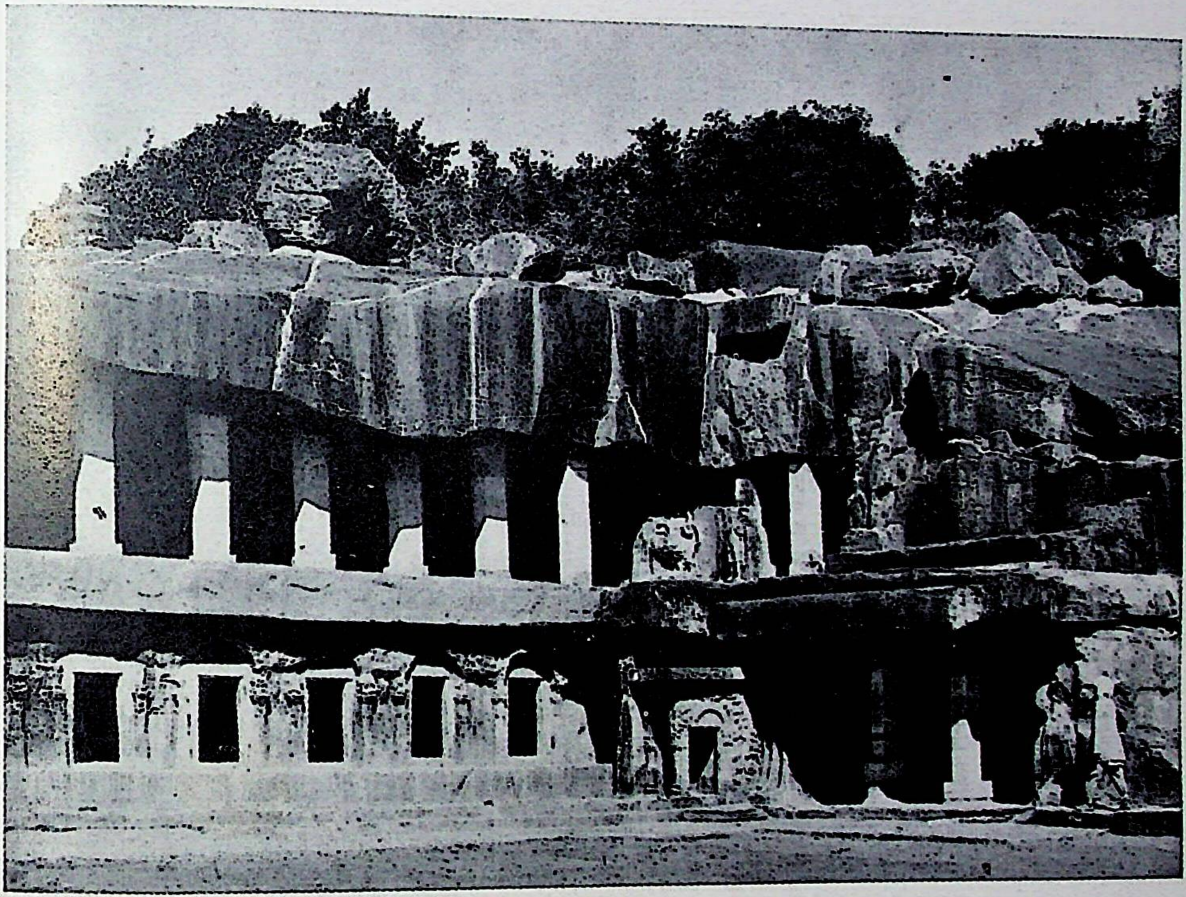

उदयगिरि — गुफा सं० 1, बाहरी भाग

चित्र 25

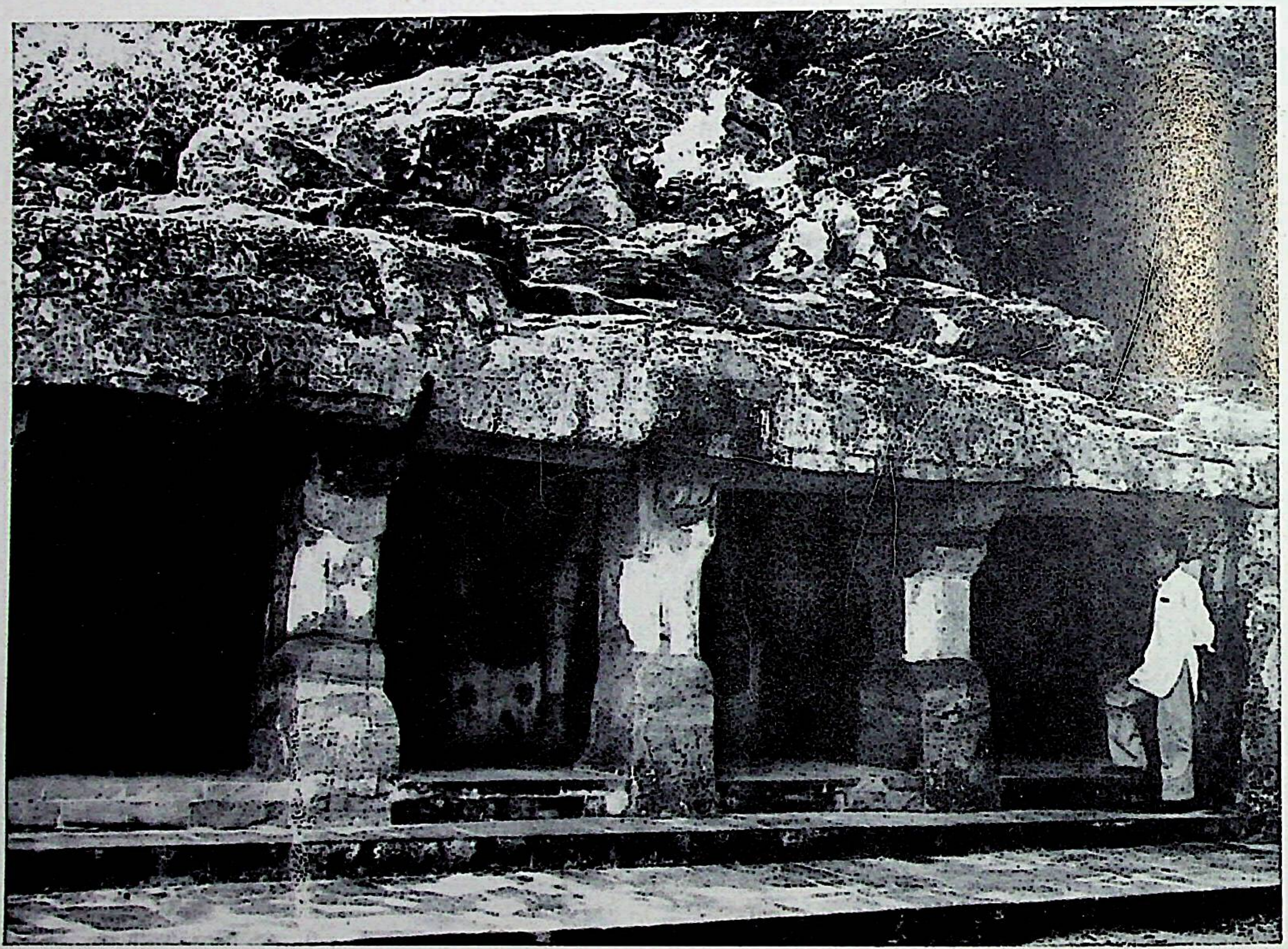

खण्डगिरि — गुफा सं० 3, बाहरी भाग

चित्र 26

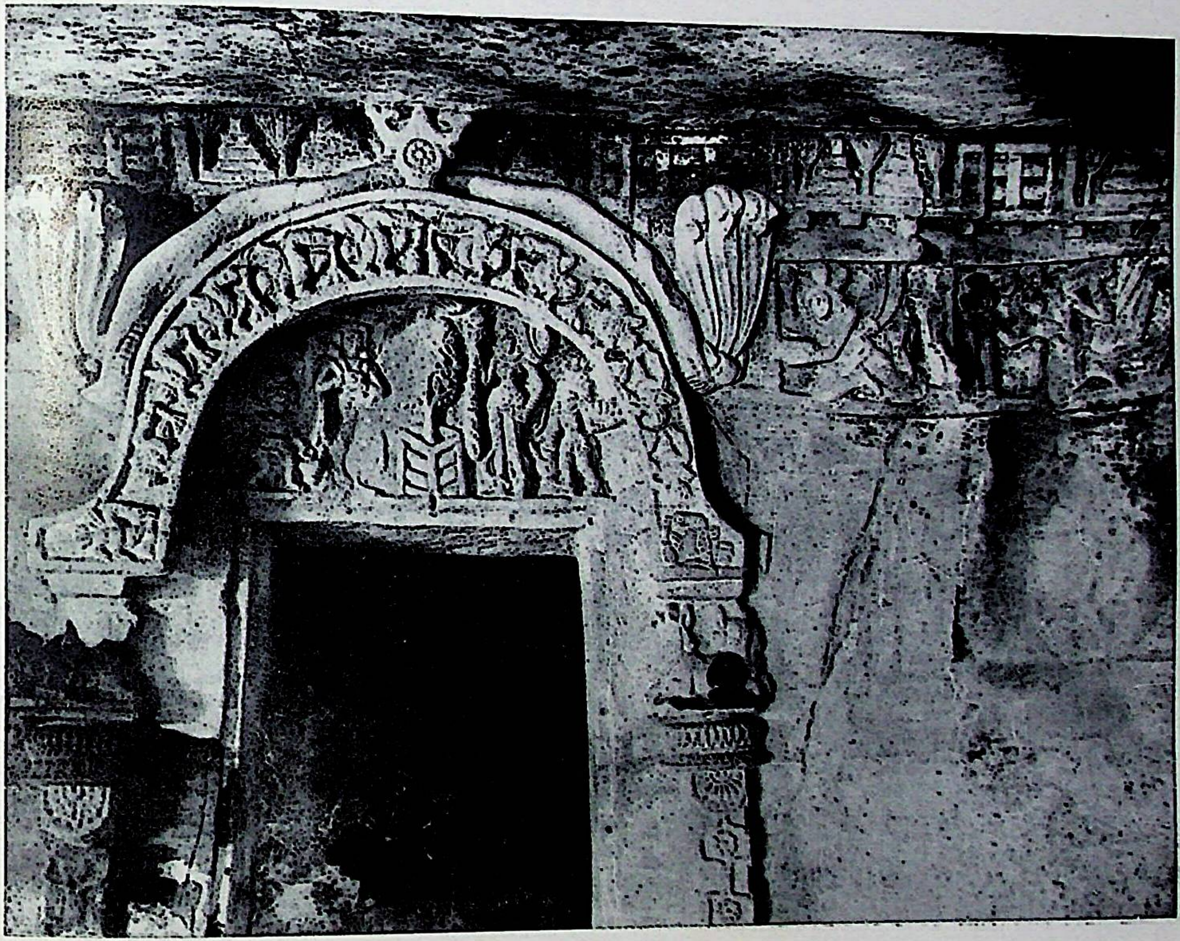

खण्डगिरि — गुफा सं० 3, तोरण-शीर्ष-स्थित (कल्प) वृक्ष-पूजा

चित्र 27

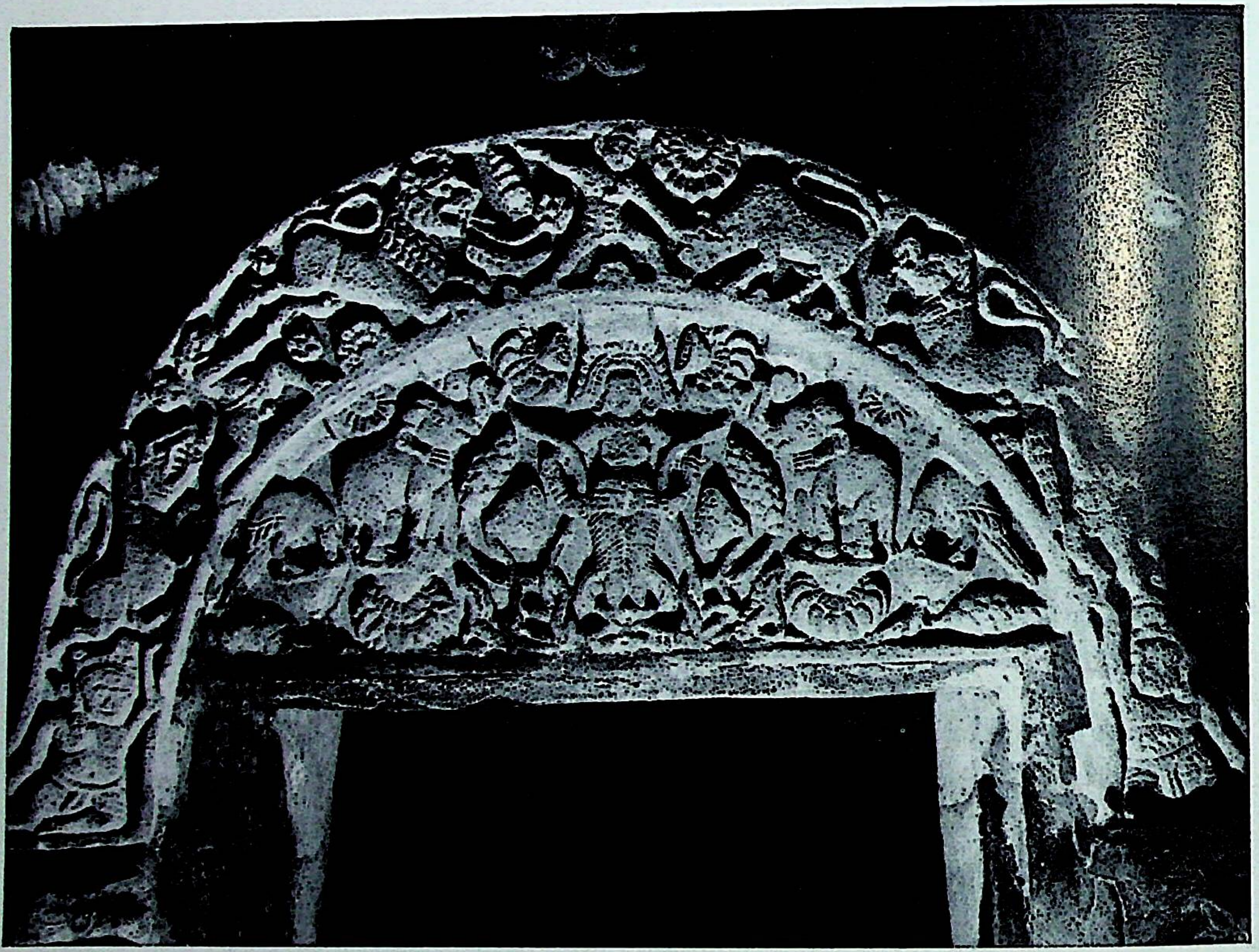

खण्डगिरि — गुफा सं० 3, तोरण शीर्ष पर गज-लक्ष्मी

चित्र 28

ही कलिंग में जैन धर्म की नींव पड़ चुकी थी। यह बात कलिंग के चेदी राजवंश के महामेघवाहन कुल के तृतीय नरेश खारवेल (ईसा-पूर्व प्रथम शती; एक अन्य मत, जिसकी शुद्धता की संभावना कम है, के अनुसार ईसा-पूर्व दूसरी शती) के हाथी गुम्फा (भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी की गुफाओं में से एक) शिलालेख[1] से सिद्ध होती है। इस शिलालेख में, जो अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारंभ होता है, शक्तिशाली शासक यह बताता है कि वह कलिंग की उस तीर्थंकर मूर्ति को पुनः ले आया जो पहले एक नन्द राजा द्वारा बलपूर्वक ले जायी गयी थी। यह असंभव नहीं है कि कलिंग की यह पावन तीर्थंकर-मूर्ति मूलरूप से उदयगिरि पहाड़ी पर ही प्रतिष्ठापित रही हो और बाद में भी पुनः प्राप्त होने पर खारवेल ने उसकी पुनर्प्रतिष्ठा यहाँ की हो। यह निचली पहाड़ी और इसके समीपस्थ खण्डगिरि पहाड़ी अत्यंत प्राचीन समय से ही जैन धर्म का केन्द्र रही। इन दोनों पहाड़ियों को विहार के रूप में चयन करने का प्रधान कारण स्पष्ट ही इनकी ऐकांतिक स्थिति रही होगी जो ध्यान और साधु-जीवन के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करती थी। साथ ही यह कलिंग की जनसंख्या-बहुल राजधानी (जिसकी पहचान शिशुपालगढ़ से की गयी है जो इन पहाड़ियों से १० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में है) के भी निकट पड़ती थी, जहाँ मुनिगण सुविधापूर्वक धर्म-प्रचार के लिए जा सकते थे और वहाँ से भक्तगण मुनियों के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने और इस पवित्रतम स्थल पर पूजा करने हेतु आ सकते थे।

महामेघवाहनों के शासनकाल में उदयगिरि और खण्डगिरि पहाड़ियों[2] के जैन अधिष्ठान की बहुत उन्नति हुई। हाथीगुम्फा शिलालेख से यह स्पष्ट है कि खारवेल ने, जो जैन धर्मानुयायी था, बड़े उत्साह के साथ इस धर्म के प्रचार हेतु कार्य किया। अपने शासन के तेरहवें वर्ष में उसने न केवल कुमारी-पर्वत (आधुनिक उदयगिरि) पर जैन मुनियों के लिए गुफाएँ बनवायीं अपितु इन विहारों के समीप ही पहाड़ी के प्राग्भार पर एक मूल्यवान भवन (संभवतः एक मंदिर) का निर्माण कराया जिसके लिए सुदूर खानों से प्रस्तर-खण्ड लाये गये थे, और एक स्तंभ भी बनवाया जिसके केन्द्र में लहसुनिया मणि लगायी गयी थी। यद्यपि एक बड़ी संख्या में खारवेल-युग के विहार उपलब्ध हैं तो भी, शिलालेखों के अभाव में यह बता सकना संभव नहीं है कि कौन-सी विशेष गुफाएं इस शासक ने बनवायी थीं। राजकुल के अन्य व्यक्ति भी गुफाएं बनवाकर दान करने के पवित्र कार्य में सक्रिय भाग लेते थे। इस प्रकार, उदयगिरि की गुफा सं० १ (चित्र २३-२४ के ऊपरी तल, जिसे स्थानीय

---

[1] इस शिलालेख का अनेक विद्वानों ने संपादन किया है और उसपर अपनी राय व्यक्त की है, जिनमें सरकार भी हैं. सरकार (दिनेशचंद्र). सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स बिअरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन. 1965. कलकत्ता. पृ 213–21.

[2] उदयगिरि-खण्डगिरि गुफाओं के लिए द्रष्टव्य : फर्गुसन् (जेम्स) तथा बर्जेस (जेम्स). केव टैम्पल्स ऑफ इण्डिया. 1880. लन्दन. पृ 55–94. / मित्र (राजेन्द्रलाल). एण्टिक्विटीज ऑफ उड़ीसा. भाग 2. 1880. कलकत्ता. पृ 1–46. / फर्गुसन् (जेम्स). हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर. 1910, लन्दन. पृ 9–18. / मित्रा (देबला). उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि. 1960. नई दिल्ली.

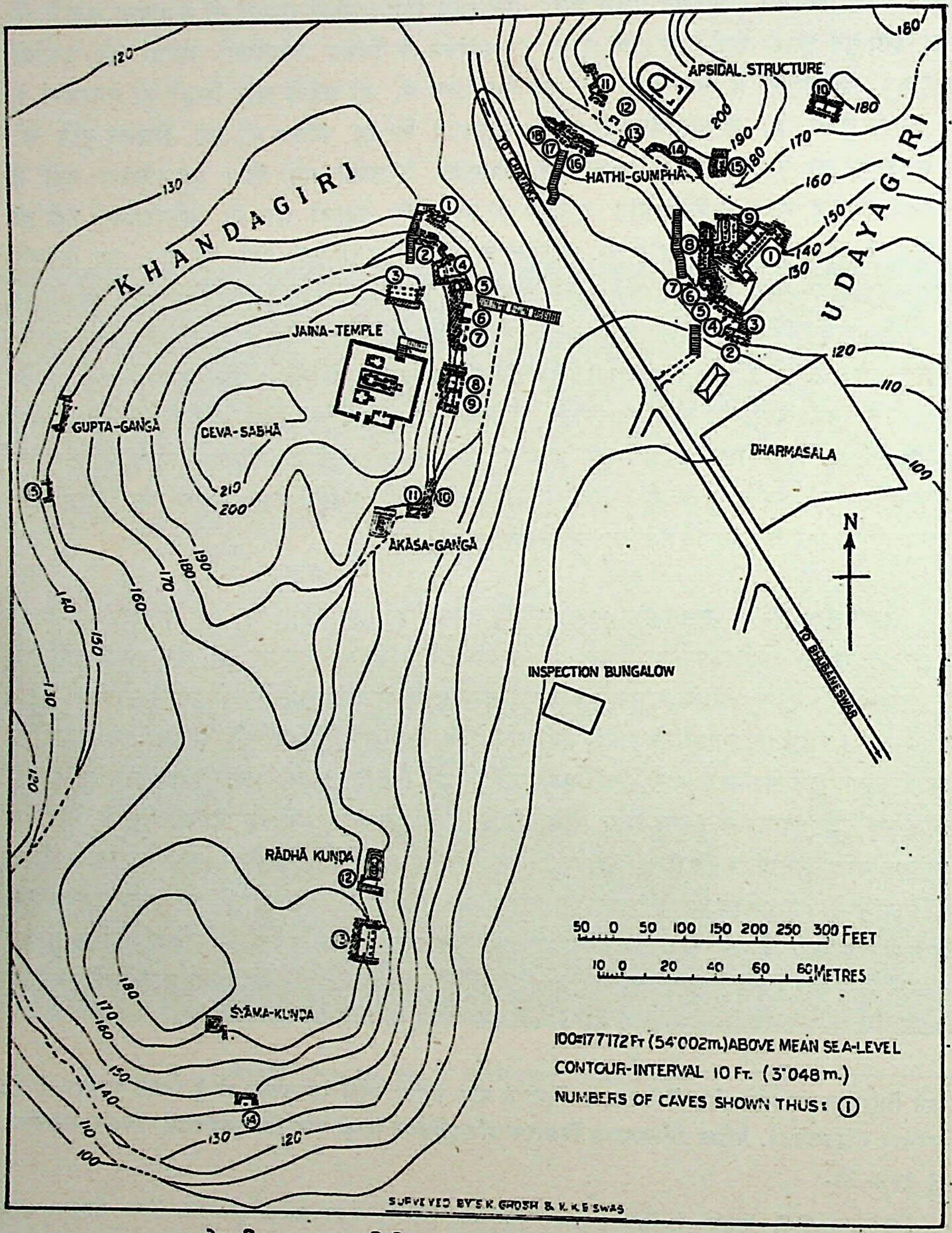
KHANDAGIRI
UDAYAGIRI
APSIDAL STRUCTURE
HATHI-GUMPHA
JAINA-TEMPLE
GUPTA-GANGA
DEVA-SABHA
AKASA-GANGA
DHARMASALA
INSPECTION BUNGALOW
TO BHUBANESWAR
RĀDHĀ KUNDA
SYĀMA-KUNDA
N
50 0 50 100 150 200 250 300 FEET
10 0 20 40 60 80 METRES
100=177.172 Ft (54.002m.) ABOVE MEAN SEA-LEVEL
CONTOUR-INTERVAL 10 Ft. (3.048 m.)
NUMBERS OF CAVES SHOWN THUS: ①
SURVEYED BY S.K. GHOSH & K.K. BISWAS

रेखाचित्र 3. उदयगिरि एवं खण्डगिरि : गुफाओं की रूपरेखा

लोग स्वर्गपुरी कहते हैं) के मुखभाग पर निर्मित समर्पणात्मक शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस तल का निर्माण खारवेल की पटरानी की दानशीलता के कारण हुआ था। इस गुफा के निचले तल (जिसे स्थानीय लोग मंचपुरी कहते हैं) की कोठरियों मे से दो महाराज कुदेप (या वक्रदेव) और राजकुमार वडुख (उवडुख) के द्वारा समर्पित की गयी थीं। कुदेप खारवेल का उत्तराधिकारी रहा प्रतीत होता है। सामान्यतः गुफाओं का उत्खनन शीर्षभाग से प्रारंभ हुआ है, ऊपरी तल पर खारवेल का समर्पणात्मक शिलालेख निचले तल से पहले का प्रतीत होता है।

यद्यपि अधिकांश गुफाओं का उत्खनन महामेघवाहन शासकों के राज्यकाल (प्रथम शती ई० पू० और प्रथम शती ई०) में हुआ था, कुछ का निर्माण उनसे भी पहले हुआ होगा। इस काल की एक भी गुफा मंदिर के रूप में नहीं वनायी गयी। सभी गुफाओं का निर्माण जैन मुनियों के लिए विहारों के रूप में किया गया है। यह तथ्य कि गुफा-कक्षों की आयोजना विहारों के रूप में हुई थी, इस वात से प्रमाणित होता है कि पृष्ठभाग में इनके फर्श का आरंभ ढलान से होता है और फिर एक ओर की भित्ति से दूसरी ओर की भित्ति तक वढ़ता जाता है ताकि वह लगातार तकिये का काम दे सके। बहुत समय पश्चात् इनमें से कुछ आवासीय कक्ष प्रस्तर-शिल्पांकित तीर्थंकर-मूर्तियों तथा कुछ अन्य लघु परिवर्तनों और परिवर्धनों के साथ मंदिरों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये।

इन विहारों का निर्माण किसी सुव्यवस्थित तथा योजनाबद्ध रूपरेखा (रेखाचित्र ३) के अनुसार नहीं हुआ। उनका निर्माण विभिन्न ऊँचाइयों पर किया गया। चट्टान की रूपरेखा का अनुसरण कर तथा विभिन्न कक्षों को एक दूसरे से संबद्ध करने के लिए आवश्यकतानुसार चट्टान में ही सीढ़ियाँ काटकर शिल्पकारों ने श्रम और धन दोनों की ही वचत की थी। गुफाओं के ऊपर भार कम करने के विचार से उनकी एक इच्छा यह भी रही होगी कि खुदाई शिलाखण्ड के ऊपरी भाग के समीप की जाये, क्योंकि इस पहाड़ी का वलुआ पत्थर जल्दी टूट जानेवाला पत्थर है।

अपने आत्मनिग्रह के लिए विख्यात जैन मुनियों के निवास के लिए निर्मित इन गुफाओं में सुख-सुविधाएँ बहुत ही कम थीं। उदयगिरि पहाड़ी की अधिकांश गुफाओं, जिनमें विशेष रूप से बड़ी रानीगुम्फा (गुफा १, चित्र २५) भी सम्मिलित है, की ऊँचाई इतनी कम है कि कोई व्यक्ति उनमें सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता। शेष गुफाएँ मनुष्य की ऊँचाई से थोड़ी ही बड़ी हैं। कुछ गुफाएँ इतनी सँकरी हैं कि कोई भी व्यक्ति उनमें पैर नहीं पसार सकता। प्रवेशद्वार निश्चय ही बहुत छोटे हैं और इन कोठरियों में प्रवेश करने के लिए लगभग रेंगना ही पड़ता है। कोठरियों में देवकुलिकाएँ नहीं बनायी गयी थीं। धर्मशास्त्र और नितांत आवश्यक वस्तुएँ रखने के लिए बरामदे की पार्श्व भित्तियों में ही शिला-फलक उत्कीर्ण किये गये हैं। कोठरियों का अंतरिम भाग अत्यधिक सादा है। किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानों पर उनके मुखभाग एवं बरामदों की छतों को सहारा देनेवाले टोड़ों को शिल्पांकन तथा मूर्तियों से सजाया गया है (चित्र ३३)।

एक पूर्ण विकसित विहार में एक या उससे अधिक कोठरियाँ होती हैं, जिनके आगे एक बरामदा होता है। कहीं-कहीं बरामदों के सामने आँगन के लिए समतल की हुई भूमि है, यथा उदयगिरि की गुफाएँ सं० १ (रानी गुम्फा, चित्र २५), सं० ९ (मंचपुरी और स्वर्गपुरी, चित्र २३) और १० (गणेश गुम्फा) तथा खण्डगिरि की गुफा सं० ३ (अनन्तगुम्फा, चित्र २६ और २७)। बरामदों के एक, दो या तीन ओर पंक्तिबद्ध कोठरियाँ हैं। प्रायः एक कोठरीवाली रूपरेखा अधिक पायी जाती है। रानीगुम्फा की विशेषता यह है कि इसमें मुख्य स्कंध के समकोण की स्थिति में कोठरियों के दो छोटे स्कंध हैं जिनके सामने बरामदा है और भूतल पर दो छोटे रक्षा-कक्ष हैं। सामान्यतः ऊपरी तल निचले तल पर आधारित नहीं है, अपितु पीछे हटकर बनाया गया है। ऐसा प्रबंध या तो भार कम करने के लिए या फिर शिलाखण्ड की ढलवाँ रूपरेखा के कारण अथवा दोनों बातों को ध्यान में रखकर किया गया है। स्वर्गपुरी के सामने खुले स्थान में एक शैलोत्कीर्ण वेदिका (चित्र २३) आगे को निकली हुई है, जो एक छज्जे का आभास देती है।

कुशल मिस्त्रियों और अभियंताओं (इंजीनियरों) के स्थान पर, जिनकी किसी भी स्थापत्य कृति के लिए आवश्यकता होती है, शिल्पियों और मूर्तिकारों द्वारा चट्टानें काटकर काष्ठ, बाँस और छप्पर से निर्मित भवनों या आवासों का अनुकरण करके बनायी गयी ये गुफाएँ जैन स्थापत्यकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। तत्कालीन जैन भवनों के नितांत अभाव के कारण उनका महत्त्व और बढ़ गया है। इनकी खुदाई करनेवालों ने चट्टानों में उन्हीं भवनों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया, जिनसे वे परिचित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लकड़ी, खपरैल और छप्परवाले भवनों में विशेष रूप से पाये जानेवाले लक्षणों को इनमें उतारा गया। यद्यपि ऐसा करना स्थायित्व की दृष्टि से निरर्थक और अनावश्यक था। इस प्रकार कोठरियों की छतें कहीं-कहीं तोरणाकार और झोंपड़ी के सदृश उन्नतोदर हैं; टोड़ों पर टिकी हुई बरामदों की छतें और स्तंभों पर आधारित सरदल, बाँस और लकड़ी से निर्मित झोंपड़ी के सदृश कोठरियों की अपेक्षा बहुत अधिक नीचे हैं। इसी प्रकार बरामदों के फर्श भी कोठरियों के धरातल से नीचे हैं। बरामदों की छतें परनाले के रूप में बाहर निकली हुई हैं और इन परनालों का अंतरिम भाग छप्परवाली या लकड़ी की झोंपड़ियों के समान इस प्रकार मुड़ा हुआ है कि बरसाती पानी आसानी से निकल जाये। द्वार-स्तंभ भीतर की ओर झुके हुए हैं जिनके कारण प्रवेशमार्ग नींव के स्थान पर ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक चौड़ा है जो चिनाई या प्रस्तर-शिल्प के लिए उपयुक्त नहीं है।

कोठरियों में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था है; न केवल इसलिए कि उनके द्वार सीधे बरामदे की ओर या फिर बिलकुल खुले में खुलते हैं, अपितु दरवाजों की अधिकता के कारण भी यह संभव हो सका है, जिनकी संख्या कोठरियों के आकार के आधार पर एक से चार तक है। कुछ बहुत विरल उदाहरणों में गवाक्षों की भी व्यवस्था है। दरवाजों की बाहरी चौखटों में चारों ओर छेद बनाये गये हैं ताकि उनमें घूमनेवाले लकड़ी के कपाट लगाये जा सकें। कहीं-कहीं कब्जों के लिए भी अतिरिक्त छेद बनाये गये हैं—देहरी और सरदल में एक-एक—ताकि उनमें एक ही कपाट लगाया जा सके।

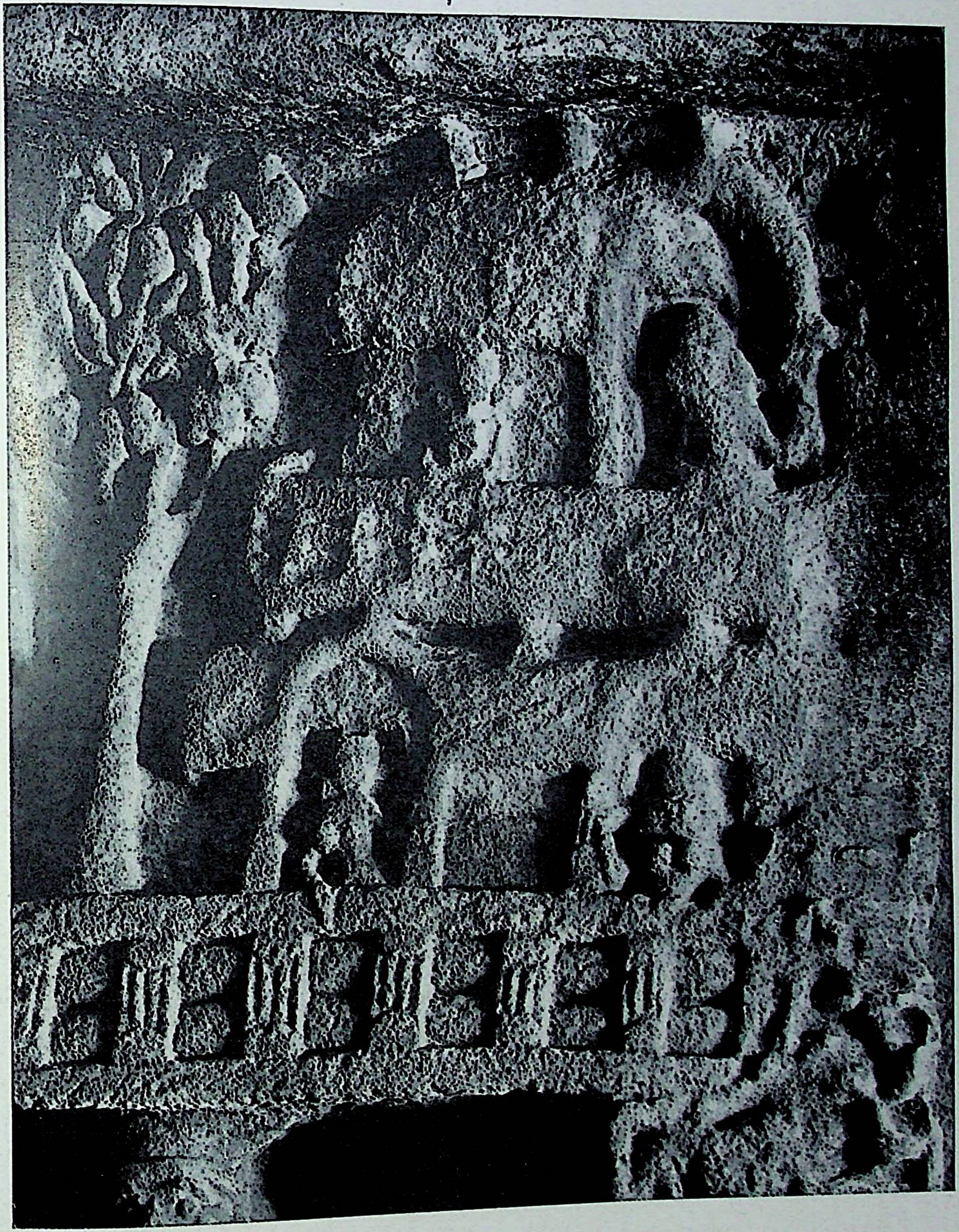

उदयगिरि — गुफा सं०1, निचला तल, मुख्य भाग, द्वितल भवन का शिल्पांकन

चित्र 29

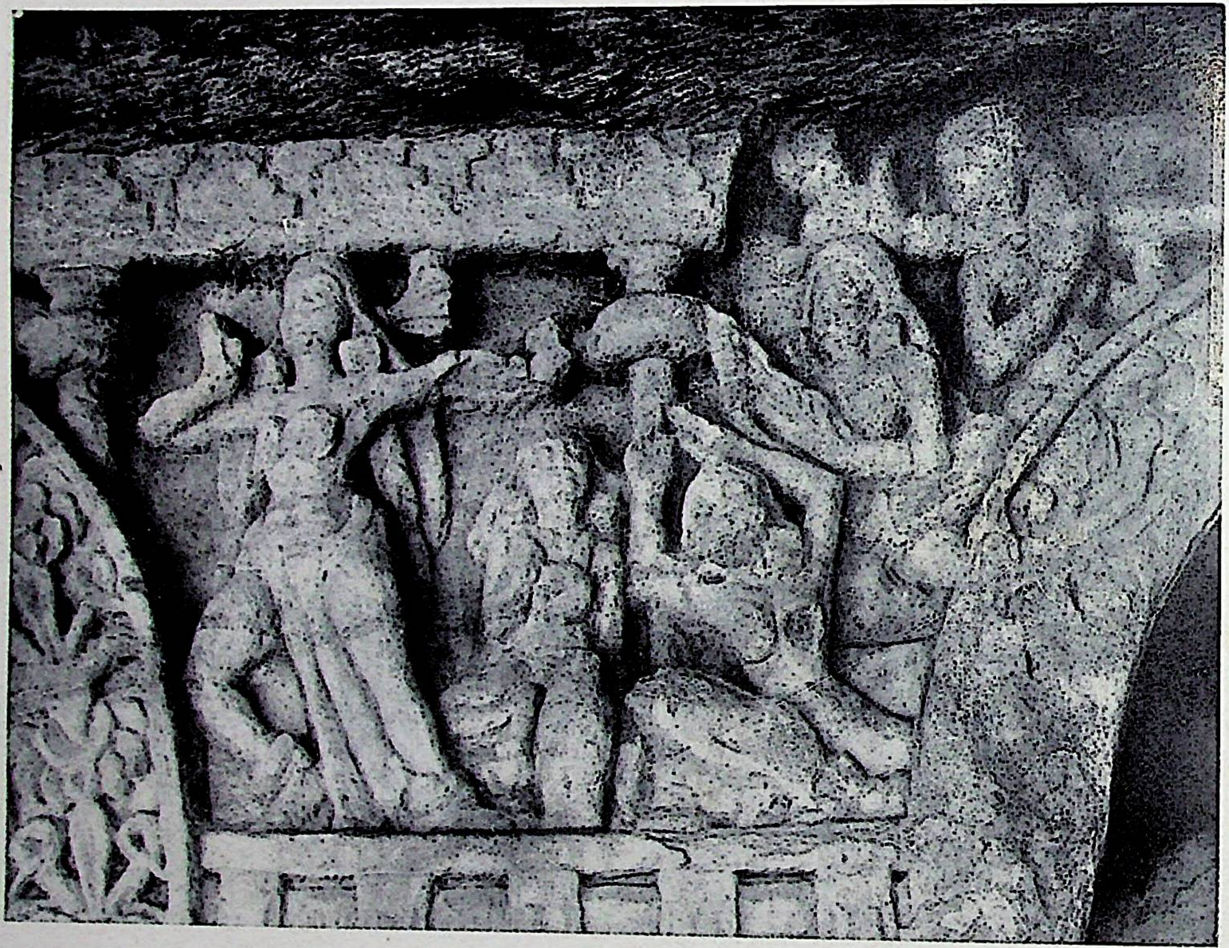

उदयगिरि — गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति, संगीतकारों से घिरी नर्तकी

चित्र 30

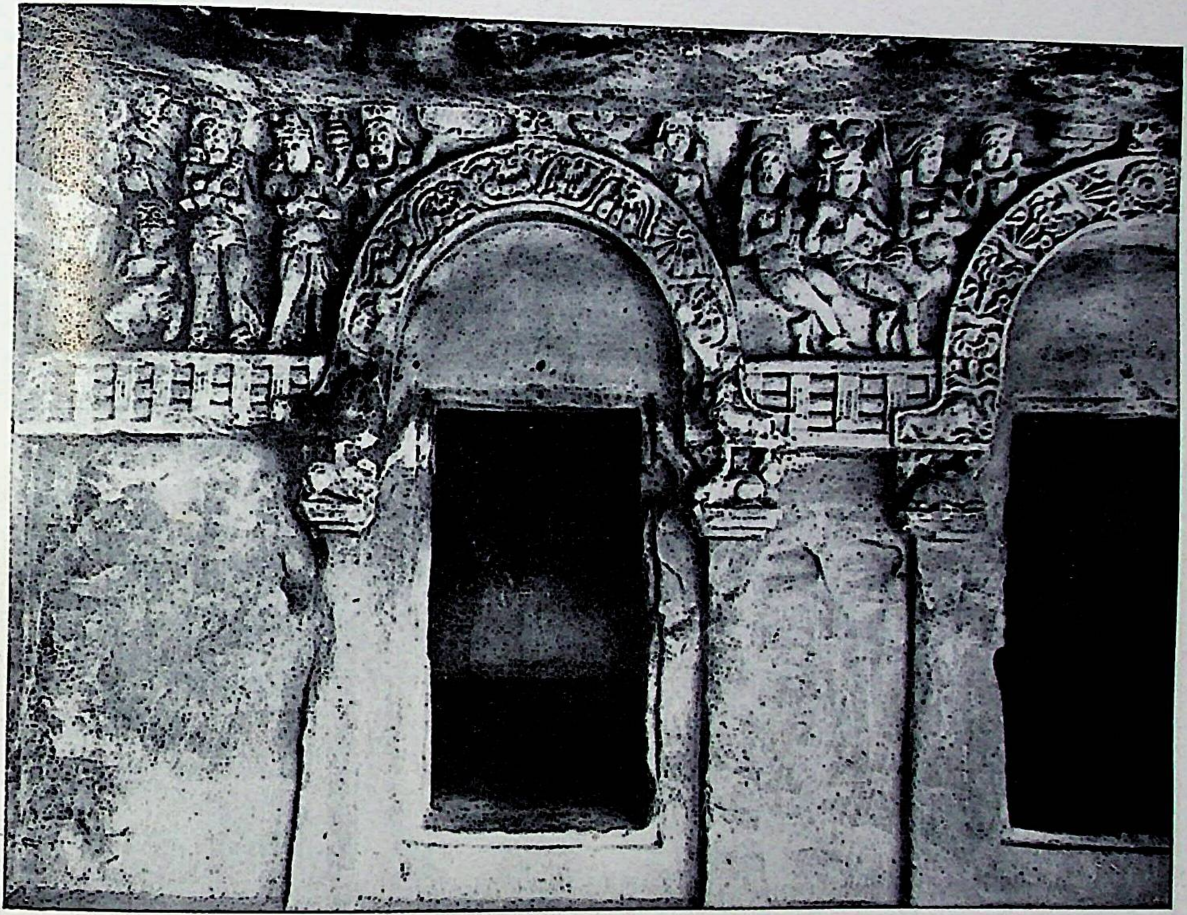

उदयगिरि — गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियां

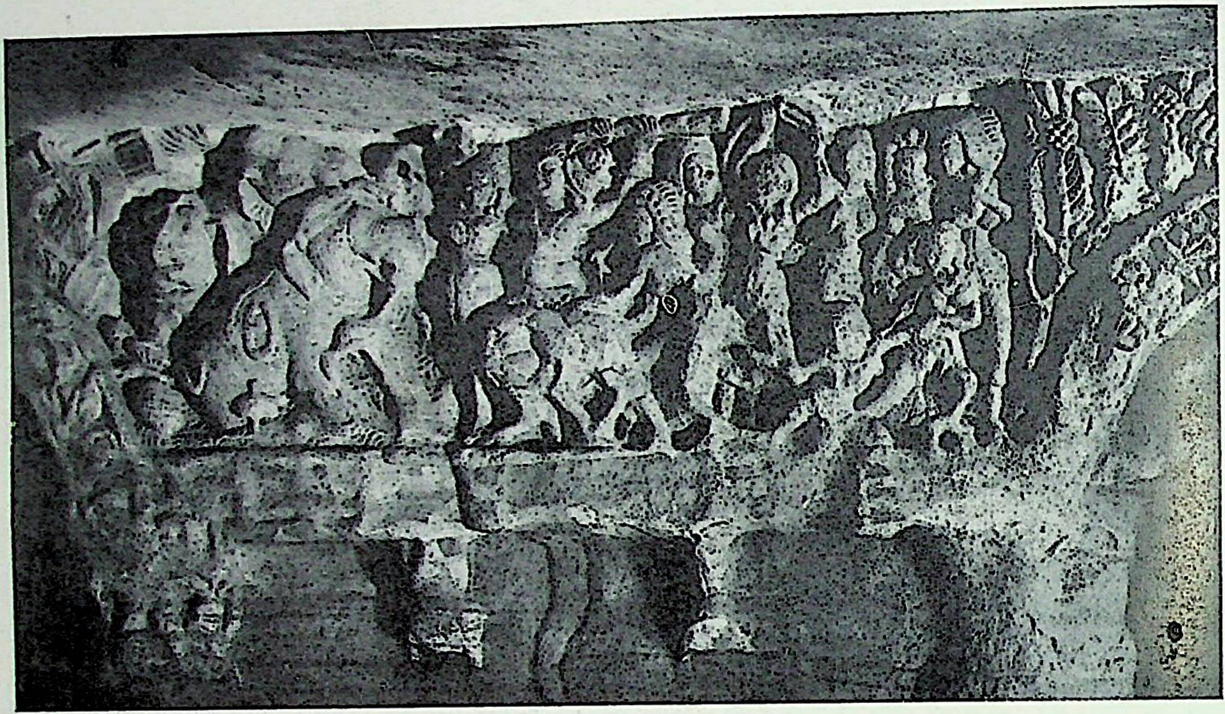

(क) उदयगिरि — गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियां

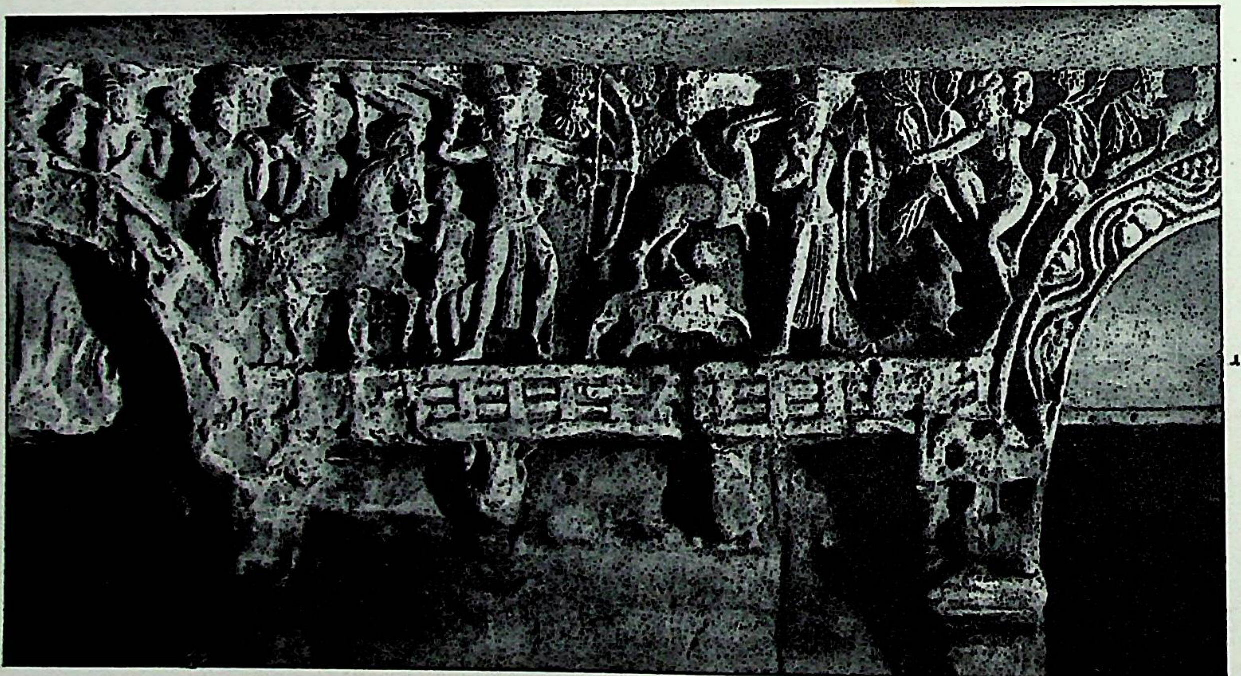

(ख) उदयगिरि — गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियां

चित्र 32

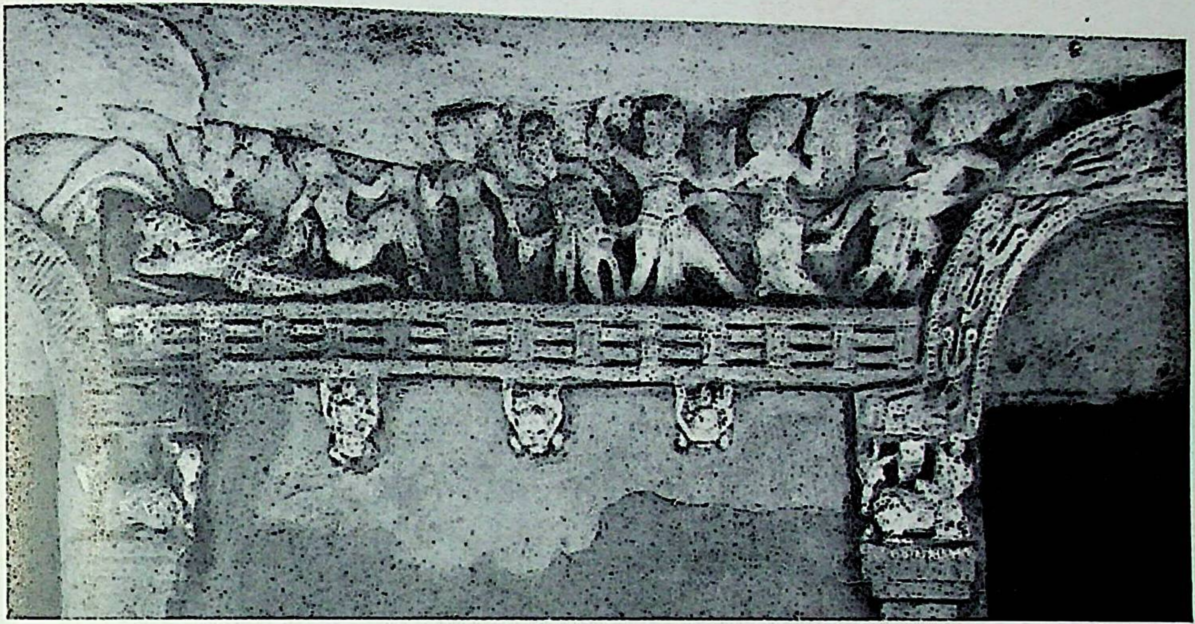

(क) उदयगिरि — गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियां

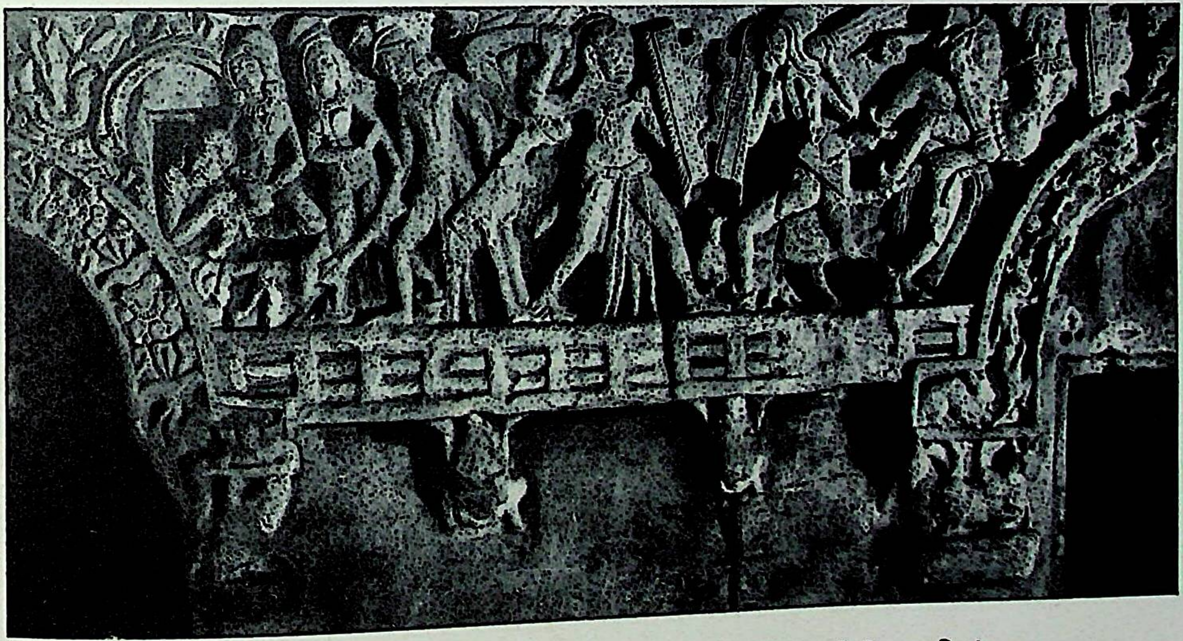

(ख) उदयगिरि — गुफा सं० 10, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियां

चित्र 33

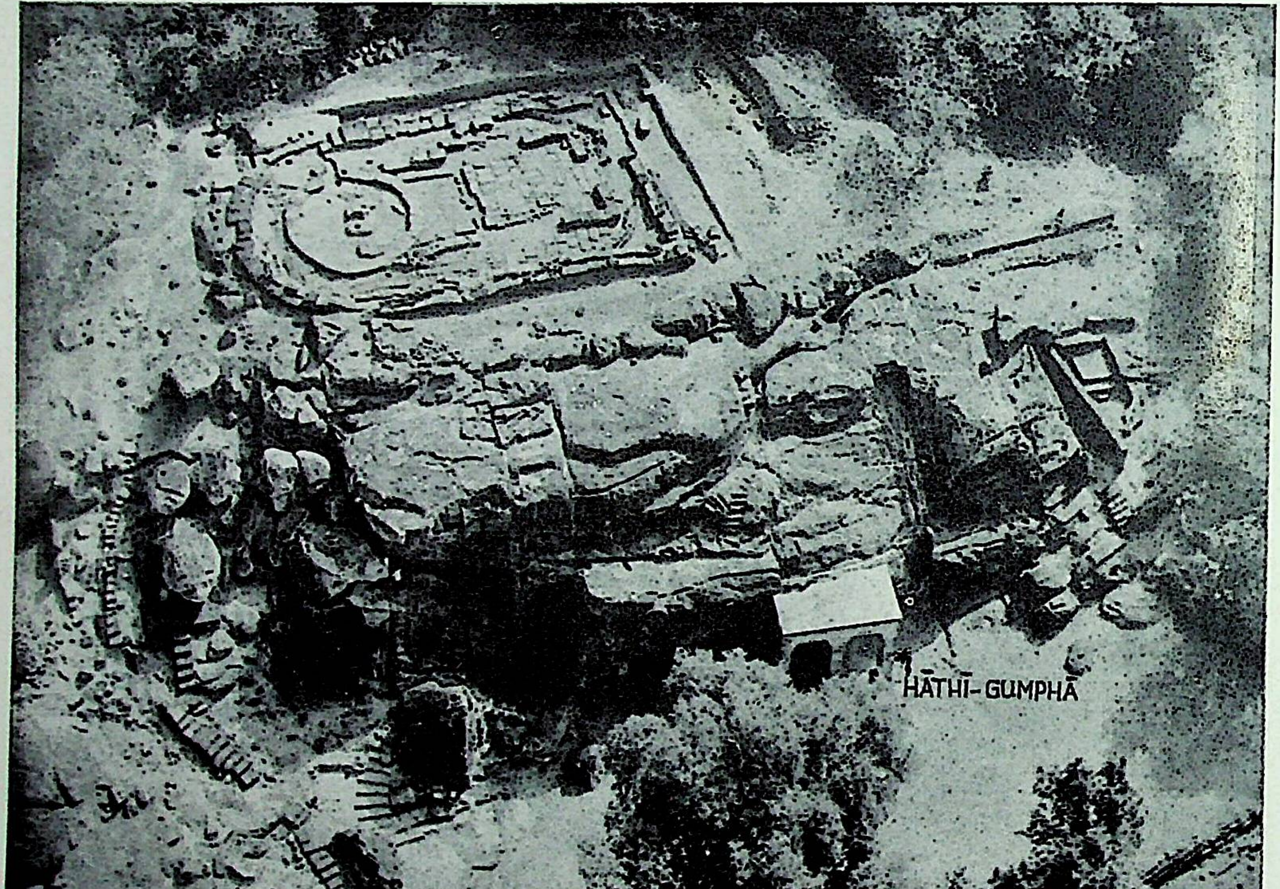
HĀTHĪ-GUMPHĀ

उदयगिरि — पर्वत शिखर पर अर्धवृत्ताकार मन्दिर

चित्र 34

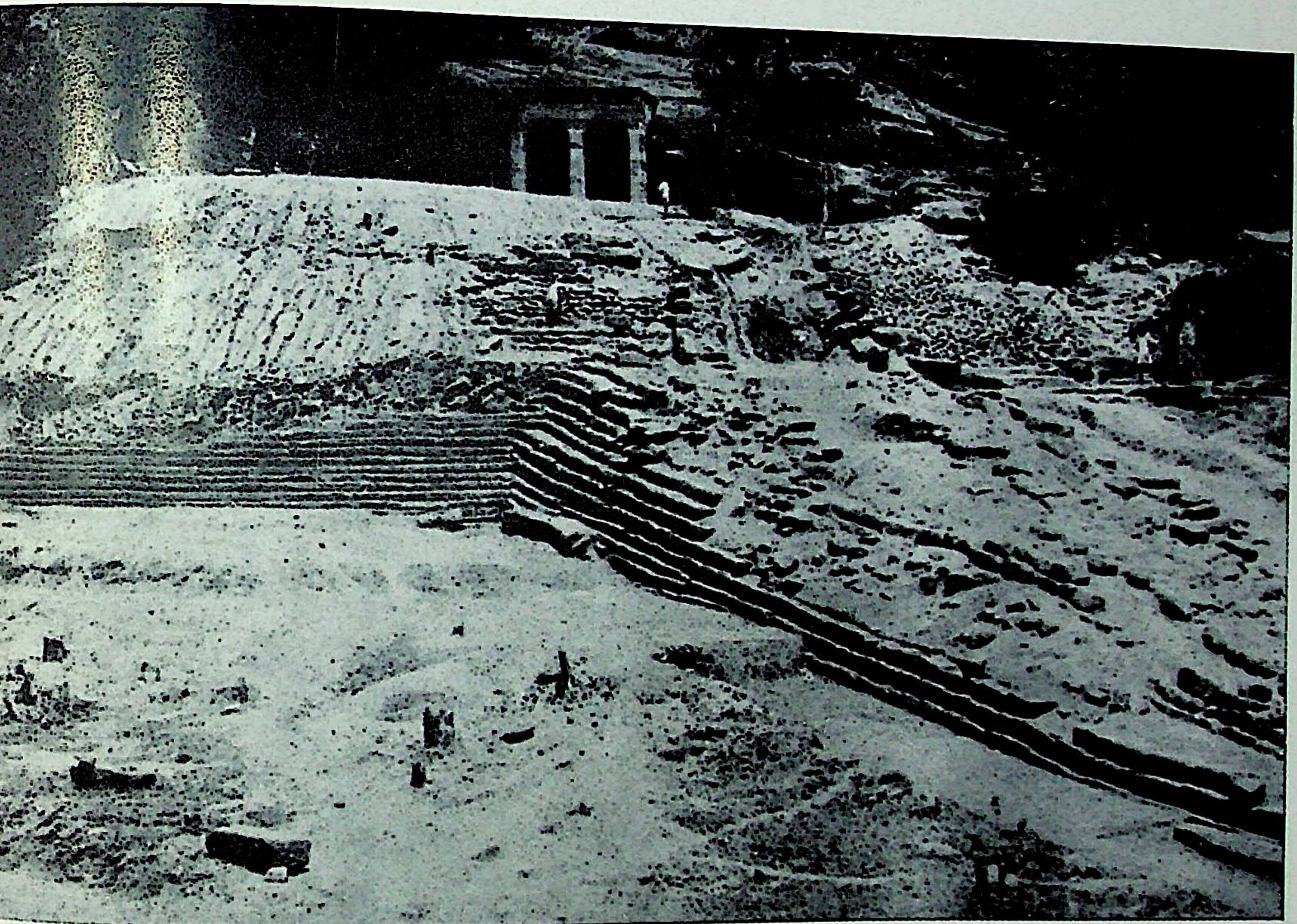

उदयगिरि — पर्श्व भित्ति से सधा हुआ ढलुवां मार्ग

चित्र 35

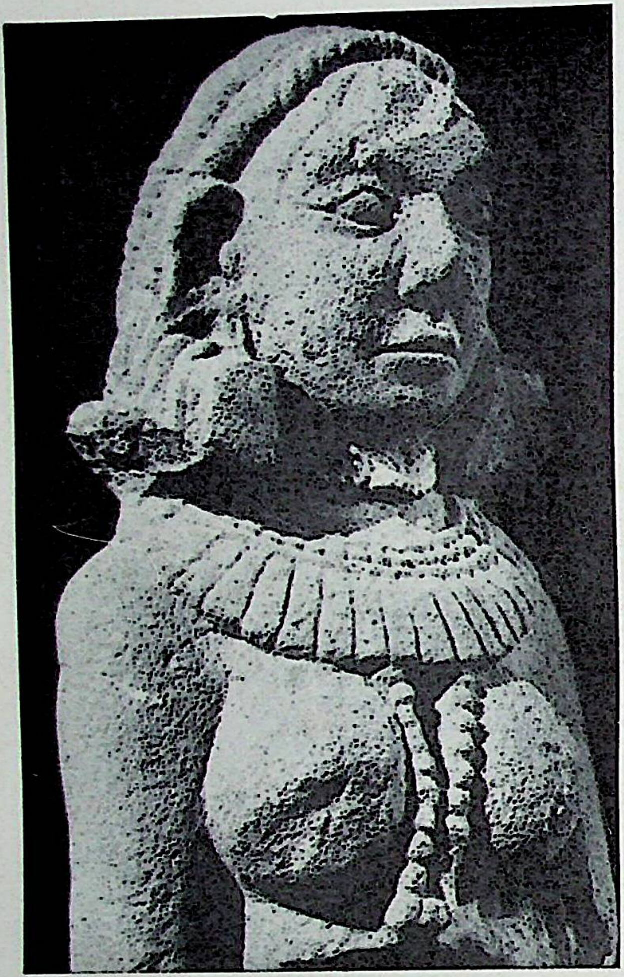

(क) उदयगिरि — यक्षी

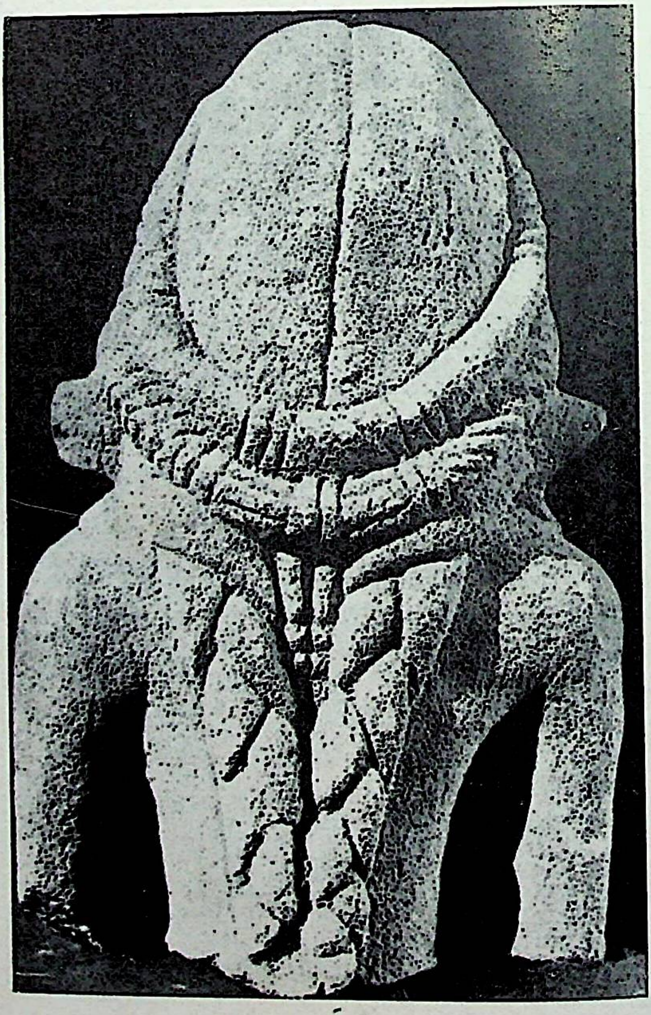

(ख) उदयगिरि — यक्षी, पृष्ठ भाग

चित्र 36

कुछ स्थानों पर सीपी चूने के पलस्तर के उखड़े हुए भागों से ज्ञात होता है कि गुफाओं की भित्तियों पर कभी पलस्तर किया गया था ।

गुफाओं को दो मोटे वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहली सादी और बिना स्तंभ के बरामदेवाली; और दूसरी, सुव्यवस्थित स्तंभयुक्त बरामदेवाली । इस वर्गीकरण में कालक्रम का कोई महत्त्व है या नहीं, यह निश्चित नहीं किया जा सकता यद्यपि सामान्य आधारों पर पहले वर्ग की कुछ गुफाएं दूसरे वर्ग की गुफाओं से पहले की प्रतीत होती हैं । पहले वर्ग की गुफाएं छोटी हैं । अधिकांशतः ये सामने की ओर खुली हैं और उनमें वास्तु संबंधी कोई अलंकरण नहीं है । कुछ गुफाओं में कोठरी की छत आगे निकली हुई है, जिससे एक बरामदा-सा बन जाता है; यथा, उदयगिरि की गुफा सं० १२ (बाघ गुम्फा) । अधिकांश गुफाओं के, जो सामने से पूर्णतः खुली हुई हैं, मुखभाग पर समानांतर उरेखन देखा जा सकता है । यह ज्ञात नहीं है कि ऐसा कोठरी से बरसाती पानी बाहर निकलने के लिए किया गया था या फिर काष्ठनिर्मित कोई वस्तु रखने के लिए । इनपर शिलालेख नहीं होने के कारण इन गुफाओं की तिथि निश्चित कर सकना कठिन है ।

यदि हम दूसरे वर्ग की गुफाओं के वास्तु संबंधी लक्षणों का परीक्षण करें तो उनके पृथक्-पृथक् निर्माणकाल में अधिक अंतर प्रतीत नहीं होता । स्थापत्य की दृष्टि से ये गुफाएं एक समरूप वर्ग की हैं, जिनमें विकास की कोई उल्लेखनीय प्रगति परिलक्षित नहीं होती । सभी की विशेषता है एक प्रस्तर-पीठयुक्त बरामदा । इनके स्तंभ एक ही प्रकार के हैं, जो नीचे और ऊपर वर्गाकार हैं तथा मध्य में अष्टकोणाकार हैं । वर्गों के कोण इस प्रकार ढलुवाँ बने हैं कि संक्रमण स्थलों पर (चित्र २३) अर्धवृत्त बन गये हैं । कोठरियों के मुखभागों, भित्ति-स्तंभों, तोरणों और वेदिकाओं (चित्र ३१) के अलंकरण एक जैसे हैं, कहीं-कहीं गोटों की संरचना अर्धगोलाकार छतों के समान है । इनमें से कोई भी किसी विशिष्ट स्थापत्य परंपरा का आभास नहीं देती । उनके वास्तुशिल्पीय लक्षणों और शिलालेखों की पुरालिपि के आधार पर उनका निर्माणकाल ईसा-पूर्व प्रथम शती तथा कुछ-कुछ दूसरी शती में भी संभव माना जा सकता है ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है (पृष्ठ ७९), इस युग की सभी शैलोत्कीर्ण गुफाएं जैन मुनियों के आवास हेतु बनायी गयी थीं और उनमें से किसी का भी निर्माण मंदिर के रूप में नहीं किया गया था । इससे स्पष्ट है कि पूजा के लिए इन पहाड़ियों के ऊपर कोई पृथक् निर्मित-भवन अवश्य रहा होगा । सौभाग्य से, प्रस्तुत पंक्तियों की लेखिका द्वारा उदयगिरि पहाड़ी की ऊबड़-खाबड़, ढलुवाँ और संकुचित चोटी पर, खारवेल के शिलालेखवाली शिला की चोटी के ठीक ऊपर, थोड़ी खुदाई करवाने पर एक बृहत् अर्धवृत्ताकार भवन (रेखाचित्र ४, चित्र ३४) का निचला भाग दृष्टिगोचर हुआ । निस्संदेह यह भाग ही पूजा का स्थान था ।

खुदाई करने पर इस भवन की बाहरी भित्ति की अक्षवत् लंबाई २३.७७ मीटर और आधारिक चौड़ाई १४.६२ मीटर पायी गयी । यह कंकरीले शिलापट्टों से बनी है जिसके अधिकतम आठ

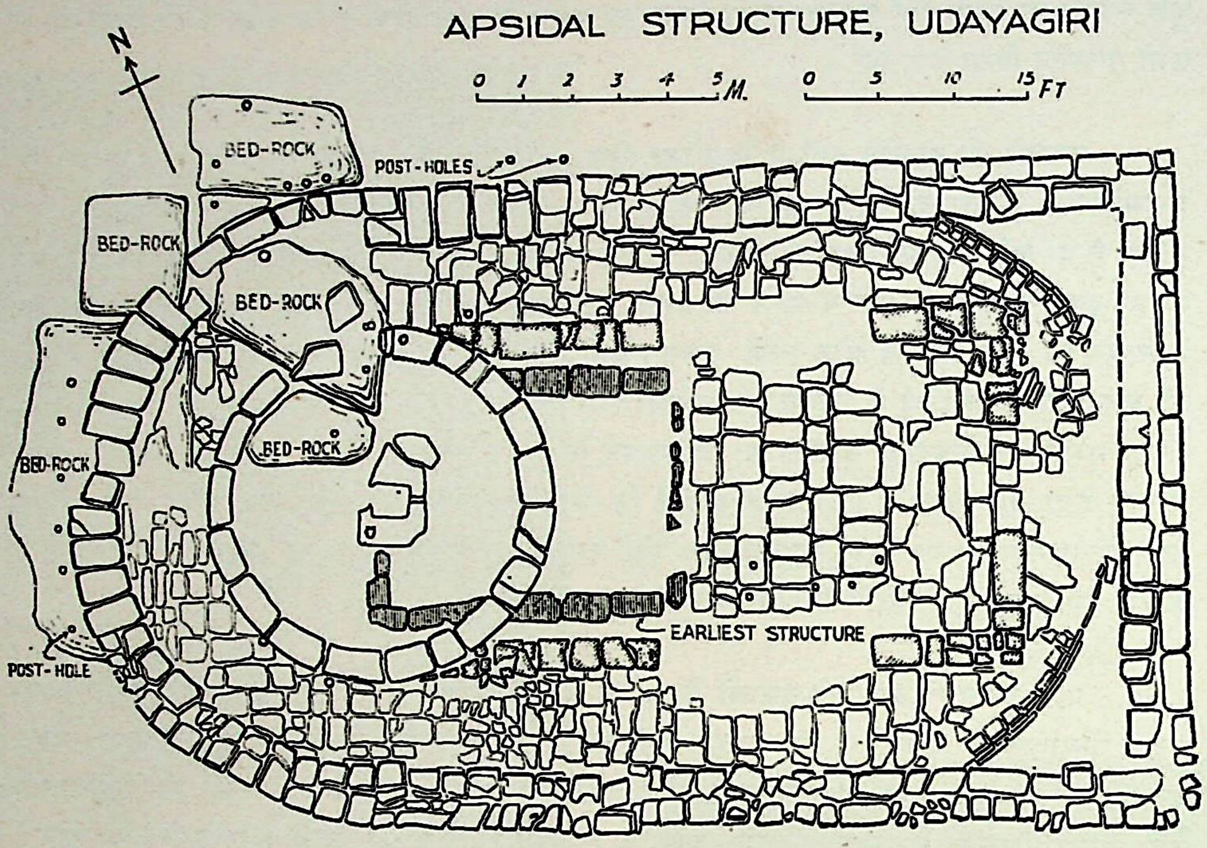
APSIDAL STRUCTURE, UDAYAGIRI
0 1 2 3 4 5 M.
0 5 10 15 FT
N
BED-ROCK
POST-HOLES
BED-ROCK
BED-ROCK
BED-ROCK
BED-ROCK
EARLIEST STRUCTURE
POST-HOLE

रेखाचित्र 4. उदयगिरि : पहाड़ी अधित्यका पर अर्धवृत्ताकार भवन की रूपरेखा

स्तर (रद्दे) मिले हैं। भवन के भीतर उसके अर्धवृत्ताकार सिरे पर एक वर्तुलाकार भित्ति बनी हुई थी जिसका अब कंकरीले शिलाफलकवाला केवल एक ही स्तर (रद्दा) शेष रह गया है। इस अर्धवृत्ताकार भवन के भीतर अधिकांश भाग कंकरीले शिलापट्टों से बनाया गया है और उसके नीचे कंकरीली मिट्टी भरी गयी है। उत्तरी किनारे की ओर, जहाँ बलुए पत्थर की तलशिला कुछ ऊँची थीं, स्वयं शिला को ही भराव (खड़ंजा) के समानांतर कर दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तर-खण्डों को जोड़कर बनाया गया धरातल फर्श के उद्देश्य से नहीं बनाया गया था अपितु कुछ ऊँचा बनाया गया था ताकि वह तलशिला और प्रस्तर-खण्ड दोनों को ढँक दे। संभवतः प्रस्तर-खण्डों को विछाने का उद्देश्य यह था कि पहाड़ी की चोटी के गढ्ढे भर जायें और एक ठोस तलवाली भूमि प्राप्त हो सके।

वृत्ताकार भित्ति के कुछ पत्थरों के वाहरी किनारे उस खड़ंजा के ऊपर आधारित थे। जो भी हो, वृत्ताकार भित्ति में इसके कोई चिह्न नहीं मिलते। अर्धवृत्ताकार भवन के ढाँचे के भीतर वृत्ताकार भित्ति के सामने भराव की आयताकार भूमि पर बनी भित्तियाँ एक कक्ष का निर्माण करती थीं यद्यपि इस कक्ष के तीन ओर की भित्तियाँ अर्धवृत्ताकार भवन के समानांतर बनी हुई थीं। वृत्ताकार भवन की ही भित्ति का एक भाग कक्ष के पीछे की भित्ति का काम देता था क्योंकि

इस ओर कोई अन्य भित्ति नहीं थी । कटावदार किनारोंवाली इस कक्ष की पार्श्वभित्तियों के सिरे वृत्ताकार भित्ति से इतने सुसंवद्ध रूप से जुड़ते थे कि दोनों की वाह्य योजना अर्धवृत्ताकार हो जाती थी । इसकी अंतरंग संरचना बराबर-पहाड़ियों (बिहार) की सुदामा गुफा और कोण्डिवटे (महाराष्ट्र) के चैत्यगृह से मिलती-जुलती है । इन दोनों की भित्तियों की उपयुक्त जुड़ाई के अभाव में लेखक ने पहले यह समझा था कि आयताकार कक्ष, जिसकी भित्तियाँ वृत्ताकार भित्ति के समीप हैं, वृत्ताकार भित्ति के उपरांत निर्मित किया गया है । जो भी हो, भुवनेश्वर के अनेक मंदिरों के सादृश्य के आधार पर, जहाँ गर्भगृह के अग्रभाग की भित्ति के समीप द्वारमण्डप की भित्तियाँ बिना उपयुक्त जुड़ाई के बनी हैं, अब यह स्वीकार किया जाता है कि कक्ष और वृत्ताकार भित्ति दोनों ही समकालीन हैं । आयताकार कक्ष की तीन भित्तियों के मध्य में एक खुला स्थान है, जो संभवतः द्वारों के लिए रखा गया होगा ।

क्योंकि वृत्ताकार भित्ति खुदाई करने पर एक रद्दे (स्तर) तक ही सीमित हो गयी है, उसकी ठीक-ठीक रचना और उपयोग का निश्चय कर पाना कठिन है । जो भी हो, इस पूरे भवन-समूह की संरचना बौद्ध चैत्यगृहों, उनके अर्धवृत्तों, उनकी मध्य तथा पार्श्ववीथियों से इतनी मिलती-जुलती है कि यह बहुत संभव है कि वृत्ताकार भित्ति अर्धवृत्ताकार रचना के गर्भगृह के रूप में उपयोग में आती थी और आयताकार कक्ष सभामण्डप या मध्यवीथि का काम देता था । इस समता के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उनकी बाहरी भित्तियों और बाहरी वृत्ताकार भित्ति के अंतरंग सिरों के बीच के स्थान का उपयोग प्रदक्षिणापथ की पार्श्ववीथियों के रूप में होता था ।

अर्धवृत्ताकार भवन की नींव के पास कंकरीले भूखण्डों के किनारों पर निर्मित तथा किंचित् पीछे की ओर झुकी हुई दो अर्धवृत्ताकार आधार-भित्तियों का निर्माण संभवतः आयताकार कक्ष की दो पार्श्व भित्तियों के नीचे प्रस्तर-खण्डों द्वारा भरे गये गहरे भराव की सुरक्षा के लिए किया गया था ताकि वे ढह न जायें ।

यह असंभव नहीं है कि भवन के चारों ओर बाड़ लगी हुई थी क्योंकि हाथीगुम्फा के सामने चबूतरे के पास पाये गये मलबे के बीच में बलुए पत्थर के कुछ उत्कीर्णित वेदिकास्तंभ मिले हैं ।

अर्धवृत्ताकार भवन की बाहरी रूपरेखा का मोटा अनुमान रानीगुम्फा के धरातल के मुख-भाग पर किये गये शिल्पांकनों (चित्र २१) के उत्तरी भाग से किया जा सकता है ।

अर्धवृत्ताकार भवन की बाहरी भित्ति के चारों ओर तलशिला में लगभग नियमित अंतर पर अनेक छिद्र थे । स्पष्टतः इनमें स्तंभ लगाये जाते थे । यह ज्ञात नहीं है कि ये स्तंभ बाड़ में प्रयुक्त होने के कारण थे अथवा इतने लंबे थे कि किसी सरदल को (जिसके शीर्षभाग से परनाला निकला है) आधार दे सकें ।

अर्धवृत्ताकार भवन के उत्तरी सिरे पर तलशिला को काटकर और भराव के समानांतर कंकरीले शिलाखण्डों से ढँककर नाली बनायी गयी थी जो पानी के प्रवाह को बाहर निकाल दे।

वृत्ताकार भवन के कुछ नीचे, और दिखने में उससे असंवद्ध, एक छोटा आयताकार कक्ष था, जिसके कंकरीले शिलाखण्डों का एक रद्दा (स्तर) अब शेष है। प्रतीत होता है कि इस स्थल पर यह पहला भवन था।

निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि वृत्ताकार गर्भगृह में प्रतिष्ठापित वस्तु स्तूप थी, मंगल-प्रतीक था या तीर्थंकर की प्रतिमा थी। इनमें से तीसरा विकल्प स्वयं ही प्रमाणित नहीं होता क्योंकि इन गुम्फाओं के मूल शिल्पांकन में तीर्थंकरों की आकृतियों का सर्वथा अभाव है। इसके विपरीत हमें खण्डगिरि की गुफा सं० ३ (अनंत गुम्फा) और उदयगिरि की गुफा सं० ५ (जयविजय गुम्फा) के मुखभागों पर कल्पवृक्ष (चित्र २७) के पूजन का अंकन मिलता है। साथ ही, खण्डगिरि गुम्फा सं० ३ की पिछली भित्ति पर उकेरे हुए पादपीठ पर एक नन्दिपथ उत्कीर्ण है जिसके पार्श्व में दोनों ओर तीन प्रतीक—त्रिकोण शीर्षयुक्त प्रतीक, श्रीवत्स और स्वस्तिक हैं। इन सबका अंकन मथुरा के आयाग-पटों में हुआ है। उदयगिरि की गुम्फा सं० ६ (मंचपुरी) के मुखभाग पर अंकित जिस उपास्य-निर्मिति की पूजा एक राजपरिवार कर रहा है वह निश्चय ही तीर्थंकर की प्रतिमा नहीं है, यद्यपि विकृति के कारण उसकी सही पहचान संभव नहीं है। विकृत बिम्ब (जो आकार में कुछ वेलनाकार है) के ऊपर कदाचित् एक छत्र है जो एक ऊँचे और संभवतः गोल मंच पर रखा है।

पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर और गर्भगृह की वृत्ताकार आयोजना को ध्यान में रखकर यह जान पड़ता है कि उपास्य वस्तु या तो स्तूप या फिर वृत्ताकार पादपीठ पर रखा हुआ पावन प्रतीक रही होगी। एक उल्लेखनीय लक्षण, जिसकी व्याख्या साक्ष्य के अभाव में संभव नहीं है, वृत्ताकार भवन के बीच में एक अपरिष्कृत खण्डित शिला थी जिसपर थे वर्गाकार उकेरनी तथा छेनी के चिह्न। कोटर में मूलतः पुरावशेष थे या यह छत्रदण्ड का आधार था या फिर पवित्र चिह्न की चूल, यह अब केवल अनुमान का विषय रह गया है।

हाथीगुम्फा के सामने की गयी व्यवस्था से प्रमाणित होता है कि वृत्ताकार भवन का यह बिम्व अत्यंत पुनीत था और यात्रियों को आकर्षित करता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उदयगिरि की चोटी सँकरी है। वस्तुतः अर्धवृत्ताकार भवन पहाड़ी के इस विशिष्ट भाग को लगभग पूरा ही इस प्रकार आवृत्त करता है कि बचा हुआ शेष स्थान इतना चौड़ा नहीं रहा कि वहाँ बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो सकें। हाँ, कभी-कभी लोगों के एकत्र होने पर आवश्यक स्थान की व्यवस्था करने के लिए हाथीगुम्फा के सामने गुम्फा सं० ६ और १७ की ओर की भित्तियों के निकट आवश्यक भराई करवाकर एक अस्थायी चबूतरा वना लिया जाता था। इस चबूतरे पर पहुँचने के लिए एक ढलुवाँ मार्ग (चित्र ३५) बनाया जाता था जो क्रमशः पहाड़ी की तलहटी

से चबूतरे तक ऊंचा होता जाता था। दोनों ओर आधार-भित्तियों पर सधा हुआ और कंकरीले शिलापट्टों से आच्छादित यह ढलुवाँ मार्ग एक रथ के सरलता से निकलने के लिए भी पर्याप्त चौड़ा था।

गुफा सं० १७ में प्रवेश की सीढ़ियों के पास चबूतरे की आधार-भित्तियों के किनारे के मलवे में उत्कीर्ण वेदिकाओं के कुछ टुकड़े और उकेरी हुई स्त्री-मूर्ति का ऊपरी भाग (चित्र ३६) मिला था। ये सब बलुए पत्थर से निर्मित पहली शती ई० पू० के थे।

अपनी आयोजना के कारण अर्धवृत्ताकार भवन अपने ढंग का एक ही है जिसका उदाहरण अभी तक उड़ीसा के परवर्ती मंदिरों में नहीं मिल सका है। आयोजना से स्वतः उसकी प्राचीनता का ज्ञान होता है। जो भी हो, इस भवन की तिथि अनिश्चित है, किन्तु पारिस्थितिक साक्ष्य से अनुमानित की जा सकती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह भवन पहाड़ी की चोटी पर बना है जिसके ठीक नीचे की गुफा (हाथीगुम्फा, गुफा सं०१४) के ऊपरी सिरे पर खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख उत्कीर्ण है जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त वह अपने क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, जिनमें पहाड़ी (आधुनिक उदयगिरि) पर गुफाओं का उत्खनन, एक प्रस्तर-भवन और स्तंभ का निर्माण सम्मिलित है। स्थापत्य की दृष्टि से हाथीगुम्फा महत्त्वहीन है। वस्तुतः यह असमान आकार की एक बड़ी प्राकृतिक गुफा है, जिसकी पार्श्वभित्तियों के छेनी से काटे-सँवारे पृष्ठभाग यह दर्शाते हैं कि मानव ने यहाँ यदा-कदा आयोजित संगीतियों के लिए एक विहार के रूप में उनका विकास कर लिया था। भित्तियों पर कुछ नाम खुदे हैं जो सम्भवतः तीर्थयात्रियों के हैं, इनमें से कुछ गुप्त-कालीन लिपि में हैं। इतनी महत्त्वहीन गुफा के शीर्ष पर एक शक्तिसंपन्न शासक के महत्त्वपूर्ण अभिलेख की विद्यमानता, यह मानकर पूर्णरूपेण समझ में आ सकती है कि स्वयं खारवेल ने ही इस गुफा के ऊपर अर्धवृत्ताकार भवन का निर्माण कराया था।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, गुफाओं के अंतरिम भाग अत्यंत सादे हैं। तो भी अनेक गुफाओं की कोठरियों के मुखभाग प्रवेशद्वारों के ऊपर पशु-शीर्षयुक्त अर्धस्तंभों पर टिके हुए शिल्पांकित तोरणों (चित्र ३१) द्वारा सजाये गये हैं। शिल्पांकित तथा मूर्तियुक्त टोड़ों (चित्र ३२ और ३३) पर आधारित वेदिकाओं (चित्र २४ और ३१) और तोरणों को प्रायः एक दूसरे से जोड़ दिया गया है। कुछ गुफाओं में वेदिका-स्तंभों के ऊपरी भाग में आकर्षक शिल्पाकृतियाँ (चित्र २४, ३० और ३३ ख) हैं जिनमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दृश्य अंकित किये गये हैं। शिल्पांकनों में से कुछ की विषय-वस्तु वर्णनात्मक है (चित्र ३२ ख और ३३ ख)। अनंतगुम्फा जैसी कुछ गुफाओं के तोरण-शीर्षों पर भी शिल्पांकन हैं (चित्र २७ और २८)। स्तंभों पर आधारित, बरामदों की छतों को सहारा देनेवाले टोड़े भी शिल्पांकित तथा मूर्तियुक्त हैं। बरामदों के अर्धस्तंभों में से कुछ के सामने बृहदाकार मानवाकृतियाँ, अधिकांशतः द्वारपालों की मूर्तियाँ, उकेरी हुई हैं। मूर्त्यंकन तथा शिल्पांकन

की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध रानीगुम्फा के दो रक्षक-कक्षों के मुखभागों पर भी प्रचुर शिल्पांकन किया गया है।

साज-सज्जा में प्रयुक्त प्रायः सभी अलंकरण प्रतीक (नमूने) भरहुत और सांची में मिलते हैं जिनसे उनकी सामान्य परंपरा का आभास मिलता है। इसके साथ ही मधुमालती लता, कंगूरे तथा पंखधारी पशु-जैसे कुछ पश्चिम एशियाई कला-प्रतीकों—जिनका उस युग में भारत के अधिकांश भागों में व्यापक प्रचार हुआ था—के प्रयोग से इस संभावना का भी अंत हो जाता है कि कला-प्रतीक और कला-परंपरा का स्वतंत्र और पृथक् रूप से विकास हुआ था। अलंकरण-प्रतीकों में स्वयं ऐसे चिह्नों का अभाव है जो विशिष्ट रूप से जैन हों, क्योंकि ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों मतानुयायियों ने भी इन्हीं कला-प्रतीकों का उपयोग किया है।

यद्यपि ये मध्यदेश की कला-परंपरा के अनुरूप हैं, तो भी, मूर्तियुक्त शिल्पाकृतियों का आदिकालीन भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान है। अनेक आकृतियों की मुख-मुद्राओं में प्रांतीय पुट है। शिल्पांकनों के कार्य-कौशल में कोई एकरूपता नहीं है, फिर भी समग्र रूप से विचार करने पर, निश्चय ही वह भरहुत शैली से अधिक विकसित रूप प्रदर्शित करते हैं।

गुफा सं० १ (रानीगुम्फा) के मुख्य स्कंध के निचले तल में लगातार शिल्पाकृतियाँ हैं, जिनमें दिग्विजयी नरेश के विजय-अभियान का चित्रण किया गया प्रतीत होता है। इनमें राजा अपनी विजय-यात्रा राजधानी से प्रारंभ करता है और अनेक देशों पर विजय प्राप्त करता हुआ राजधानी लौटता है। प्रजा अपने घरों से राजा के प्रस्थान को देख रही है। यह सोचने के लिए जी चाहता है कि शिल्पाकृतियों की यह लम्बी चित्र-वल्लरी खारवेल के विजय-अभियानों से प्रेरित होकर बनायी गयी है।[1]

गुफा सं० १ के ऊपरी तल के मुख्य स्कंध के अग्रभाग की शिल्पाकृतियों (चित्र ३२ क और ३३ क) की तुलना सांची के द्वारों के शिल्पांकनों से भलीभाँति की जा सकती है और भरहुत-कला के

---

[1] मित्रा, पूर्वोक्त, पृ 20-22. एक विद्वान् के अनुसार इस चित्र-वल्लरी के दृश्य तीर्थंकर के रूप में पार्श्वनाथ के विहार और उनका जो सम्मान किया गया उसे दर्शातें हैं। उसी विद्वान् के अनुसार, गुफा सं० 1 के ऊपरी तल तथा गुफा सं. 10 (गणेशगुम्फा) की सामने की भित्तियों के शिल्पांकनों में पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाओं के दृश्य अंकित किये गये हैं जिनमें उनके द्वारा किया गया प्रभावती का उद्धार और आगे चलकर उससे विवाह की घटना भी सम्मिलित है, [ओ'माले (एल एस एस). **बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स–पुरी.** 1908. कलकत्ता. पृ 256 और 259]. जो भी हो, वासुदेवशरण अग्रवाल का सुझाव इन दृश्यों में से दो को दुष्यन्त-शकुन्तला और उदयन-वासवदत्ता की कथाओं से संबंधित घटनाओं के रूप में पहचानने की ओर था [वासदत्ता एण्ड शकुन्तला सीन्स इन द रानीगुम्फा केव इन उड़ीसा. **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट.** 14; 1946; 102–109.]

पुरातनिक लक्षण –– जैसे अग्रभाग-विन्यास, दृश्यात्मकता का अभाव, मूर्त्यंकन की आदिम परिकल्पना आदि–अब इनमें नहीं दिखाई देते। ये शिल्पांकन आकृतियों की विभिन्न स्थितियों–अग्र, पृष्ठ और पार्श्व–के दक्षतापूर्ण अंकन में कलाकार के प्रशंसनीय कौशल को व्यक्त करते हैं। आकृतियों के मुख पूर्ण या तीन चौथाई या फिर अर्धमुद्राओं में बनाये गये हैं। आकृतियों की मुद्राएँ सामान्यतः सरल और स्वाभाविक हैं। उनकी चेष्टाएँ सजीव और मनोभाव भलीभाँति व्यक्त किये गये हैं। उनकी संरचना भी सामान्यतः संगत और प्रभावशाली है; विभिन्न आकृतियाँ एक दूसरे से संबंधित हैं। शिल्पांकनों में परिपक्व गांभीर्य है, वे रूप की सुघढ़ता और स्वाभाविक आकृति-रचना का पर्याप्त प्रदर्शन करते हैं। स्त्री-पुरुषों की सुकुमार आकृतियों से सौम्य रूपरेखा का अंकन स्पष्ट झलकता है।

अन्य गुफाओं के, और एक सीमा तक गुफा सं० १ के निचले तल के भी, शिल्पांकन इस स्तर के नहीं हैं। वे सजीव और सुघड़ मूर्तन की दृष्टि से अपेक्षाकृत अपरिष्कृत तथा निम्न स्तर के हैं। आकृतियाँ कम सजीव, प्रतिरूपण अमार्जित और उनका वर्ग-संयोजन कम संगत है। कलात्मक उपलब्धियों में यह असमानता उस समय प्रत्यक्ष हो जाती है जब गुफा सं० १० (गणेशगुम्फा) के अपहरण-दृश्य (चित्र ३३ ख) की तुलना गुफा सं० १ (रानीगुम्फा) के ऊपरी तल के दृश्य (चित्र ३३ ख) से की जाती है। यह अंतर या तो कलाकारों की कुशलता में अंतर के कारण या उस समयांतराल के कारण हो सकता है जिसने इन कलाकारों को मूर्तिकला-कौशल तथा संरचनाओं में अनुभव द्वारा दक्षता प्राप्त करने का अवसर दिया, यद्यपि समय का यह अंतराल बहुत लंबा नहीं रहा होगा।

देबला मित्रा

अध्याय 8

पश्चिम भारत

मध्ययुगीन जैन परंपराओं से विदित होता है कि महावीर ने पश्चिम भारत, विशेषतः दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में भिनमाल (भिल्लमाल) और आबू पहाड़ के समीप मुण्डस्थल (आधुनिक मुंगथला), का भ्रमण किया था। पूर्णचन्द्र सूरि द्वारा भिनमाल में महावीर-मंदिर की प्रतिष्ठा का उल्लेख करनेवाले वि॰ सं॰ १३३४ (१२७७ ई॰) के एक शिलालेख से विदित होता है कि महावीर भिल्लमाल पधारे थे।[1] मुंगथला के जैन मंदिर से प्राप्त एक परवर्ती शिलालेख वि॰ सं॰ १४२६ (१३६९ ई॰) से भी ज्ञात होता है कि महावीर इस स्थान पर आये थे।[2] किन्तु महावीर का विहार केवल पूर्वी भारत तक ही सीमित रहा जान पड़ता है। पूर्व में वे लाढ़ (राढ़) गये जहाँ उन्हें स्थानीय आदिवासियों के हाथों बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

मौर्यशासन पश्चिम में राजस्थान में कम से कम वैराट तक, गुजरात में गिरनार तक और दक्षिणापथ में सोपर तक फैला हुआ था, जैसा कि इन स्थानों पर प्राप्त अशोक की राजाज्ञाओं से प्रमाणित होता है। और, यह वहुत संभव है कि ये भाग उसके पौत्र सम्प्रति के नियंत्रण में वने रहे जिसका जैन धर्म का संरक्षकत्व बृहत्कल्पभाष्य और निशीथ-चूर्णि[3] जैसे आद्य ग्रंथों से भलीभाँति प्रमाणित है। किन्तु इन क्षेत्रों से जैन कला का ऐसा कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ जिसे निस्संदेह मौर्य या शुंग-युग का कहा जा सके।

अजमेर जिले के वरली नामक स्थान से एक खण्डित शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें महावीर के पश्चात् ८४ वर्ष और मझमिका (मध्यमिका—चित्तौड़गढ़ के पास 'नगरी' नामक आधुनिक स्थान) का उल्लेख है।[4] जो भी हो, डी॰ सी॰ सरकार का मत है कि इसे वीरात ८४ मानने के लिए प्रमाण

---

[1] आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल. प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1907-08. पृ 35.

[2] जयन्तविजय. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन-लेख-संदोह. 5. 1947. भावनगर शिलालेख 48.

[3] बृहत्कल्पभाष्य. 3. गाथा 3277-3289. पृ 917-921. / निशीथ-चूर्णि. अनुच्छेद 5. गाथा 2154 और चूर्णि पृ 362. / हेमचन्द्र. स्थविरावली चरित्र या परिशिष्टपर्व. 11. 55-110.

[4] इण्डियन एण्टिक्वेरी. 58; 1921. 229. / ओझा (गौरीशंकर हीराचन्द). भारतीय प्राचीन लिपिमाला. 1918. अजमेर. पृ 2-3. / जर्नल ऑफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी. 16; 1930; 67-68.

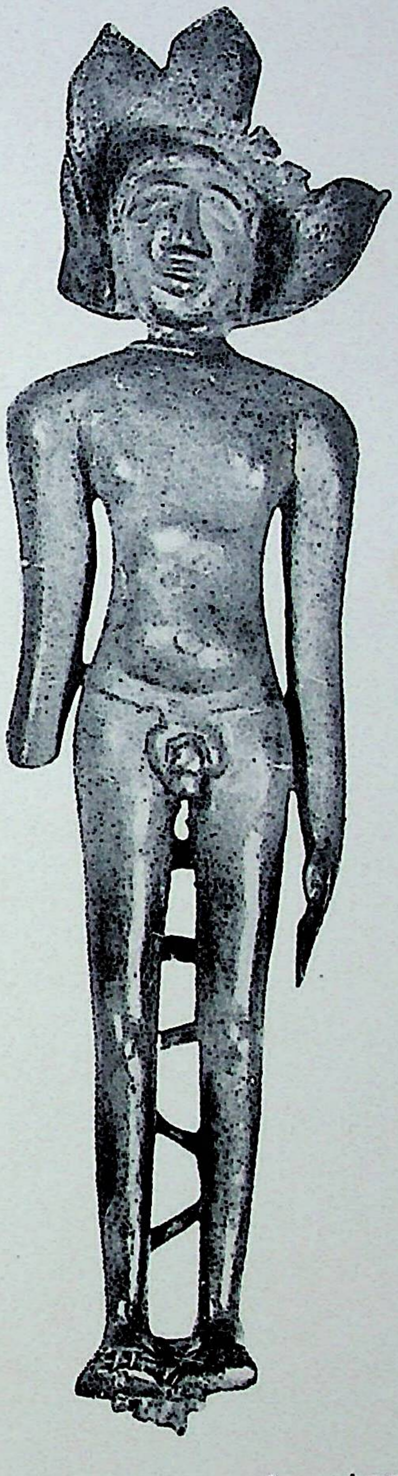

प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय — पार्श्वनाथ, कांस्य मूर्ति

चित्र 37

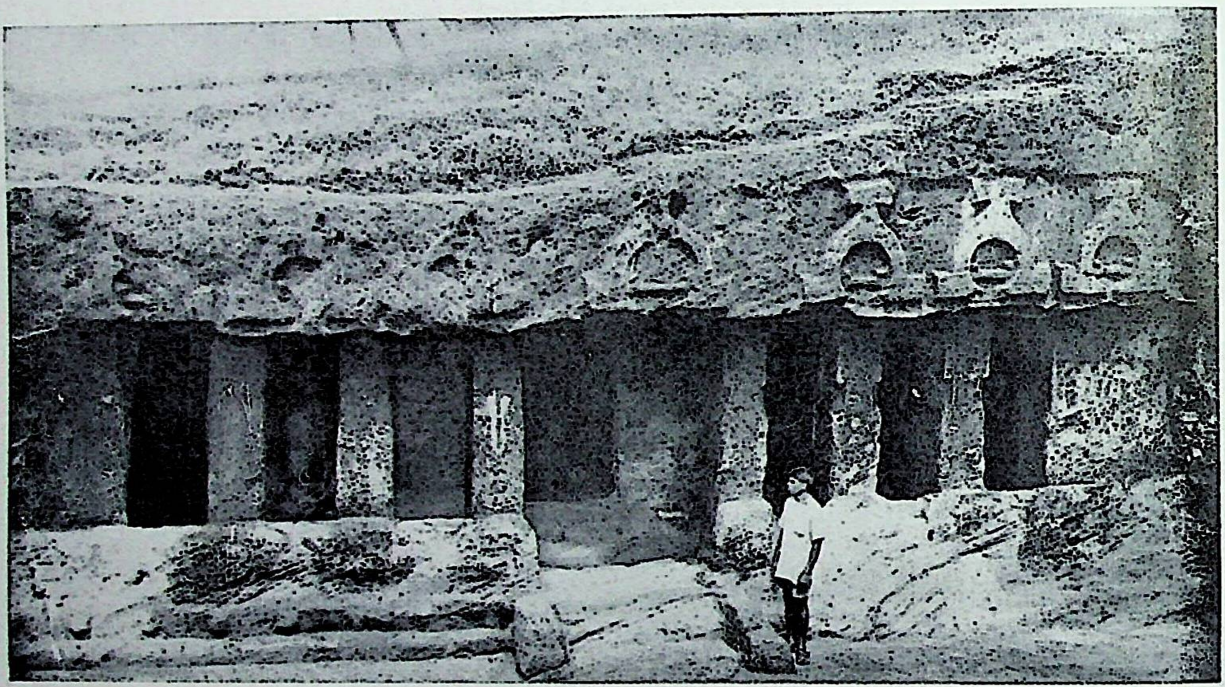

जूनागढ़ — वावा प्यारा की गुफा

चित्र 38

उपलब्ध नहीं है ।[1] अतएव इस शिलालेख के जैनों से संबंधित होने की बात अब नहीं मानी जाती ।

चौथी-पाँचवीं शती ई० के एक प्राचीन ग्रंथ वसुदेव-हिण्डी में उज्जैन में एक जीवन्तस्वामी (महावीर के जीवनकाल में निर्मित प्रतिमा) का उल्लेख मिलता है ।[2] बृहत्कल्पभाष्य (लगभग छठी शती ई०) में भी इसका उल्लेख है और इस ग्रंथ की टीका में उज्जैन में इस प्रतिमा की रथ-यात्रा के समय आर्य सुहस्ति द्वारा सम्प्रति को जैन धर्म में दीक्षित किये जाने का पूर्ण विवरण दिया गया है ।[3]

जिनदास कृत आवश्यक-चूर्णि (सातवीं शती) में सिन्धु सौवीर में वीतभयपत्तन के उद्दायण की रानी द्वारा महावीर की चंदनकाष्ठ-निर्मित जीवन्तस्वामी-प्रतिमा की पूजा करने का विवरण मिलता है । कालांतर में इस प्रतिमा को अवंति का प्रद्यौत उठा ले गया और अंत में विदिशा में इसका पूजन होता रहा ।[4] किन्तु मौर्य और शुंगकाल में अवंति-मालवा प्रदेश के पश्चिम भागों में जिन-बिम्बों की पूजा का अन्य कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता ।

इस प्रकार चंदनकाष्ठ से निर्मित महावीर की प्रथम मूर्ति की पूजा वीतभयपत्तन के राजा उद्दायण की रानी द्वारा की गयी । अवन्ति का प्रद्यौत इस मूर्ति को उठा ले गया और कालांतर में यह पूजा के लिए विदिशा में प्रतिष्ठित की गयी । किन्तु प्रद्यौत मूल प्रतिमा तभी ले गया जब उसने वीतभयपत्तन में उसकी एक अनुकृति स्थापित कर दी । महान् भाष्यकार मुनि हेमचन्द्राचार्य ने इन मूर्तियों का आगे का मनोरंजक विवरण अपनी कृति त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित में दिया

---

[1] सरकार (डी सी). वरली फ्रेगमेण्टरी स्टोन इंस्क्रिप्शंस. **जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसायटी.** 37; 1951; 34-38.

[2] **वसुदेव-हिण्डी.** संपा : चतुरविजय तथा पुण्यविजय. खण्ड 1, भाग 1. 1930. पृ 61. भावनगर. / जिनदास. आवश्यक-चूर्णि (खण्ड 3. 1923. रतलाम. पृ 157) में भी उज्जैन की इस मूर्ति का उल्लेख है. जीवन्त-स्वामी प्रतिमा के लिए द्रष्टव्य : शाह (यू पी). ए युनीक जैन इमेज ऑफ 'जीवन्त स्वामी'. **जर्नल ऑफ द ओरियण्टल इंस्टीट्यूट.** 1; 1951–52; 72–79 और 'साइडलाइट्स ऑन द लाइफ टाइम सैण्डलवुड इमेज ऑफ महावीर', पूर्वोक्त, पृ 358-368.

[3] **बृहत्कल्पभाष्य.** 3. गाथा 3277. पृ 917 तथा परवर्ती. / कल्प-चूर्णि (अब भी पाण्डुलिपि रूप में; बृहत्कल्पभाष्य की टीका से प्राचीनतर) में भी इसका वर्णन है. द्रष्टव्य : कल्याणविजय. वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका.** 10; 1930; उद्धरण.

[4] **आवश्यक-चूर्णि.** खण्ड 1. गाथा 774. पृ 397-401. (आवश्यक निर्युक्ति की टीका). / और द्रष्टव्य : हरिभद्र. **आवश्यक-वृत्ति.** खण्ड 1. भाग 2. 1916. सूरत. पृ 296-300. / आवश्यक-निर्युक्ति. खण्ड 1. पृ 156 तथा परवर्ती. / जैन (जगदीश चन्द्र). **लाइफ एज डिपिक्टेड इन द जैन कंनन्स.** 1947. बम्बई. पृ 349. / शाह. पूर्वोक्त.

है, जिससे यह ज्ञात होता है कि कालांतर में विदिशा की मूल प्रतिमा की पूजा भैल्लस्वामी[1] के रूप में होने लगी और वीतभयपत्तन वाली अनुकृति एक रेतीली आँधी में नगर के साथ ही लुप्त हो गयी। उद्दायण ने उसे एक मंदिर में प्रतिष्ठित किया था और राजकीय घोषणापत्र[2] प्रसारित कर उसकी पूजा हेतु दान दिया था। हेमचन्द्र के अनुसार चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने, जिसका राज्य पश्चिम में सिन्ध तक, उत्तर में जालौर और राजस्थान के कुछ अन्य भागों तक और प्रायः सम्पूर्ण गुजरात तक फैला हुआ था, सौवीर की राजधानी में विशेष अधिकारी भेजे थे। उन्होंने उद्दायण द्वारा प्रसारित किये गये घोषणापत्रों सहित काष्ठप्रतिमा को खोद निकाला। हेमचन्द्र आगे वर्णन करते हैं कि ये पत्तन लाये गये और कुमारपाल द्वारा, जिसका जैन धर्म के प्रति आकर्षण और संरक्षकत्व सर्वविदित है, नवनिर्मित मंदिर में मूर्ति की स्थापना की गयी।[3]

यदि यह समकालीन वृत्तांत सही है और यह विश्वास करना कठिन है कि हेमचन्द्र जैसी प्रतिष्ठावाला व्यक्ति इसे गढ़ने का साहस करेगा या केवल जनश्रुति के आधार पर ही इस प्रकार का वर्णन करेगा तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महावीर के जीवनकाल में ही जैन कला और जिन-पूजा का प्रसार न केवल मालवा-अवंति प्रदेशों में हुआ अपितु पश्चिम में सिन्धु-सौवीर तक हो चुका था। जैन आगम ग्रंथ भगवती-सूत्र १३-६-१९१ के अनुसार राजा उद्दायण को, जो भगवान महावीर के दर्शन करना चाहता था, धर्मोपदेश देने के लिए महावीर वीतभयत्तन आये थे।[4]

कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्वनाथ की एक अत्यंत प्राचीन कांस्य प्रतिमा (चित्र ३७) प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई, के संग्रह में है।[5] इसका दायाँ हाथ और शीर्ष के ऊपर फणावली का भाग खण्डित है। इसके पादपीठ का पता नहीं है और दुर्भाग्य से इसका मूल प्राप्ति-स्थान भी ज्ञात नहीं है, शैली में यह मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त एक मृण्मूर्ति के बहुत कुछ समान है।[6] इसके अंग लम्बे और पतले हैं जिनकी तुलना मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति से की जा सकती है।[7] धड़, विशेषतः तोंद और

---

[1] **त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित.** पर्व 10. सर्ग 11. विशेष रूप से श्लोक 604 तथा परवर्ती.

[2] वही, सर्ग 11, श्लोक 623 तथा परवर्ती.

[3] वही, सर्ग 12, श्लोक 36-93.

[4] जैन, पूर्वोक्त, पृ 309. / **बृहत्कल्पभाष्य.** 2. पृ 314. / वही, 4, पृ 1073 तथा परवर्ती. / वही, गाथा 912-913.

[5] शाह (यू पी). अर्ली ब्रोन्ज ऑफ पार्श्वनाथ. **बुलेटिन ऑफ द प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई.** 3; 1952–53; 63–65 और चित्र.

[6] मार्शल (जॉन). **मोहन-जो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन.** भाग 3. 1931. लन्दन. चित्र 95, उपक्रमांक 26-27./ मैकके. **फर्दर एक्सकेवेशन्स फ्रॉम मोहन-जो-दड़ो.** भाग 2. 1938. नई दिल्ली. चित्र 82, उपक्रमांक 6,10,11, और चित्र 75. उपक्रमांक 1. 21.

[7] मार्शल, पूर्वोक्त. चि 94, उपक्रमांक 6-8. इस कांस्य प्रतिमा के साथ कुछ मृण्मूर्तियों की तुलना के लिए द्रष्टव्य : गोर्डन (डी एच). अर्ली टेराकोटाज. **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ आर्ट.** 11; 1943.

पेट, की संरचना लोहानीपुर से प्राप्त जिन-विम्व के पालिशयुक्त धड़ से, जो अव पटना-संग्रहालय में है (अध्याय ७, चित्र २१ क), और हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर के धड़ से वहुत मिलती-जुलती है, इस प्रकार यह कांस्यमूर्ति मोहन-जो-दड़ो शैली में बनायी गयी। यह शैली मौर्ययुग तक प्रचलित रही। इसकी रचना विलक्षण है और उसकी तुलना मोहन-जो-दड़ो की नर्तकी की कांस्य-मूर्ति से की जा सकती है। किसी अभिलेख के अभाव में इस कांस्य-मूर्ति के निर्माणकाल का ठीक-ठीक निश्चय करना या उसका प्राप्ति-स्थान वता सकना कठिन है, किन्तु पूर्वोक्त शैलीगत तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लगभग पहली शती ईसा-पूर्व से वाद की नहीं हो सकती, वरन् इससे भी प्राचीन होगी।

मोम-साँचा-विधि से ढाली गयी इस कांस्य मूर्ति का भार वहुत हलका है। असंभव नहीं कि यह पश्चिम भारत के किसी भाग – सिंध, राजस्थान, गुजरात या कच्छ – से वम्वई संग्रहालय के लिए प्राप्त की गयी हो।[1]

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जैन मुनियों के लिए प्रतिष्ठानपुर से आगे दक्षिण में विधिवत् भिक्षा प्राप्त करना कठिन था। सम्प्रति ने ही यह आदेश दिया कि वहाँ इस प्रकार की सुविधाएँ दी जाएँ ताकि जैन मुनि जैन धर्म के सिद्धांतों के प्रचार के लिए सम्पूर्ण दक्षिण की यात्रा कर सकें। कहा जाता है कि शूरपारक में जैन मतावलंबी थे। आर्य वज्र (पारंपरिक तिथि लगभग ५७ ई० पू० से ५० ई०) के शिष्य वज्रसेन ने शूरपारक (बम्बई के निकट आधुनिक सोपारा) के कुछ साधु-शिष्यों को दीक्षित किया था।[2] उनमें से नगेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति नामक चार शिष्यों ने जैन साधुओं के चार कुलों की स्थापना की थी। आर्य समुद्र और आर्य मंगु भी शूरपारक गये थे।[3] तथापि,

---

[1] [मोतीचन्द्र और गोरक्षकर ने इसकी तिथि ईसा की दूसरी शती सुझायी है और प्राप्ति स्थान-उत्तर भारत. द्रष्टव्य : प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम संबंधी उनका अध्याय. मेरे साथ हुए व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में इस अध्याय के लेखक ने यह मत व्यक्त किया है कि इस प्रतिमा की समरूपता सिन्धु-कला से है अतः यह कांस्य मूर्ति किसी पश्चिम भारतीय स्थान संभवतः सिंध से प्राप्त हुई होगी और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के किसी ऐसे अधिकारी ने जिसने पश्चिम भारतीय स्थानों की विस्तृत खोज की होगी, इसे संग्रहालय के लिए प्राप्त किया होगा. लेखक ने यह भी लिखा है कि प्रोफेसर वासुदेवशरण अग्रवाल को इस बात पर विशेष आश्चर्य था कि इस मूर्ति पर श्रीवत्स चिन्ह नहीं है जो उत्तर भारत से प्राप्त सभी तीर्थंकर मूर्तियों के वक्षस्थल पर पाया जाता है. — संपादक]

[2] **बृहत्कल्पभाष्य.** पृ 917–21. / तुलनीय : दर्शनविजय, संपा. **पट्टावली-समुच्चय.** 1933. वीरमगांव. / **कल्पसूत्र स्थविरावली.** पृ 8. / गुणरत्नसूरि. **गुरुपर्वक्रम.** पृ 26. / **तपागच्छ-पट्टावली.** पृ 47-48.

[3] जैन (जे सी). **भारत के प्राचीन जैनतीर्थ.** पृ 65. / **व्यवहार भाष्य.** 6; 239 तथा परवर्ती. / धर्मसागरगणि. **तपागच्छ पट्टावली-समुच्चय.** खण्ड 1. पृ 46. पर कहा गया है : श्री-विरात त्रि-पंचाशद्-अधिक-चतुः-शत-वर्षातिक्रमे 453 भृगुकच्छे आर्या-खपुटाचार्य इति पट्टावल्याम् / प्रभावकचरिते तु चतुर्-अशीत्याधिक-चतुः-शत्-484-वर्षे आर्य खपुटाचार्यः / सप्त-षष्टि-अधिक-चतुः-शत–467 वर्षे आर्य-मंगु .

पश्चिम भारत या दक्षिणापथ से इस काल की एक भी प्राचीन जैन मूर्ति अबतक प्राप्त नहीं हुई है ।[1]

भड़ोंच के आर्य खपुट,[2] सौराष्ट्र (पालिताना के निकट) के आर्य-पादलिप्त[3] एवं वलभी (सौराष्ट में ही) के नागार्जुन के वृत्तान्तों से प्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में जैन पश्चिम-भारत में अत्यंत सक्रिय थे।[4] आर्य नागार्जुन चौथी शती के प्रारंभ में आयोजित प्रथम वलभी परिषद् के अध्यक्ष थे। महान् जैन नैयायिक और द्वादशार-नयचक्र के प्रणेता आचार्य मल्लवादी ने वलभी में एक विवाद में बौद्धों को चौथी शती के प्रारंभ में पराजित किया था ।[5] पूर्वोक्त आर्य वज्रसेन के गुरु आचार्य वज्र द्वारा आभीर देश,[6] दक्षिणापथ[7] और श्रीमाल[8] (मारवाड़ में वर्तमान भिनमाल) तक भ्रमण करने का उल्लेख मिलता है ।

---

[1] सांकलिया ने पूना जिले में कमशेट से लगभग 12 कि० मी० दूर पाल नामक स्थान की एक गुफा से प्राप्त एक शिलालेख हाल ही में प्रकाशित किया है जिसका पाठ वे इस प्रकार करते हैं (1) नमो अरिहंतानं फागुन (2)द भदन्त इन्दरखितेन लेनम् (3) कारापितं पोदि च सहा च कहे सहा. उनका मत है कि यह एक जैन गुफा है. वे इस शिलालेख को ईसा से लगभग दूसरी शताब्दी-पूर्व का मानते हैं. द्रष्टव्य : **स्वाध्याय** (गुजराती पत्रिका) बड़ौदा. 7, 419 तथा परवर्ती और चित्र. यह सुविदित है कि प्रारंभिक काल में अर्हंत् शब्द का प्रयोग सामान्यतया बौद्ध और जैन दोनों द्वारा किया जाता था. यह कहना कठिन है कि केवल जैनों द्वारा इसका प्रयोग कब से प्रारंभ हुआ. क्योंकि इस क्षेत्र की कार्ला और अन्य गुफाएँ निश्चित रूप से बौद्धों से संबद्ध थीं. अतः कोई भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह एक जैन शिलालेख है, किन्तु इस संभावना को पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता. हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गुप्त-युग के पूर्व और कुषाणयुग की समाप्ति के पश्चात् किसी समय से, अर्हत् या अरिहन्त शब्द का प्रयोग धीरे-धीरे केवल जैन तीर्थंकरों के लिए ही होने लगा.

[2] **आवश्यक निर्युक्ति तथा चूर्णि** पृ 542. **निशीथ चूर्णि**. 10. पृ 101. / **बृहत्कल्पभाष्य**. 4.5115 तथा परवर्ती. / पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी भी द्रष्टव्य.

[3] **आवश्यक चूर्णि**. पृ 554 / **पिण्ड निर्युक्ति**. पृ 497 तथा परवर्ती.

[4] कल्याण विजय, पूर्वोक्त. पृ 110-18.

[5] जम्बूविजय. **द्वादसार-नयचक्र.** प्रस्तावना.

[6] **आवश्यक चूर्णि**. पृ 396-97.

[7] वही, पृ 404.

[8] **आवश्यक टीका**. पृ 390 क. संभवतः आर्य वैर (वज्र) आचार्यरत्न मुनि वैरदेव का ही नाम है जो राजगिरि की सोनभण्डार गुफा के शिलालेख में अंकित है. यह मत उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने **जर्नल आॅफ द बिहार रिसर्च सोसायटी**. 34; 1953; 410-12 में व्यक्त किया है.

[अन्य लोगों को इस मत पर संदेह है, द्रष्टव्य : अध्याय 11. इस अध्याय के लेखक ने व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में मुझे बताया है कि समस्त उपलब्ध दिगंबर और श्वेतांबर साहित्य या पट्टावलियों में आचार्य वज्र और उनके शिष्य वज्रसेन (प्राकृत में वैर और वैरसेन) नामों के दो ही आचार्यों का उल्लेख मिलता है और इन्हीं का उल्लेख सोनभण्डार शिलालेख में किया गया होगा . अतः श्री शाह द्वारा व्यक्त मत संभावना पर बहुत अधिक आधारित हैं. इन गुफाओं की तिथि के बारे में वे एस के सरस्वती के विचारों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं. —संपादक]

जूनागढ़ में गिरनार के समीप साधुओं के लिए निर्मित लगभग वीस शैलोत्कीर्ण गुफाएँ हैं जो बाबा-प्यारा-मठ की गुफाएँ कहलाती हैं। बर्जेस ने इनका वर्णन किया है।[1] तीन पंक्तियों में बनी इन गुफाओं में गुफा ख के (चित्र ३८) के ऊपर चैत्य-गवाक्ष-अलंकरण का आद्य रूप मिलता है। बर्जेस द्वारा वर्णित गुफा 'एफ' एक आदिम कोठरी है, जिसकी छत समतल है और मूलरूप से चार स्तंभों पर आधारित है, इसका पृष्ठभाग अर्ध-वर्तुलाकार है। इस समूह की गुफा सं० 'के' में दो कोठरियाँ हैं, जिनमें उत्कीर्ण हैं मंगल-कलश और स्वस्तिक, श्रीवत्स, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिह्न जो मथुरा के आयाग-पटों पर मिलते हैं (रेखाचित्र ५)। इन चिह्नों से इन गुफाओं का जैन स्वरूप अंतिम रूप से सिद्ध नहीं होता क्योंकि एक कोठरी के सम्मुख इन चिन्हों के वनाने का अपूर्ण-प्रयास (कदाचित् परवर्ती) किया गया प्रतीत होता है। किन्तु रुद्रदामन के पुत्र जयदामन के पौत्र रुद्रसेन[2] के समय के एक खण्डित उत्कीर्ण शिलापट्ट (कोठरी १ के सामने भूमिगत) के मिलने से, जिसमें केवल-ज्ञान प्राप्त करनेवालों एवं कालजयी लोगों का उल्लेख है, यह पता चलता है कि कम से कम दूसरी शती ई० में इन गुफाओं पर जैन मतावलंबियों का अधिकार था।[3] यहाँ किन्हीं निश्चित बौद्ध चिह्नों का

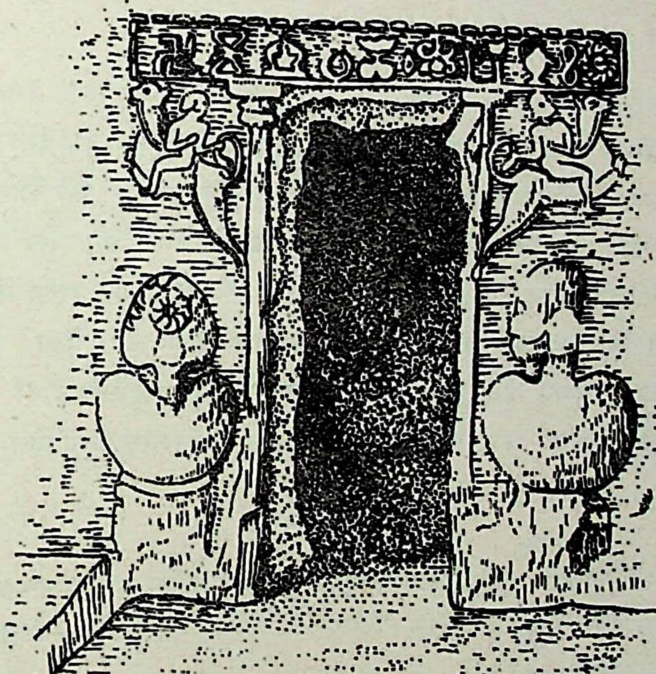

रेखाचित्र 5. बाबा प्यारा की गुफा का प्रवेशद्वार (बर्जेस के अनुसार, गुफा सं० 'के')

---

[1] बर्जेस (जेम्स). **एण्टिक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ.** आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सीरीज, 2. 1876. लंदन. पृ 139 तथा परवर्ती. / सांकलिया (एच डी). **आर्क्यॉलॉजी ऑफ गुजरात.** 1941. बम्बई. पृ 47-53.

[2] मजूमदार (आर सी) तथा पुसालकर (ए डी), संपा. **एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी.** 1960. बम्बई. पृ 418 पर ए एम घटगे ने यह सुझाया है कि वह दमयसद या रुद्रसिंह-प्रथम था.

[3] बर्जेस, पूर्वोक्त. / सांकलिया, पूर्वोक्त.

अभाव महत्त्वपूर्ण है। अतः यह मानना गलत नहीं होगा कि गिरनार के पास जैनों का एक विहार था।

धवला टीका के प्रणेता वीरसेनाचार्य वर्णित एक दिगंबर परंपरा के अनुसार महावीर-निर्वाण के ६८० वर्षों पश्चात्, अर्थात् पहली शती ईसवी के अंत में या दूसरी शती में महान् जैन मुनि आचार्य धरसेन सौराष्ट्र में गिरिनगर (गिरनार) के समीप चन्द्रशाला गुफा में पुष्पदंत और भूतवली को धर्मशास्त्र की शिक्षा दिया करते थे।[1] हीरालाल जैन ने इस गुफा की पहचान बाबा-प्यारा-मठ की गुफाओं से की है।[2] धरसेन से शास्त्र का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् वीरसेन ने पुष्पदंत और भूतवली द्वारा रचित सूत्रों पर अपनी टीका लिखी। पूर्वोक्त शिलालेख और दिगंबर परंपरा को ध्यान में रखते हुए, बाबा-प्यारा-मठ की गुफाओं का जैन धर्म से संबंधित होना स्पष्ट प्रतीत होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली में उल्लिखित स्थविर ऋषिगुप्त से प्रारंभ होनेवाली सोरट्ठिय-साहा (शाखा) से पुनः यह संकेत मिलता है कि ईसा-पूर्व लगभग दूसरी-पहली शती में सौराष्ट्र में जैन साधुओं का एक संघ विद्यमान था।

उत्तर-पश्चिम में जैन कला के संबंध में मार्शल का यह मत था कि सिरकप, तक्षशिला, का स्तूप (ब्लाक 'एफ') एक जैन स्तूप रहा होगा,[3] क्योंकि उसके तलघर की देवकुलिका में बने कला-प्रतीक दो, सिरवाले गरुड़, की समता उन्हें मथुरा के आयाग-पट पर बने स्तूप शिल्पांकन में मिली, जिसे लोणशोभिका की पुत्री वासु ने निर्मित कराया था।[4] किन्तु इस स्थल के पर्याप्त उत्खनन के पश्चात् भी किसी अन्य जैन पुरावशेष के न मिलने संबंधी तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन परंपराएँ उत्तरापथ में प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली द्वारा केवल एक धर्म-चक्र स्थापित करने का उल्लेख अवश्य करती हैं।[5] हरिभद्र कृत आवश्यक-निर्युक्ति की आवश्यक-वृत्ति

---

[1] तेण इव सोरट्ठ-विसय-गिरिनिनयर पट्टण-चंदगुहा-ठियेण अट्ठांग-महा-निमित्त-पारनेण गंथ-वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भयेन पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणम् महिमाए मिलियाणम् लेहो पेसिदो—धवला-टीका.

[2] जैन (हीरालाल). **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान.** 1962. भोपाल. पृ 41-42, 75-76, 309-10.

[3] मार्शल (जॉन). **गाइड टु तक्षशिला.** तृतीय संस्करण. 1936. दिल्ली. पृ 88. चित्र 13. / मोतीचन्द्र. कुछ जैन अनुश्रुतियाँ और पुरातत्व. **प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ.** पृ 229-49.

[4] वोगेल (जे फ). **केटेलॉग ऑफ दि आर्कयॉलॉजिकल म्युजियम एट मथुरा.** 1910. इलाहाबाद. पृ 184 तथा परवर्ती. / वासुदेवशरण अग्रवाल ने **जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी.** 23; 1950; 69-70 में इस शिलालेख के पहले किये गये पाठ में संशोधन किया है.

[5] **बृहत्कल्पभाष्य.** 5. गाथा 5824 चक्र शब्द का उल्लेख करती है जिसकी व्याख्या टीकाकार ने 'उत्तरापथे धर्म-चक्रम्' की है.

टीका में तक्षशिला में धर्म-चक्र की स्थापना का जो वृत्तान्त दिया गया है उसका उल्लेख वसुदेव-हिण्डी और पउमचरिउ में नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त, दिगंबर स्रोतों में भी इस घटना का वर्णन नहीं पाया जाता। दिगंबर स्रोत बाहुवली को तक्षशिला के स्थान पर पोतनपुर से संवद्ध मानते हैं। अतएव सिरकप स्तूप का जैन धर्म से संवंधित होना निश्चित नहीं है।[2]

उमाकांत प्रेमानंद शाह

---

[1] आवश्यक-निर्युक्ति और उसपर हरिभद्र की टीका. 1. 332 और पृ 144 तथा परवर्ती. इसमें यह वृत्तांत आया है कि ऋषभनाथ तक्षशिला में वहलि-अडम्विल्ल गये और वहाँ उन्होंने वहलि के लोगों तथा यौनकों और पहलगों को धर्म का उपदेश दिया. इस वृत्तांत के श्लोकों से ज्ञात होता है कि वृत्तांत के लेखन के समय तक्षशिला वल्ल-वक्त्रिया (वहलि) प्रांत में सम्मिलित था.

[2] पूर्ण विवरण हेतु द्रष्टव्य : शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 10 और टिप्पणी. / शाह (यू पी). बाहुवली : ए युनीक ब्रौंज इन द म्यूजियम. **बुलेटिन ऑफ द प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई.** 5; 1953-54; 32, 39, चित्र 5-6.

अध्याय 9

दक्षिण भारत

प्रस्तावना

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रसार ईसा-पूर्व चौथी शती के अंतिम चरण के लगभग श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जैन समाज के आव्रजन से हुआ। दिगंबर परंपरा के अनुसार भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त (६०० ई० तथा परवर्ती श्रवणबेलगोल अभिलेखों में उल्लिखित प्रभाचंद्र) नामक एक राजा था। सामान्य धारणा यह है कि वह सुविख्यात मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त ही थे। इसी परंपरा से ज्ञात होता है कि आव्रजन के फलस्वरूप जैन लोग कर्नाटक में श्रवणबेलगोला और वहाँ से तमिलनाडु पहुँचे थे। ऐसी मान्यता है कि तमिल क्षेत्रों में परवर्ती गतिविधि का नेतृत्व विशाखाचार्य ने किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रव्रजन का क्षेत्र उत्तर भारत (मालवा क्षेत्र) से कर्नाटक और वहाँ से तमिलनाडु की ओर रहा होगा।

इस परिपुष्ट एवं संपन्न परंपरा का उल्लेख हमें ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों तथा परवर्ती ग्रंथों में मिलता है, जबकि इस गतिविधि का प्रथम अभिलेखांकित साक्ष्य श्रवणबेलगोल के शिलालेख से प्राप्त होता है जो ६०० ई० से पूर्व का नहीं है। इस प्रकार परंपरागत आख्यानों और उपलब्ध जैन पुरावशेषों की परस्पर संगति एक समस्या बन गयी है; क्योंकि, ६०० ईसवी से पहले के वास्तु-स्मारक तथा पुरालेखीय साक्ष्य, विशेषतः दक्षिणापथ में, प्रायः सर्वथा अनुपलब्ध हैं।

जैन धर्म के अनुयायी और ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों के प्रथम सातवाहन नरेश सिमुक के प्रसंग तथा गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि कुछ प्राचीन प्राकृत ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसा कोई स्पष्ट और इतिहास-सम्मत प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जो प्राचीनकाल ६०० ई० तक दक्षिणापथ में जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध कर सके। शैलोत्कीर्ण और निर्मित शैलियों के जैन वास्तु-स्मारकों के अवशेष बादामी के चालुक्यों (सातवीं-नौवीं शताब्दियों) तथा मलखेड के राष्ट्रकूटों (आठवीं-नौवीं शताब्दियों) के समय से मिलते हैं और ऐतिहासिक अध्ययनों में उनके उल्लेख का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

आन्ध्र प्रदेश की स्थिति इससे अधिक भिन्न नहीं है। दक्षिण उड़ीसा में, जहाँ प्राचीनतम जैन शैलोत्कीर्ण गुफाएँ (खण्डगिरि-उदयगिरि पहाड़ियों पर) विद्यमान हैं, दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों से

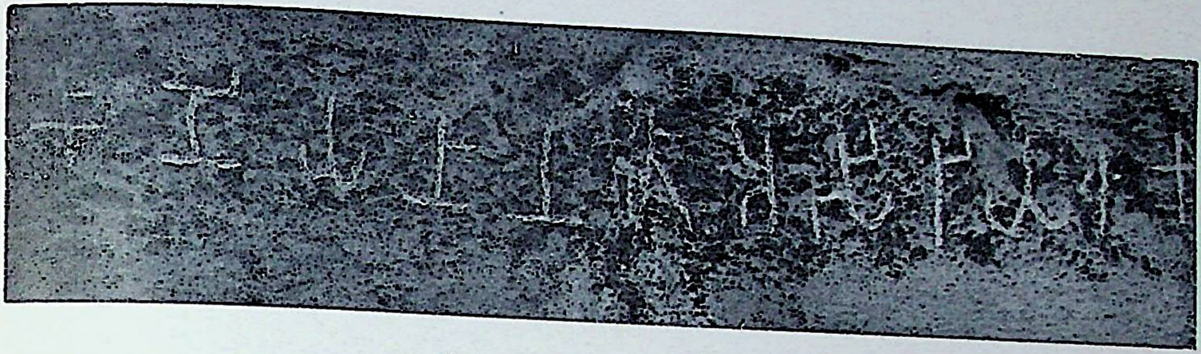

(क) मांगुलम — अभिलेख का एक अंश

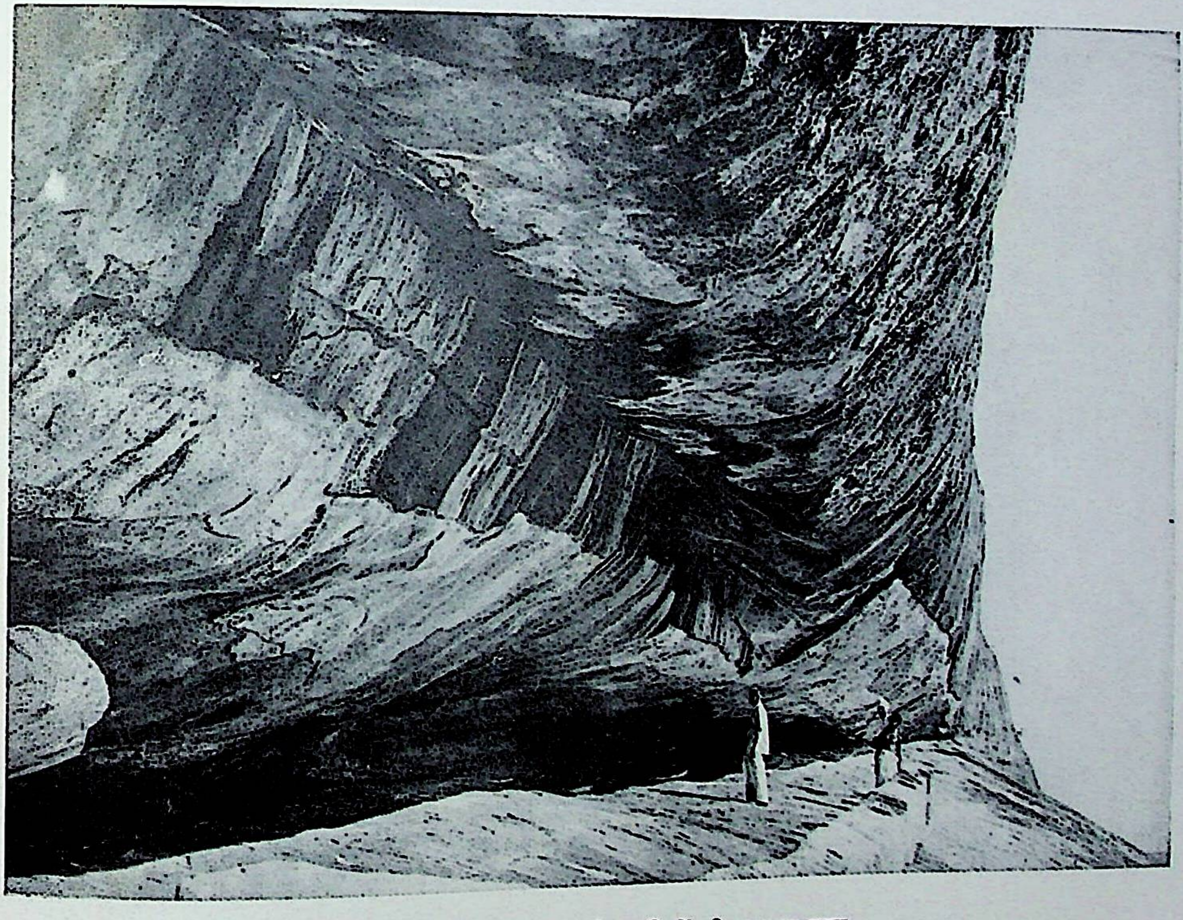

(ख) शित्तन्नवासल — जैन मुनियों की आवास-गुफा

चित्र 39

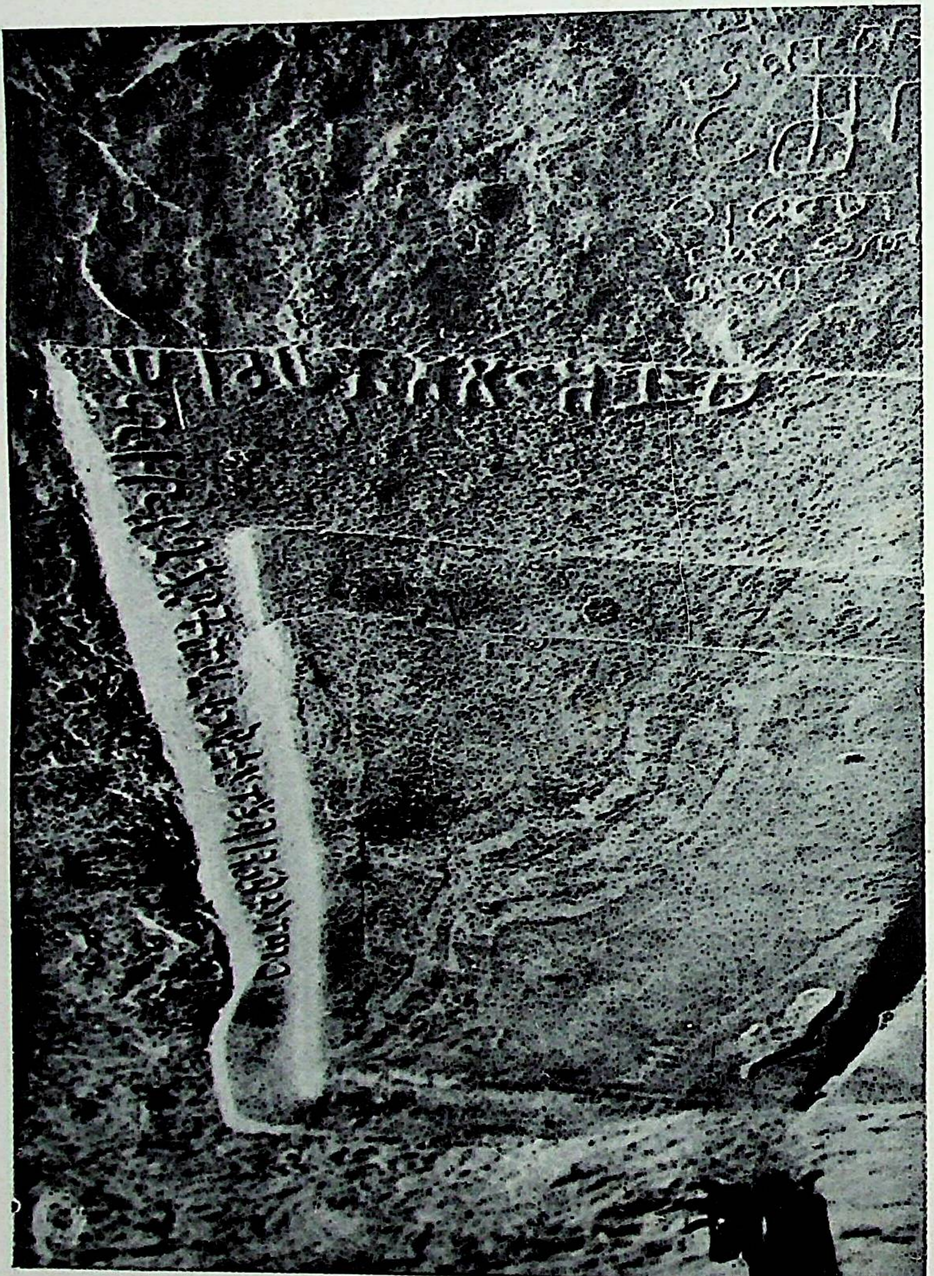

शित्तन्नवासल — अभिलेखांकित प्रस्तर-शय्या

चित्र 40

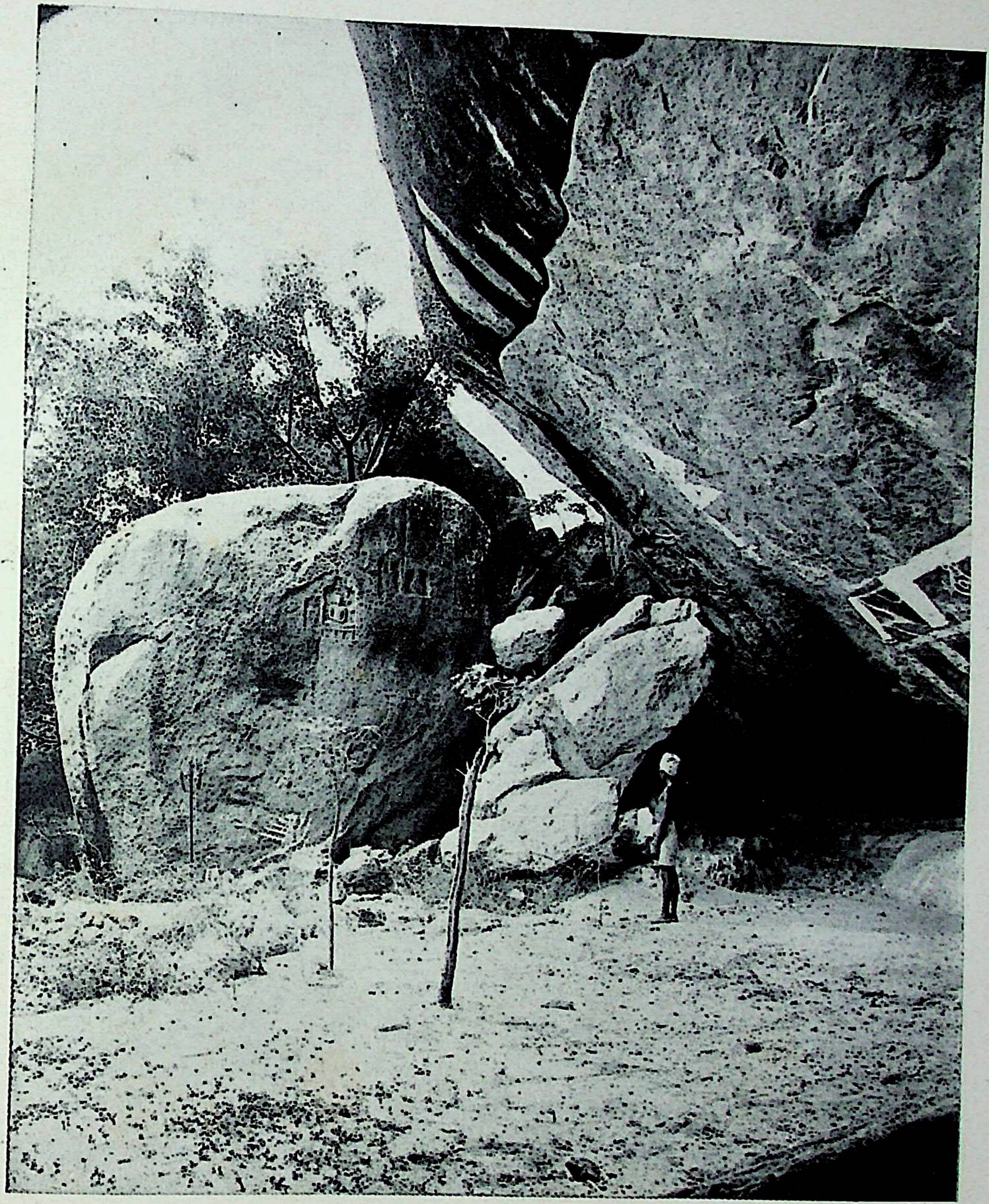

तेनिमलै — जैन मुनियों की आवास-गुफा, अलग पड़ी चट्टान पर उत्कीर्ण परवर्ती शिल्पांकन

चित्र 41

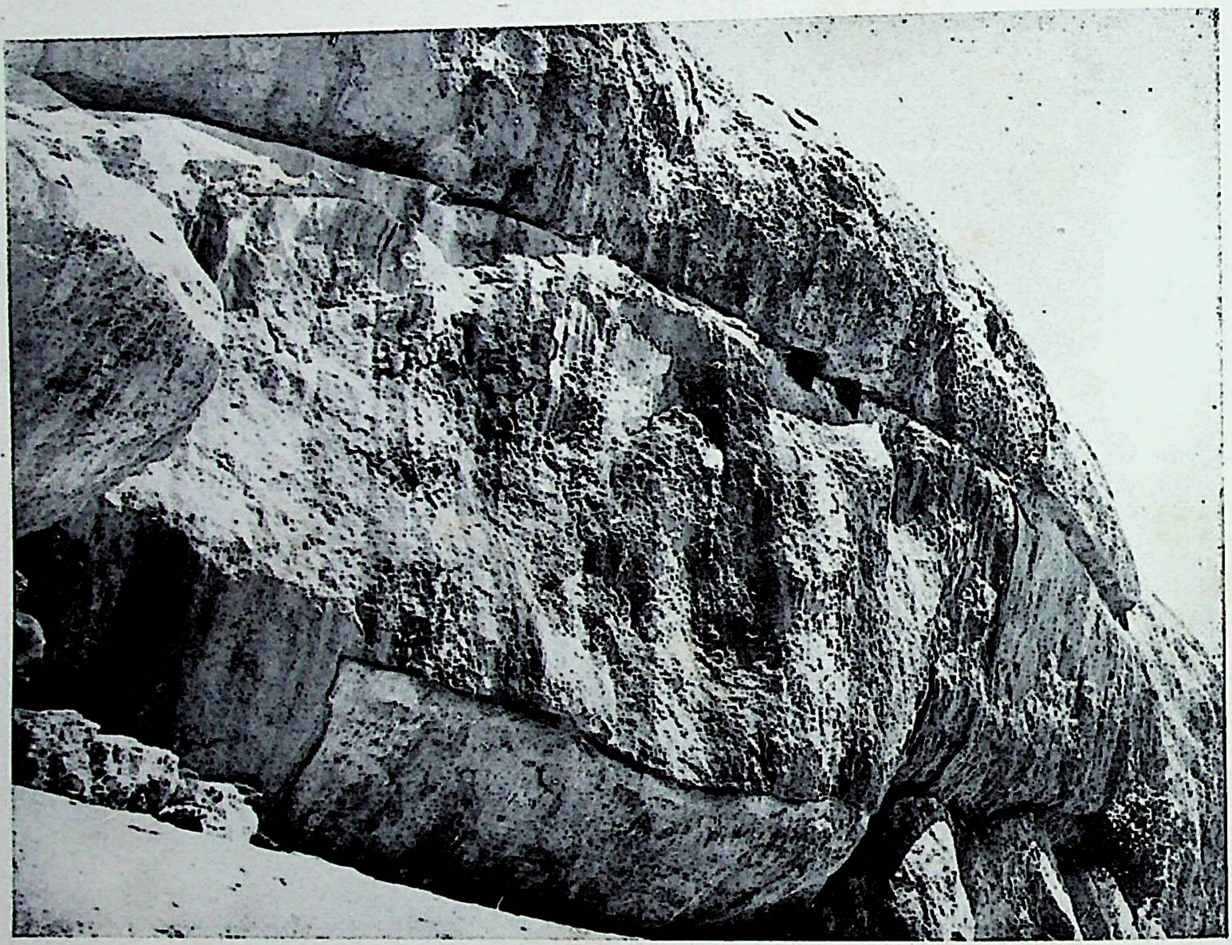

पुगलूर — जैन मुनियों की आवास-गुफा

चित्र 42

पूर्व के जैन पुरावशेष वस्तुतः बहुत कम संख्या में प्राप्त हुए हैं। दूसरी ओर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणापथ के पश्चिमी और पूर्वी अंचलों में, बौद्धों की वास्तुशिल्पीय गतिविधि निरंतर बनी रही। पश्चिमी अंचल में यह गतिविधि ईसा-पूर्व दूसरी शती से नौवीं शती ई० तक शैलोत्कीर्ण शैली में, तथा पूर्वी अंचल में ईसा-पूर्व दूसरी शती से लगभग पाँचवीं शती ई० तक निर्मित शैली में विकसित हुई।

दक्षिणापथ से तमिलनाडु की स्थिति भिन्न थी। वहाँ की पर्वत श्रेणियों में अनेक मनोहारी प्राकृतिक गुफाएँ हैं जिन्हें जैन मुनियों के आवास के योग्य बनाने के लिए उनमें प्रस्तर-शय्यायों और शिला-प्रक्षेपों का प्रावधान किया गया। विलक्षण बात यह है कि शय्याओं से युक्त ये गुफाएँ उस समय से बहुत पहले की हैं जब दक्षिणापथ में किसी जैन वास्तु-स्मारक का निर्माण किया गया होगा। समस्त तमिलनाडु में यत्र-तत्र स्थित ब्राह्मी-अभिलेखांकित ये गुफाएँ पूर्वी घाट के अनेक स्थानों, विशेष रूप से मदुरै के आसपास के क्षेत्र, में मिलती हैं।

ये आरंभिक जैन अधिष्ठान कई कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं: (१) वे इस क्षेत्र के प्राचीनतम प्रस्तर-स्मारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं, (२) ब्राह्मी लिपि में तमिल भाषा के प्राचीनतम अभिलेख उत्कीर्ण हैं और (३) वे तमिलनाडु में जैन धर्म के प्रारंभिक प्रसार का प्रमाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। फलस्वरूप, प्रस्तर और शैलोत्कीर्ण शैली की प्राचीनतम वास्तु-शिल्पीय गतिविधि और इस क्षेत्र में प्राप्त प्राचीनतम लेखों के अध्ययन में इनका अत्यधिक महत्त्व है, यद्यपि कलागत और सौंदर्यगत विकास की दृष्टि से वे किसी गतिविधि का आरंभ कदाचित् ही करते हैं। तथापि, धार्मिक स्थापत्य के उपयोग में लायी गयी प्रस्तर-सामग्री का प्रवर्तन उन आद्य प्रस्तर-स्मारकों में देखा जा सकता है जो अधिकांशतः जैन हैं। इसमें कम ही संदेह है कि इन गुफाओं ने परवर्ती काल में जैन और ब्राह्मण धर्मों की उन शैलोत्कीर्ण गुफाओं का मार्ग प्रशस्त किया जो उसी क्षेत्र में विकसित हुईं जहाँ ब्राह्मी अभिलेखांकित प्राचीन गुफाएँ विद्यमान हैं।

इन जैन-केन्द्रों की कुछ सामान्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक गुफाओं को इस प्रकार से परिवर्तित किया गया कि वे आवास के योग्य बन सकीं। ऊपर, बाहर की ओर लटकते हुए प्रस्तर-खण्ड को शिला-प्रक्षेप के रूप में इस प्रकार काटा गया कि उसने वर्षा के जल को बाहर निकालने तथा नीचे शरण-स्थल बनाने का काम किया। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शय्याएँ बनायी गयीं जिनका एक छोर तकिये के रूप में प्रयोग करने के लिए कुछ उठा हुआ रखा गया। शय्याओं को छेनी से काट-काटकर चिकना किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ पर तो पालिश भी की गयी थी।

दाता या आवासकर्ता के नामों के उल्लेखयुक्त ब्राह्मी अभिलेख या तो शय्याओं पर ही उत्कीर्ण हैं या ऊपर की ओर लटकते हुए शिला-प्रक्षेप पर।

इन गुफाओं के सामने स्तंभों पर आधारित खपरैल की छत के रूप में अतिरिक्त निर्माण-कार्य भी किया गया था। स्तंभों को स्थिर करने के लिए उकेरे गये कोटर आज भी कुछ गुफाओं के सामने शिलाओं पर देखे जा सकते हैं। गुफाएँ प्रायः झरनों के समीप स्थित हैं; जल की सुविधा-पूर्वक प्राप्ति के लिए ही ऐसे स्थानों को चुना गया था।

इन स्थानों पर प्रायः सर्वत्र परवर्ती काल अर्थात् सातवीं-नौवीं शताब्दियों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयीं जिनके साथ वट्टेजुत्तु[1] लिपि में अभिलेख भी मिलते हैं, जिनमें प्रसिद्ध जैन आचार्यों और कभी-कभी दाताओं के नाम का उल्लेख भी किया गया है। ये शिल्पांकन प्रायः प्रक्षिप्त शिला अथवा गुफा के समीप किसी सुविधाजनक स्थान या शिला पर किये गये हैं। इससे विदित होता है कि आठवीं-नौवीं शताब्दियों तक ये क्षेत्र निरंतर जैनों के अधिकार में रहे। इन शताब्दियों में उन स्थानों की स्थिति में परिवर्तन हुए क्योंकि या तो उन्हें जैनों ने स्वयं भंग कर दिया या वे वलपूर्वक शैव या वैष्णव-केन्द्रों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। ये परिवर्तन, निस्संदेह, उस संघर्ष के परिणाम थे जो एक ओर वौद्धों और जैनों तथा दूसरी ओर इनके तथा ब्राह्मण मतों के बीच उठ खड़ा हुआ था और जिसमें भक्ति-पंथ के समर्थकों ने ब्राह्मण मतों को गहरा आघात पहुँचाया। यह उल्लेखनीय है कि इस समूचे संघर्ष में, जैनों की चर्चा इन (प्रायः आठ) पर्वत-श्रेणियों के आवास-कर्ताओं के रूप में मिलती है। इनमें से अधिकांश पहाड़ियाँ मदुरै के आसपास हैं।

मदुरै के निकटवर्ती पहाड़ी क्षेत्र, कदाचित् तमिलनाडु, में जैनों के प्रमुख केन्द्र थे, क्योंकि ये वही क्षेत्र थे जहाँ अंततोगत्वा जैनों के कुछ सर्वाधिक प्रभावशाली चैत्यवास अस्तित्व में आये।[2] साथ ही मदुरै ही में वज्रनन्दी ने लगभग ४७० ई० में जैनों के द्राविड़-संघ की स्थापना की थी।

इस क्षेत्र में जैन ईसा-पूर्व दूसरी शती तक पहुँच चुके होंगे (मांगुलम् के प्राचीनतम ब्राह्मी अभिलेखों का यही समय माना गया है)। कर्नाटक से आरंभ होकर इस यात्रा का मार्ग कोंगुदेश (कोयंबत्तूर क्षेत्र) की पर्वत-श्रेणियों, तिरुच्चिरापल्लि के पश्चिमी क्षेत्र और वहाँ से पुदुक्कोट्टै के दक्षिण से होता हुआ मदुरै की पर्वत-श्रेणियों अर्थात् कर्नाटक की पहाड़ियों से मदुरै तक का विशाल क्षेत्र माना जा सकता है। तोण्डैमण्डलम् (चिगंलपट, उत्तर अर्काट और दक्षिण अर्काट जिले) की पर्वत-श्रेणियों में अवस्थित प्रस्तर-शय्याओं से युक्त गुफाओं से प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे कुछ जैन तमिलनाडु के उत्तरी अंचलों में भी पहुँचे थे। चोलदेश में तिरुच्चिरापल्लि और कावेरी के कछारों के पश्चिमी तटों को छोड़कर तोण्डैमण्डलम् के दक्षिण और पाण्ड्य राज्य के उत्तर में जैनों के प्रवेश के प्रमाण कम ही मिलते हैं।

---

[1] वट्टेजुत्तु एक प्रकार की शीघ्र लिखी जानेवाली लिपि है जो दक्षिणी क्षेत्र में ब्राह्मी से विकसित हुई.

[2] द्रष्टव्य : परवर्ती पृ 101 पर मुत्तुप्पट्टि (समणरमलै) के अंतर्गत.

सङ्गम साहित्य के नाम से ज्ञात तत्कालीन तमिल साहित्य जैनों और उनकी आचार-संहिता के लिए विख्यात है। जैनों की उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि, उनके दर्शन और सिद्धांतों का परिचय हमें शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलै नामक महाकाव्यों में ही देखने को मिलता है, जो लगभग पाँचवीं-छठी शती ई० के माने जा सकते हैं। यद्यपि, इन महाकाव्यों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् सङ्गम साहित्य मानकर इन महाकाव्यों को दूसरी शती ई० की रचनाएँ मानते हैं तो कुछ उन्हें आठवीं शती ई० जैसे परवर्ती काल का बताते हैं।

शिलप्पदिकारम् में स्पष्ट प्रमाण है, कि कावेरिप्पूम्पट्टिणम् जैसे महत्त्वपूर्ण नगरों और चेर देश (केरल) में जैन मंदिर विद्यमान थे। उपर्युक्त साक्ष्य के अनुसार ये निर्मित शैली के मंदिर थे और उनके निर्माण में ईंट, गारा और लकड़ी आदि सामग्री का उपयोग हुआ था जैसा कि सामान्यतः इस क्षेत्र में सातवीं शती के पूर्व तक होता रहा था।

शिलप्पदिकारम् में एक ऐसी संस्था का उल्लेख है जिसका महत्त्व और प्राचीनता ध्यान देने योग्य है। इस संस्था को गुणवायिर्कोट्टम् (एक मंदिर विशेष ?) कहते थे और वह चेर देश में स्थित बतायी गयी है। इलङ्गो अडिगल जो इस महाकाव्य का लेखक था, एक चेर राजकुमार था जिसने चेर के राजसिंहासन पर से अपना उत्तराधिकार छोड़कर संन्यास ले लिया था। संभवतः जैन दीक्षा लेकर वह गुणवायिर्कोट्टम् की सन्निधि में रहने लगा था। हाल ही में इस कोट्टम् की स्थिति चेर क्षेत्र में सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये हैं और संयोगवश, इस महाकाव्य का रचनाकाल अब आठवीं शती बताया गया है।[1] यद्यपि, यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस महाकाव्य से व्यक्त होनेवाले जैन प्रभाव की प्रकृति और इसमें उल्लिखित जैन संस्थाओं के विशेष विवरणों से यह अत्यंत असंभव लगता है कि ऐसी कोई संस्था उस समय अस्तित्व में आयी हो जब सातवीं शती का धार्मिक संघर्ष समाप्त ही हुआ था। यह भी नहीं लगता कि वह सातवीं-आठवीं शताब्दियों में हुए ब्राह्मण-विद्रोह के घातक परिणामों से स्वयं को किसी असाधारण सीमा तक सुरक्षित रख सकी हो। दूसरी ओर, यह बहुत संभव है कि मूल रूप में यह मंदिर ईंट और गारे से बनाया गया हो और बाद में उसे पाषाण से पुनर्निर्मित कर दिया गया हो, जिसके खण्डहर मध्य केरल के कोडुंगल्लूर (क्रैंगनोर) के समीप कुनवाय नामक स्थान पर स्थित माने जाते हैं।

आरंभिक काल के मंदिरों या चैत्यवासों जैसे किन्हीं महत्त्वपूर्ण जैन स्मारकों के अभाव में, शय्याओं से युक्त और ब्राह्मी-अभिलेखांकित इन प्राकृतिक गुफाओं का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि तमिलनाडु में इस काल के स्मारकों में केवल इन्हीं पर तिथि अंकित है।

---

1 नारायणन् (एम जी एस). न्यू लाइट ऑन कुणवायिरकोट्टम एण्ड द डेट ऑफ शिलप्पदिकारम. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री. 48; 1970; 691 तथा परवर्ती.

इन प्रतिष्ठानों के लिए ब्राह्मी अभिलेखों में जो संज्ञाएँ मिलती हैं वे हैं––पाज़ि (गुफा), पल्लि (गुफा और व्यापक अर्थ में विद्यालय), अतिट्टानम् (आसन या शय्या) और कंचणम् (शय्या)। कूर (छत), पिण-ऊ (पर्ण) और मुशगै (आवरण) आदि स्थापत्य-विषयक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

इन स्थानों से जुड़ी हुई असमंजस में डालनेवाली एक ऐसी परंपरा भी है जो उनका संवंध पाँच पाण्डव वीरों से जोड़ती है। दक्षिण भारत में ऐसे सभी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थानों का, जहाँ पुरावशेष विद्यमान हैं, स्थानीय अनुभूतियों के अनुसार महाकाव्यों की घटनाओं से वास्तव में अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यह तथ्य ब्राह्मण केन्द्रों के विषय में भी उतना ही सच है जितना कि जैन और वौद्ध स्थानों के विषय में। इसीलिए, ये पहाड़ियाँ और उनकी गुफाएँ, शय्याएँ और निर्झर सामान्यतः स्थानीय वोली में पंचपाण्डवमलै, पंचपाण्डवर टिप्प (या कुट्टु), पंचपाण्डवर पडुक्कै, ऐवर्शुनै आदि के नाम से जाने जाते हैं।

तमिलनाडु के प्राचीन जैन केन्द्रों का अग्रलिखित सर्वेक्षण मुख्यतः भौगोलिक और क्षेत्रीय सीमाओं के आधार पर है और इसमें उन केन्द्रों की काल-क्रमागत स्थिति का यथासंभव संकेत है।

गुफाओं का विवरण

मदुरै जिला

मदुरै तालुक :

१–आनैमलै (ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियाँ)––वैगै नदी के समीप स्थित इस ग्राम में एक प्राकृतिक गुफा है जिसमें एक ब्राह्मी अभिलेख है। इसमें कई शय्याओं के उत्कीर्ण किये जाने का उल्लेख है। गुफा की विशाल प्रक्षिप्त शिला पर जैन तीर्थंकरों तथा सिद्धायिका यक्षी की परवर्ती काल की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। अभिलेख की वट्टेजुत्तु लिपि में आठवीं-नौवीं शताब्दियों के विख्यात जैनाचार्यों में से एक अज्जणन्दि का भी उल्लेख है।

यह ब्राह्मी अभिलेख ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों का माना गया है।

२–अरिट्टापट्टि (ईसा-पूर्व द्वितीय – प्रथम शताब्दियाँ)––अज़गरकोयिल के मार्ग में मेलूर से आठ किलोमीटर पर अरिट्टापट्टि नामक ग्राम है। ग्राम में एक पहाड़ी है, जिसे वहाँ कज़िंजमलै कहते हैं। पहाड़ी के पूर्वी भाग में एक गुफा है जिसके शिला-प्रक्षेप पर एक परनाला उकेरा हुआ है। गुफा के शीर्ष पर उत्कीर्ण एक ब्राह्मी अभिलेख में उल्लेख है कि उस गुफा का दान नेल्वेलि[1] के

---

[1] रामन् (के वी) तथा सुब्बरायलु (वाइ). ए न्यू तमिल ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन इन अरिट्टापट्टि. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री. 49; 1971; 229–32.

चज़िवन अतनन् वोलियन ने किया था। इस अभिलेख में एक मुशगै अर्थात् धूप और पानी से वचाव के लिए गुफा के सामने लकड़ी की बल्लियों और ताड़पत्रों से वने हुए एक अस्थायी छप्पर के निर्माण का रोचक उल्लेख है।

यहाँ अज्जणन्दि की एक मूर्ति है, जिसपर उत्कीर्ण एक परवर्ती वट्ठेजुत्तु अभिलेख में उनके नाम का उल्लेख है।

३–मांगुलम् (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)—यह ग्राम अरिट्टापट्टि के समीप है और यहाँ की पहाड़ी कज़ुगुमलै कहलाती है। पहाड़ी पर गुफाएँ हैं जिनमें शैलोत्कीर्ण शय्याएँ और छह ब्राह्मी अभिलेख हैं। इनमें से चार अभिलेखों में जैन आचार्य कणिनन्द का नाम आया है। प्राचीनतम ब्राह्मी अभिलेख संभवतः यहीं हैं और इनकी पुरालिपि के आधार पर तथा एक प्राचीन पाण्ड्य नेडुजेज़ियन् के संदर्भ के कारण इनका समय ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ मांना गया है (चित्र ३९ क)।

इनमें से एक अभिलेख में उल्लेख है कि वेल-अरै नामक स्थान से आये किसी निगम के एक व्यापारी ने जाली (पर्ण ? ; पिण-ऊ) वनवायी।

४–मुत्तुप्पट्टि (समणरमलै) (ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियाँ)—मदुरै के पश्चिम में आठ किलोमीटर दूर, पूर्व-पश्चिम तीन किलोमीटर फैली हुई चट्टानी पहाड़ियों की एक श्रेणी समणरमलै (समणों या जैनों की पहाड़ी) कहलाती है। इन पहाड़ियों का दक्षिण-पश्चिमी छोर कीज़कुयिलकुडि (कीज़क्कुडि) ग्राम के सामने और उत्तर-पश्चिमी छोर मुत्तुप्पट्टि ग्राम के निकट पड़ता है। इन पहाड़ियों पर विभिन्न स्थानों पर शय्याओं और ब्राह्मी अभिलेखों सहित अनेक गुफाएँ हैं। पहाड़ियों पर आठवीं-नौवीं शताब्दियों की वट्टेजुत्तु लिपि में अभिलेखांकित परवर्ती जैन मूर्तियाँ मिलती हैं।

मुत्तुप्पट्टि के पास की गुफाओं में शय्याएँ हैं जिन्हें स्थानीय वोली में पंच-पांडवर-पडुक्कै कहते हैं। इनके ब्राह्मी अभिलेखों में आवासकर्ताओं और दाताओं के नामों का उल्लेख है। आठवीं-नौवीं शताब्दियों की मूर्तियाँ महावीर, उनके अनुचरों और उनके देव-देवियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कीज़क्कुडि के समीप पेच्चिपल्लम और पेट्टिप्पोडलु नामक दो गुफाएँ हैं। इनमें से दूसरी कोंगर पुलियंगुलम् नामक ग्राम के सामने स्थित है। कोंगर पुलियंगुलम् (सेत्तिप्पोडवु गुफा) के ब्राह्मी अभिलेख रोचक हैं, क्योंकि उनमें उल्लेख है कि गुफा की रक्षा के लिए कूर या वितान, पत्तों और घास-फूस का उपयोग किया गया। यहाँ की और पेच्चिपल्लम् की आठवीं / नौवीं शताब्दी की मूर्तियों में पार्श्वनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों और अंबिका, अजिता, आदि यक्षियों की मूर्तियाँ हैं। उनमें प्रख्यात जैनाचार्य अज्जणन्दि की मूर्ति भी है।

समणरमलै नामक पहाड़ियों की पूरी श्रेणी वेण्बुनाडु में स्थित कुरण्डि के तिरुक्काट्टाम्पल्लि नामक जैन विहारों का केन्द्र रही, जैसा कि नौवीं और परवर्ती शताब्दियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है। तमिलनाडु के चैत्यवासों में यह कदाचित् सबसे बड़ा था, क्योंकि इस प्रतिष्ठान के सदस्यों का उल्लेख सुदूर दक्षिण में चित्राल या त्रिवेन्द्रम के दक्षिण में तिरुचराणन्तुमलै तक और सुदूर उत्तर के उत्तर अर्काट जिले में स्थित करण्डै तक के अभिलेखों में मिलता है।

५–तिरुप्परंकुरम् (ईसा-पूर्व द्वितीय शती से द्वितीय शती ई० तक)—यह स्थान सुब्रह्मण्य की पूजा के लिए विख्यात है और अब यहाँ एक पाण्ड्यकालीन (नौवीं शती) शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर के साथ निर्माण किये गये भवनों का विशाल समूह विद्यमान है। इस पहाड़ी पर सर्वप्रथम जैनों का आवास था। पहाड़ी के एक अन्य भाग में सरस्वती तीर्थ नामक एक बहुत ऊँचे स्थान पर शय्याओं सहित प्राकृतिक-गुफाएँ विद्यमान हैं। उनमें चार ब्राह्मी अभिलेख हैं, जिनमें से एक इसलिए महत्त्व का है कि उसमें उल्लेख है कि श्रीलंका के एक गृहस्थ ने इस प्रतिष्ठान का निर्माण कराया था। इस गुफा के समीप विद्यमान बाहुबली और पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ, अन्य मूर्तियों की भाँति आठवीं-नौवीं शताब्दियों की हैं।

६–वरिच्चियुर (कुन्नत्तूर) (ईसा-पूर्व द्वितीय शती से द्वितीय शती ई० तक)—वरिच्चियुर में इस पहाड़ी पर तीन अभिलेखों में प्रस्तर-शय्याओं का कचण (शय्या या आवास) के रूप में उल्लेख है। पाळि (या पल्लि) वह शब्द है, जो गुफा या कंदरा के लिए इन सभी प्राचीन अभिलेखों में सामान्यतः पाया जाता है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग कालांतर में जैनों के (और बौद्धों के भी) चैत्यवास या किसी धार्मिक प्रतिष्ठान के अर्थ में होने लगा। पल्लि शब्द का भी अर्थ-विस्तार हुआ और उससे विद्यालय या शैक्षणिक संस्थान का बोध होने लगा। प्राचीन भारत में जैनों और बौद्धों की प्रसिद्धि महान् शिक्षाशास्त्रियों के रूप में भी रही है।

मेलूर तालुक :

७–अऴगरमलै (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)—पंचपाण्डव शय्याएँ और ब्राह्मी अभिलेख अऴगरमलै (प्राचीन तमिल साहित्य का इरुन्कुन्रम) में भी प्राप्त हुए हैं। इस स्थान ने कालांतर में मुरुग (सुब्रह्मण्यम्) और विष्णु की पूजा के एक प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में पर्याप्त विकास किया। इस प्रकार के जैन प्रतिष्ठानों का ब्राह्मण्य प्रतिष्ठानों के रूप में परिवर्तन तमिलनाडु के प्रायः सभी जैन (और कुछ बौद्ध) प्रतिष्ठानों के लिए एक साधारण-सी बात बन गयी थी। अऴगरमलै की जैन मूर्तियों (आठवीं-नौवीं शताब्दियों) में से एक जैन आचार्य अज्जणन्दि की है।

८–करुंगालक्कुडि (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)—पंचपाण्डवरकुट्टु नामक पहाड़ी पर स्थित इस ग्राम में शय्याओं से युक्त गुफाएँ मिली हैं। यहाँ के एक ब्राह्मी अभिलेख में गुफा के लिए पालि शब्द का प्रयोग हुआ है।

९–कीज़वलवु (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)––कीज़वलवु की पंचपाण्डवमलै में विशाल चट्टानें और गुफाएँ हैं। यहाँ के ब्राह्मी अभिलेख में तोण्टि के एक श्रावक द्वारा इस चैत्यवास की स्थापना का उल्लेख है।

१०–तिरुवादवूर (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)––इस ग्राम में भी ब्राह्मी अभिलेखांकित गुफाएँ हैं।

तिरुमंगलम् तालुक :

११–विक्किरमंगलम् (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)––नागमलै नामक स्थान पर गुफाओं और शय्याओं सहित उण्डाङ्कल्लु नामक एक विशाल चट्टान है, जिसके ब्राह्मी अभिलेखों में उन लोगों के नाम आये हैं, जो इन गुफाओं में रहते थे या जिन्होंने उनका दान किया।

नीलक्कोट्टै तालुक :

१२–मेट्टुपट्टि (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)––इस ग्राम की सिद्धरमलै (सिद्धों की पहाड़ी) नामक पहाड़ी पर शय्याओं युक्त गुफाएँ हैं। चट्टान के शय्याओं युक्त निचले भाग को कमल की पंखुड़ियों का-सा आकार दे दिया गया है। इसी पीठ पर एक वृत्त के भीतर चरण-युगल उत्कीर्ण हैं, जिनके बीच में एक कमल बना है। कहा जाता है, ये चरण तांत्रिक मत के व्याख्याता सहजानन्दनाथ के हैं (?)।[1] यहाँ ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों के, दाताओं के नामोल्लेख सहित नौ ब्राह्मी अभिलेख हैं।

मदुरै जिले के उत्तमपलैयम्, ऐवरमलै (ऐयम्पलय्यम्), कुप्पल्नत्तम् (पोयगैमलै) और पलनि (पंचवर्नप्पादुक्कै) की पहाड़ियों पर भी शय्याओं सहित या शय्याहीन गुफाएँ हैं। इन स्थानों के ब्राह्मी अभिलेखों की कोई सूचना नहीं है, तथापि वहाँ विद्यमान आठवीं-नौवीं शताब्दियों की मूर्तियों से स्पष्ट है कि ये स्थान जैनों से संबद्ध रहे हैं।

रामनाथपुरम् जिला

१३-१४–पिल्लैयर्पत्ति (पाँचवीं शती ई०) और कुलक्कुदि (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ)––उपर्युक्त जिले के तिरुप्पत्तुर तालुक में स्थित हैं, इनमें ब्राह्मी अभिलेख हैं पर दोनों ही स्थानों के गुफा-मंदिर शैलोत्कीर्ण हैं और दोनों ही शैवमत से संबंध रखते हैं; जैनों से उनके प्राचीन संबंधों का प्रमाण बहुत ही कम मिलता है।

---

[1] एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी* 1907-08. भाग 2. अनुच्छेद 99. अभिलेख 1908 का 47. (*आगे के पृष्ठों में एम० ई० आर० के नाम से उल्लिखित).

तिरुनेल्वेलि जिला

१५-१६—मरुकल्तलै (चिवलप्पेरि) (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) और वीर-शिखामणि तिरुनेल्वेलि तालुक में स्थित हैं, उनमें शय्याओं और ब्राह्मी अभिलेखों से युक्त गुफाएँ हैं। मरुकल्तलै अभिलेख में प्रस्तर-शय्या के लिए कंचणम् शब्द का प्रयोग हुआ है। वीरशिखामणि में प्रस्तर-शय्याओं के अतिरिक्त एक चरण-युगल भी है जो एक वर्ग के भीतर कमल पर उत्कीर्ण है। एक परवर्ती अभिलेख[1] के अनुसार यह चरण युगल भी सहजानन्दनाथ का है।

तिरुनेल्वेलि जिले के सेन्दमरम्, मलैयदिक्कुरिच्चि और तिरुमलैपुरम में भी कुछ प्रस्तर शय्याएँ और जैन मूर्तियाँ होने की सूचना मिली है।

तिरुच्चिरप्पल्लि जिला

१७—तिरुच्चिरप्पल्लि (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ)——तिरुच्चिरप्पल्लि में सुनहरी चट्टान नामक पहाड़ी पर शय्याओं से युक्त एक गुफा है। पल्लि शब्द का प्रयोग इस संदर्भ में स्थानवाची नाम के प्रत्यय के रूप में हुआ माना जा सकता है, जो इसके आरंभिक जैन संबंधों के कारण बन पड़ा है, क्योंकि यह शब्द सभी जैन प्रतिष्ठानों, विशेषतः विद्यालयों, के लिए प्रयोग में आया है। प्रस्तर-शय्याओं में से एक पर ब्राह्मी अभिलेख है, जिसे संदेह के साथ चेण्कयपन्[2] पढ़ा गया है।

यहाँ शैव मत के सातवीं शती के गुफा-मंदिर हैं और इन गुफाओं का निर्माण पल्लव शासक महेन्द्र वर्मन् (लगभग ५८०-६३०) के द्वारा किया गया माना गया है। यदि यह परंपरा सही है कि यह पल्लव शासक जैन से शैव हो गया था और तिरुचिरप्पल्लि के शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर उसके द्वारा उत्कीर्ण कराये गये मंदिरों में से प्राचीनतम हैं तो यह केन्द्र उन स्थानों में से एक माना जायेगा जहाँ कालांतर में जैन प्रतिष्ठानों को शैव और वैष्णव प्रतिष्ठानों के रूप में परिवर्तित किया गया या उनके स्थान पर शैव और वैष्णव प्रतिष्ठान निर्मित किये गये।

१८—तिरुच्चिरप्पल्लि जिले के कुलित्तलै तालुक में स्थित शिवयम् में पाँच मीटर ऊँची एक सुन्दक्कपरै नामक अद्भुत चट्टान है। उसमें एक पंक्ति में उत्कीर्ण पाँच शय्याएँ हैं। उसकी एक चोटी पर एक चतुष्कोण पीठिका है, जिसपर महावीर और उनके अनुचरों की परवर्ती मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कुछ परवर्ती अभिलेख भी हैं, जिनमें जैन आचार्यों के नामों का उल्लेख है।[3]

---

[1] एम० ई० आर०, 1907-08. भाग 2. अनुच्छेद 20. 1908 का 42.

[2] महादेवन (आई). **कॉर्प्स ऑफ तमिल ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस**. 1966. मद्रास. पृ 11.

[3] 1913 का 50.

१९–शित्तन्नवासल (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)---इन प्राचीन जैन प्रतिष्ठानों (चित्र ३९ ख) में सर्वाधिक उल्लेखनीय और ईसा-पूर्व द्वितीय शती से नौवीं शती ई० तक निरंतर जैनों के प्रभुत्व में रहा एक प्रतिष्ठान शित्तन्नवासल है जो तिरुच्चिरप्पल्लि जिले (भूतपूर्व पुदुक्कोट्टै रियासत) के तिरुमयम् तालुक में स्थित में है।

स्थानीय पहाड़ी पर एलदिपत्तम् नामक एक प्राकृतिक गुफा है, उससे लगे हुए सात ऐसे चौकोर गड्ढे हैं जो गुफा तक पहुँचने में सीढ़ियों का काम करते हैं। वितान का काम देनेवाली ऊपरी प्रक्षिप्त शिला से इस गुफा की लम्बाई बढ़ गयी है। प्रस्तर-शय्याएँ छेनी से चिकनी की गयी हैं। एक शय्या के समीप लगभग ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों का एक ब्राह्मी अभिलेख (चित्र ४०) है। उसमें एरुमिनाटु (कर्नाटक क्षेत्र ?) के कुमुलूर में उत्पन्न किसी काविटु-इतेण् नामक व्यक्ति के लिए चिरुपाविल इलयरे द्वारा अतिट्-अणम (शय्या या आसन) के बनाये जाने का उल्लेख है।

पहाड़ी की दूसरी ओर, उक्त प्राकृतिक गुफा से नीचे के स्थान पर जैन मत का एक गुफा-मंदिर है (द्रष्टव्य : अध्याय १९)। मूलतः सातवीं शती में उत्कीर्ण किये गये इस गुफा-मंदिर का नौवीं शती में नवीनीकरण तथा पुनः अलंकरण किया गया, जिससे ज्ञात होता है कि यह जैन-केन्द्र निरंतर एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक महत्त्वपूर्ण रहा।

२०–नर्त्तमलै---शित्तन्नवासल के उत्तर में नर्त्तमलै के समीप तीन पहाड़ियों का एक और समूह है जिनमें से एक का नाम अम्मचलम् पहाड़ी (या अलुरुत्तुमलै) है। गुफा के ऊपर की प्रक्षिप्त शिला पर पालिशयुक्त शय्याएँ और सातवीं-नौवीं शताब्दियों की परवर्ती जैन मूर्तियाँ हैं।

२१–तेनिमलै (तेनुर्मलै)---उसी क्षेत्र में एक अन्य पहाड़ी है तेनिमलै, जिसके पूर्वी भाग में एक अन्दर-मदम् नामक प्राकृतिक गुफा है, जहाँ प्राचीन काल में जैन मुनि तपस्या किया करते थे। इस गुफा के पार्श्व में सातवीं-नौवीं शताब्दियों की कुछ जैन मूर्तियाँ हैं (चित्र ४१)।

करूर तालुक :

२२–पुगलूर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ ?)पुगलूर में अरुनत्तर पहाड़ी पर शय्याओं से युक्त गुफाएँ हैं (चित्र ४२)। इन शय्याओं के उष्णीष पर बारह छोटे ब्राह्मी अभिलेख उत्कीर्ण हैं। एक चेर राजकुमार के द्वारा बनवाये गये अधिष्ठान या आवासगृह का दाता के रूप में यारुंर के एक श्रमणन (दिगंबर जैन साधु) चेरिकायमन् का उक्त अभिलेखों में से तीन में उल्लेख है। इन अभिलेखों का समय ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ माना गया है। ये और कोयम्बतूर जिले के अरच्चलु के तीन अभिलेख कर्नाटक से तमिलनाडु, विशेषतः मदुरै क्षेत्र की ओर, जानेवाले मार्ग पर स्थित कोंगुदेश (वर्तमान कोयम्बतूर, इरोद, सलेम और करूर क्षेत्र) के प्राचीन अभिलेखों में विशेष

महत्त्व के हैं। तथापि, यह आश्चर्यजनक है कि यहाँ के ब्राह्मी अभिलेखों का समय मदुरै के अभिलेखों से बाद का माना जाता है। यह आशंका बहुत तर्कसंगत होगी कि अलग-अलग अक्षरों के विकास की अवस्थाओं का बोध करानेवाले इन ब्राह्मी अभिलेखों का समयांकन अन्य ऐतिहासिक और भौगोलिक आधारों को महत्त्व न देते हुए केवल पुरालिपि-विज्ञान के आधार पर विश्वसनीय है या नहीं। यह सुझाव उपयुक्त होगा कि पाण्ड्य राज्य के मध्यभाग की ओर बढ़ते हुए जैन इन पहाड़ियों के परिसर में ठहरे थे।

२३—अरुनत्तर पहाड़ी के लगभग १० किलोमीटर दूर अर्धनारीपलैयम् नामक स्थान है, जिसमें एक चट्टान पर छेनी से शय्याएँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इस चट्टान के पार्श्व में ऐवरसुनै (पाँचों का स्रोत)[1] नामक एक जलस्रोत है।

कोयम्बतूर जिला

इरोद तालुक :

२४—अरच्चलूर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ) – अरच्चलूर के ब्राह्मी अभिलेखों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनमें से एक दाता के रूप में तेवन् चाट्टन् नामक जौहरी का नाम आता है।

उत्तर अर्काट जिला

चेय्यर तालुक :

२५—ममन्दुर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ)—यह उन स्थानों में से है, जहाँ के प्राचीन जैन प्रतिष्ठानों को या तो नया आकार दिया गया या वे शैव रूप में परिवर्तित कर दिये गये। एकमात्र ब्राह्मी अभिलेखयुक्त यह गुफा स्थानीय पहाड़ी की दुर्गम ऊँचाई पर स्थित है और अभिलेख में उल्लेख है उस राजा का, जिसने तेनूर पर आधिपत्य किया और उस तचन(राजगीर)का, जिसने इस कुण्रु या पहाड़ी को काटा। विशेष महत्त्व तो इस पहाड़ी के शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिरों का है, जिनका समय महेन्द्रवर्मन-प्रथम का शासनकाल माना जा सकता है, जिसके जैन धर्म से शैव धर्म में परिवर्तित होने का आधार तेवारम् तथा शैवों के संत-चरित-साहित्य की परिपुष्ट परंपरा में विद्यमान है।

२६—उत्तर अर्काट जिले के सेदुरम्पत्तु में भी प्रस्तर-शय्याएँ हैं, जिनपर प्रक्षिप्त शिला वितान की भाँति छायी हुई है। इनमें से एक शय्या पर उत्कीर्ण एक त्रिच्छत्र से इस स्थान का जैन संबंध निस्संदेह रूप से सिद्ध होता है।[2]

---

[1] एम० ई० आर०, 1927-28. भाग 2. अनुच्छेद 1.

[2] एम० ई० आर०, 1939-40 से 1942-43. भाग 2. अनुच्छेद 158.

दक्षिण अर्काट जिला

२७—तिरुनाथरकुण्रु (सिरुकदम्बुर) (पाँचवी शती ई०)—इस ग्राम की एक विशाल शिला पर चौबीस तीर्थंकरों की बहुत-सी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। लगभग पाँचवीं शती—संक्रमण-काल—के दो परवर्ती ब्राह्मी अभिलेख हैं, जिनमें चन्दिरनन्दि और इलयपडारन् नामक दो जैन आचार्यों की निषिधियों का उल्लेख है, जिन्होंने क्रमशः सत्तावन और तीस दिन का उपवास किया।

२८—सोलवन्दिपुरम् में जैन देवताओं की मूर्तियों सहित चट्टानों का एक अन्दिमलै नामक समूह है। कुछ प्रस्तर शय्याएँ हैं, पर उनपर कोई अभिलेख नहीं है।

चित्तूर जिला (आन्ध्र प्रदेश)

प्राचीन तमिलनाडु के सुदूर उत्तरी भाग में (जो अब आन्ध्र प्रदेश का भाग वन गया है) कन्निकपुरम् और नगरी नामक स्थानों पर पंचपाण्डव शय्याओं सहित कुछ गुफाएँ हैं। इन स्थानों से कोई अभिलेख नहीं मिला है।

रं० चम्पकलक्ष्मी

भाग 3

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 से 600 ई०

अध्याय 10

मथुरा

उपलब्ध सामग्री

चौथी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में गुप्त-शासकों के प्रादुर्भाव के साथ ही जैन कला और स्थापत्य को मथुरा में गहरा धक्का लगा प्रतीत होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ एक ओर पूर्व-गुप्तकालीन लाल चित्तीदार बलुए पत्थर की अनेकों तीर्थंकर मूर्तियाँ, आयाग-पट, चैत्य-स्तंभ, वेदिका-स्तंभ, उष्णीष-स्तंभ सरदल और शिल्पांकित वास्तु-अवशेष प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर गुप्तकाल में इस प्रकार की कलाकृतियों की संख्या में आश्चर्यजनक कमी हुई है। पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा (पु० सं० म०) और राज्य संग्रहालय, लखनऊ (रा० सं० ल०) में जहाँ मथुरा के अधिकांश पुरावशेष संग्रहीत हैं, क्रमशः केवल अड़तीस और इक्कीस ऐसी जैन मूर्तियाँ संगृहीत हैं, जिन्हें निश्चय रूप से गुप्त-युगीन कहा जा सकता है। इस प्रकार की कितनी मूर्तियाँ इस देश के अन्य संग्रहालयों में तथा कितनी विदेशों में हैं, इसकी ठीक-ठीक सूचना सुगमता से उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल की मथुरा-कलाकृतियाँ पर्याप्त संख्या में कहीं भी नहीं हैं।

गुप्त-काल की वास्तु-कलाकृतियों की स्थिति और भी शोचनीय है। लखनऊ या मथुरा संग्रहालय में से किसी में एक भी महत्त्वपूर्ण जैन कृति नहीं है। और न वहाँ मृण्मूर्तियाँ ही हैं।

उक्त तथ्यों के कारण स्वाभाविक रूप से ही यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि कुषाणकाल के पश्चात्, मथुरा में जैन धर्म को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी, किन्तु इसके क्या कारण थे, यह बता सकना कठिन है। यह विवरण तो प्राप्त होता है कि जैनों और बौद्धों में वाद-विवाद हुआ था, जिसमें जैनों की विजय हुई थी।[1] यदि जैनों की यह विजय तात्कालिक रही हो और गुप्त-काल में बौद्ध मथुरा में पर्याप्त प्रभावशाली भी थे, तो भी यह वाद-विवाद जैन धर्म की जड़ों को हानि नहीं पहुँचा सकता था।

---

[1] **व्यवहारभाष्य.** 5,27,28. / जिनप्रभ. **विविध-कल्पसूत्र.** संपा : जिनविजय. 1934. शान्तिनिकेतन. पृ 17-18.

ब्राह्मण पंथों को राज्याश्रय का मिलना एक और कारण बताया जा सकता है, किन्तु केवल यही एकमात्र कारण नहीं हो सकता। स्कंदगुप्त के कहाऊँ अभिलेख (४६०-६१ ई०) से यह प्रमाण मिलता है कि जैन धर्म का अस्तित्व अन्य स्थानों में था, क्योंकि गुप्त-शासक सहिष्णु थे।

कारण जो भी रहा हो, यह एक सत्य है कि गुप्त-काल में मथुरा में जैनों ने अपनी लोकप्रियता खो दी थी। फिर भी जैनों का मथुरा में अपना संगठन था और जैन धर्म को गृहस्थों का किसी न किसी रूप में समर्थन मिलता रहा। बड़े और सामान्य आकार की जैन प्रतिमाएँ बनती रहीं और मंदिरों में प्रतिष्ठित भी की जाती रहीं, किन्तु चरमोत्कर्ष का समय अब नहीं रह गया था।

मथुरा से प्राप्त सामग्री निम्नलिखित मूर्तियों के रूप में है :

(१) ध्यानस्थ[1] मुद्रा में आसीन तीर्थंकरों की पच्चीस मूर्तियाँ (चार के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४३-४६)।

(२) खड्गासन[2] मुद्रा में तीर्थंकरों की छह मूर्तियाँ (दो के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४७)।

(३) तीर्थंकर मूर्तियों के तेईस वियुक्त सिर[3] (तीन के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४८-५०)।

(४) कुछ खंडित कृतियाँ[4]।

आयागपटों और सरस्वती, बलभद्र, धरणेन्द्र जैसे जैन देवताओं या अन्य शासन-देवों या शासन-देवियों की पृथक् मूर्तियों का तो स्पष्ट रूप से अभाव है। यहाँ तक कि सर्वतोभद्र मूर्तियाँ तो लगभग न मिलने के समान हैं। मथुरा संग्रहालय में जो एक मूर्ति है भी (पु० सं० म० : बी–७५) वह परवर्ती संक्रमणकाल अर्थात् लगभग सातवीं / आठवीं शताब्दी की है।

अव जो सामग्री उपलब्ध है, उसपर विस्तार से विचार किया जायेगा।

---

[1] रा० सं० ल० : जे–36, जे–52, जे–89, जे–104 (चित्र 43), जे–118 (चित्र 44), जे-119, जे–122, जे–139, जे–584 (?), ओ–181 (चित्र 45); पु० सं० म० : वी–1, बी–6, बी–7 (चित्र 46), बी–11, वी–28, वी–31, वी–33, वी–74, वी–75, 15·959, 15·983, 18·1388, 54·3769, 57·4338, 57·4382.

[2] रा० सं० ल० : जे–83, जे–86, जे–100 जे–121; (चित्र 47 क), पु० सं० म० : बी-33, 12·268 (चित्र 47 ख).

[3] रा० सं० ल० जे–59 (केवल सिर), जे–164 (चित्र 50) जे–168, जे–175, जे–176, जे–200, जे–207, जे–222; पु० सं० म० : ए–35, वी–44 (चित्र 48), वी-45, बी–46, वी–48, वी–49, वी–50, बी-53, वी–59, वी–60, वी–61, 11·134, 15·565, 15·566, 29·1941, 33·2348 (चित्र 49), 67·189.

[4] रा० सं० ल० : जे–2 ; पु० सं० म० : 14.488, 15·624.

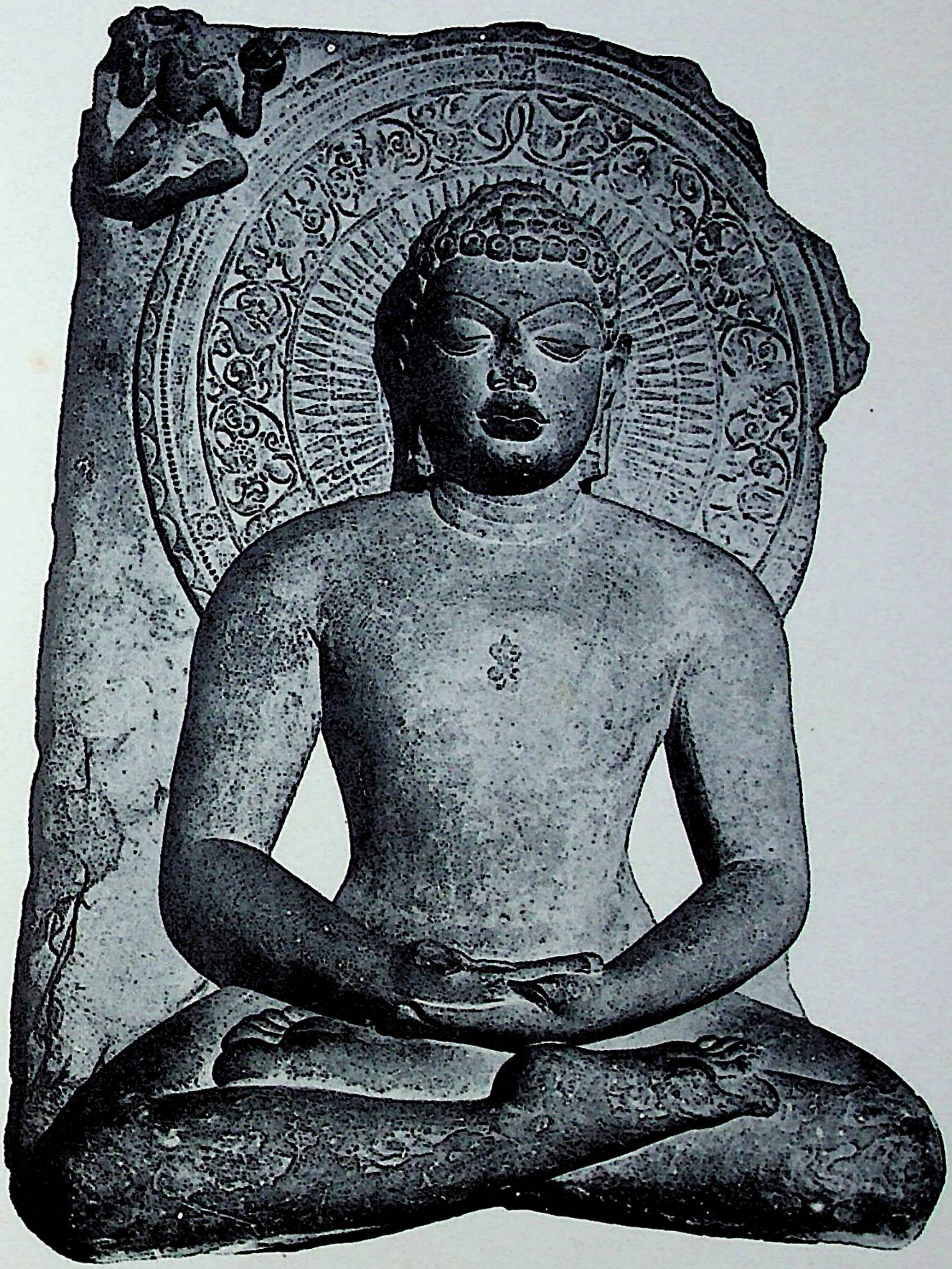

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 43

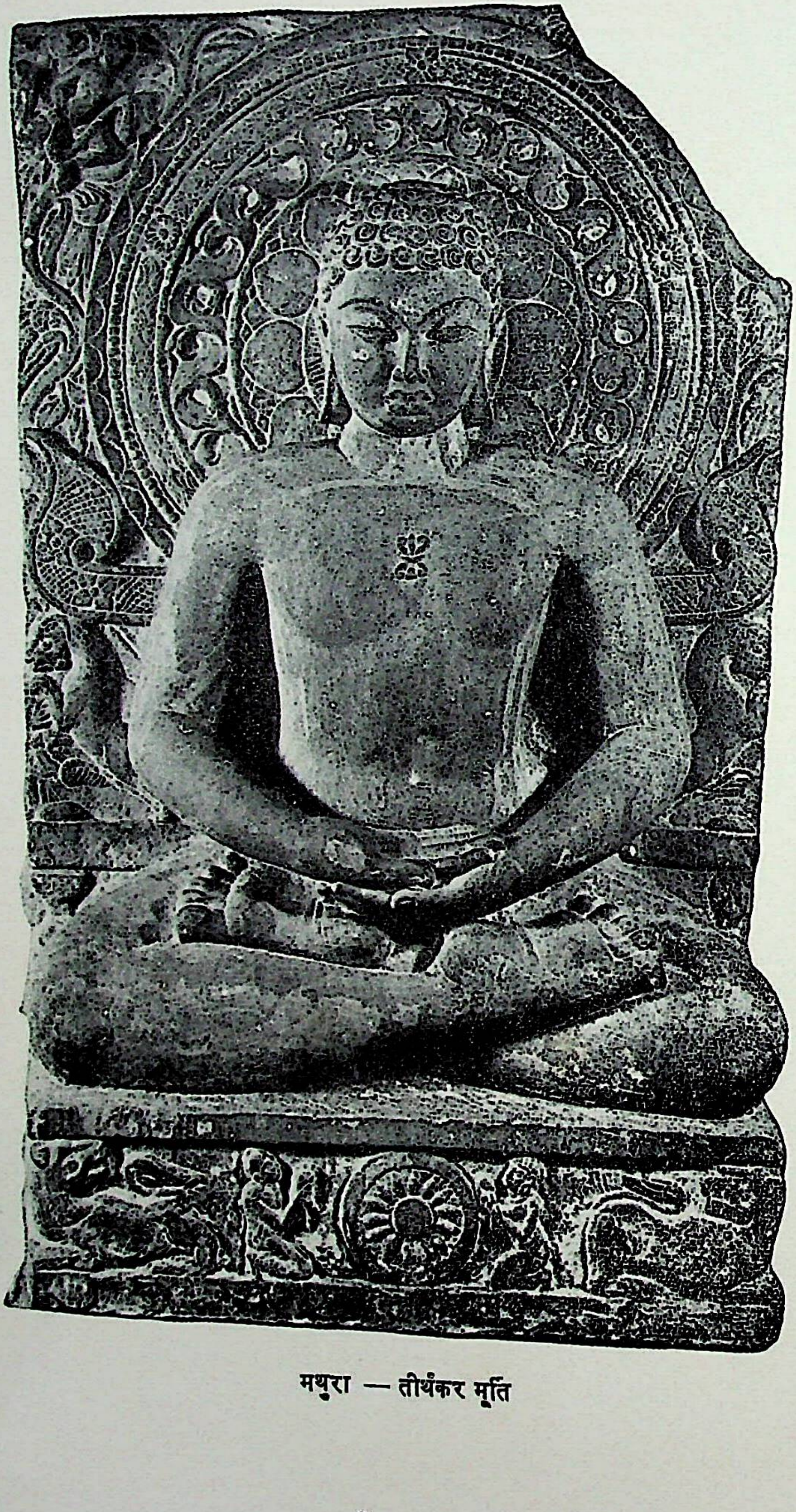

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 44

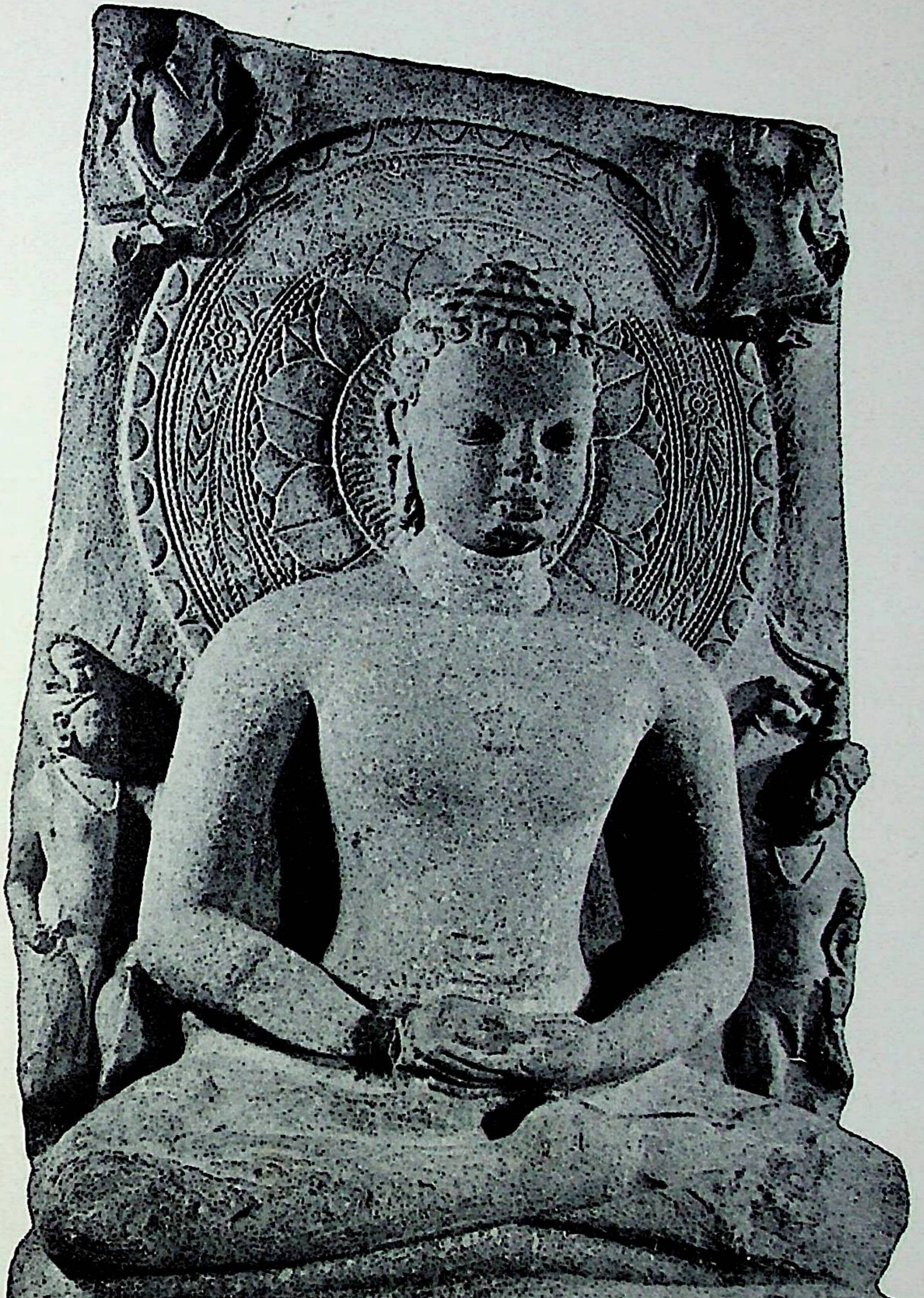

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 45

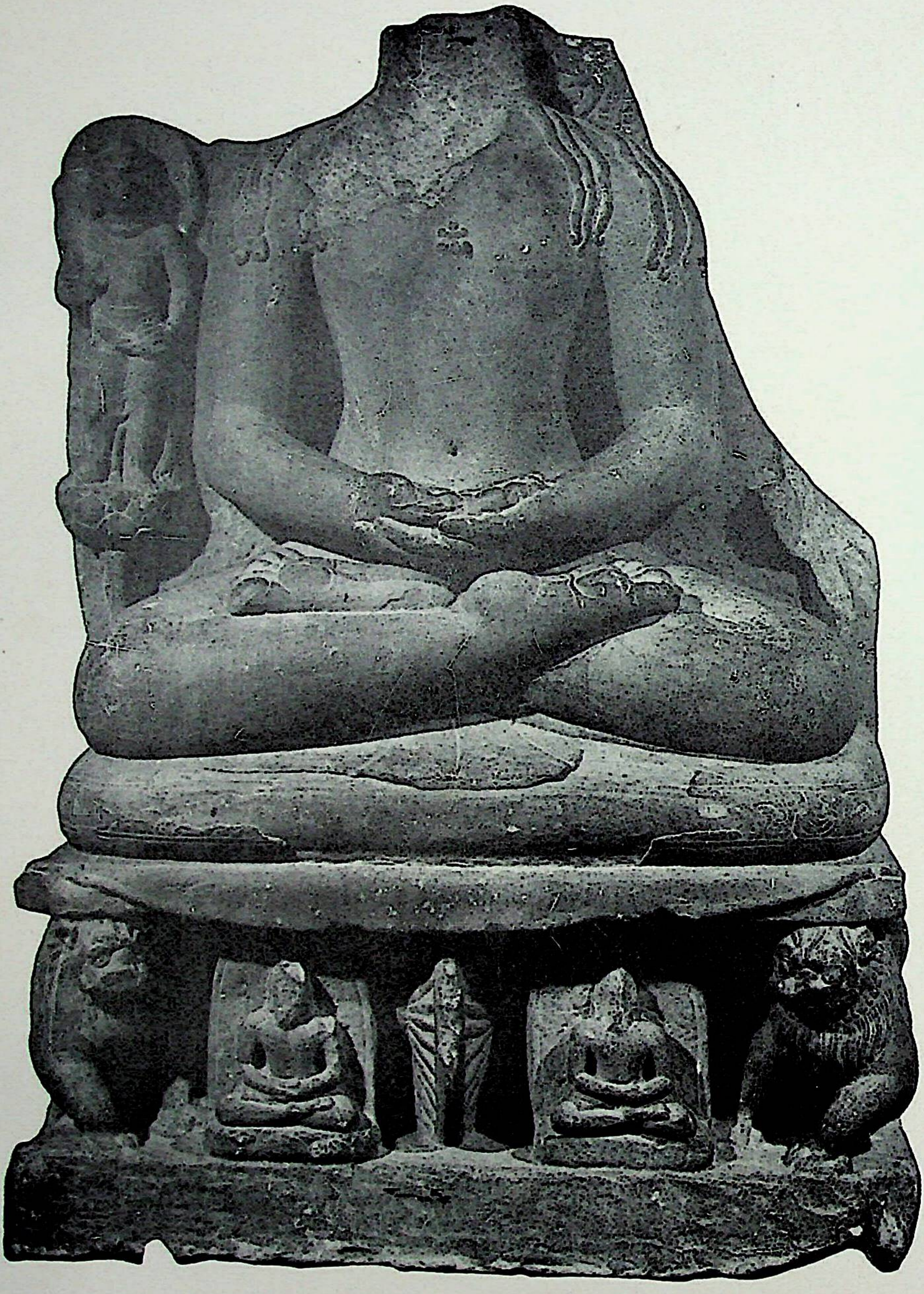

मथुरा — तीर्थंकर ऋषभनाथ

चित्र 46

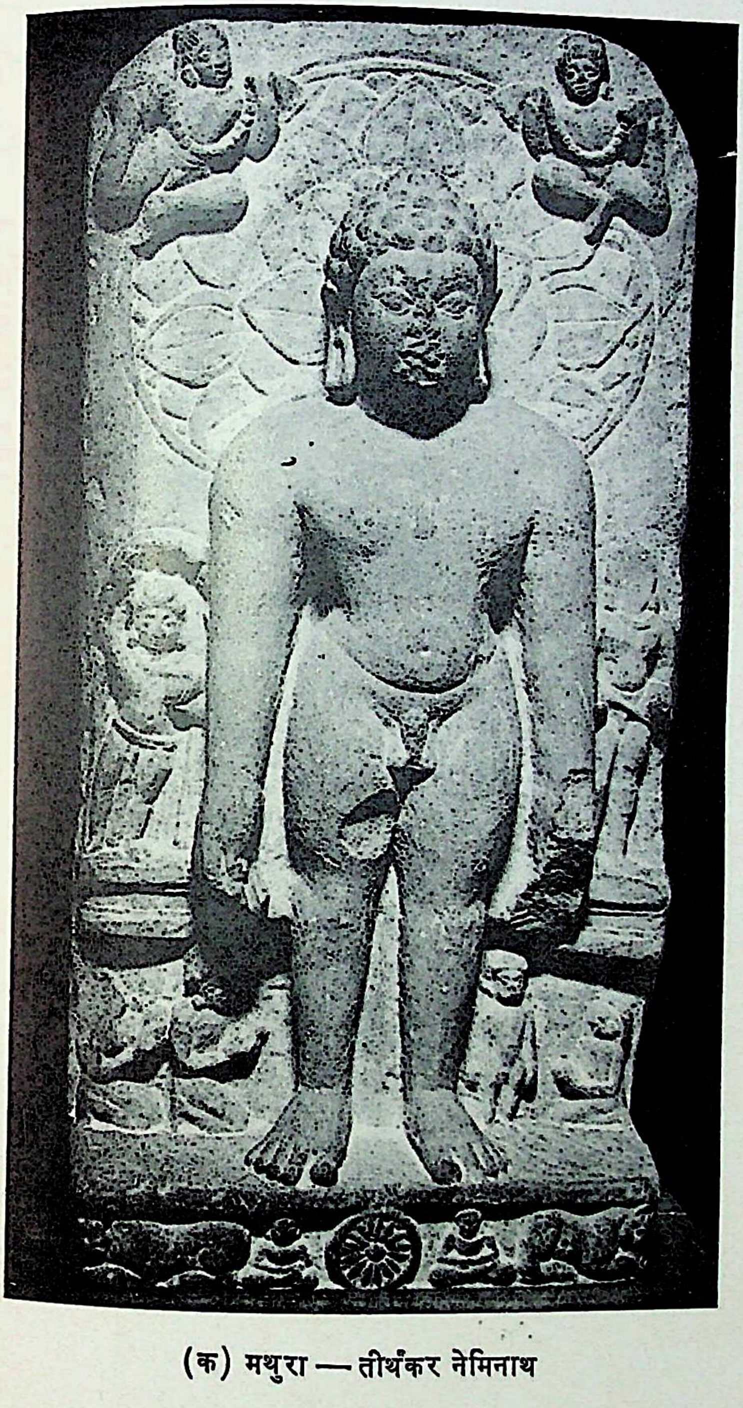

(क) मथुरा — तीर्थंकर नेमिनाथ

(ख) मथुरा — तीर्थंकर ऋषभनाथ

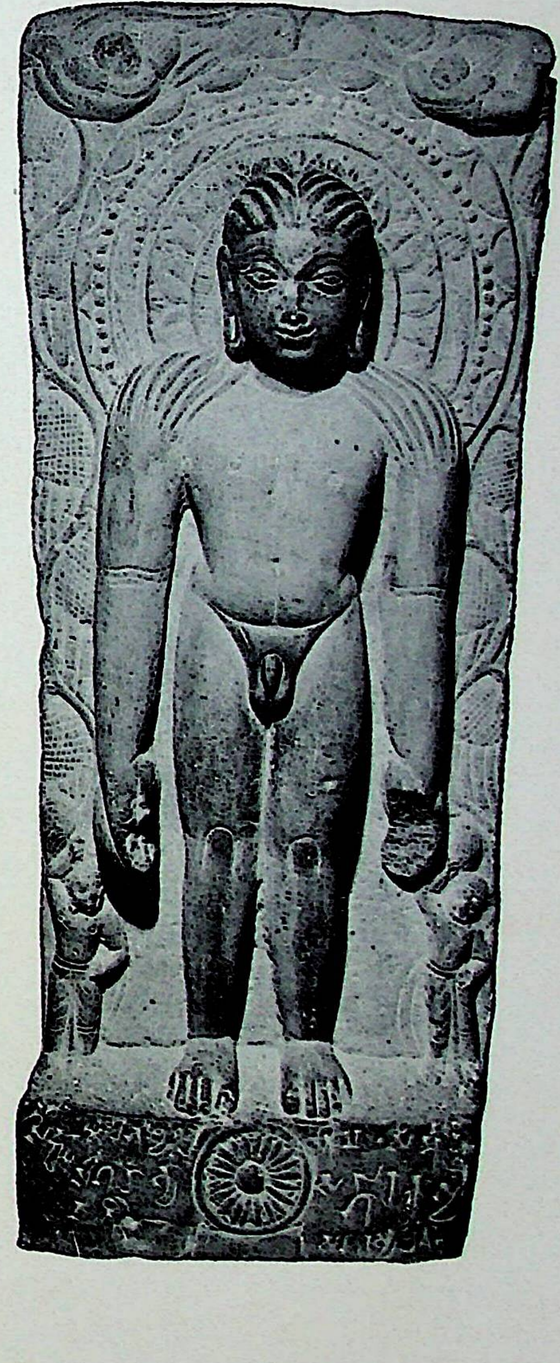

चित्र 47

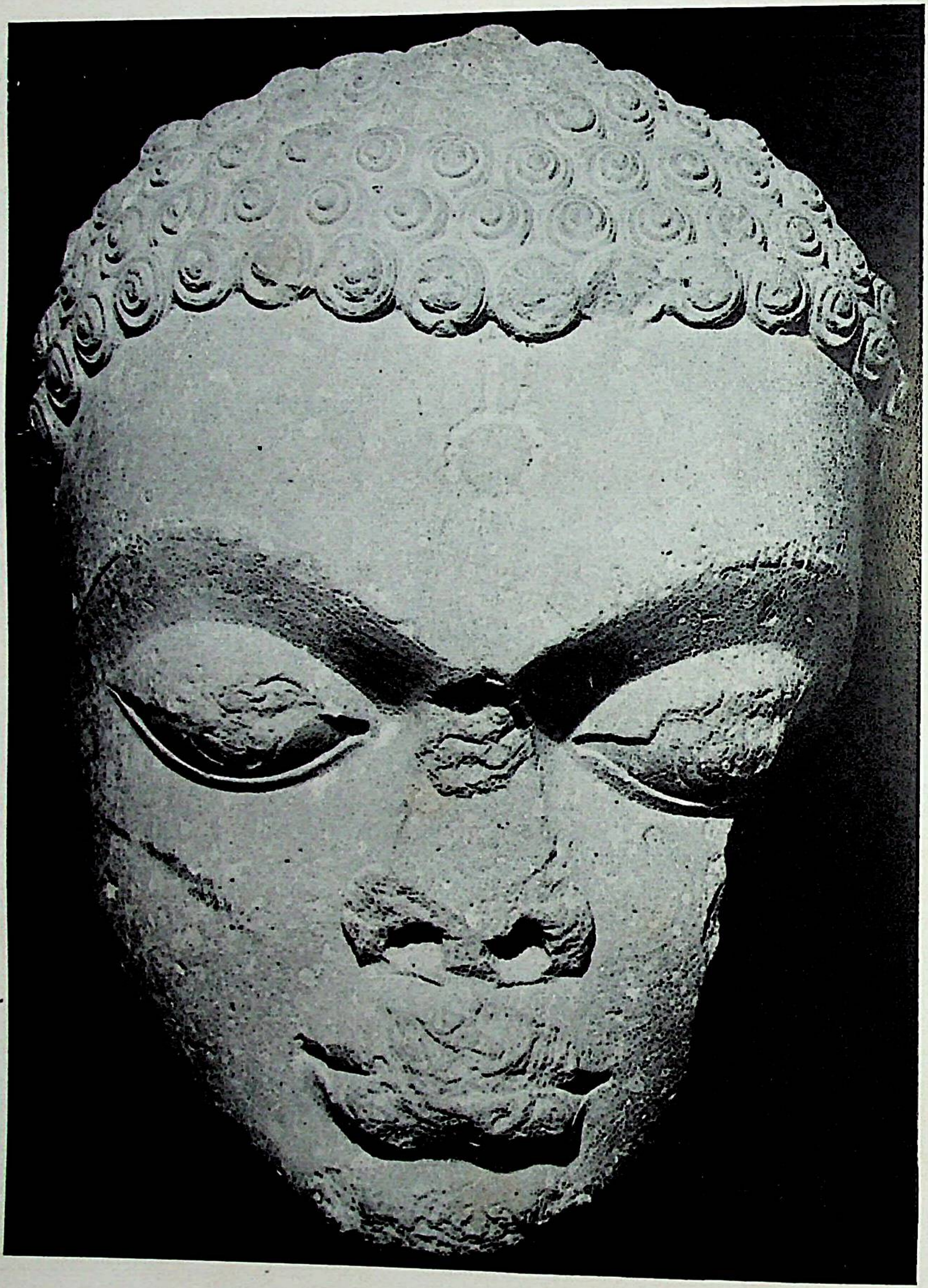

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति का शीर्ष

चित्र 48

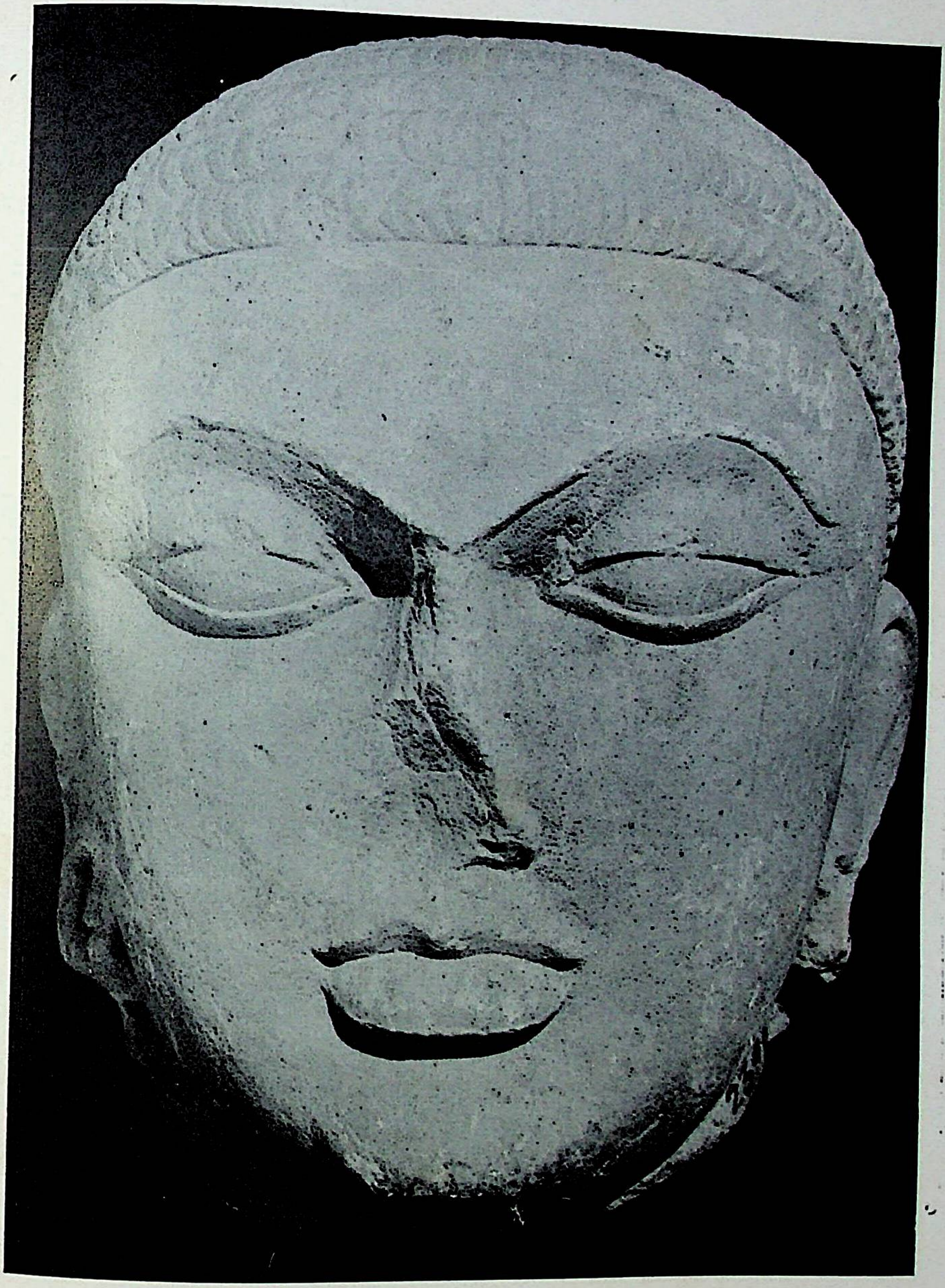

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति का शीर्ष

चित्र 49

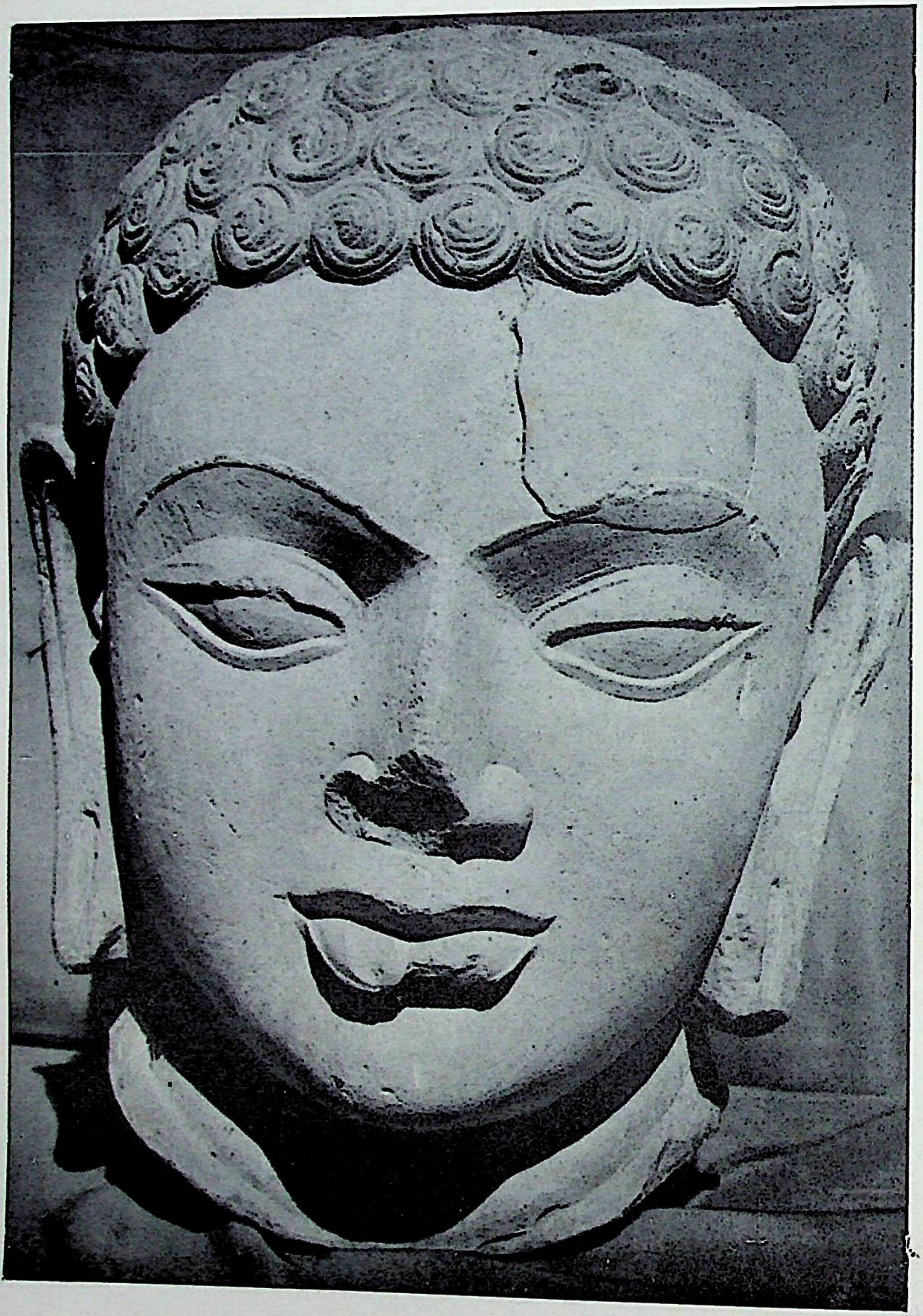

मथुरा — तीर्थंकर मूर्ति का शीर्ष

चित्र 50

ध्यानस्थ तीर्थंकर मूर्तियाँ

ध्यानस्थ मुद्रा में आसीन तीर्थंकरों की प्राप्त मूर्तियों में से दो निश्चय ही आदिनाथ की हैं (पु० सं० म० : बी–६ और बी–७, चित्र ४६)। एक मूर्ति नेमिनाथ की थी (रा० सं० ल० : जे-८६) किन्तु वह अब पूरी तरह खंडित अवस्था में हैं और शिलापट्ट पर उनके अनुचर वलभद्र की मूर्ति ही शेष वची है।

इन मूर्तियों में से तीन अभिलेखांकित हैं। (रा० सं० ल० : जे-५८४, जे-५२; पु० सं० म० : वी-७५)। अंत में वर्णित मूर्ति पर वर्ष ९७ (अर्थात् ४१६ ई०) अंकित है।[1]

इन मूर्तियों (रा० सं० ल० : जे-५२, जे-५८४ (?), जे-११६; पु० सं० म० : वी-६, वी-७ चित्र ४६, १५.९८३, ५७.४३८८) में से अनेक पर चमरधारियों का चित्रण यह सिद्ध करता है कि यह कला-प्रतीक, जिसका अंकन पिछले युग में आरंभ हुआ था, धीरे-धीरे लोकप्रिय होता जा रहा था।

कुषाणयुग की पद्मासन प्रतिमाओं से तुलना करने पर इन मूर्तियों में निश्चय ही अधिक सजीवता और स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है।

खड्गासन में तीर्थंकर मूर्तियाँ

पद्मासन की अपेक्षा खड्गासन में वहुत कम मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। खड्गासन में प्राप्त छह मूर्तियों में से दो आदिनाथ (पु० सं० म० : वी-३३, १२.२६८, चित्र ४७ ख), एक नेमिनाथ (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) और चौथी प्रतिमा पार्श्वनाथ (रा० सं० ल० : जे-१००) की है। शेष दो प्रतिमाओं की पहचान कर सकना कठिन है।

इस वर्ग में केवल एक (पु० सं० म० : १२ . २६८, चित्र ४७ ख) ही अभिलेखांकित है जिसमें यह उल्लेख है कि आदिनाथ की यह प्रतिमा सागर की थी और समुद्र द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थी तथा इसके स्वामी सागर ने किसी संगरक को इसे दे दिया था।[2] पुरालिपि के आधार पर, इस पुरालेख का—और स्वभावतः ही इस प्रतिमा का भी—समय चौथी शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्धारित किया गया है।

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश पद्मासन और खड्गासन प्रतिमाएं उभरे रूप में उत्कीर्ण हैं, पृष्ठाधार शिलापट्ट के बिना नहीं।

---

[1] अग्रवाल (वासुदेवशरण). कैटेलॉग ऑफ द मथुरा म्युजियम. जर्नल ऑफ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसाइटी. 23; 1950; 54.

[2] वही, पृ 56.

शीर्ष

वियुक्त शीर्षों के सूक्ष्म अध्ययन से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं :

१. कुछ अपवादों को छोड़कर उनके केश नियोजित रूप में घुँघराले हैं (चित्र ५०)। अपवादों में से एक पर लहरियेवाले केश हैं (पु० सं० म० : ३३.२३४८, चित्र ४६) और दूसरे के बाल कंघी से पीछे की ओर सँवारे हुए चित्रित किये गये हैं (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख)।

२. एक अपवाद को छोड़कर (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) शेष में उर्ण-चिह्न नहीं हैं।

३. एक मूर्ति के (पु० सं० म० : वी-४४, चित्र ४८) ललाट पर एक वर्तुलाकार चिह्न दृष्टिगोचर होता है, जो एक सँकरी पट्टी द्वारा लटका हुआ कुण्डल-जैसा प्रतीत होता है। यदि यही चिह्न वाराणसी से प्राप्त अजितनाथ की लगभग समकालीन मूर्ति (रा० सं० ल० : ४६.१६६, रेखाचित्र ६) पर नहीं पाया गया होता तो उसके संबंध में शीघ्र ही यह मान लिया गया होता कि किसी ने बाद में यह शरारत इस अभिप्राय से की होगी कि तीर्थंकर की मूर्ति पर तिलक-मणि दिखाया जा सके। अतएव इस चिह्न पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

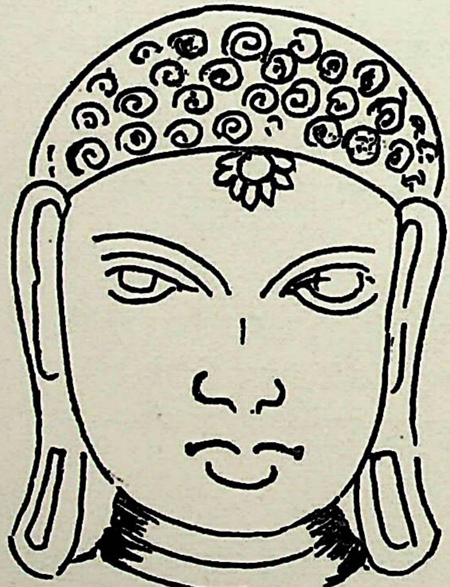

रेखाचित्र 6. वाराणसी : अजितनाथ की मूर्ति का सिर (रा० सं० ल०, 49.199)

४. सामान्यतया, भौंहें नाक के ऊपर एक बिन्दु पर मिलती हैं, किन्तु इस विशेषता को, जो कुछ ही मूर्तियों में पायी जाती है (रा० सं० ल० : जे-५६, केवल सिर (पु० सं० म० : बी-५३, १५.५६५, २६.१६४१ आदि), उस युग का लक्षण नहीं माना जा सकता।

५. सामान्यतः, आँख की पुतलियाँ चित्रित नहीं की गयी हैं। मथुरा संग्रहालय (पु० सं० म० : बी-५३) की एक मूर्ति को एक दुर्लभ अपवाद के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। मथुरा से प्राप्त अनेक गुप्तकालीन जैनेतर मूर्तियों से भी यह स्पष्ट होता है कि आँख की पुतलियों का चित्रण करने की प्रथा प्रचलित नहीं थी।

६. होठ साधारणतः मोटे और लम्बे हैं और कान कंधों को छूते हैं।

७. सामान्यतः चेहरा गंभीर है, किन्तु किसी-किसी में मधुर मुसकान भी दृष्टिगोचर होती है (रा० सं० ल० : जे-२०७, बी-४५, ६७.१८९ आदि)।

खण्डित कृतियाँ

ऐसी कृतियाँ इतनी खण्डित हैं कि उन्हें ऊपर बताये गये वर्गों में से किसी भी वर्ग में रखना कठिन है। उदाहरण के लिए राजकीय संग्रहालय, लखनऊ की जे-२ क्रमांकित कृति एक अभिलेखांकित पादपीठ है जिसपर वर्ष २९९ (३७७ ई०) अंकित है।

विशेष लक्षण : आसन और उनका अलंकरण

प्रत्येक तीर्थंकर के लिए किसी न किसी प्रकार का आसन बनाया गया है। इन आसनों में प्राचीनतम अर्थात् गुप्त-काल से पहले के, आसन का रूप पादपीठ के साथ ही सादा होता था। गुप्त-काल में यह आसन एक प्रकार के गलीचे से ढका हुआ होने लगा, जिसके एक भाग को पादपीठ के सामने लटकता हुआ देखा जा सकता है (पु० सं० म० : बी-७, चित्र ४६ ; रा० सं० ल० : जे-११९)।

उक्त गलीचे के ऊपर एक भारी गद्दी है, जो ध्यानस्थ तीर्थंकर के लिए आसन का काम देती है। इस गद्दी पर प्रायः आलंकारिक सज्जा होती है (पु० सं० म० : १५.९८३, बी-७, चित्र ४६ इत्यादि)। जो भी हो, एक आकृति पर कमल-पंखुड़ियों का अतिरिक्त अलंकरण भी है (पु० सं० म० : १८.१३८८)।

कुछ मूर्तियों में गद्दी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु ध्यानस्थ मूर्ति के पद्मासन की यत्र-तत्र अस्वाभाविक स्थिति से उसके अस्तित्व का आभास होता है (पु० सं० म० : बी-१; रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४ आदि)। उपर्युक्त उदाहरणों में, पद्मासनस्थ टाँगें मेरुदंड से ठीक समकोण नहीं बनातीं अपितु सामने की ओर झुकी हुई देखी जा सकती है — यह स्थिति तब होती है, जब कोई ऐसे ऊँचे आसन पर बैठे, जिसकी गद्दी छोटी हो।

सुसज्जित पृष्ठ-अवलंब का प्रारंभ भी गुप्त-काल में ही हुआ। एक कलाकृति में (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४) सीधी छड़ों से युक्त एक पृष्ठ-अवलंब, अनुप्रस्थ धरनों (शहतीरों) और लपकते हुए सिंह के अलंकरण देखे जा सकते हैं।

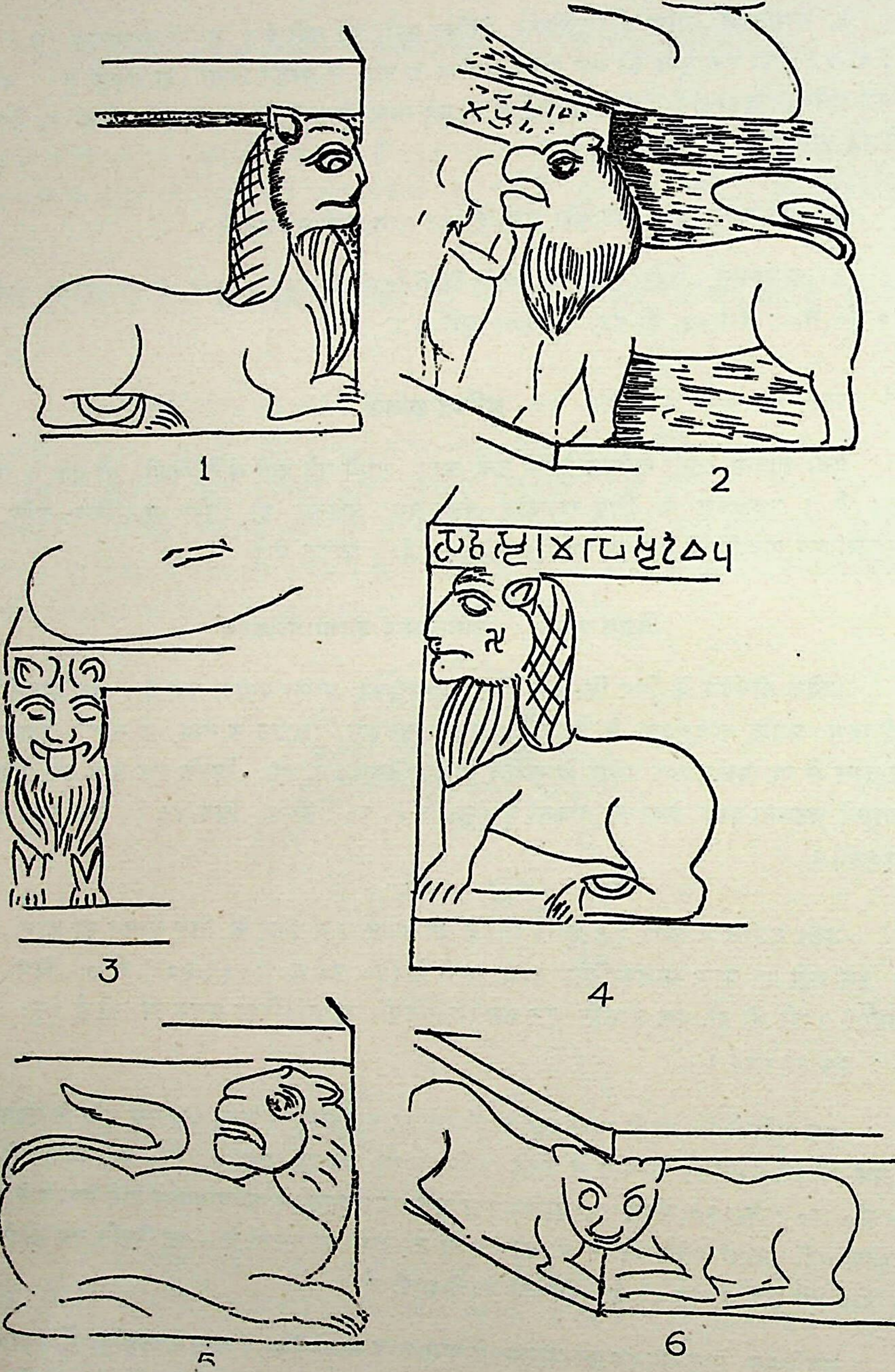

रेखाचित्र 7. मथुरा : पादपीठों पर अंकित सिंह : 1—4, कुषाणकालीन (रा० सं० ल० : जे-20, जे-30, जे-34, जे-26); 5—6, गुप्तकालीन (रा० सं० ल० : जे-118, जे-121)

पादपीठ

आसन के नीचे पादपीठ होता है। पादपीठ पर धर्म-चक्र अंकित करने की प्रथा कुषाणयुग से प्रचलित थी, जो या तो धरातल पर या किसी प्रकार के स्तंभ पर बनाया जाता था और उसके दोनों ओर प्रायः एक पंक्ति में खड़े हुए भक्त नर-नारी दिखाये जाते थे। पादपीठ के दोनों सिरों पर सिंह अंकित किये जाते थे। गुप्त-काल में यह संपूर्ण कला-प्रतीक सामान्य रूप से वही रहा, किन्तु उसमें निम्नलिखित परिवर्तन दिखाई देते हैं :

(१) धर्म-चक्र का आधार-स्तंभ वहुत ही कम दिखाई देता है (उदाहरण के लिए, पु० सं० म० : बी-६)। सामान्यतः धर्म-चक्र का आधार वहुत ही हलका है (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) या वह सीधा धरातल पर ही अवस्थित प्रतीत होता है (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४, जे-१२१, चित्र ४७ क)। संभवतः यह व्यवस्था इस लोकप्रिय धारणा को सूचित करती है कि दिग्विजय के पश्चात् चक्र-रत्न तीर्थंकर के पवित्र आसन या चरणों के नीचे विश्राम कर रहा है।

(२) धर्म-चक्र का साधारणतः मुखांकन किया जाता है (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७)। यद्यपि मूर्तिकार ने कभी-कभी उसका पार्श्व-चित्र भी देना ठीक समझा (पु० सं० म० : १८.१३८८, वी-७, चित्र ४६)। प्रायः इस चक्र में सोलह अरे होते हैं, किन्तु इस विषय में कोई एकरूपता नहीं है। जब इस चक्र का मुखांकन किया जाता है तब वह स्वाभाविक रूप में दिखाई देता है, किन्तु उसका पार्श्व-चित्रांकन अधिक अलंकृत होता है। कभी-कभी इस चक्र के मध्यभाग से एक डोरी गुजरती हुई दिखाई देती है (पु० सं० म० : १८.१३८८)। इस डोरी के कारण चक्र एक प्रक्षेपास्त्र के समान प्रतीत होता हैं, जिसे चलाने के लिए डोरी आवश्यक थी, यद्यपि धर्म-चक्र तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित धर्मनियमों का चक्र था न कि कोई आयुध। गुप्त-काल के अंत तक, जैनों ने भी उस प्रसिद्ध 'हरिण और चक्र' कला-प्रतीक (पु० सं० म० : वी-७५) को अपना लिया था जो बौद्धों में लोकप्रिय और उनके लिए सार्थक था।

(३) गुप्त-युग में पवित्र चक्र के दोनों ओर भक्तों की पंक्तियों का अंकन, जिसका प्रारंभ कदाचित् गांधार-कला में हुआ था, धीरे-धीरे लुप्त हो गया। गुप्तकालीन अधिकांश मूर्तियों में या तो वह है ही नहीं (रा० सं० ल० : जे-११९; पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) या प्रतीकात्मक रूप में उसका चित्रण इस प्रकार हुआ है कि दो व्यक्ति हाथ जोड़कर घुटनों के वल बैठे हैं (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४)।

(४) कुछ पादपीठों पर एक नयी विशेषता प्रमुख रूप से उभरकर आयी है; वह है परमेष्ठियों का चित्रण। कहाऊँ शिलालेख में उन्हें पंचेन्द्र कहा गया है और उनकी पहचान आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के रूप में की जा सकती है।[1] एक ही पादपीठ पर

---

[1] देव (एस बी). हिस्ट्री ऑफ जैन मोनकिज्म. 1956. पूना. पृ 103.

इन पाँच तीर्थंकरों का चित्रण मथुरा में गुप्त-काल में प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है। इनमें से एक की मूर्ति तो केन्द्रस्थ होती थी और शेष चार का चित्रण लघु-मूर्तियों के रूप में पादपीठ पर या पीछे के शिलापट्ट पर किया जाता था (उदाहरण के लिए, पु० सं० म० : बी-७, चित्र ४६; रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क)। उपलब्ध स्थान के अनुसार इन्हें पद्मासन या खड्गासन मुद्रा में अंकित किया जाता था। उदाहरणार्थ, नेमिनाथ की उपर्युक्त मूर्ति के पट्ट (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) पर तीन ध्यानस्थ मूर्तियाँ हैं और एक खड्गासन-मुद्रा में।

(५) तीर्थंकर के चक्रवर्तित्व को प्रतीक रूप में दर्शाने के लिए पादपीठ पर अंकित सिंहों का भी विशेष अध्ययन आवश्यक है। कुषाणकाल से ही वे पादपीठ के दोनों छोरों पर निम्नलिखित में से किसी एक स्थिति में चित्रित किये गये हैं (रेखा चित्र ७, १-४) : (क) सामने की ओर मुँह करके खड़े हुए (रा० सं० ल० : जे-३२, जे-३४, जे-४० आदि); (ख) सामने खड़े हुए किन्तु मुख पार्श्व की ओर, एक दूसरे की ओर देखते हुए; (रा० सं० ल० : जे-२५, जे-२९: जे-३०, जे-३३ आदि); (ग) किंचित् सामने की ओर मुँह करके खड़े हुए, (क) और (ख) के बीच की स्थिति में (रा० सं० ल० : जे-३५); और (घ) अगले पैरों को खड़ा करके पीठ से पीठ मिलाकर बैठे हुए (रा० सं० ल० : जे-१४, जे-१७, जे-१८, जे-१९, जे-२७ आदि)।

गुप्त-काल में, सिंहों के अंकन में कुछ नयी शैलियाँ प्रचलित हुईं (रेखाचित्र ७, ५-६); (क) पीठ से पीठ मिलाकर उकड़ूँ स्थिति में पूँछ ऊपर उठाये हुए (पु० सं० म० : १८.१३८८, बी-६, ५७.४३३८ आदि); (ख) पीठ से पीठ मिलाकर बैठे हुए किन्तु मुख सामने की ओर तथा सामने के पंजे कुछ ऊपर उठाये हुए (रा० सं० ल० : जे-११९); और (ग) सामने की ओर मुँह करके चलने की मुद्रा में खड़े हुए (पु० सं० म० : बी-७, चित्र ४६)।

प्रस्तुत कलाकृति (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) के पादपीठ पर अत्यंत मनोरंजक आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इसपर कुषाण और गुप्त-काल की विशेषताओं का अद्भुत समन्वय है। पादपीठ के प्रत्येक कोने में, एक चेहरा ऐसा है जिसके साथ दो शरीर जोड़े गये हैं—एक सामने से और दूसरा पार्श्व में। पार्श्व में कुषाण-परंपरा सुरक्षित है, जबकि सामने के अंकन में गुप्तकालीन व्यवस्था पायी जाती है।

रेखाचित्र ७ में कुषाण और गुप्त-युगों के प्रचलन की क्रमशः झलक है।

देव और किन्नर

इस वर्ग में निम्नलिखित सम्मिलित हैं : मालाधारी गंधर्व, अंतरिक्ष में भ्रमण करते सुपर्ण, तीर्थंकर के दोनों ओर चमरधारी या भक्ति-मुद्रा में खड़े हुए सेवक, तथा नेमिनाथ की मूर्ति के साथ कृष्ण-बलदेव। इनमें से अनेक का प्रारंभ कुषाणकाल में देखा जा सकता है। गुप्त-काल में निम्नलिखित

विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं : (१) वायुमण्डल में भ्रमण करते देवलोक के मालाधारी पुरुष (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख; रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४; जे-१२१, चित्र ४७ क); (२) मालाएँ लिये हुए वायुचारी गंधर्व-युगल (रा० सं० ल० : जे-११९); (३) पूजन सामग्री लिये हुए देवलोक के प्राणी (रा० सं० ल० : जे-१०४, चित्र ४३); (४) तीर्थंकर के दोनों ओर चमरधारी (पु० सं० म० : बी-६, बी-७, चित्र ४६; ५७.४३३८ आदि); (५) नेमिनाथ के पार्श्व में कृष्ण-वलदेव (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क); तथा (६) ग्रह जो गुप्त-काल के अंत में अंकित किये जाने लगे थे। प्रस्तुत कलाकृति में (पु० सं० म० : बी-७५) केवल आठ ही ग्रह दिखाये गये हैं। किन्तु गुप्त-काल के पश्चात् सभी नौ ग्रहों का अंकन सर्वथा सामान्य बात हो गयी थी।

शासन-देवताओं का अंकन मथुरा में प्रचलित नहीं था।

भामण्डल का अलंकरण

कुषाणकाल की अनेक मूर्तियों में भामण्डल का अंकन यदि कहीं किया जाता था तो वह सादा होता था तथा उसकी कोर सजीली होती थी। किन्तु तीर्थंकरों की मूर्तियों के पूर्ण अलंकृत भामण्डलों का नितांत अभाव नहीं था (उदाहरणार्थ, रा० सं० ल० : जे-८)। गुप्त-काल में भामण्डल को अनेक कला-प्रतीकों, यथा पद्मदल, पत्रावली, हार-यष्टि, हस्ति-नख, पत्रशाखा आदि से अलंकृत करने की प्रथा चल पड़ी थी।

शरीर-लक्षणों के रूप में शुभ चिह्नों का प्रयोग

ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रंथ में जो ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में उपलब्ध था, ऐसे अनेक पवित्र चिह्नों का उल्लेख है, जो बुद्ध के शरीर पर पाये जाते थे।[1] कुषाणकाल की बुद्ध और बोधिसत्व की जो प्रतिमाएँ मथुरा में पायी गयी हैं वे इस साहित्यिक विवरण का दृश्य-साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। जैनों ने भी अपने तीर्थंकरों की मूर्तियों पर इस प्रकार के चिह्नों को अंकित करने की प्रथा को प्रायः अपना लिया था।[2] तीर्थंकर-प्रतिमाओं की खुली हथेलियों पर चक्र-चिह्न तथा पैरों के तलुओं में चक्र और त्रिरत्न का अंकन बहुत पाया जाता है। ऐसी प्रतिमाएँ बहुत ही कम (उदाहरणार्थ रा० सं० ल० : जे-३६) हैं जिनके तलुओं पर त्रिरत्न नहीं पाया जाता। उँगलियों के सिरों पर, स्वस्तिक, श्रीवत्स, मीन, उलटा त्रिरत्न, शंख आदि शुभ प्रतीकों का सूक्ष्म रूप में अंकन करने की पद्धति भी कुछ मूर्तिकारों ने अपना ली थी (उदाहरण के लिए, रा० सं० ल० : जे-१७, जे-१९, जे-४०)। इसी प्रकार के प्रतीक कभी-कभी तलुओं पर भी पाये जाते हैं (द्रष्टव्य, रा० सं० ल० :

---

[1] **ललितविस्तर**. संपा : एस लेफ्मन. 1902. हाले. पृ 105–06.

[2] जोशी (एन पी). **यूज ऑफ आस्पिशस सिम्बल्स इन द कुषाण आर्ट एट मथुरा. डॉ० मिराशी फेलिसिटेशन वॉल्यूम**. 1965. नागपुर. पृ 311–17.

जे-२९)। इनके अतिरिक्त कुषाणकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं के वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन लोकप्रिय था।

गुप्त-काल में पवित्र प्रतीकों के अंकन में निम्नलिखित परिवर्तन आये :

(१) उँगलियों के सिरों से प्रतीकों के सूक्ष्मांकन लुप्त हो गये।

(२) खुली हथेली पर चक्र का अंकन यद्यपि कुछ समय तक चलता रहा (द्रष्टव्य, पु० सं० म० : बी-१), तदपि परवर्ती वर्षों में यह या तो छोड़ दिया गया (द्रष्टव्य, पु० सं ० म० : बी-७, चित्र ४६) या उसे व्यर्थ समझा गया।

(३) उक्त स्थान पर, सामुद्रिक शास्त्र की महत्त्वपूर्ण तीन स्वाभाविक रेखाओं अर्थात् मस्तिष्क, हृदय और जीवन-रेखाओं के अंकन का प्राधान्य हो गया। मणिबंध की रेखाओं का अंकन पहले की भाँति होता रहा।

(४) वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न का अंकन पूरे युग में होता रहा। 'एक मछली के दोनों ओर दो सर्प' के चित्रण का पुराना रूप तव अत्यंत अलंकृत हो गया था। कुषाणकालीन चित्रण की तुलना में गुप्त-काल में 'श्रीवत्स' का विकास रेखा चित्र ८ में दिखाया गया है। प्रसंगवश, यह कहना भी आवश्यक है कि यह चिह्न केवल मथुरा से प्राप्त गुप्तकालीन तीर्थंकर-प्रतिमाओं के वक्ष पर ही दृष्टिगोचर होता है। अन्य स्थानों में इसका लगभग अभाव ही है।

छत्र और लांछन[1] का अभाव

इस लेख को समाप्त करने से पहले, कुछ वस्तुओं के अभाव पर ध्यान देना आवश्यक है। इनमें प्रथम स्थान छत्र का है। जो भी गुप्तकालीन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उनके सिर पर छत्र नहीं है। छत्र-त्रय और छत्रावली के चित्रण का चलन आगे चलकर हुआ।

यही वात लांछनों के संबंध में भी सही है। चौबीस तीर्थंकरों में प्रत्येक का एक पारंपरिक चिह्न होता है जिसे संबंधित तीर्थंकर का लांछन कहा जाता है। तीर्थंकर-प्रतिमाएँ लगभग एक-सी प्रतीत होती हैं, कदाचित् इस कारण यह आवश्यक समझा गया कि उनमें भेद कर पाने के लिए प्रत्येक का एक चिह्न निर्धारित किया जाये। यह कोई वहुत पुरानी परिपाटी प्रतीत नहीं होती। मथुरा से

---

[1] हिन्दी में इस शब्द के स्थान पर चिन्ह शब्द का प्रयोग अधिक है. लांछन ने अब दूसरा ही अर्थ ग्रहण कर लिया है.

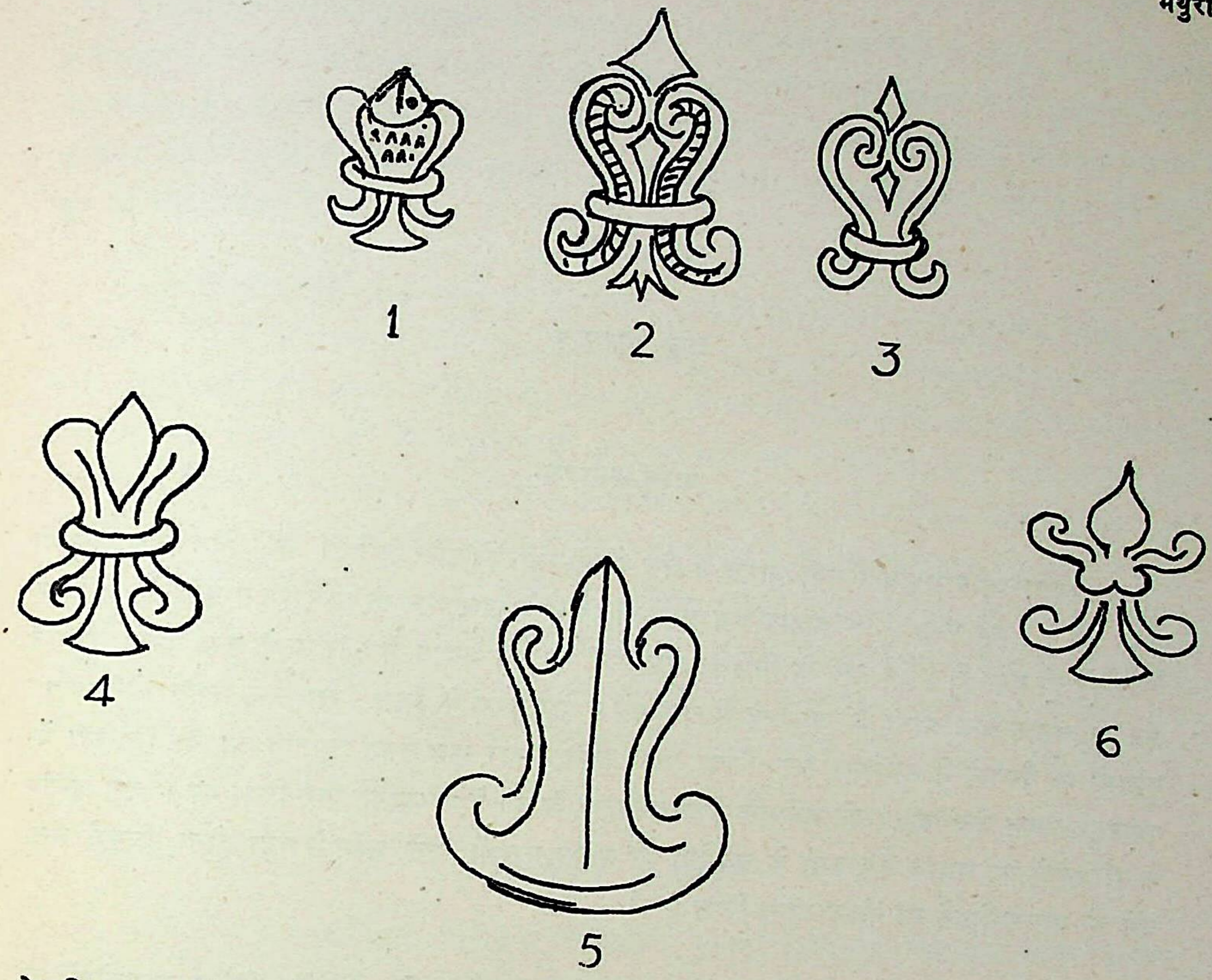

रेखाचित्र 8. श्रीवत्स चिन्ह—1-3, कुषाणकालीन (रा० सं० ल० : जे-16, जे-36, जे-17); 4-6, गुप्तकालीन (रा० सं० ल० : जे-118; पु० सं० म० : बी-6, बी-7)

प्राप्त कुषाण और गुप्त-कालीन किसी भी मूर्ति पर हमें लांछन देखने को नहीं मिलता। विभिन्न तीर्थंकरों की पहचान के लिए तत्कालीन मूर्तियों में अभिलेख, केश-शैली तथा उनके सेवक जैसे साधन ही उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार चौमुखी या सर्वतोभद्रिका और चौबीसी या चतुर्विंशतिका जैसी-तीर्थंकर-मूर्तियाँ मथुरा में गुप्त-काल में लगभग नहीं के समान पायी गयी हैं। यही स्थिति मानस्तंभों की है।

डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी

अध्याय 11

पूर्व भारत

वास्तु–स्मारक

विचाराधीन अवधि में पूर्वी भारत में जैन वास्तु-स्मारकों और मूर्तियों के बहुत कम अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह संभव है कि ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के कारण इस प्रदेश से जैन धर्म तिरोहित हो गया हो। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि इस अवधि में और इसके कुछ समय उपरांत जैन प्रतिष्ठान अन्य लोगों के स्वामित्व में चले गये। उदाहरण के लिए, राजगिर स्थित सोनभण्डार गुफाओं पर वैष्णवों ने अधिकार कर लिया था[1] इसी प्रकार कुछ समय उपरांत आठवीं शताब्दी में, पहाड़पुर स्थित जैन विहार को धर्मपाल ने बौद्ध विहार के रूप में परिवर्तित कर दिया था।[2] इस प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव जैन कला के अवशेषों की संख्या पर भी[3] उस भूमि में पड़ा होगा, जिसने जैन-धर्म को पालने-पोसने का गौरव प्राप्त किया है।[4]

इस अवधि की जैन साहित्यिक परंपरा में विभिन्न प्रकार के भवनों और कला-प्रतीकों का अद्भुत वर्णन मिलता है, जिसमें विमानों, तोरणों, स्तंभों, डाटों, राजमहलों उद्यानों, सभा-भवनों, क्रीड़ांगनों, वीथिकाओं आदि के विवरणों के साथ धार्मिक और नागर-स्थापत्य का भी समावेश है।

---

[1] तुलनीय : कुरैशी (एम एच) तथा घोष (ए). **राजगिर**. सं 4. 1956. दिल्ली. पृ 24.

[2] **एपिग्राफिया इण्डिका**. 20; 1929–30; 60.

[3] यह संभव है कि इस युग की जैन प्रतिमाओं को फिर से तराशा गया हो और उनसे अन्य मतों के देवताओं की मूर्तियाँ बनायी गयी हों। इस प्रकार का एक उदाहरण घरपल (बाँकुरा) में मिलता है जहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति को विष्णु की मूर्ति में परिवर्तित किया गया। तुलनीय : एन० के० बंदोपाध्याय कृत बांकुरार मंदिर, जिसे डी० के० चक्रवर्ती ने बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ, कलकत्ता, 1967 के पृ 49 पर उद्धृत किया है। चक्रवर्ती यह मत भी व्यक्त करते हैं कि बंगाल में शैव मत का विकास जैन धर्म से हुआ, वही पृ 49.

[4] मुखर्जी (एस सी). कल्चुरल हेरिटेज ऑफ बंगाल इन रिलेशन टू जैनिज्म. **बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ**. पृ 145. / सरस्वती (वी). जैनिज्म इन बंगाल. वही, पृ 141. / बेहरा (के एस). ए नोट ऑन जैनिज्म इन उड़ीसा. वही, पृ 165.

अवशिष्ट जैन वास्तु-स्मारकों का रूप-प्राचुर्य या विषय-वस्तु का वैविध्य स्पष्ट ही इन वर्णनों से मेल नहीं खाता । इस अवधि के जो कुछ वास्तु-स्मारक राजगिर में हैं, मुख्यत: वे ही हमारे अध्ययन की सामग्री हैं । ये हैं वैभारगिरि पर एक ध्वस्त मंदिर और इसी पहाड़ी की दक्षिणी ढलान पर पत्थर काटकर बनायी गयी दो सोनभण्डार गुफाएं (दोनों का वर्णन नीचे किया जा रहा है), जो इसी युग की मानी जाती हैं ।

दूसरा महत्त्वपूर्ण जैन वास्तु-स्मारक पाँचवी शताब्दी में विख्यात था, किन्तु आगे चलकर लुप्त हो गया । उसका पता (गुप्त) वर्ष १५६ (४७६ ईसवी) के पहाड़पुर के ताम्रपत्र-अभिलेख से चलता है ।[1] यह विशाल जैन विहार वट-गोहाली में था और उसके अधिष्ठाता निग्रंथ आचार्य (श्रमणाचार्य) गुहनन्दिन थे, जो काशी के पंचस्तूप-निकाय या नव्यावकाशिका से संबंधित थे ।[2] आगे चलकर इस विहार का विस्तार किया गया और उसमें बौद्धों का विशाल मंदिर और विहार वना दिये गये । जो भी हो, इस स्थल पर जो खुदाई की गयी है, उससे पता चला है कि यद्यपि विहार का विस्तार किया गया था, तथापि सर्वतोभद्र प्रकार की रचना के अनुरूप उसकी मूल रूपरेखा वैसी ही वनी रही । विकास की दृष्टि से यह रूपरेखा विशेष रूप से जैन ही है ।[3] अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में वट-गोहाली का विहार जैन धार्मिक साधना का एक सक्रिय केन्द्र था । जब ह्वेनसांग पुण्ड्रवर्धन क्षेत्र में आया, तव उसने वहाँ एक सौ देव-मंदिर देखे जहाँ विभिन्न मतावलंबी एकत्र होते थे । उनमें नग्न निग्रंथों की संख्या सवसे अधिक होती थी ।[4]

राजगिर के अवशेष

राजगिर में सोनभण्डार नामक दो शैलोत्कीर्ण गुफाएं[5] हैं जिनका शिल्प-कौशल संरचनात्मक भवनों के लिए अपेक्षित शिल्प-कौशल से भिन्न है । इन पूर्वी और पश्चिमी गुफाओं (चित्र ५१

---

[1] **एपिग्राफिया इण्डिका.** 20; 1929-30; 59 तथा परवर्ती.

[2] शिलालेख की छठी और तेरहवीं पंक्ति में उल्लिखित पंच-स्तूपान्वय की स्थापना श्रुतावतार के अनुसार पुण्ड्रवर्धन के अर्हद्बलय आचार्य द्वारा की गयी. तुलनीय : छोटेलाल जैन का लेख, **अनेकांत.** 1966, अगस्त; 239. अन्वयों के लिए और तुलनीय : देव (एस बी). **हिस्ट्री ऑफ जैन मॉनकिज्म.** 1956. पूना. पृ 558.

[3] फर्ग्युसन (जे). **हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर.** खण्ड 2. 1906. लंदन. पृ 28. / मुखर्जी, पूर्वोक्त, पृ 149. इस प्रकार की रूपरेखा संभवत: जैन समवसरण के आधार पर बनी होगी । समवसरण और उनकी प्राचीनता के लिए द्रष्टव्य : शाह (उमाकांत प्रेमानंद). **स्टडीज इन जैन आर्ट.** 1955. बनारस पृ 123 तथा परवर्ती. इसी प्रकार की रूपरेखा राजस्थान में ओसिया और सादड़ी में तथा खजुराहो के चौंसठयोगिनी मंदिर में देखने को मिलती है. फिशर (के). **केव्ज एण्ड टेम्पल्स ऑफ द जैन्स.** 1957. अलीगंज (एटा). पृ 5.

[4] बील (एस). **बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड.** खण्ड 2. 1906. लन्दन. पृ 195.

[5] कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 26, चित्र 7 क. / कुरैशी (एम एच). **लिस्ट ऑफ ऐंश्येण्ट मॉनुमेण्ट्स प्रोटेक्टेड अंडर एक्ट 7 ऑफ 1904 इन द प्रोविन्स ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा.** आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरीज. 51. 1931. कलकत्ता. पृ 120 तथा परवर्ती. चित्र 80-81.

और ५२) का काल तीसरी या चौथी शती ईसवी निर्धारित किया गया है। कनिंघम ने पश्चिमी गुफा का तादात्म्य प्रसिद्ध सप्तपर्णी गुफा के साथ स्थापित किया था जहाँ प्रथम वौद्ध संगीति आयोजित की गयी थी।[1] कालांतर में दूसरी गुफा का पता चलने पर, वेग्लर ने यह सुझाया कि ये दोनों गुफाएँ बुद्ध और उनके शिष्य आनंद से संबंधित हैं।[2] पश्चिमी गुफा की वाहरी भित्ति पर उत्कीर्ण शिलालेख के प्रकाश में आ जाने के फलस्वरूप इन सुझावों को अमान्य कर देना चाहिए। इस संस्कृत शिलालेख में यह घोषित किया गया है कि मुनि वैर (वज्र) ने इन दो गुफाओं का निर्माण साधुओं के लिए करवाया था और उनमें अर्हंतों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित करवायी थीं।[3] ब्लॉख ने इस शिलालेख को तीसरी या चौथी शती ईसवी का बताया था। कोनोव ने गुफा के निर्माण की तिथि एक शताव्दी और पीछे कर दी।[4] शाह ने कोनोव का समर्थन किया और शिलालेख में उल्लिखित मुनि वैर की पहचान वज्र नामक महान् श्वेतांबर आचार्य से की है, जिनकी मृत्यु महावीर-निर्वाण के ५८४ वें वर्ष (५७ ईसवी) में हुई थी।[5] शाह ने सरस्वती का ही मत माना है (यद्यपि एक भिन्न प्रमाण के आधार पर)। सरस्वती यह मानते हैं कि सोनभण्डार गुफा की समानता निश्चित रूप से मौर्यकालीन वरावर और नागार्जुनी गुफाओं से है और उसकी निर्माण-तिथि इन गुफाओं से बहुत परवर्ती नहीं हो सकती।[6] जो भी हो, ब्लॉख द्वारा सुझायी गयी इस शिलालेख की तिथि को कुरैशी और घोष ने ठीक

---

[1] आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. **रिपोर्ट्स.** खण्ड 3. 1873. कलकता. पृ 140 तथा परवर्ती. इससे पहले कनिंघम ने पिप्पल गुफा के साथ इसका तादात्म्य स्थापित किया था, (वही, 1.1871. शिमला. पृ 24).

[2] कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ 121.

[3] आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. **एनुअल रिपोर्ट,** 1905-6. 1909. कलकत्ता. पृ 98 पर श्री ब्लॉख का अभिमत.

[4] वही, पृ 106.

[5] शाह, पूर्वोक्त, पृ 14. शाह वज्र नाम के केवल दो ही जैन आचार्यों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनमें से पहले का उल्लेख 'आवश्यक निर्युक्ति' में आया है और दूसरे का 'त्रिलोक-प्रज्ञप्ति' में। शाह के अनुसार, इनमें से प्रथम का उल्लेख सोनभण्डार शिलालेख में किया गया है. इस पहचान में कालक्रम संबंधी जो असंगति है उसके विषय में शाह का मत यह है कि यह शिलालेख ही संभवतः मरणोपरांत उत्कीर्ण किया गया हो. वे उक्त दो आचार्यों के अतिरिक्त वैर नामक किसी अन्य व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका कथन है कि 'यदि ऐसा होता तो अन्य व्यक्ति का नाम विभिन्न स्थविरावलियों में उल्लिखित हुए बिना नहीं रहता'. द्रष्टव्य : शाह (उमाकांत प्रेमानंद): **जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी.** 39; 1953; 410-12.
[डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा है—'वैरदेव नाम के एक दिगंबर साधु का उल्लेख कर्नाटक के चौथी शती ईसवी की लगभग मध्यावधि के एक लेख में आया तो है (**एपिग्राफिया कर्नाटिका.** 10; 1905; 73 — संपादक]

[6] [आठवां अध्याय भी द्रष्टव्य—संपा.] गुफाओं की सादगी में संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि ये सोनभण्डार गुफाएं उदयगिरि (विदिशा) की गुफाओं से इतनी समान हैं कि वे भी पूर्ण रूप से शैलोत्कीर्ण नहीं हैं. सोनभण्डार गुफाओं के वाहरी भाग पर वने हुए कोटर यह संकेत देते हैं कि इनमें आरंभ से

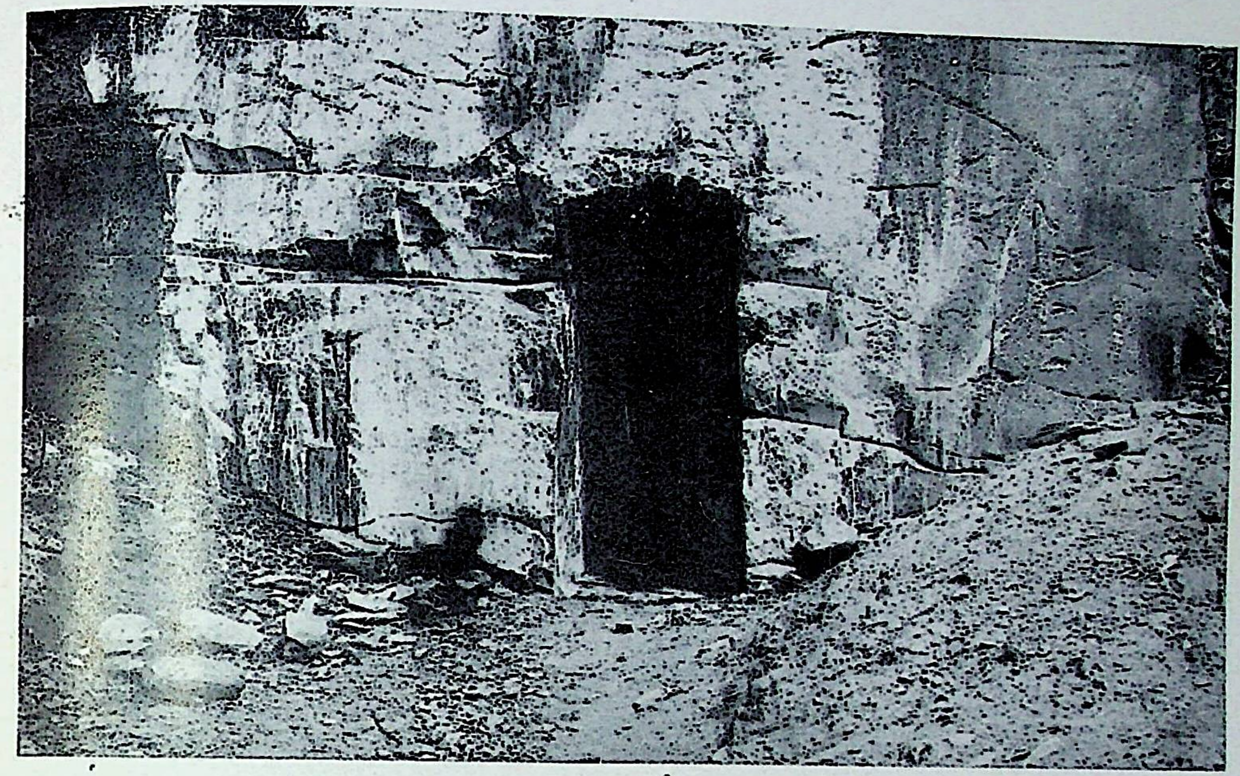

(क) राजगिर — सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, बाहरी भाग

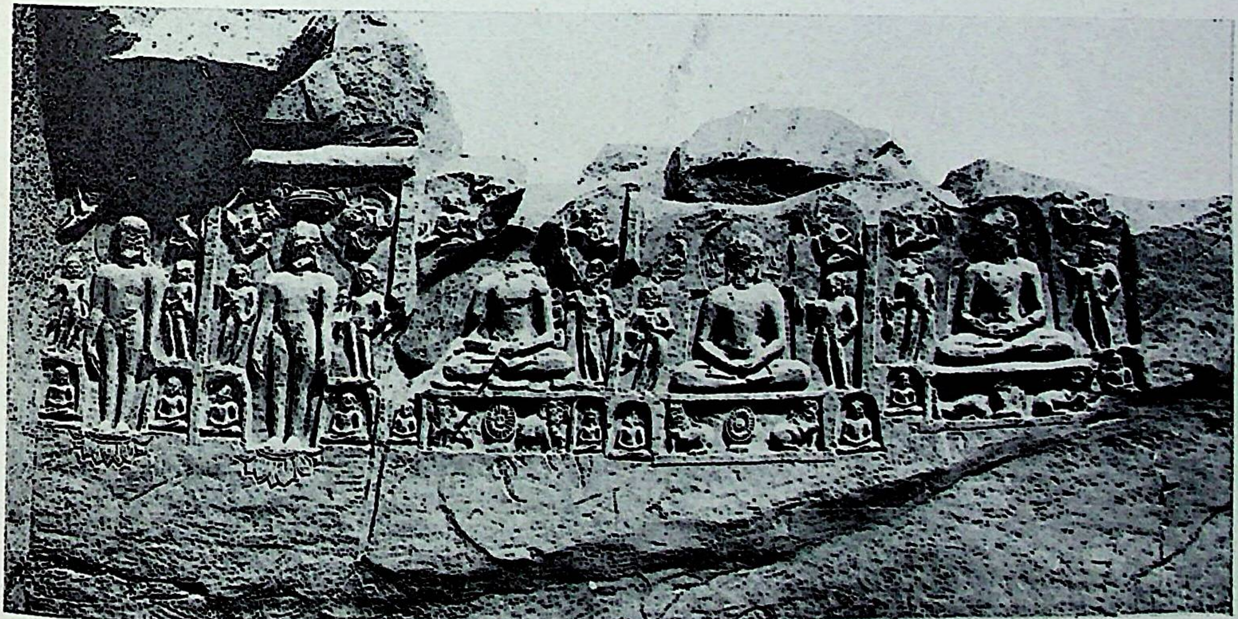

(ख) राजगिर — सोनभण्डार, पूर्वी गुफा, दक्षिणी भित्ति पर तीर्थंकरों की उत्कीर्ण मूर्तियां

चित्र 51

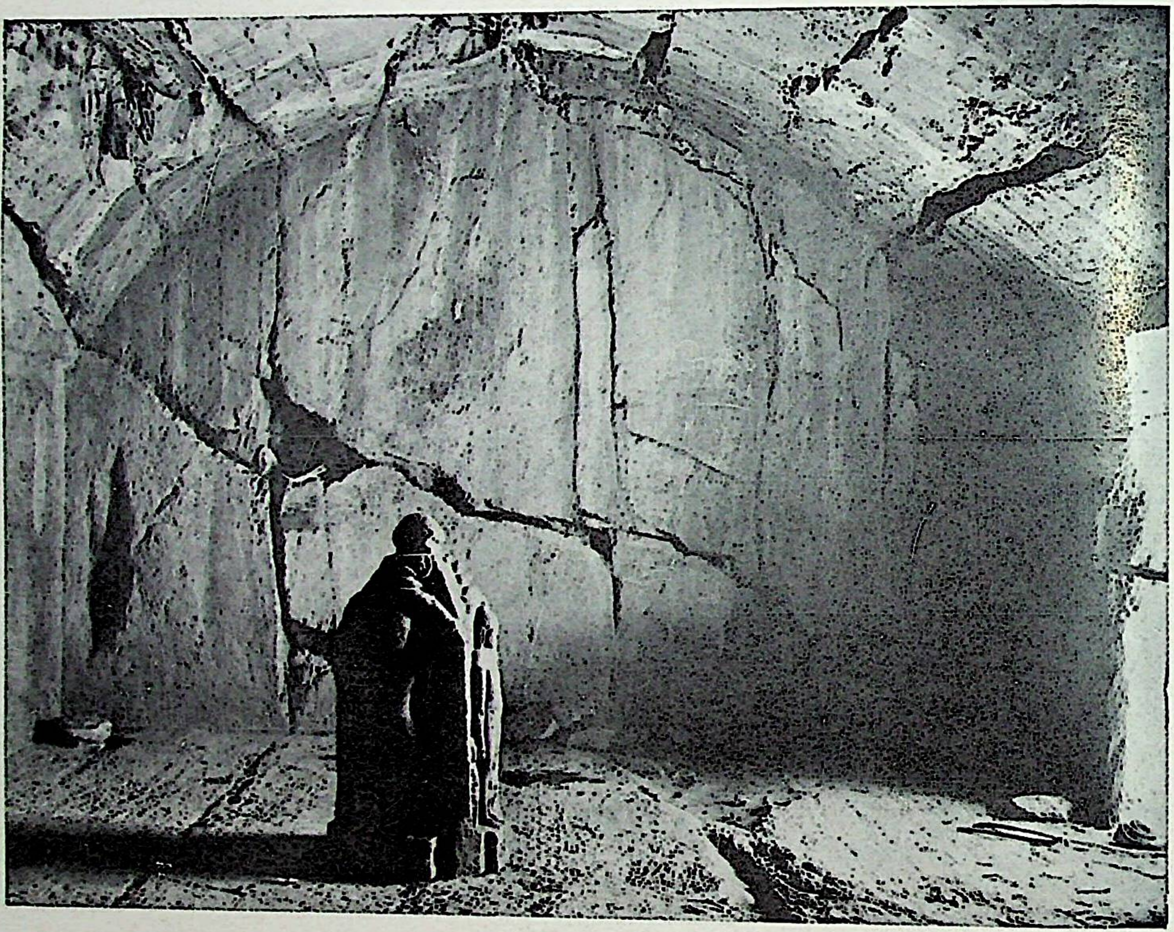

राजगिर — सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, अन्तःभाग, फर्श पर चौमुखी, परवर्ती शिल्प

चित्र 52

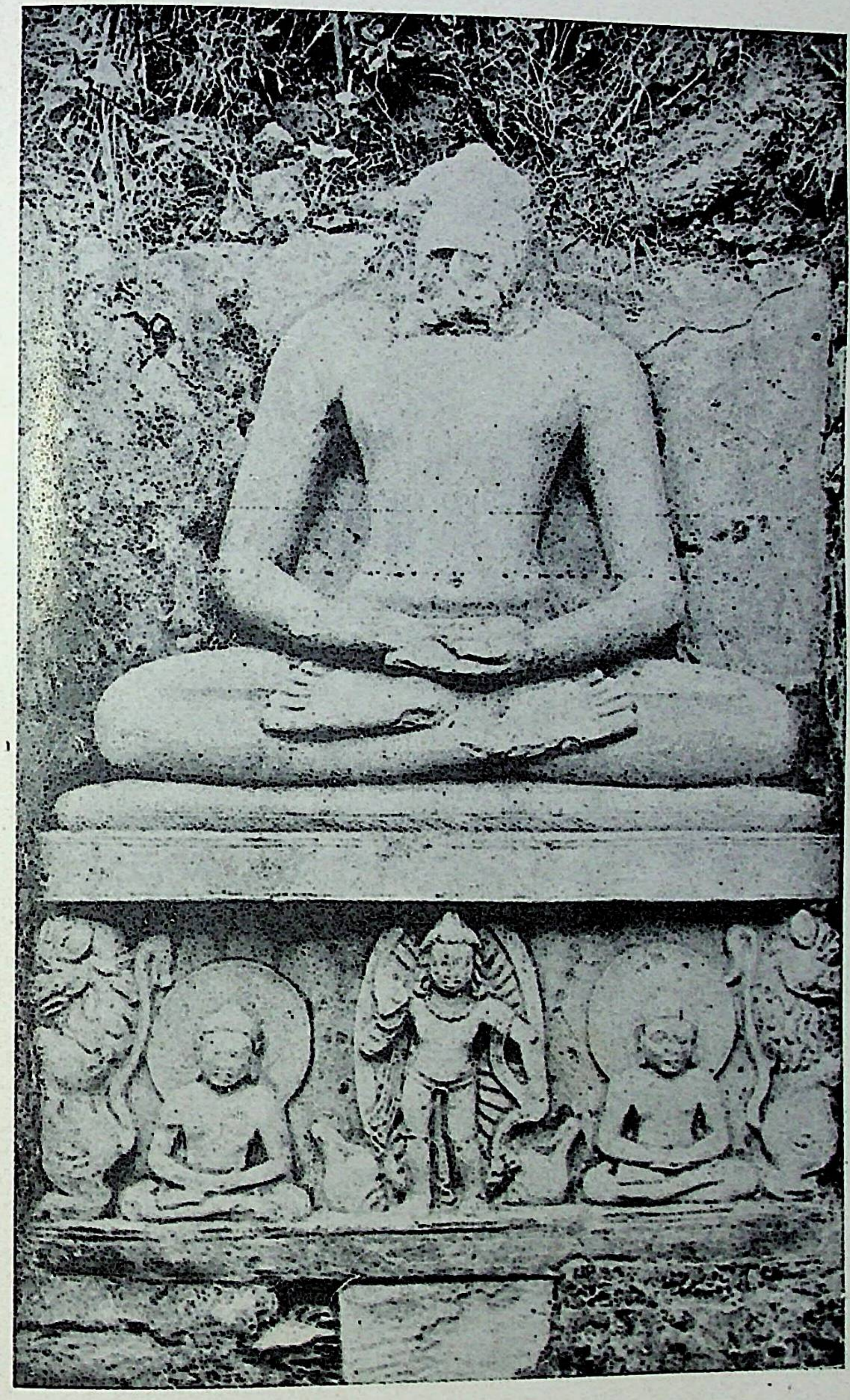

राजगिर — वैभार पर्वत के मन्दिर में तीर्थंकर नेमिनाथ

चित्र 53

(क) चौसा — तीर्थंकर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

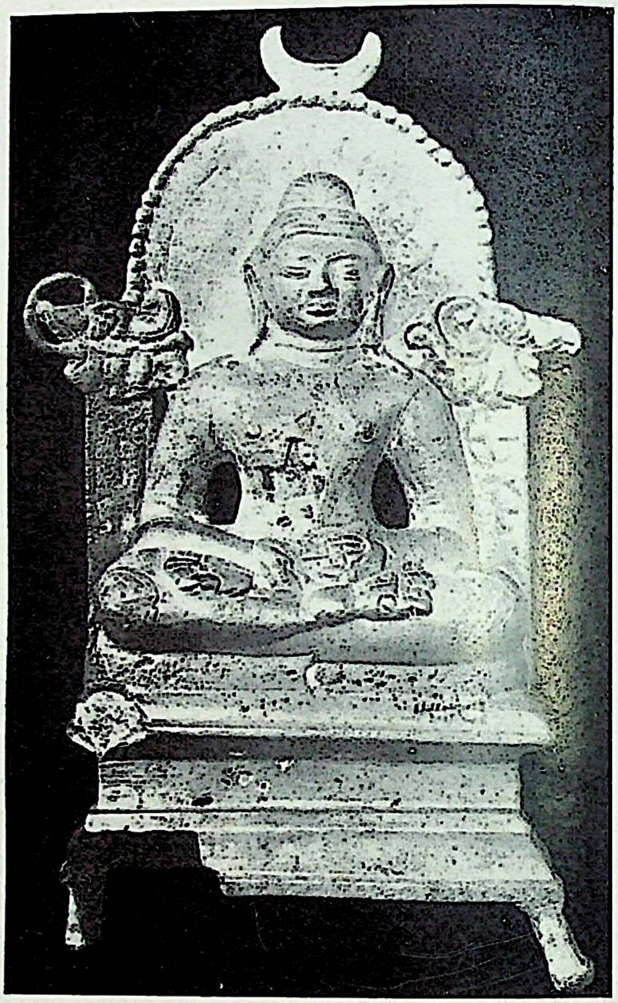

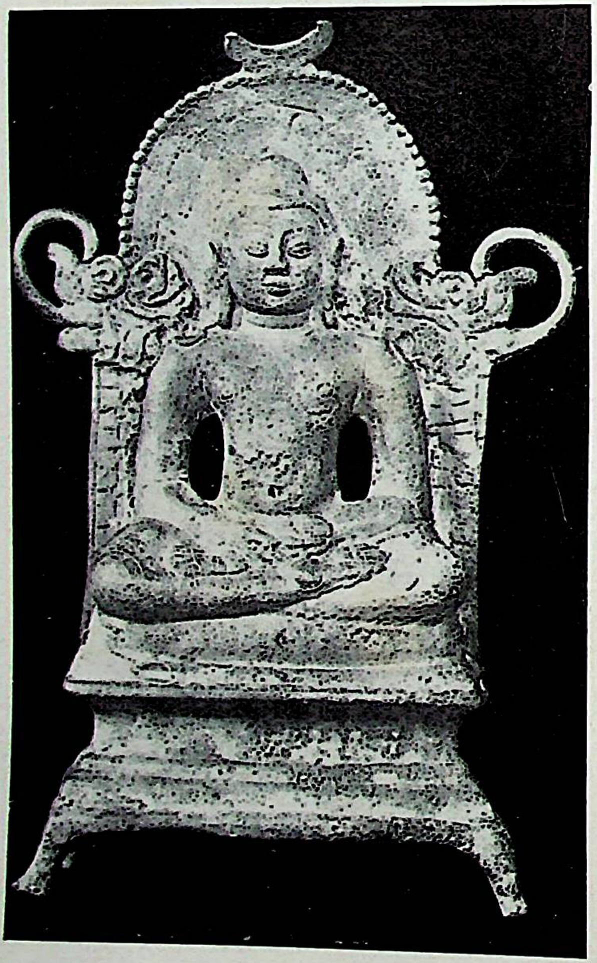

(ख) चौसा — तीकर्थंर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

चित्र 54

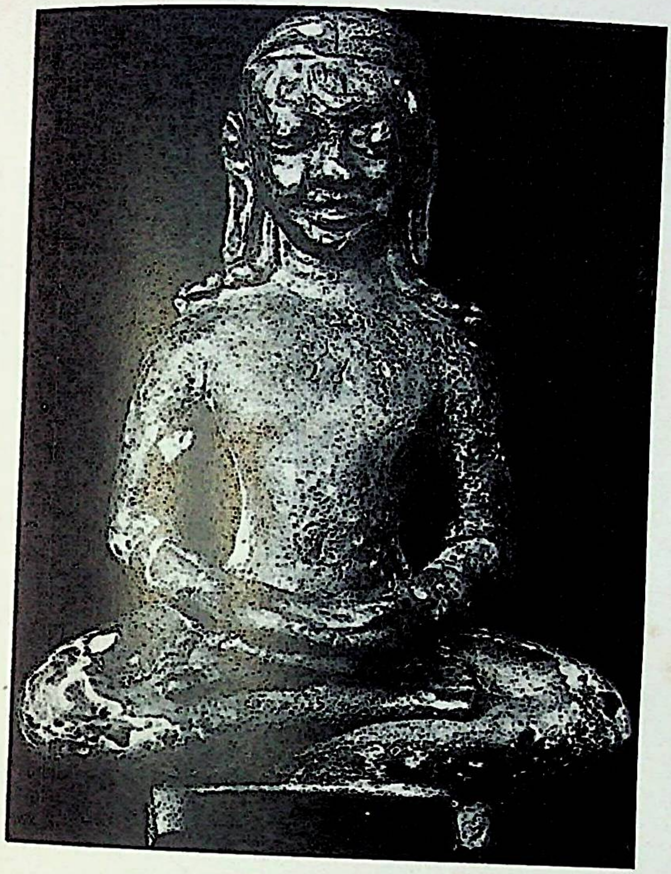

(क) चौसा — तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति
(पटना संग्रहालय)

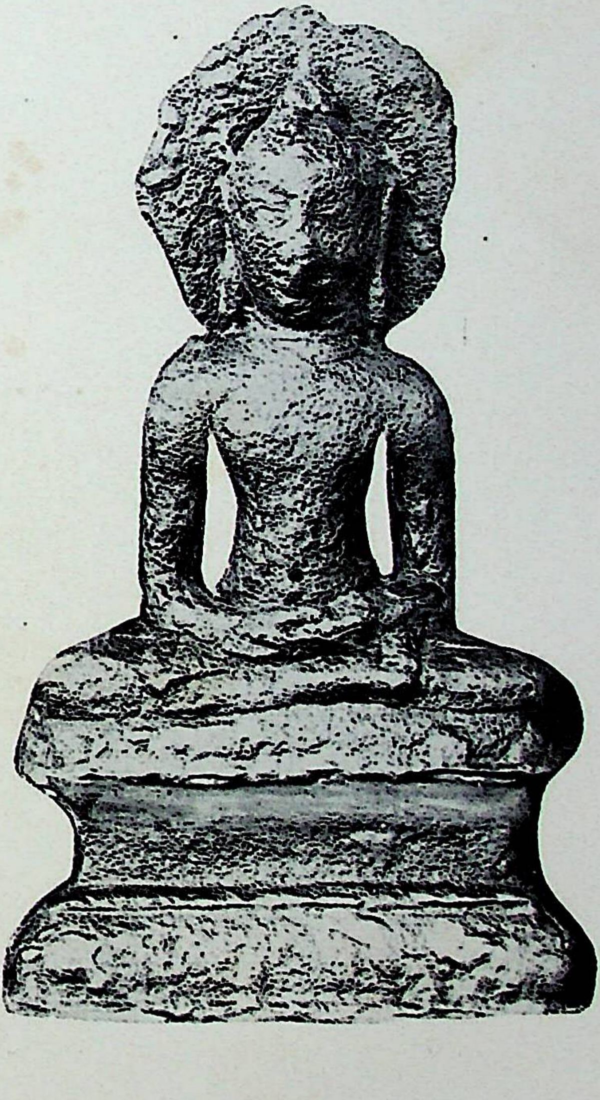

(ख) चौसा — तीर्थंकार पार्श्वनाथ, काँस्य मूर्ति
(पटना संग्रहालय)

चित्र 55

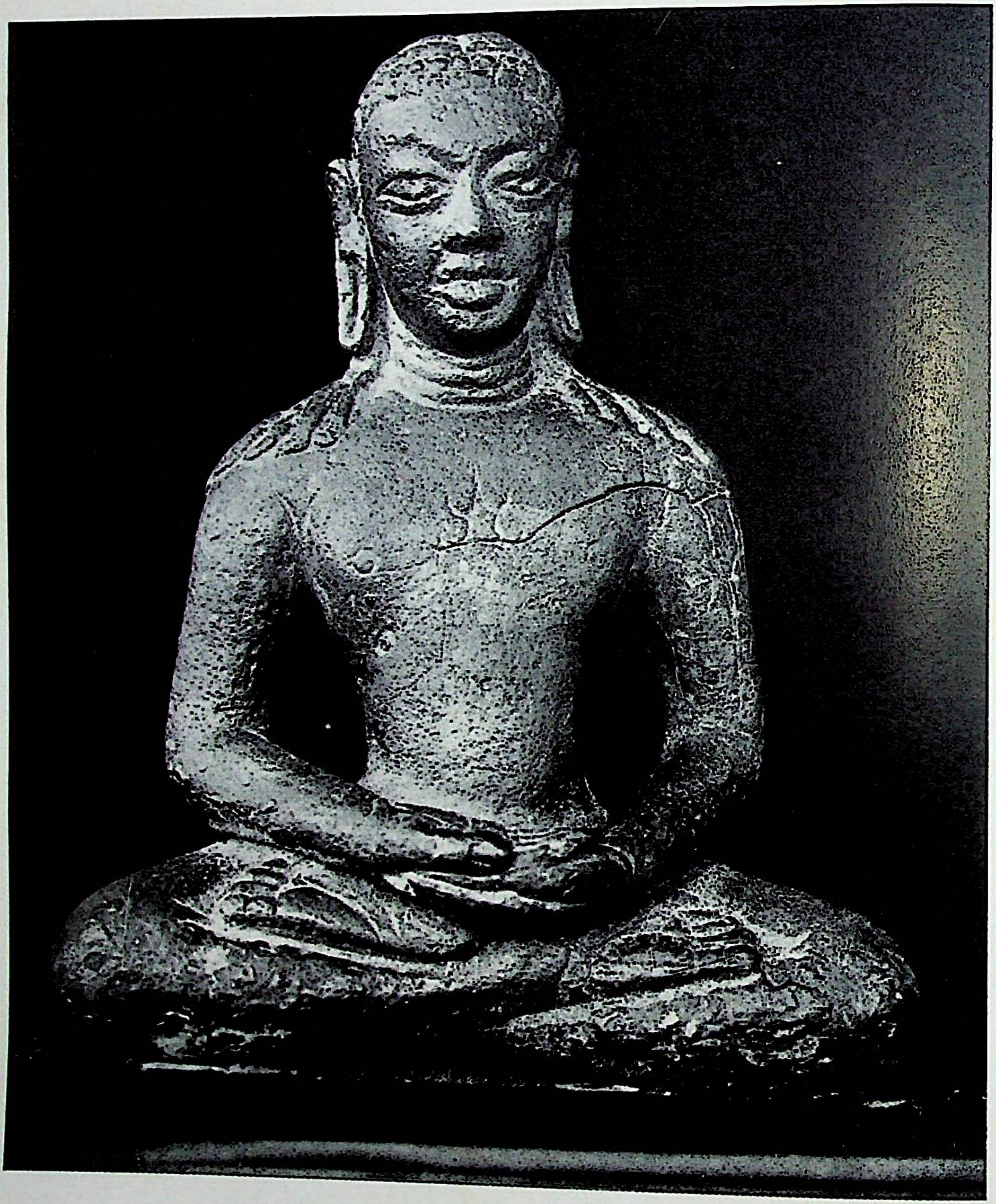

चौसा — तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

चित्र 56

माना है। इस शिलालेख की लिपि और पूर्वी गुफा की दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण जैन तीर्थंकरों की छह प्रतिमाओं से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। पश्चिमी सोनभण्डार गुफा के शिलालेख के निकट ही एक तीर्थंकर-प्रतिमा के निचले आधे भाग की क्षीण रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है[1] गुफा के भीतर एक और शिल्पांकन की रूपरेखा है जिसमें एक ध्यानस्थ तीर्थंकर और उनके साथ ही चौरी लिये हुए कलात्मक नारी-मूर्ति अंकित की गयी है। गुफाओं के ये विवरण शिलालेख में वर्णित विवरणों से मिलते हैं। वैभारगिरि का संबंध दिगंबर जैन आम्नाय से रहा है, इस बात की पुष्टि ह्वेनसांग ने भी की है।[2] उसने लिखा है कि पि-पु-लो (वैभार) पर्वत पर रहनेवाले दिगंबर 'सूर्य के समान अविराम तप-साधना करते थे।' इस प्रकार श्वेतांबर-मुनि वज्र संबंधी प्रमाण शंकास्पद प्रतीत होता है। तीसरी-चौथी शती ईसवी के शिलालेख में जिन मुनि वज्र का उल्लेख है वे वही श्वेतांबर मुनि वज्र नहीं हो सकते जिनकी मृत्यु ५७ ईसवी में हुई थी। शिलालेख और तीर्थंकर-शिल्पांकनों की संगति दोनों सोनभण्डार गुफाओं से बैठाने के लिए, जबतक और अधिक तथ्य प्रकाश में नहीं आते, तबतक पूर्वोक्त तिथि ही मान्य होनी चाहिए।

इन गुफाओं की स्थापत्य शैली के विषय में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। पहली, अर्थात् पश्चिमी गुफा का माप १०.३×५.२ मीटर, प्रवेशद्वार लगभग २×१ मीटर, और एक गवाक्ष लगभग ०.९×०.७६ मीटर है। द्वार-स्तंभ ढलुवाँ हैं और उनका नीचे की अपेक्षा ऊपर का भाग लगभग १५ सेंटीमीटर का है। छत की रचना वक्र है जिसका विस्तार लगभग १.५ मीटर है। इसमें ऊपर तथा पृष्ठ १२९ में वर्णित सामान्य उभार की उत्कीर्ण तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अतिरिक्त भीतर-बाहर कहीं भी सौंदर्यात्मक महत्त्व की कोई बात नहीं है। फिर भी, इसकी भीतरी भित्तियों, द्वार-स्तंभ और सामने की भित्ति[3] पर कुछ पुरालेख तथा अन्य शिलालेख हैं जो अब मिट-से गये हैं।

पश्चिमी गुफा की निकटवर्ती पूर्वी गुफा निचले स्तर पर स्थित है और उसकी समकालीन है।[4] जब कनिंघम ने देखा था[5] तब उसका भीतरी भाग उसकी गिरी हुई छत के मलबे से भरा हुआ था। यह गुफा आयताकार है और पश्चिमी गुफा से छोटी है। इसके उपर इंटों का एक भवन बना हुआ

ही काष्ठनिर्मित किसी अतिरिक्त वस्तु का उपयोग किया जाता था. पूर्वी गुफा के सामने इंट की एक अतिरिक्त निर्मिति तथा एक बरामदा भी ध्यान देने योग्य है. ये विशेषताएं उदयगिरि की गुप्तकालीन गुफाओं में भी पायी जाती हैं. तुलनीय : आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. रिपोर्ट्स. सपा : कनिंघम. खण्ड 10. 1880. कलकत्ता. पृ 86.

[1] कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ 122.

[2] बील, पूर्वोक्त, खण्ड 2, पृ 158.

[3] कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ 121–22. / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 24–26.

[4] मुनि वैर के शिलालेख में दो गुफाओं का उल्लेख है.

[5] कनिंघम, पूर्वोक्त, 1871, पृ 25.

था। इस ऊपरी तल पर जाने के लिए चट्टान को काटकर अनियमित आकार की सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। इसके गिरे हुए ऊपरी भवन के मलवे में से एक गरुड़ासन-विष्णु की प्रतिमा मिली थी, जिससे ज्ञात होता है कि आगे चलकर इसका उपयोग वैष्णवों द्वारा किया जाने लगा था। गुफा के भीतर दक्षिणी भित्ति पर छह छोटी तीर्थंकर-प्रतिमाएँ शिल्पांकित हैं। 'दोनों ही गुफाओं के बाहर छतयुक्त बरामदा था जिसका संकेत पश्चिमी गुफा की बाहरी भित्ति पर शहतीर के लिए बने छिद्रों और पूर्वी गुफा के सामने के चबूतरे या आँगन से मिलता है, जिसकी ईंटें आज भी दिखाई देती हैं'।[1]

वैभारगिरि के ध्वस्त मंदिर में एक केन्द्रीय कक्ष है जिसका मुख पूर्व की ओर है। इसके चारों ओर आँगन है जिसके सामने सभी ओर पंक्तिबद्ध कोठरियाँ हैं। मुख्य भवन की पूर्वी भित्ति के पास तथा उनके कुछ निचले स्तर पर एक और कक्ष है जिसके उत्तर में सीढ़ियाँ हैं।[2] इस कक्ष में भी कुछ तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं जिन्हें इस युग की माना जा सकता है।[3]

मूर्तिकला : प्रस्तर-मूर्तियाँ

पूर्वी क्षेत्र ने हमें इस युग की प्रस्तर और धातु-निर्मित कुछ प्रतिमाएँ तथा मृण्मूर्तियाँ विरासत में दी हैं। प्रस्तर-प्रतिमाएँ मुख्यतः राजगिर[4] से प्राप्त हुई हैं, जब कि चौसा (जिला भोजपुर) से धातु की सोलह प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनमें से छह इसी संदर्भित काल की हैं।[5] कुमराहार[6] और वैशाली[7] से हरिनैगमेष की कुछ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो शैली और कला-कौशल की दृष्टि से यही दर्शाती हैं कि प्राचीन कुषाणकालीन पद्धति इस युग में भी जारी रही। इस युग की दो और प्रतिमाओं की सूचना प्राप्त

---

[1] कुरैशी और घोष, पूर्वोक्त, पृ 26.

[2] वही, पृ 26, [इस मंदिर की तिथि के लिए अध्याय 15 देखिए.—संपादक]

[3] आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. **एनुअल रिपोर्ट**, 1925-26. 1928. कलकत्ता. पृ 125-26 में रामप्रसाद चंदा का मत.

[4] वही.

[5] पटना म्युजियम. **कैटेलॉग ऑफ एण्टिक्विटीज.** संपा : परमेश्वरीलाल गुप्त. 1965. पटना. पृ 116-17. / प्रसाद (एच के). जैन ब्रोन्ज़ेज इन द पटना म्युजियम. **महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबिली वॉल्यूम.** 1. 1968. बम्बई. पृ 275-83.

[6] अल्तेकर (अनन्त सदाशिव) तथा मिश्र (विजयकान्त). **रिपोर्ट ऑन कुमराहार एक्सकेवेशन्स**, 1951-55. 1959. पटना. पृ 109-11.

[7] कृष्णदेव तथा मिश्र (विजयकान्त). **वैशाली एक्सकेवेशन**, 1950. 1961. वैशाली. पृ 51. / सिन्हा (बी पी). तथा राय (सीताराम). **वैशाली एक्सकेवेशन्स**, 1958-62. 1961. पटना. पृ 162-63.

हुई है; एक पहाड़पुर के खण्डहरों से[1] तथा दूसरी मैनामती से। ये दोनों ही स्थान अब वांग्लादेश[2] में हैं। इनकी प्राप्ति से पूर्वी भारत में इसी अवधि के जैन कलावशेषों का एक संग्रह पूर्ण हो जाता है, इनके अतिरिक्त, राजगिर के मनियार मठ से भी कुछ नागी मूर्तियाँ मिलने की सूचना प्राप्त हुई है। यद्यपि जैन सृष्टिविद्या में नागों को व्यन्तर-लोक के किन्नरों की कोटि में रखा जाता है, परन्तु मनियार मठ से प्राप्त साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि इन वस्तुओं का जैनों से संवंध नहीं है। इसके विपरीत यह संकेत मिलता है कि राजगृह में एक प्रकार का सर्वदेव-मंदिर था, जिसमें ऐसे नाग देवता प्रतिष्ठित थे जिन्हें आसपास के क्षेत्रों के लोग पूजते थे।[3]

लघु मृण्मूर्तियों को छोड़कर जैन कला की अन्य कृतियाँ युग की सौंदर्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा सर्वत्र प्रचलित गुप्त-कला शैली का अंग हैं। यद्यपि उनका मूर्तन पारंपरिक पद्मासन या खड्गासन-मुद्रा में किया गया है, तदपि इस काल की तीर्थंकर-प्रतिमाएँ प्राचीन परंपरा से कहीं अधिक प्रगतिशील वन सकीं। उनमें अत्यधिक स्थूलता नहीं रह गयी थी, इसके विपरीत उनमें कलाकार का प्रयत्न परिलक्षित होता है कि मुद्रा की कठोरता को कोमल बनाने के लिए आकृति की स्थूलता को सरल वक्र और सतत सरल रेखन्युक्त सामंजस्य उत्पन्न करके दूर किया जाये। एक प्राणवान रूप प्रदान करने की भावना सभी प्रतिमाओं में दिखाई पड़ती है, यद्यपि इसमें सफलता की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। सामान्यतः प्रस्तर-प्रतिमाएँ कांस्य प्रतिमाओं से कला की दृष्टि से अधिक सुघड़ हैं, और जहाँ कहीं उनमें प्राचीनता रह गयी है वहाँ उसका कारण संभवतः यह रहा है कि कलाकार कुषाणकालीन मथुरा शैली के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। समग्र रूप से ये प्रतिमाएँ उत्तर और मध्य भारत के अन्य क्षेत्रों की इसी प्रकार की कलाकृतियों के सदृश हैं।[4]

---

[1] एपिग्राफिया इण्डिका, पूर्वोक्त. / शाह, पूर्वोक्त, पृ 15. यह प्रतिमा कमल पर खड्गासनस्थ तीर्थंकर की है, जिसके दोनों ओर यक्ष (? श्रावक) की आकृति वनी हुई है। तुलनीय : **अनेकांत**; 1956, अगस्त ; 236.

[2] रामचन्द्रन (टी एन). रीसेन्ट आर्कयॉलॉजिकल डिस्कवरीज अलोंग द मैनामाटी एण्ड लालमाई रेंजेज, टिप्पेरा डिस्ट्रिक्ट, ईस्ट बंगाल. **बी० सी० लॉ वॉल्यूम.** संपा : डी आर भंडारकर इत्यादि. खण्ड 2. 1946. पूना. पृ 218-19.

[3] ब्लाख, पूर्वोक्त, पृ 104. कनिंघम ने जब मनियार मठ में एक वेलनाकार रचना की खुदाई करवायी तो वहाँ से पार्श्वनाथ की एक कायोत्सर्ग प्रतिमा के प्राप्त होने की सूचना दी. (कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ 132.) किन्तु ब्लाख को ऐसी और भी अनेकों मूर्तियाँ मिलीं और उनका ऊपर दिया गया निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है। तथापि पद्मावती की सबसे प्राचीन प्रतिमा राजगिर से प्राप्त होने की सूचना है. आर्कयालाजिकल सर्वे ऑफ इंण्डिया. **एनुअल रिपोर्ट, 1930-34. खण्ड 2.** 1936. दिल्ली. पृ 276, चित्र 68 ख. / मैती (पी के). **हिस्टॉरिकल स्टडीज इन द कल्ट ऑफ गॉडेस मनमा.** 1966. कलकत्ता.

[4] ब्लाख, पूर्वोक्त, पृ 104. / आर्कयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ईस्टर्न सर्किल. **एनुअल रिपोर्ट**, 1905-6. 1907. कलकत्ता. पृ 14-15.

इन मूर्तियों की शैलीगत विशेषताएँ उन शैलियों को प्रदर्शित करती हैं जो सारनाथ तथा देवगढ़ में साकार हुईं और जिन्होंने पूर्वी-भारत में मूर्ति-निर्माण-गतिविधि को प्रभावित किया।[1] राजगिर की जैन कला में कम से कम दो पृथक् शैलीगत वर्ग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व वैभारगिरि के ध्वस्त मंदिर से प्राप्त नेमिनाथ की प्रतिमा और पूर्वी सोनभण्डार गुफा की छह अन्य तीर्थंकर-शिल्पाकृतियाँ करती हैं। इनमें दूसरे वर्ग की अपेक्षा अधिक लालित्य है एवं शरीर-रचना में अंगों का पारस्परिक संबंध अधिक अच्छी तरह दिखाया जा सका है। दूसरे वर्ग में तीन प्रतिमाएँ[2] आती हैं जो ध्वस्त मंदिर की उसी कोठरी में नेमिनाथ की प्रतिमा के साथ ही प्राप्त हुई थीं। इस वर्ग की प्रतिमाओं की विशेषताएँ हैं—अपेक्षाकृत सुगठित धड़, स्तंभ–जैसे पैर, और नाभि के नीचे सुस्पष्ट मांस-पिण्ड जिसके नीचे एक गहरी उत्कीर्ण रेखा है जो आकृति को स्पष्ट काटती है।[3] यही बात गर्दन में भी देखने को मिलती है। दोनों ही वर्गों की तीर्थंकर-प्रतिमाओं के हाथों का अंकन भी इस दृष्टि से असंगत है कि सामने की भुजाएँ पार्श्व हाथों से जोड़ी गयी हैं। साथ ही, दोनों वर्गों में स्तंभ-जैसे पैर हैं तथा टाँगों के अंकन में शीघ्रता से काम लिया गया है। इस प्रकार ये प्रतिमाएँ एक नयी शैली की सूचना देती हैं जो उस समय अपना स्थान बनाती जा रही थी। मिश्रित अंकन के अतिरिक्त इन प्रतिमाओं पर तीर्थंकरों के वे परिचय-चिह्न भी अंकित हैं जो प्रतिमा-विज्ञान में स्वीकार किये जा रहे थे तथा जिनसे विभिन्न तीर्थंकरों की पहचान करने में सहायता मिलती है।

विचाराधीन अवधि की जो प्राचीनतम प्रतिमा अभी तक पूर्वी भारत से प्राप्त हुई है वह है राजगिर की वैभार पहाड़ी (चित्र ५३) के ध्वस्त मंदिर से प्राप्त बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा।[4] काले पत्थर की इस प्रतिमा (७९×६८ से० मी०) पर एक अस्पष्ट शिलालेख पाया गया है जिसमें (महाराजाधिराज) श्री चंद्रगुप्त-द्वितीय (विक्रमादित्य) के नाम का उल्लेख है। इस तीर्थंकर-प्रतिमा का शीर्ष बुरी तरह टूट-फूट गया है अन्यथा यह प्रतिमा गुप्त-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। तीर्थंकर-मूर्ति को सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है। सिंहासन के अंतिम सिरों पर उग्र सिंहों का अंकन किया गया है और एक अण्डाकार अरे-युक्त चक्र की परिधि में एक राजपुरुष को खड़ा हुआ दिखाया गया है। उसके दोनों ओर दो केशहीन तीर्थंकर-मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा में उत्कीर्ण हैं।

---

[1] तुलनीय : वीनर (शीला एल). फ्रॉम गुप्ता टु पाल स्कल्पचर. **आर्टिबस एशियाई.** 25; 1962; 167 तथा परवर्ती.

[2] ब्रून (क्लॉस). **जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़.** 1969. लीडन. पृ 115-16, 222-24. चित्र 76. अपनी वर्गीकरण पद्धति में, ब्रून ने इन प्रतिमाओं में से एक को बेडौल वर्ग (कला-प्रतीक 1) के अंतर्गत रखा है और उसे प्रारंभिक मध्ययुग की बताया है.

[3] इस विशेषता के कारण इन प्रतिमाओं की तुलना पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सारनाथ शैली की अन्य प्रतिमाओं से भलीभाँति की जा सकती है. तुलनीय : वीनर, पूर्वोक्त, पृ 168.

[4] चंदा, पूर्वोक्त, पृ 125-26.

चक्र की परिधि में अंकित राजपुरुष की पहचान चंदा ने अरिष्टनेमि (युवा राजकुमार नेमिनाथ) के रूप में की थी किन्तु शाह के अनुसार यह आकृति चक्रपुरुष[1] की है।

शैली की दृष्टि से इस प्रतिमा की समकालीन छह अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं जो पूर्वी सोन-भण्डार गुफा[2] के भीतर की दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण की गयी हैं। इन छह शिल्पांकनों में से पाँच गुफा के प्रवेशद्वार (चित्र ५१ ख) के एक ओर हैं और छठी दूसरी ओर अकेली ही है। शिलाफलक पर पहली पाँच प्रतिमाएँ एक पंक्ति में उत्कीर्ण की गयी हैं। इनमें से पहली दो छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की है। तीसरी तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की और अंतिम दो महावीर की हैं। यह संपूर्ण रचना मुख्य रूप से इस तथ्य को प्रदर्शित करती है कि आमोद-प्रमोद की विभिन्न स्थितियों में क्रीड़ारत अनुचरों की मूर्तियों के पार्श्व में अंकित तीर्थंकर-प्रतिमाओं के गतिहीन एवं रुढ़िवद्ध चित्रण में कितना विरोधाभास है। संपूर्ण रचना संतुलित रूप से की गयी है। विभिन्न तीर्थंकर-प्रतिमाओं के लिए उचित ढंग से चौखटा बनाया गया है। वे सब मिलकर एक विस्तृत फलक पर चित्र-वल्लरी का रूप धारण कर लेती हैं। इस फलक की समरूपता केवल उन दो छोटे-छोटे कमलों के कारण बिगड़ती है जो पद्मप्रभ की प्रथम दो मूर्तियों के नीचे बनाये गये हैं किन्तु रचना के संपूर्ण कला-कौशल पर इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। जहाँ तक गौण विवरणों का प्रश्न है, इन शिल्पांकनों की प्रस्तुतीकरण-योजना लगभग एक जैसी ही है। भेद केवल विभिन्न तीर्थंकरों के परिचय-चिह्नों के अंकन में ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार तीर्थंकर-प्रतिमाएँ या तो पद्मासन मुद्रा में हैं या खड्गासन में, किन्तु इन सभी के साथ ऊपर से नीचे तक के स्तरों में अंकित हैं ये — (क) दोनों ओर हवा में झूलती हुई आकृतियाँ जिनके हाथों में या तो मालाएँ हैं या वे भक्तिभाव से केवल हाथ जोड़े हुए हैं; (ख) दोनों ओर खड़े हुए सेवक, जो चौरी लिये हुए हैं; (ग) दोनों ओर ध्यान-मुद्रा में आसीनं एक-एक तीर्थंकर-प्रतिमा। नीचे देवकुलिकाओं में उत्कीर्ण तीर्थंकर-मूर्तियों के पादपीठ पर कुछ और विवरण भी हैं। पद्मप्रभ के शिल्पांकनों के साथ कमल उत्कीर्ण हैं तथा पार्श्वनाथ के साथ विपरीत दिशाओं की ओर मुख किये हुए दो ऐसे हाथी अंकित हैं, जो कलात्मक रूप से उत्कीर्ण चक्र के द्वारा एक-दूसरे से अलग दिखाये गये हैं; जबकि इसी प्रकार के चक्र के पार्श्व में महावीर के साथ सिंहों का अंकन किया गया है।

प्रवेशद्वार की दूसरी ओर का एकमात्र शिल्पांकन आकार में बड़ा है, किन्तु बुरी तरह खण्डित हो चुका है। किन्तु उसमें भी शैली की वही विशदता है, जो अन्य मूर्तियों में दृष्टिगोचर होती है। उस पर कुछ और अधिक विवरण हैं – जैसे कि भामण्डल के ऊपर एक कल्प-वृक्ष उत्कीर्ण किया गया है और आसन पर एक सुविस्तीर्ण आस्तरक है। वृक्ष पर अशोक-पुष्प और पत्तियों के स्पष्ट गुच्छे हैं।

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 14.

[2] कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 26, चित्र 7 ख.

इसके विपरीत उपर्युक्त (पृ १२९) वैभार पहाड़ी पर नेमिनाथ की प्रतिमावाली कोठरी में खड्गासन-मुद्रा में, जो तीन जिन–मूर्तियाँ हैं, वे किसी अन्य कला-परंपरा की मालूम पड़ती हैं।[1] इनमें से एक प्रतिमा पर कमल के आसपास शंखों का चित्रण है, जो इसका नेमिनाथ की मूर्ति होना सूचित करता है। दूसरी प्रतिमा भी यद्यपि पहली से कुछ छोटी है और उसपर अतिरिक्त विवरण इतने स्पष्ट नहीं हैं फिर भी वह पहली से मिलती-जुलती ही है। ये दो प्रतिमाएँ अण्डाकार मुँह, सुव्यवस्थित घुँघराले केश, कायोत्सर्ग-मुद्रा और अपनी पूरी गोलाई में भलीभाँति अलंकृत भामण्डल का प्रारूप प्रस्तुत करती हैं। इन प्रतिमाओं का परिकर तीर्थंकर के दोनों ओर चमर तथा मालाधारी आकृतियों से युक्त है। इस वर्ग की तीसरी प्रतिमा सबसे छोटी और साधारण है। इसमें तीन परतों वाले उलटे कमल-छत्र के नीचे तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है और उनके साथ हैं चौरी-वाहक। यह प्रतिमा क्षीण हो गयी है और उसके सूक्ष्म विवरण लुप्त हो गये हैं। इसी वर्ग और शैली की एक और प्रतिमा इस समय पटना स्थित गोपीकृष्ण कनोड़िया संग्रह में है। यह मूर्ति पार्श्वनाथ की है और जहाँ तक परिकर के विवरणों का प्रश्न है, इसकी शैली विशेष रूप से गुप्तकालीन है। फिर भी, चेहरे का अंकन शेष आकृति से शैली में भिन्न है। हो सकता है कि कालांतर में इस प्रतिमा को फिर से काटा-छाँटा गया हो, जिसके कारण यह अंतर आ गया है।

कांस्य मूर्तियाँ

उक्त प्रतिमाओं के पश्चात् चौसा से प्राप्त धातु की छह प्रतिमाएँ आती हैं, जो अब पटना संग्रहालय में हैं। ये सहज आकर्षण और अभिव्यक्ति की उपयुक्तता दर्शाती हैं। एक वर्ग के रूप में यह पश्चिम भारत में प्राप्त मूर्तियों से भिन्न हैं।[2] इनमें से दो (चित्र ५४) आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की हैं जैसा कि उनके परिचय-चिह्न (अर्ध चन्द्र) से स्पष्ट है, जो शिरश्चक्र के ऊपर मध्य में दिखाया गया है। अन्य दो प्रतिमाएँ (चित्र ५५ क और ५६) प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की हैं, जिनकी पहचान उनके कंधों तक आये बालों के कारण हो सकी है। शेष दो (एक का चित्र दिया गया है, चित्र ५५ ख) क्षीण हो जाने और इस कारण विवरणों का पता नहीं लग पाने से पहचानी नहीं जा सकी हैं। सभी तीर्थंकरों को पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में आसीन अंकित किया गया है और सभी के वक्ष के मध्य में श्रीवत्स-चिह्न तथा पीछे की ओर शिरश्चक्र है। जिस मूर्ति का शिरश्चक्र अब लुप्त हो गया है, उसके पीछे की चूल से ज्ञात होता है कि वहाँ पहले शिरश्चक्र था। ऋषभदेव की प्रतिमाएँ

---

[1] ये प्रतिमाएं सामान्यतः गुप्त-काल की बतायी जाती हैं। तुलनीय : चंदा, पूर्वोक्त, पृ 126. / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 26. / शाह, पूर्वोक्त, पृ 14. / ब्रून (पूर्वोक्त पृ 222-23) इनमें से एक को मध्यकालीन मूर्तियों के वर्ग में रखते हैं। चौड़ा बनाया हुआ धड़, तीखे संधिस्थल और एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक कम सूक्ष्म परिवर्तन यह सूचित करते हैं कि इन प्रतिमाओं में किसी सीमा तक उन शैलीगत विशेषताओं के आद्य रूप विद्यमान हैं, जो संक्रमणकालीन कला पर छाये हुए थे।

[2] पश्चिम भारतीय कांस्य मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 16. / अध्याय 13 भी.

ठीक-ठीक अनुपात में बनायी गयी हैं। उनका चेहरा पुष्ट एवं अण्डाकार है। कर्ण-पिण्ड लम्बे और ग्रीवा का रेखन नियमित है। कंधे से कटि तक तथा उसके नीचे के भाग की संधि कुशलतापूर्वक अंकित की गयी है। प्रत्येक भाग स्पष्ट दिखाई पड़ता है किन्तु बड़ी कुशलतापूर्वक एक दूसरे में मिलाया गया है। इन विशेषताओं के कारण ये प्रतिमाएँ चन्द्रप्रभ की प्रतिमाओं से श्रेष्ठ जान पड़ती हैं, यद्यपि चन्द्रप्रभ को प्रतिमाएँ अधिक अलंकृत हैं। तथापि, ऋषभदेव की हथेलियाँ अनुपात का ध्यान न रखकर बड़ी बनायी गयी हैं और पैर के अँगूठे बाहर निकले हुए हैं। बालों को दोनों ओर लटकते हुए दिखाया गया है तथा सिर के बीच में बालों की माँग निकाली गयी है। बालों के गुच्छों को लहरों की भाँति कंधे पर फैला हुआ दिखाया गया है।

चन्द्रप्रभ की प्रतिमाओं में से एक (चित्र ५४ क) के मूर्तन में कुछ बातें और विस्तार से आयी हैं। तीर्थंकर को एक ऐसे द्वि-स्तरीय आयताकार पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है जो दो अलंकृत स्तंभों के मध्य में देवकुलिका जैसा प्रतीत होता है। स्तंभों के शीर्ष पर असंगत आकार के मकर-मुख हैं, जिनकी जिह्वाएँ कुण्डली के रूप में बाहर निकली हुई हैं। तीर्थंकर-शीर्ष के पीछे एक अर्ध-गोलाकार शिरश्चक्र है, जिसकी परिधि पर गोल कंगूरे, कमल-पंखुड़ियों का एक भामण्डल तथा सबसे ऊपर अर्धचन्द्र है। इस मूर्ति में उष्णीष, लम्बे कर्ण-पिण्ड और कंधों पर लटकते हुए बालों का अंकन, जैसा कि ऋषभदेव की प्रतिमाओं में होता है, एक आश्चर्य की बात है। चन्द्रप्रभ का मुख गोल है, धड़ छोटा है और कंधे तथा भुजाएँ कुछ बाहर निकली हुई हैं। कटि के नीचे का भाग अर्थात् टाँगों और हाथों के घुमाव (पद्मासन-स्थिति) का चित्रण सूक्ष्मता से नहीं हुआ है। चंद्रप्रभ की दूसरी प्रतिमा (चित्र ५४ ख) पहली से कुछ छोटी है, किन्तु उसी के समान है। न पहचानी जा सकी मूर्तियों में से एक (चित्र ५५ ख) उसके द्वि-स्तरीय पादपीठ के विवरणों तथा शरीर के निचले भागों के अंकन की दृष्टि से इसी वर्ग की प्रतीत होती है।

समग्र दृष्टि से इन कांस्य मूर्तियों में शैलीगत अंतर है, विशेष रूप से मुखाकृति तथा शरीर के अंकन में। चंद्रप्रभ की मूर्तियाँ ऋषभदेव की मूर्तियों से परवर्ती प्रतीत होती हैं।[1]

मृण्मूर्तियाँ

उक्त मूर्तियों की तुलना में, मृण्मूर्तियों में कला-कौशल की कमी है और वे उस पुरातनता को दोहराती प्रतीत होती हैं, जो उन्हें विरासत में मिली थी। इस प्रकार की जो मूर्तियाँ वैशाली[2] में प्राप्त

---

[1] तुलनीय : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 13. श्री शाह ने कुछ चौसा कांस्य मूर्तियों पर अपना मत व्यक्त किया है।

[2] कृष्णदेव तथा मिश्र, पूर्वोक्त, पृ 51, चित्र 12 ग 7. / सिन्हा तथा राय, पूर्वोक्त, पृ 162-63, चित्र 52, चित्र 1-9 / सिन्हा और राय इन मृण्मूर्तियों से संबंधित वैशाली की चौथी अवधि को कालक्रमानुसार लगभग 200-600 ई० मानते हैं।

हुई हैं, उनमें से लगभग आधा दर्जन लघु मूर्तियों की पहचान शिशु-जन्म के जैन-देवता नैगमेष[1] के रूप में की गयी है। इनकी विशेषताएं हैं—पशु-मुख किन्तु बकरे के समान आकृति, लम्बे लटकते हुए कान जिनमें या तो छेद किये हुए हैं या कटाव-चिह्न हैं। साधारणतः मुँह का अंकन टेढ़ी नाक[2] के नीचे गहरे कटाव-चिह्न के रूप में किया गया है। वैशाली में मिली नैगमेष की मृण्मूर्तियों में तीन प्रकार स्पष्ट दिखाई देते हैं——स्त्री, पुरुष और शिशुसहित या शिशुरहित दम्पत्ति। इन प्रकारों में भी स्त्री-मूर्तियों की प्रधानता है। कुषाणकाल की ऐसी ही लघु मूर्तियों में कानों के उपर सींगों का होना एक अतिरिक्त विशेषता[3] है। कुमराहार के चौथे और पाँचवें खुदाई-स्थलों से इस प्रकार की लगभग बारह लघुमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो चौथी अवधि (लगभग ३००-४५० ई०) तथा पाँचवीं अवधि (लगभग ४५०-६०० ई०) की हैं। वे पुरुष और महिला प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा शैली में वैशाली से प्राप्त कृतियों के समान हैं।

ये सभी लघु मृण्मूर्तियाँ हाथ की बनी हुई हैं और उनमें अहिच्छत्र की नैगमेष मूर्तियों[4] जैसा मनोहारी आकर्षण नहीं है। स्थूल रूप में हाथ से बनायी गयी, पुरातन और अपरिष्कृत ये मूर्तियाँ किसी ऐसी सांप्रदायिक परंपरा की प्रतीत होती हैं, जो शास्त्रीय सुघट्यता तथा सुसंस्करण के द्वारा रूपांतरित नहीं हो पायी थीं। जो भी हो, एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि हो सकता है कि पहाड़पुर मृण्मूर्तियों की कुछ प्राचीन फलकों का उस समय पुनः समायोजन किया गया हो, जब आठवीं शताब्दी में जैन विहार को एक नया रूप दिया गया था।[5] ऐसा कहा जाता है कि पहाड़पुर में कला-शैली का गुप्त-काल से मध्यकाल[6] की कला-शैली के रूप में रूपांतर हुआ था, किन्तु वर्तमान में जो कलावस्तुएं उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार की किसी कला-प्रक्रिया से जैन संबंधों की सूचना नहीं देतीं।

रमानाथ मिश्र

---

[1] हरिनैगमेष के लिए द्रष्टव्य : **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट**. 29; 1952-53; 19 तथा परवर्ती पृष्ठों में उमाकांत प्रेमानंद शाह का लेख।

[2] **एंश्येण्ट इण्डिया**. 4; 1947-48; 134 में वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख.

[3] कृष्णदेव तथा मिश्र, पूर्वोक्त, पृ 51

[4] अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ 134-37, चित्र 48 क.

[5] दासगुप्त (सी सी). **ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ क्ले स्कल्पचर्स इन इण्डिया**. 1961. कलकत्ता. पृ 229-34.

[6] क्रमरिश (स्टेला). **इण्डियन स्कल्पचर्स**. लंदन. पृ 216.

अध्याय 12

मध्य भारत

कुछ ही समय पूर्व तीर्थंकरों की तीन अभिलेखांकित प्रतिमाएँ प्रकाश में आयी हैं, जो मध्यप्रदेश के विदिशा जिले में दुर्जनपुर नामक ग्राम में प्राप्त हुई हैं और इस समय विदिशा के स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं[1] अभिलेख पद्मासनस्थ ध्यान-मुद्रा में तीर्थंकर-प्रतिमाओं के पादपीठ पर अंकित हैं। पादपीठों के दोनों ओर पंखधारी सिंह तथा मध्य में धर्म-चक्र उत्कीर्ण है, जिसकी परिधि का अंकन सामने की ओर है। इनमें से दो प्रतिमाओं (चित्र ५७ और ५८) की मुखाकृतियाँ विखण्डित हो चुकी हैं, किन्तु उनके पीछे भामण्डल तथा पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी पुरुष खड़े हैं। इन भामण्डलों की वाहरी परिधि नखाकार किनारी से अलंकृत है तथा केन्द्र में एक सुंदर खिला हुआ वहुदल कमल है। तीसरी मूर्ति (चित्र ५९) का प्रभामण्डल अधिकांशतः नष्ट हो गया है और यह भी निश्चित नहीं है कि इस मूर्ति के पार्श्व में खड़े हुए सेवक अंकित थे या नहीं। किन्तु तीर्थंकर की मुसकानयुक्त मुखाकृति का एक अंश मात्र शेष है। नासिका, नेत्र और ललाट भाग खण्डित हो चुके हैं। शीर्ष के शेष भाग में कानों के लम्बे छिद्रयुक्त पिण्ड दिखाई देते हैं। इन तीनों प्रतिमाओं के वक्षस्थलों पर 'श्री-वत्स'-चिह्न स्पष्टतः परिलक्षित हैं। प्रत्येक तीर्थंकर का धड़ एक पूर्ण विकसित एवं सुपुष्ट वक्षस्थल युक्त है, जो गुप्तकालीन मूर्तिकला की अपनी विशेषता है। धड़ के दोनों ओर निकली हुई कोहनी और भुजाओं की स्थिति विशेष प्रकार की है, जो समूची प्रतिमा को एक त्रिकोणाकार रूप प्रदान करती है, जिसमें सिर त्रिकोण का शीर्षभाग और दोनों भुजाएँ त्रिकोण की दो भुजाओं का रूप ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में और कम से कम जैन ध्यानावस्थित प्रतिमाओं में पद्मासन-मुद्रा का अंकन योगासन की एक आदर्श मुद्रा के रूप में मान्य रहा होगा।

ये मूर्तियाँ मात्र जैन धर्म के इतिहास तथा मूर्तिकला की दृष्टि से ही नहीं अपितु गुप्तकालीन कला के इतिहास की दृष्टि से भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। चित्र ५७ क की मूर्ति का अभिलेख (चित्र ५७ ख) अन्य दो प्रतिमाओं के अभिलेखों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है। इस अभिलेख के अनुसार महाराजाधिराज रामगुप्त ने इन प्रतिमाओं का निर्माण तथा प्रतिष्ठा गोलक्यान्त्या के सुपुत्र चेलु-

---

1 गइ (जी एस). श्री इंस्क्रिप्शन्स ऑफ रामगुप्त. जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा. 18; 1969: 247-51 तथा एपिग्राफिया इण्डिका. 38; 1970; 46-49.

क्षमण और उनके शिष्य तथा चंद्र-क्षमाचार्य-क्षमण-श्रमण, पाणिपात्रिक (अपनी हथेलियों को ही भिक्षा तथा जलपात्र के रूप में उपयोग करनेवाले) के पट्ट शिष्य आचार्य सर्प्पसेन क्षमण की प्रेरणा से कराया था।

आचार्य चंद्र निश्चय ही दिगंवर थे और वह संभवतः यापनीय संघ से संबद्ध थे, क्योंकि इतना तो हमें ज्ञात ही है कि दिगंवर भगवती-आराधना के रचयिता शिवार्य ने स्वयं को पाणिदलभोइ कहा है, जिसका तात्पर्य हाथ पर रखकर भोजन करनेवाले जैन साधु से है। सर्प्पसेन नागसेन नाम का ही दूसरा रूप रहा होगा, क्योंकि पर्यायवाची नामों का प्रचलन प्राचीन साहित्य में भी अपरिचित नहीं है।

रामगुप्त को यहाँ महाराजाधिराज कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि वह कोई छोटा-सा सामंत नहीं था। किसी रामगुप्त द्वारा प्रचालित ताम्रमुद्राएँ भी हमें विदिशा क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। इन तीनों अभिलेखों की पुरालिपि में उल्लिखित महाराजाधिराज रामगुप्त चौथी शताब्दी का गुप्त-शासक रामगुप्त ही संभावित है, जिसका उल्लेख विशाखदत्त ने अपने देवी-चंद्रगुप्त (नाटक) में चंद्रगुप्त-द्वितीय के बड़े भाई के रूप में किया है।

पादपीठों के केन्द्र में धर्म-चक्र का ही अंकन है, उसके पार्श्व में दोनों ओर हरिणों का अंकन नहीं है।[1] चित्र ५८ में धर्म-चक्र का अंकन पादपीठ के केन्द्र में है। पादपीठों पर तीर्थंकरों का कोई लांछन अर्थात् परिचय-चिह्न अंकित नहीं है।

ग्रीवा में एकावली धारण किये हुए अनुचरों की आकृतियों का अंकन कुशलतापूर्ण है। चित्र ५७ क में, दो अनुचर एक विशेष प्रकार का कुषाणकालीन शिरोभूषण पहने हुए हैं, जिसके केन्द्र में चूड़ामणि अंकित है, जवकि चित्र ५८ में एक अनुचर तिकोनी टोपी पहने है, जो शककालीन टोपियों से मिलती-जुलती है। ये प्रतिमाएँ, जिनका रचनाकाल रामगुप्त के अल्प शासनकाल के अंतर्गत ३७० ईसवी के लगभग निर्धारित किया जा सकता है, इस तथ्य का निश्चित साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि इस काल में तीर्थंकरों के विभिन्न लांछन (परिचय-चिह्न), जो इस काल में विकसित भले ही हो गये हों, विचाराधीन अवधि की तीर्थंकर-प्रतिमाओं में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर पाये थे।

विदिशा के निकट उदयगिरि की एक गुफा (गुफा २०) में गुप्त-संवत् १०६ (कुमारगुप्त-प्रथम का शासनकाल) का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है[2] जिसमें पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा के निर्माण का

---

[1] धर्म-चक्र के पार्श्व में दोनों ओर हरिणों का अंकन न तो मथुरा की कुषाणकालीन जैन प्रतिमाओं में पाया जाता है और न चन्द्रगुप्तकालीन राजगिर में स्थापित नेमिनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर (द्रष्टव्य, चित्र 53). प्रतीत होता है कि वौद्ध प्रभाव के कारण यह कला-प्रतीक किसी परवर्ती अवधि में अपनाया गया है.

[2] गुप्तकालीन अभिलेखांकित जैन मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य : फ्लीट (जे एफ). इंस्क्रिप्शन्स ऑफ दि अर्ली गुप्ता किंग्स कोरपस इंस्क्रिप्शिओनम इण्डिकारम. 3. 1888. कलकत्ता. पृ 258 तथा परवर्ती. / बनर्जी (राखालदास).

उल्लेख है, जो उनके सिर पर भयंकर नाग-फण के कारण भय-मिश्रित पूज्य भाव को प्रेरित करती है। उक्त शिल्पांकित मूर्ति अब नष्टप्राय समझी जाती है। जो मूर्ति इस समय गुफा में स्थित है, वह बहुत परवर्ती काल की है। तथापि, इस शिलालेख से यह पर्याप्त स्पष्ट नहीं है कि पार्श्वनाथ की प्रतिमा इस गुफा में एक पृथक् प्रतिमा थी, क्योंकि शिलालेख में 'अचीकरत्' शब्द का उपयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'निर्माण करवाया गया'; उत्कीर्ण करने या मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने का भाव इसमें नहीं है। हो सकता है कि शिलालेख में संदर्भ आंशिक रूप से खण्डित हो चुकी पार्श्वनाथ की उस वर्तमान प्रतिमा का हो जो गुफा की भित्ति पर उत्कीर्ण है (चित्र ६० क)।[1]

विदिशा के निकट बेसनगर से तीर्थंकर की एक उल्लेखनीय खड्गासन-प्रतिमा प्राप्त हुई है जो इस समय ग्वालियर संग्रहालय[2] में सुरक्षित है। इस प्रतिमा में तीर्थंकर के सिर के समीप दो उड़ती हुई मालावाहक मानव-आकृतियाँ हैं, वृत्ताकार प्रभामण्डल के केंद्र में कमल है तथा उसकी परिधि का बाहरी किनारा गुलाब के छोटे-छोटे फूलों से अलंकृत है। पैरों के समीप दो भक्त (शीर्षविहीन) अर्धतिष्ठमुद्रा में अंकित हैं। तीर्थंकर की घुटनों तक लम्बी भुजाएँ, कुछ-कुछ गोलाकार और चौड़े कंधे तथा धड़ की संरचना से संकेत मिलता है कि इस प्रतिमा का रचनाकाल लगभग छठी शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। इस रचनाकाल का समर्थन प्रतिमा का विशिष्ट शिरोभूषण तथा सिर के दोनों ओर प्रभामण्डल के सम्मुख उड़ती हुई मालावाहक मानव-आकृतियों (चित्र ६१) का अंकन भी करता है।[3]

मध्यप्रदेश के पन्ना जिले में गुप्तकालीन शिवमंदिर के लिए प्रसिद्ध नचना नामक स्थान के समीप सीरा पहाड़ी से गुप्तकालीन जैन प्रतिमाओं का एक समूह प्राप्त हुआ है, जिनमें से कुछ परवर्ती-काल की भी हैं।[4] चित्र ६२ में तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में अंकित हैं। उनके सिर के पीछे एक विस्तृत प्रभामण्डल है जिसके शीर्ष के निकट दोनों ओर उड़ते हुए गंधर्व-युगल अंकित हैं। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमर-धर यक्ष खड़े हुए हैं जो मुकुट पहने हैं, और जिसके सामने का अलंकरण कुषाणों के

एज ऑफ दि इंपीरियल गुप्ताज. 1933. बनारस. पृ 104, 106, 108, 129 तथा चित्र 18. / शाह (उमाकांत प्रेमानन्द). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 14-15.

[1] जैन (हीरालाल). **भारतीय संस्कृति में जैन-धर्म का योगदान**. 1962. भोपाल. पृ 391. / फिशर (क्लौस). **केव्ज एण्ड टेम्पल्स ऑफ द जैन्स**. 1956. अलीगंज. पृ 6 तथा चित्र.

[2] शाह, पूर्वोक्त, चित्र 24; पूर्ववर्ती ग्वालियर राज्य के आर्क्यॉलॉजी विभाग का नेगेटिव सं. 786. ये नेगेटिव इस समय मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व विभाग के अधिकार में हैं और संभवतः ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

[3] **विक्रम-स्मृति-ग्रंथ**. 1944-55 (वि. सं. 2000). ग्वालियर. पृ 703 के सामने का चित्र.

[4] इन प्रतिमाओं का विवेचन नीरज जैन ने दो चित्रों सहित **अनेकांत**, दिल्ली. 15, 19; 222-23 पर किया है. ये प्रतिमाएँ नचना के ब्राह्मण्य मंदिरों के निकट जलाशय के समीप पहाड़ी की दो गुफाओं में लेटी हुई अवस्था में पायी गयी बतायी जाती हैं। मैंने यहाँ मात्र उन्हीं प्रतिमाओं का विवेचन किया है, जिनके छाया-चित्र भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, उत्तरी क्षेत्र, आगरा से प्राप्त हो सके हैं.

विशेष शिरोभूषण के समान है जिससे इस प्रकार के मुकुटों का विकास हुआ है। इन दोनों यक्षों के शरीर-विन्यास का अंकन, यक्षों और गंधर्वों के गले का आभूषण-एकावली, गंधर्वों का सजीव चित्रण, तथा सौंडनी, एहोले आदि से उनकी समानता के कारण इस प्रतिमा का रचनाकाल लगभग चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है जो गुप्त-शासन का प्रारंभिक काल था। मुकुट पर इसी प्रकार के कला-प्रतीक का अंकन उदयगिरि की एक गुफा के विख्यात वराह-फलक पर अंकित नाग तथा दो या तीन खड़ी हुई छोटी आकृतियों के शिरोभूषणों में पाया गया है। तीर्थंकरों के शीर्ष तथा शरीर के अंकन की मथुरा की लगभग चौथी शताब्दी की प्रतिमाओं से समानता भी तिथि की पुष्टि करती है। पादपीठ के मध्य में धर्म-चक्र और उसके दोनों ओर दो छोटे-छोटे सिंह अंकित किये गये हैं। इसी स्थान से प्राप्त, आगे वर्णित ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा के पादपीठ की सादृश्यता के आधार पर कहा जा सकता है कि तीर्थंकर की यह पद्मासन मूर्ति महावीर की है जिस पर उनका परिचय-चिह्न सिंह अंकित है।[1]

सीरा पहाड़ी से प्राप्त ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा (चित्र ६३) के पादपीठ पर धर्म-चक्र तथा उसके दोनों ओर दो भक्त अंकित हैं। पुनीत चक्र की परिधि को सामने की ओर से उसी प्रकार अंकित किया गया है, जैसे मथुरा की कुषाणकालीन प्रतिमाओं के पादपीठ पर। साथ ही, इस प्रतिमा के पादपीठ के दोनों सिरों पर विशिष्ट भारतीय वृषभ अंकित है, जो ऋषभनाथ का परिचय-चिह्न है। परवर्ती जैन मूर्तियों में सिंह को पादपीठ के दोनों पार्श्वों में अंकित किया गया है, जो सिंहासन का सूचक है, जबकि बौद्ध मूर्तियों के समान धर्म-चक्र के पार्श्व में दोनों ओर दो हरिणों का अंकन है। किन्तु इस प्रतिमा में वृषभ-चिह्न तो इसी प्रकार दर्शाया गया है, किन्तु धर्म-चक्र के पार्श्व में हरिण अंकित नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा उस प्रारंभिक काल की है, जब प्रतिमाओं में परिचय-चिह्नों के अंकन का आरंभ ही हुआ था और जब तीर्थंकरों के परिचय हेतु चिह्नों की परिपाटी पूर्णरूपेण निर्धारित नहीं हो पायी थी। इस सादृश्यता के आधार पर चित्र ६२ में दर्शायी गयी तीर्थंकर-प्रतिमा को महावीर की प्रतिमा माना जा सकता है।

इन दोनों मूर्तियों की शैली शास्त्रीय गुप्त-शैली के विशिष्ट कुषाण-प्रकारों से पलायन की सूचक है। किन्तु महावीर की प्रतिमा एक सुंदर कलाकृति है, जिसमें विशेष रूप से मुखाकृति का अंकन अत्यंत उत्कृष्टता के साथ किया गया है। इसी स्थान से उपलब्ध और इसी काल की, संभवतः इससे

---

[1] मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त कुषाणकालीन जैन प्रतिमाओं में तीर्थंकरों के लांछन (परिचय-चिह्न) नहीं पाये गये हैं। राजगिर की गुप्तकालीन जैन प्रतिमाओं में लांछन तो पाये गये हैं, किन्तु इनकी स्थिति पाँचवीं शताब्दी में भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हो पायी थी। उदाहरण के लिए, राजगिर की वैभार पहाड़ी पर स्थित नेमिनाथ की प्रतिमा के विषय में द्रष्टव्य: आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. **एनुअल रिपोर्ट**, 1925-26. संपा. रामप्रसाद चंदा. 1928. कलकत्ता. पृ 125 तथा परवर्ती. / शाह, पूर्वोक्त, पृ 14, चित्र 18 [और द्रष्टव्य: इस ग्रंथ में चित्र 53 –– संपादक] इस प्रतिमा के पादपीठ के केन्द्र में धर्म-चक्र के दोनों ओर दो शंख अंकित हैं। शंख नेमिनाथ का परिचय-चिह्न है।

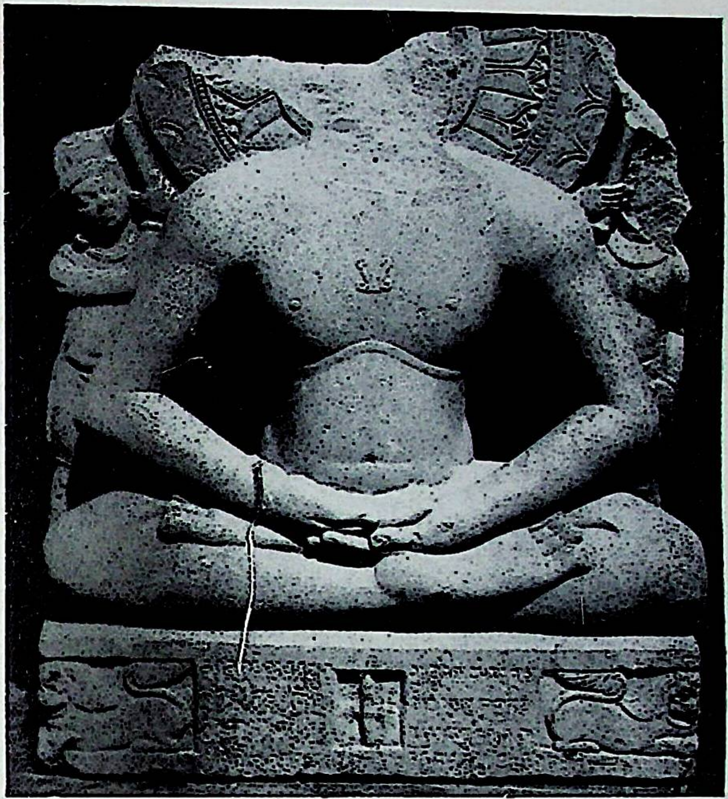

(क) दुर्जनपुर — तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय)

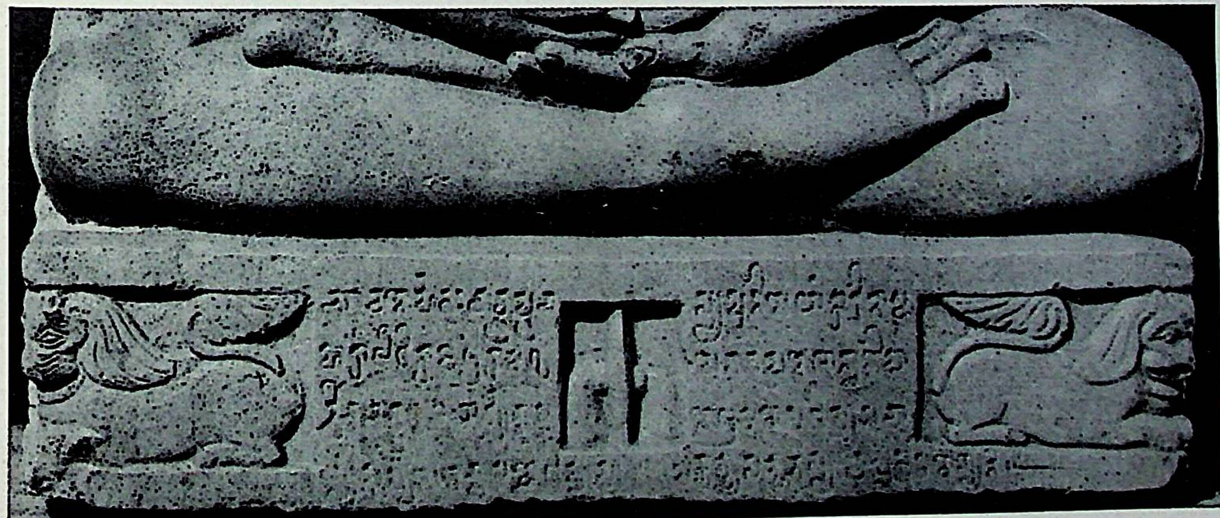

(ख) दुर्जनपुर — ऊपर वाली मूर्ति के पादपीठ पर अभिलेख

चित्र 57

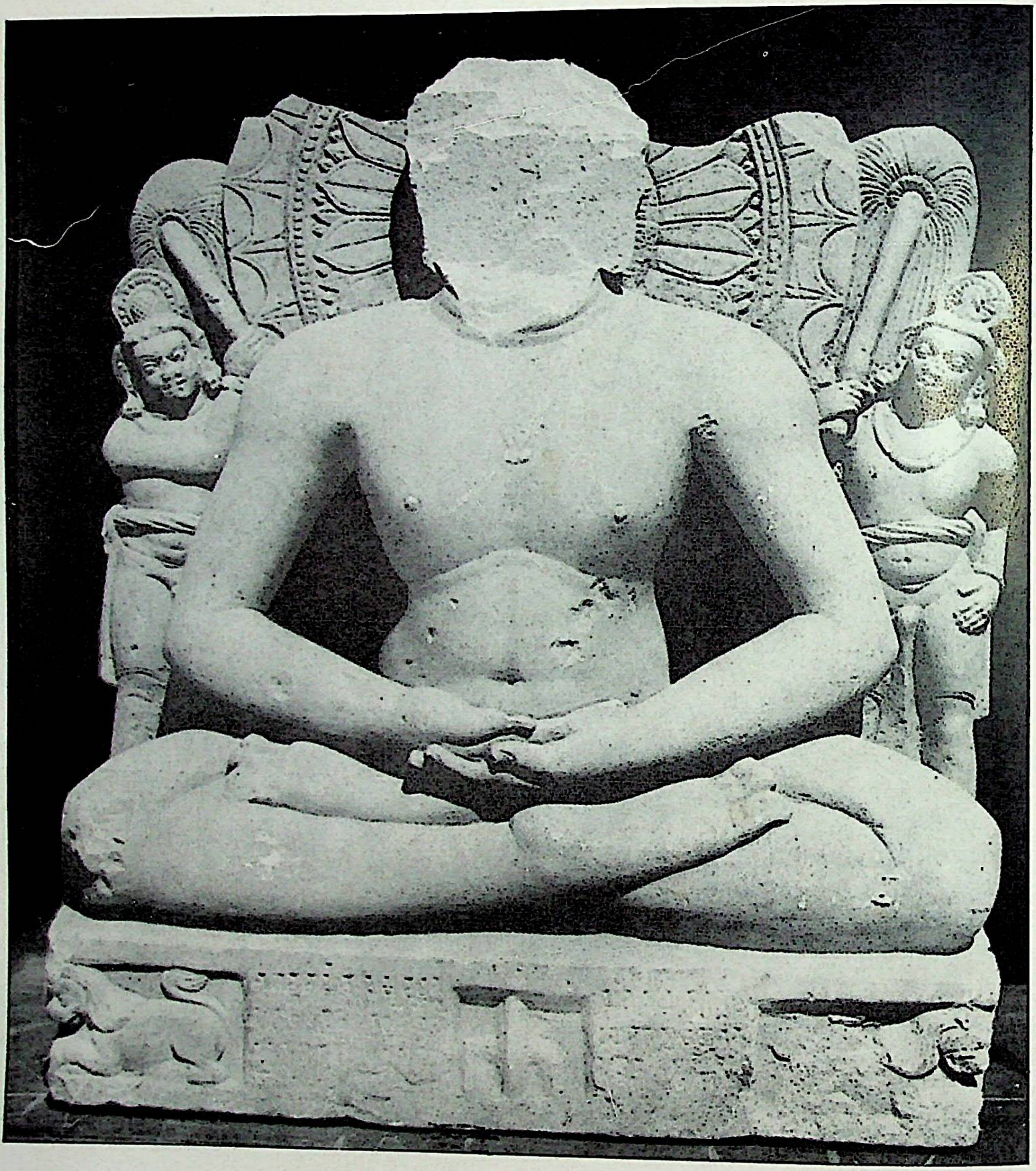

दुर्जनपुर — तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 58

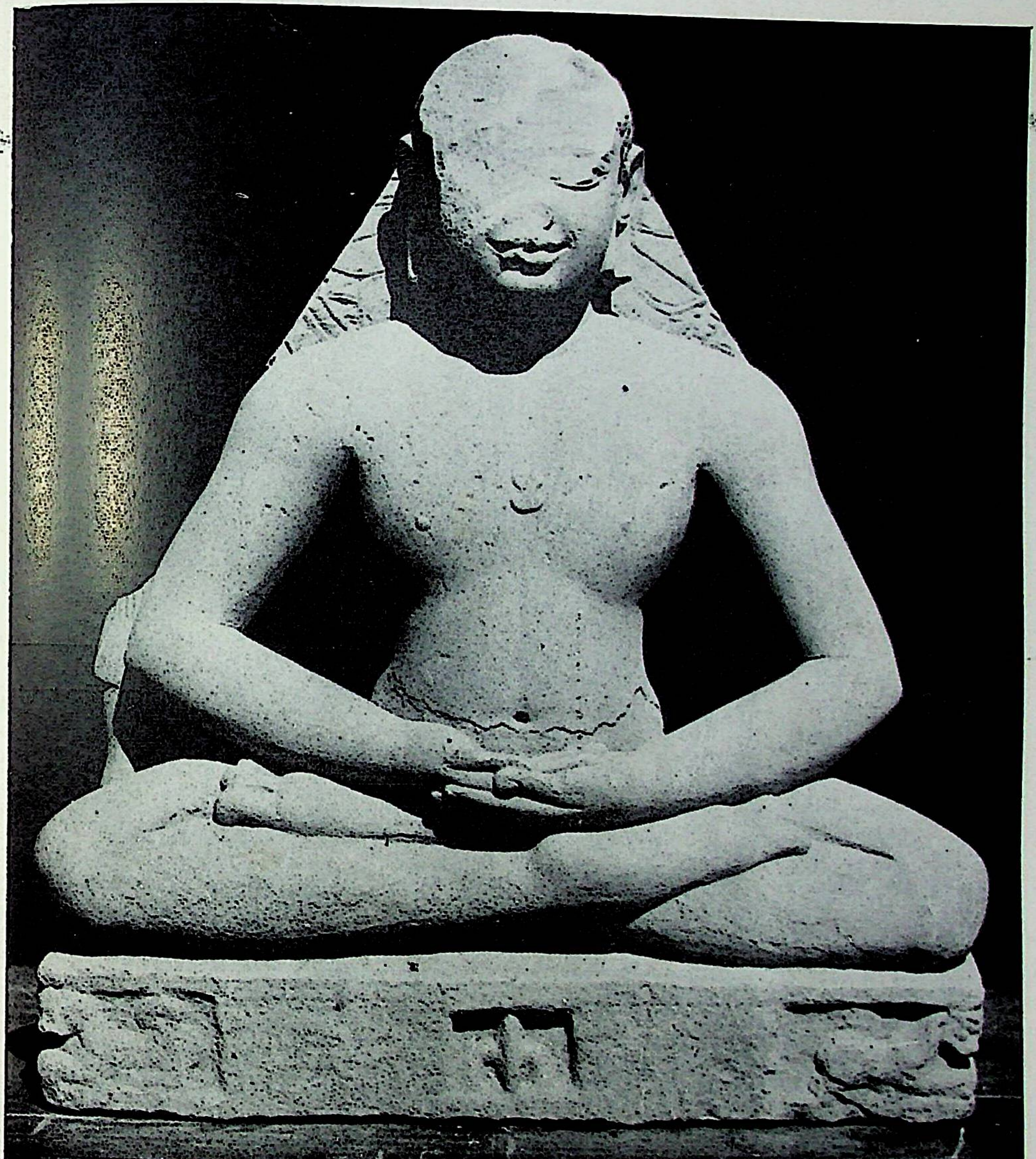

दुर्जनपुर — तीर्थंकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 59

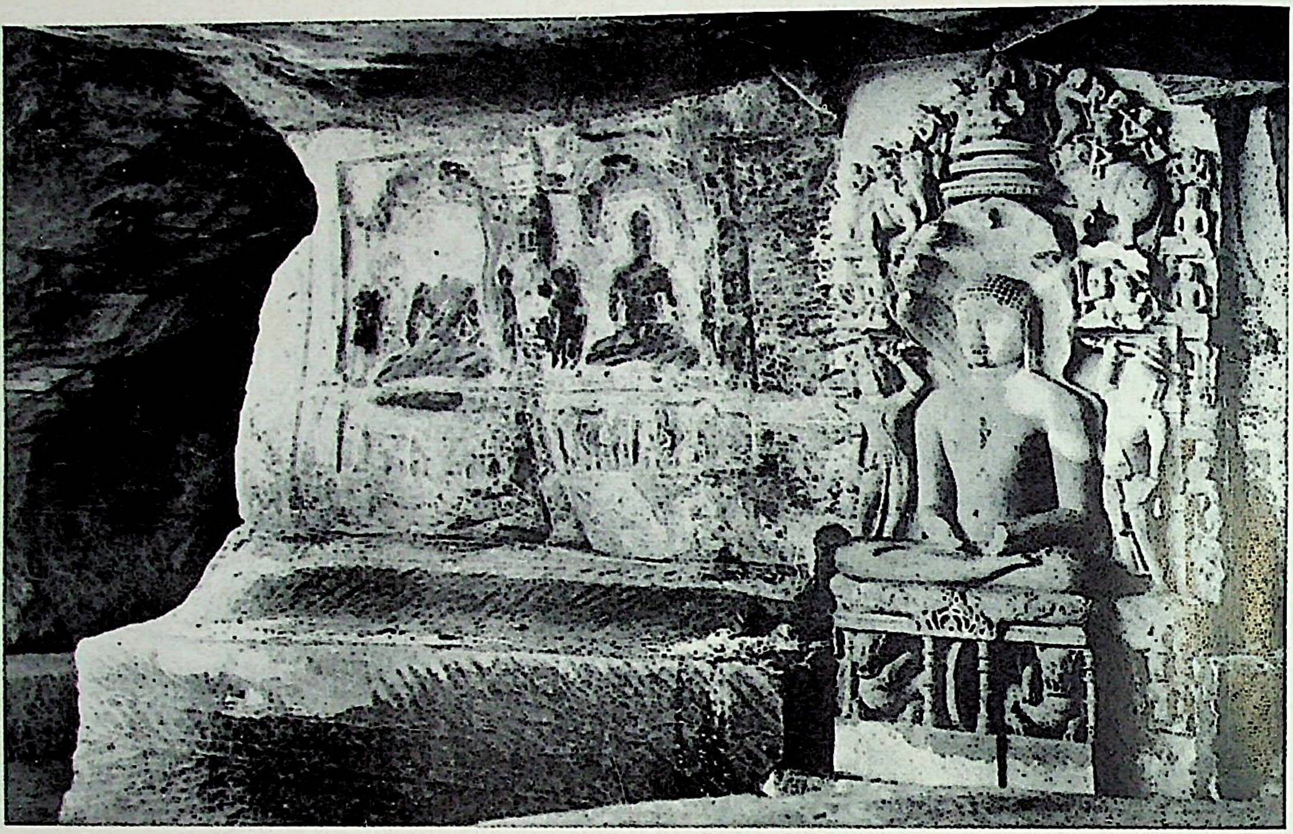

(क) उदयगिरि — गुफा भित्ति पर उत्कीर्ण तीर्थंकर तथा उनके पार्श्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक पश्चात्कालीन प्रतिमा

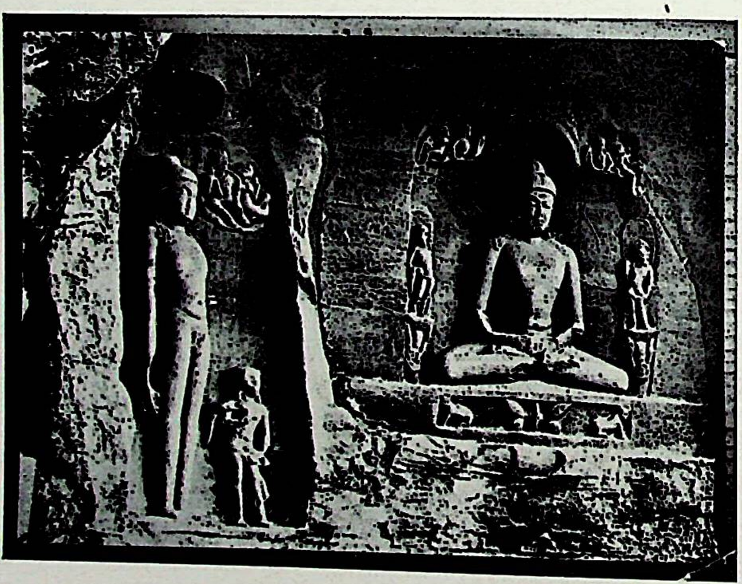

(ख) ग्वालियर — शैलोत्कीर्ण तीर्थंकर मूर्तियाँ

चित्र 60

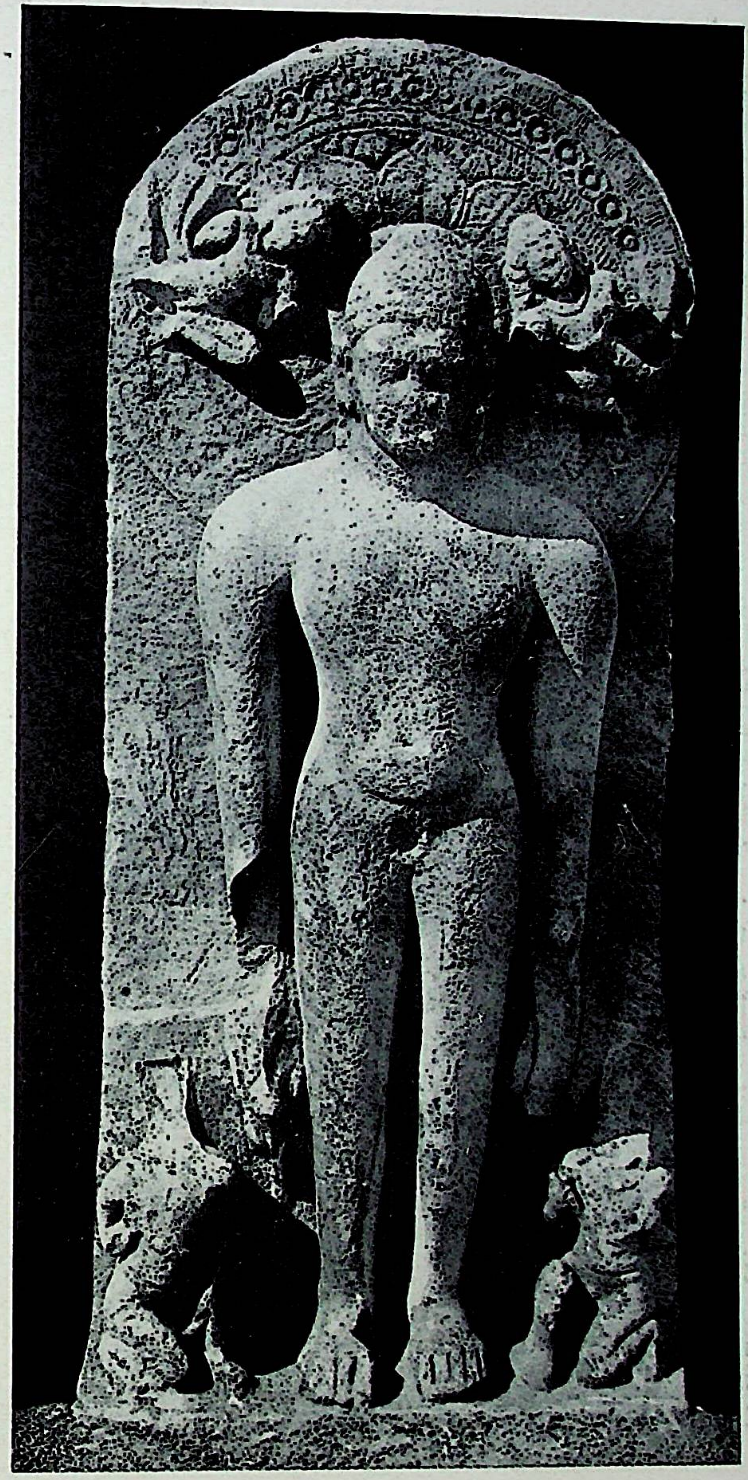

विदिशा — तीर्थंकर मूर्ति (ग्वालियर संग्रहालय)

चित्र 61

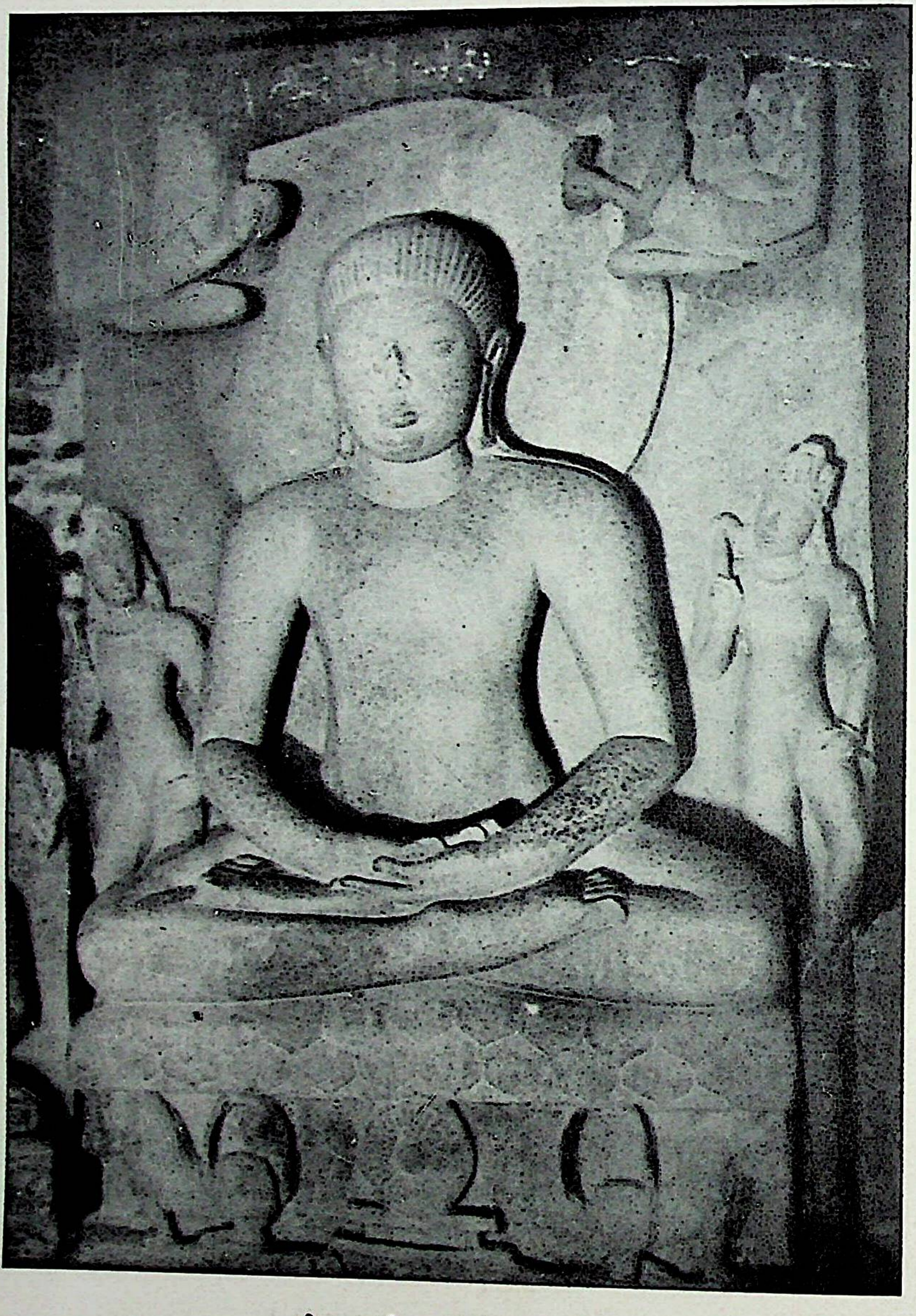

सीरा पहाड़ी — तीर्थंकर महावीर

चित्र 62

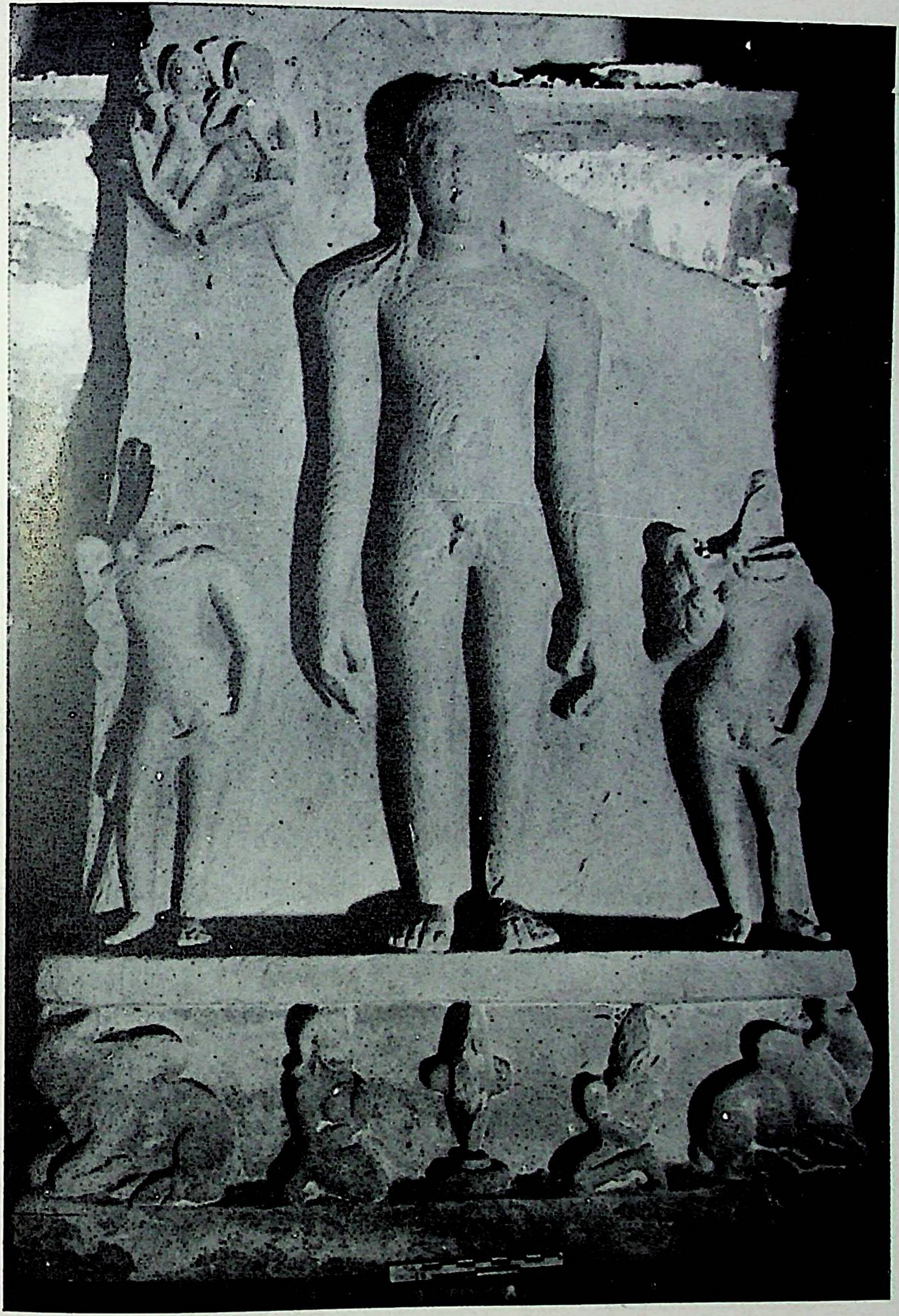

सीरा पहाड़ी — तीर्थंकर ऋषभनाथ

चित्र 63

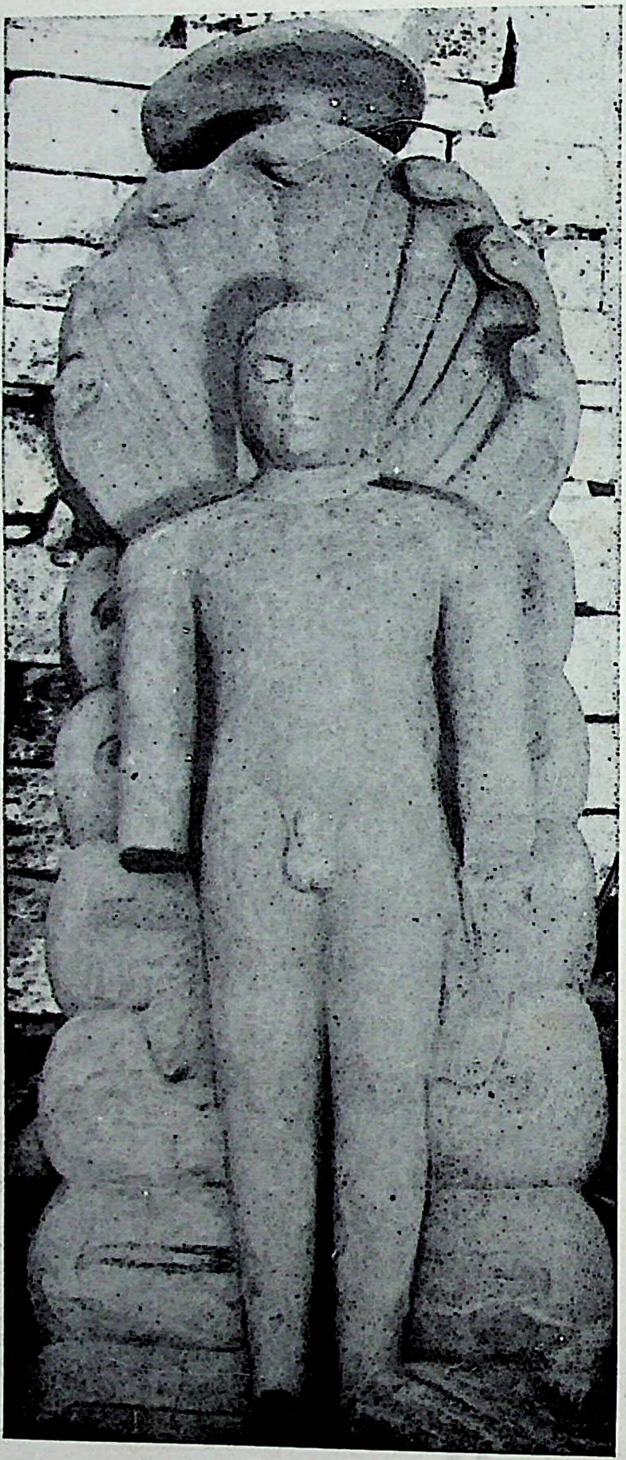

सीरा पहाड़ी — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 64

कुछ पहले की, एक अन्य कायोत्सर्ग प्रतिमा है पार्श्वनाथ की। वस्त्र-विन्यासरहित इस प्रतिमा में तीर्थंकर की संपूर्ण आकृति के पीछे कुण्डली मारे हुए एक विशाल नाग को दर्शाया गया है, जिसने तीर्थंकर के शीर्ष पर अपने फण से एक छत्र बनाया हुआ है (चित्र ६४)।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में नचना के ब्राह्मण धर्म-केंद्र के निकट ही सीरा पहाड़ी पर जैन धर्म का केंद्र था। इस क्षेत्र का यदि पुनः उत्खनन किया जाये तो और अधिक जैन अवशेष, मात्र इसी स्थान से ही नहीं अपितु इसके समीपवर्ती क्षेत्रों से भी, उपलब्ध हो सकते हैं।

कुछ ही समय पूर्व जोना विलियम्स द्वारा गुप्त-कालीन दो सुंदर तीर्थंकर-प्रतिमाओं को प्रकाश में लाया गया है, जो इस समय मध्यप्रदेश के पन्ना स्थित राजेन्द्र उद्यान में सुरक्षित हैं। बताया गया है कि ये प्रतिमाएँ नचना से उपलब्ध हुई हैं।[1] विलियम्स द्वारा प्रस्तुत पहले चित्र में तीर्थंकर को पादपीठ स्थित आसन पर पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। पादपीठ के केंद्र में मुखदृश्यांकित धर्म-चक्र और उसके पार्श्व में दोनों किनारों के निकट सिंह अंकित हैं। धर्म-चक्र के प्रत्येक छोर पर घुटनों के बल बैठा हुआ एक भक्त है, जो संभवतः तीर्थंकर का गणधर (प्रथम अनुयायी) या फिर कोई साधु है।

दूसरी प्रतिमा में पादपीठ के मुखभाग पर चार भक्त अंकित हैं। प्रतिमा की मुखाकृति और सिर पूर्णरूपेण सुरक्षित है तथा कंधे और धड़ की संरचना में उत्कृष्ट गुप्त-कला-परंपरा का निर्वाह हुआ है। जहाँ तक मुखाकृति की भावाभिव्यक्ति का संबंध है, इसे गुप्त-कालीन श्रेष्ठ तीर्थंकर-मूर्तियों की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि यह प्रतिमा विलियम्स के प्रथम चित्र की प्रतिमा से कुछ समय पश्चात् की है। यहाँ विलियम्स ने यह भी उल्लेख किया है कि इन तीर्थंकर-प्रतिमाओं और सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा में समानता है।

मथुरा संग्रहालय की प्रतिमा क्रमांक बी—६[2] इत्यादि, नचना, सीरा पहाड़ी से प्राप्त तीर्थंकर-मूर्तियाँ, उदयगिरि की गुफा स्थित पार्श्वनाथ की खंडित प्रतिमा तथा विदिशा से प्राप्त रामगुप्त की शासनकालीन तीन प्रतिमाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में तीर्थंकर-प्रतिमाओं के कई निर्माण-केंद्र रहे होंगे। विदिशा से प्राप्त मूर्तियाँ निस्संदेह भारी-भरकम तथा अधिक मांसल हैं।

यह असंभव नहीं कि झाँसी जिले के देवगढ़ किले में जैन बस्ती का प्रारंभ प्रायः देवगढ़ स्थित गुप्त-कालीन प्रसिद्ध दशावतार मंदिर के समकालीन हो। देवगढ़ की तीर्थंकर-मूर्तियों के अध्ययन में क्लौस ब्रून ने जिन दो मूर्तियों के चित्र (उनका रेखाचित्र २०, अनुकृति ८ तथा रेखाचित्र २१, अनुकृति ९)[3] प्रकाशित किये हैं, उनके विषय में विलियम्स ने यह संदेह व्यक्त किया है कि वे मथुरा प्रतिमा-

---

[1] विलियम्स (जोना). टू न्यू गुप्ता जिन इमेजेज. ओरियण्टल आर्ट. 18, 4; 1972; 378-80.

[2] [द्रष्टव्य, अध्याय 10—संपादक]

[3] ब्रून (क्लौस). जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़. 1969. लीडन.

समूह[1] की आद्य गुप्तकालीन प्रतिमाएँ हैं। मथुरा शैली से उनकी सादृश्यता स्पष्ट परिलक्षित है, किन्तु जहाँ ब्रून के रेखाचित्र २० (अनुकृति ८) की प्रतिमा का रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी हो सकता है, वहाँ रेखाचित्र २१ (अनुकृति ९) की प्रतिमा वस्तुतः परवर्ती काल की है—जैसा कि इसके उत्तरीय के अंकन तथा चमरधारी सेवकों की आकृतियों की संरचना से स्पष्ट है। यह प्रतिमा छठी शताब्दी के अंतिम काल की हो सकती है। यद्यपि इस तीर्थंकर-मूर्ति में आद्य गुप्तकालीन मथुरा शैली की विशेषताएँ हैं, तथापि, इसे आद्य गुप्तकालीन निर्धारित करना कठिन है।

ग्वालियर के दो शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन (चित्र ६० ख) भी इस काल के अंत की ही रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से एक प्रतिमा में तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में तथा दूसरी में पद्मासनस्थ ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है। पद्मासन-मुद्रावाले तीर्थंकर के पार्श्व में अंकित सेवक पूर्ण विकसित कमलपुष्पों पर खड़े हुए हैं। इन कमलपुष्पों को बौने (वामन) लोगों ने थाम रखा है, जो स्वयं मोटे कमलनाल-जैसे दिखाई देते हैं। ऐसा ही, लम्बी नालयुक्त कमलपुष्पों पर खड़े यक्षों का अंकन मथुरा संग्रहालय की (बी ६ तथा बी ७ क्रमांकित) दो सुंदर मूर्तियों[2] में भी पाया जाता है। खड्गासन तीर्थंकर-प्रतिमा के मूर्तन की तुलना राजगिर की वैभार पहाड़ी स्थित दो खड्गासन प्रतिमाओं के मूर्तन से की जा सकती है। ग्वालियर की इन दोनों तीर्थंकर-प्रतिमाओं में गुप्त-शैली का अनुकरण किया गया है। सेवक अलंकृत टोपी-जैसे मुकुट तथा गले में एकावली धारण किये हुए हैं। तीर्थंकरों का परिकर परवर्ती गुप्तकालीन प्रतिमाओं की भाँति सुसज्जित न होकर यहाँ भी सादा रहा।

उमाकांत प्रेमानंद शाह

---

[1] विलियम्स, पूर्वोक्त, पृ 380, नोट-11.

[2] शाह, पूर्वोक्त, चित्र 25 तथा 27 [इनकी चर्चा अध्याय 10 में भी की जा चुकी है और इनमें से एक का चित्र भी (चित्र 46) दिया गया है —— संपादक].

अध्याय 13

पश्चिम भारत

विचाराधीन अवधि में बहुत कम जैन अवशेष प्राप्त हुए हैं, किन्तु साहित्य में मिले प्रमाणों से इतना निश्चित है कि इस अंतराल में मध्य तथा पश्चिम भारत में कई जैन केन्द्र वर्तमान थे। तत्युगीन जैन अवशेषों का ऐसा अभाव केवल पश्चिम भारत में ही नहीं, अपितु महावीर की जन्मभूमि का गौरव प्राप्त करनेवाले मगध में भी है, जहाँ राजगिर की कुछ मूर्तियों को छोड़कर इस अवधि का अन्य कोई अवशेष नहीं मिल सका है।

मध्य (उज्जैन) तथा पश्चिम भारत (सिंधु-सौवीर) में जैन धर्म की लोकप्रियता संबंधी प्रारंभिक जैन परंपरा के विषय में अध्याय-८ में विचार किया जा चुका है, जहाँ यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि क्षत्रप-शासनकाल में गिरनार-जूनागढ़ के निकट सौराष्ट्र में जैन मुनियों के निवास का संकेत मिलता है। इसलिए, ऐसी आशा है कि भविष्य में हमें तीसरी, चौथी और परवर्ती शताब्दियों के जैन अवशेष राजस्थान, गुजरात और दक्षिणापथ से प्राप्त होंगे, विशेषकर गुजरात में जूनागढ़, वलभि और भड़ौंच तथा बंबई के निकट शूरपारक या आधुनिक सोपर और प्रतिष्ठानपुर क्षेत्रों से।

चौथी शती ई० के आरंभ में ही, हमें दो जैन परिषदों के प्रायः एक ही समय में आयोजित अधिवेशनों का संदर्भ मिलता है, जो मथुरा में आर्य स्कंदिल तथा वलभि (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुए। उपलब्ध श्वेतांबर आगम ग्रंथों में मथुरा परिषद् द्वारा मान्य धर्म-नियमों का उल्लेख अधिक है। जैनागम के संपादन और संरक्षण के लिए पुनः परिषद् के दूसरे अधिवेशन का आयोजन वलभि में देवार्धिगणि-क्षमा-श्रमण की अध्यक्षता में हुआ। मान्यता यह है कि वर्तमान श्वेतांबर आगम इस दूसरी वलभि परिषद् का अनुगमन करते हैं, जिसका अधिवेशन महावीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् अर्थात् ४५३ ई० में हुआ। वलभि में दो शताब्दियों के अंतराल में परिषद् के द्वितीय अधिवेशन की आवश्यकता क्यों पड़ी जबकि चौथी शती में ही आगम की रचना कर ली गयी थी, यह अभी तक अन्वेषण का विषय है। इसका एक युक्तिसंगत समाधान हो सकता है। पहले ही ८३ ई० में (श्वेतांबरों के अनुसार), या ८० ई० में (दिगंबरों के अनुसार) आर्य कृष्ण-श्रमण के शिष्य शिवभूति के नेतृत्व में दिगंबर आम्नाय का उदय हुआ। दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद पहले कुछ समस्याओं तक ही

सीमित रहे, जिनमें जैन मुनियों द्वारा वस्त्र-धारण की वात प्रमुख थी; यद्यपि श्वेतांवर जैनागम कल्पसूत्र तथा नन्दिसूत्र (पाँचवीं शती) की स्थविरावलि में वर्णित कई कुलों और गणों का उल्लेख कंकाली-टीला मथुरा से प्राप्त मूर्तियों के अभिलेखों में है; तथापि इस प्रकार अभिलेखांकित सभी कायोत्सर्ग तीर्थंकर प्रतिमाएँ नग्न हैं। पद्मासन-मुद्रावाली मथुरा की कुषाण युगीन प्रतिमाएँ भी तीर्थंकर के दिगंबर रूप को प्रदर्शित करती हुई मानी जा सकती हैं, क्योंकि इन प्रतिमाओं पर किसी वस्त्राभरण का संकेत नहीं है, यद्यपि इनमें जननेन्द्रिय को भी स्पष्ट रूप में नहीं दिखाया गया है, जैसा कि परवर्ती दिगंवर मूर्तियों में है।

वस्त्रहीनता तथा अन्य कारणों को लेकर जैन मुनियों में हुआ विवाद उनकी मूर्ति-पूजा की पद्धति में भी अभिव्यक्त होता था। जब श्वेतांबर-दिगंवर मतभेद अधिक तीव्र हो उठे[1] तो जैनागम से ऐसे सभी प्रसंगों का, जो दोनों संप्रदायों में से किसी के लिए भी सुविधाजनक नहीं थे, लोप कर दिया गया। श्वेतांवरों ने द्वितीय वलभि परिषद् में जैनागम के नये संस्करण में और दिगंवरों ने सौराष्ट्र में भूतवली की रचनाओं में ऐसे सभी प्रसंगों का लोप कर दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय वलभि परिषद् के पूर्व जैन तीर्थंकरों की समस्त प्रतिमाएँ वस्त्रहीन उत्कीर्ण की गयी थीं। चंद्रगुप्त-द्वितीय के समय में उत्कीर्ण राजगिर के मंदिर[2] में स्थित पद्मासन-मुद्रा में नेमिनाथ की सुंदर प्रतिमा भी वस्त्रहीन प्रतीत होती है। उसी मंदिर की कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ भी ऐसी ही स्थिति में हैं। धोती धारण किये हुए किसी तीर्थंकर की प्राचीनतम मूर्ति अकोटा (गुजरात) से प्राप्त ऋषभनाथ की खड्गासन कांस्य प्रतिमा है (चित्र ६५ क और ६७ ख)। लगभग ७६ सें० मी० ऊँची यह अत्यंत सुंदर कांस्य प्रतिमा है, पर दुर्भाग्य से यह आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त है तथा इसका पादपीठ नष्ट हो चुका है। फिर भी इसकी रचना सुंदर है तथा विशुद्ध गुप्तकालीन शैली में है, जिसकी तुलना सुलतानगंज से प्राप्त उत्कृष्टतापूर्वक ढाली हुई बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा से की जा सकती है। अत्यधिक क्षतिग्रस्त होने पर भी यह मूर्ति उत्तर भारत में प्राप्त सुंदरतम कांस्य प्रतिमाओं में से एक है। रजतमण्डित अर्धनिमीलित नेत्र तीर्थंकर की आनंदमय मुद्रा का संकेत देते हैं। निचला अधर, जो महापुरुष-लक्षण के अनुसार अरुणाभ होना चाहिए, ताम्र-मण्डित है। तीन धारियों से युक्त अत्यधिक क्षतिग्रस्त ग्रीवा शंखाकार (कंबु-ग्रीव) है, जिसे गुप्त-काल में शरीर-सौंदर्य का प्रतीक माना जाता था। सुघड़ता से रचित धड़ के विशाल तथा सुडौल स्कंध तथा क्षीण कटि (तनुवृत्त-मध्य) भी गुप्त-शैली के अनुरूप हैं। स्कंधों तक लटकती केशराशि की सहायता से प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ (आदिनाथ) के रूप में इसकी पहचान संभव हुई है। वराहमिहिर के उल्लेखानुसार इन्हें आजानुवाहु,

---

[1] शाह (यू पी). एज ऑफ डिफ्रेंसिएशन ऑफ श्वेतांवर एण्ड दिगंवर जैन इमेजेज. **बुलेटिन ऑफ प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम**, वंवई. 1, 1; 1950-51; 30 तथा परवर्ती.

[2] [अध्याय 11, चित्र 53.–संपादक]

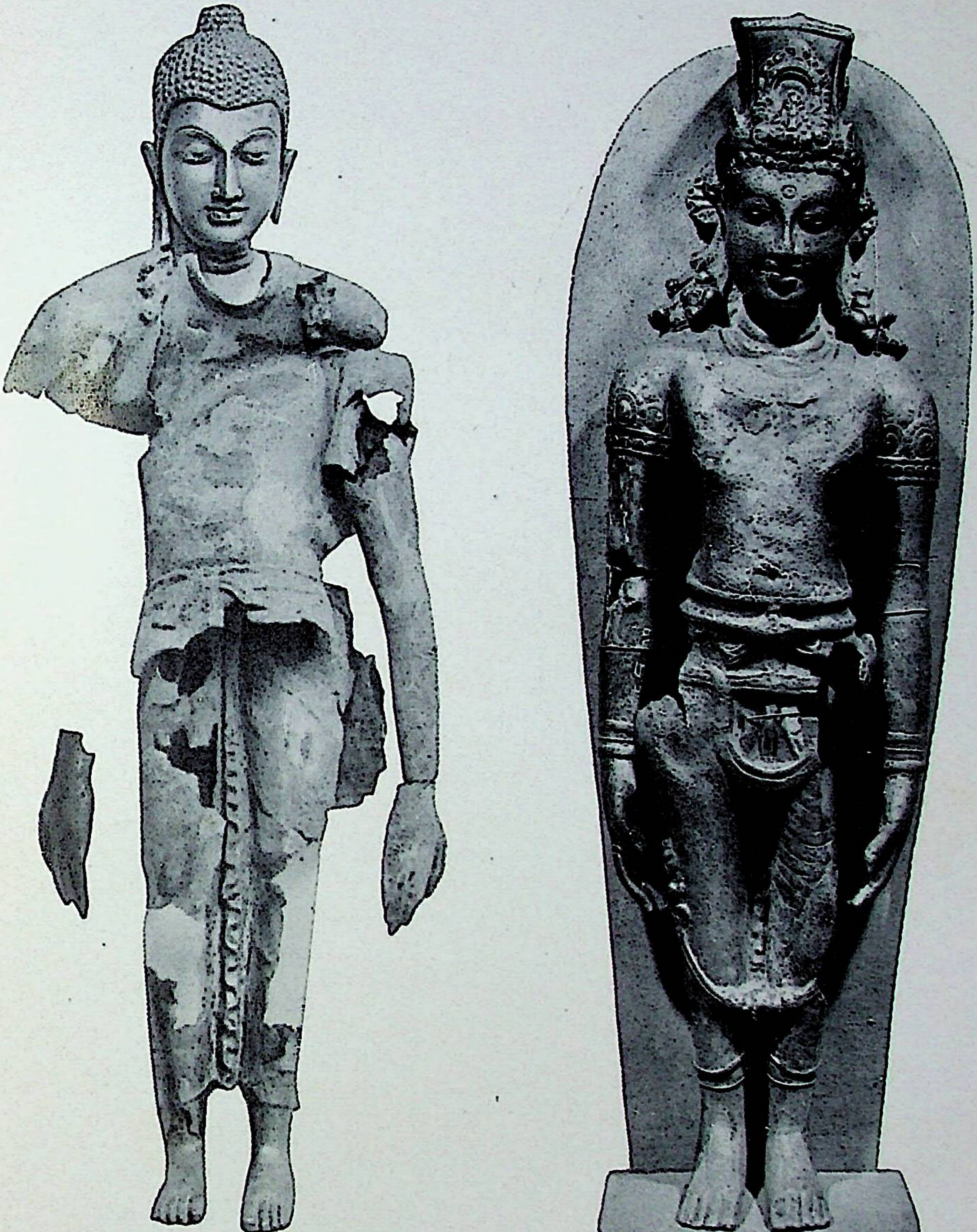

(क) अकोटा — तीर्थंकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति
(बड़ौदा संग्रहालय)

(ख) अकोटा — जीवन्त स्वामी, कांस्य मूर्ति
(बड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 65

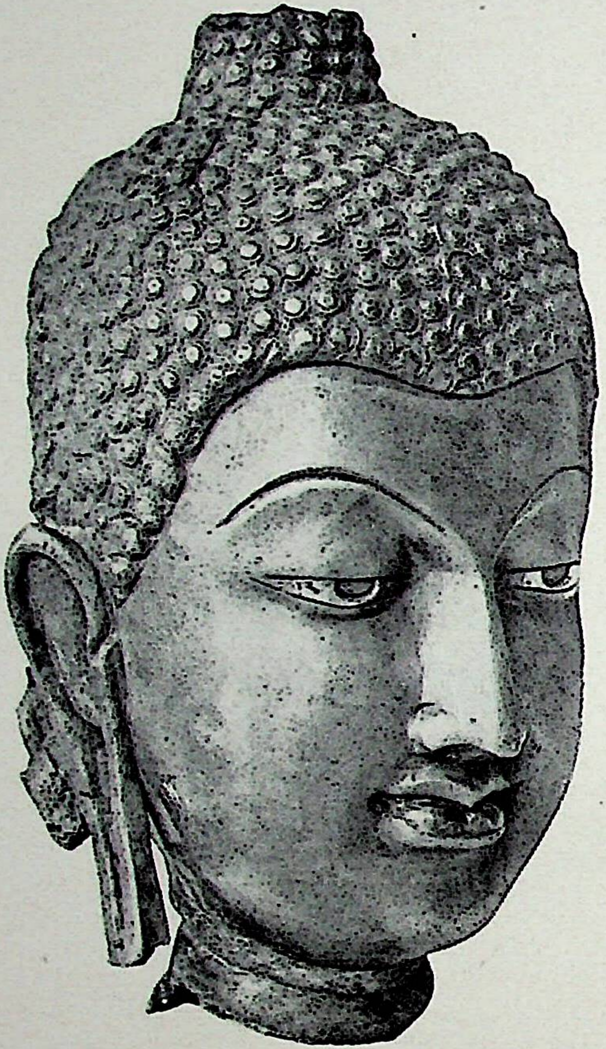

(क) अकोटा ऋषभनाथ का, द्रशीर्ष चित्र 65 क
(वड़ौदा संग्रहालय)

(ख) अकोटा तीर्थंकर की कांस्य मूर्ति का शीर्ष
(वड़ौदा संग्रहालय)

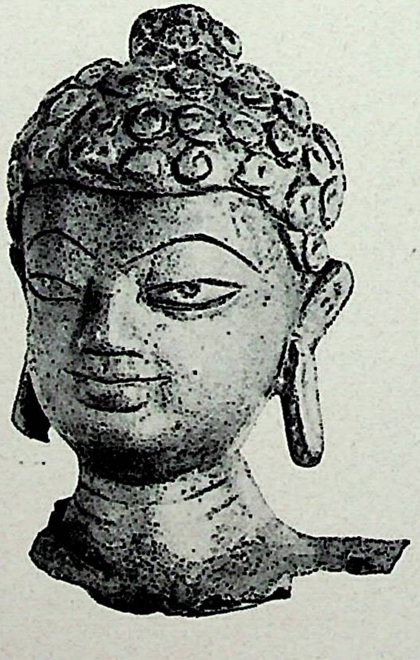

चित्र 66

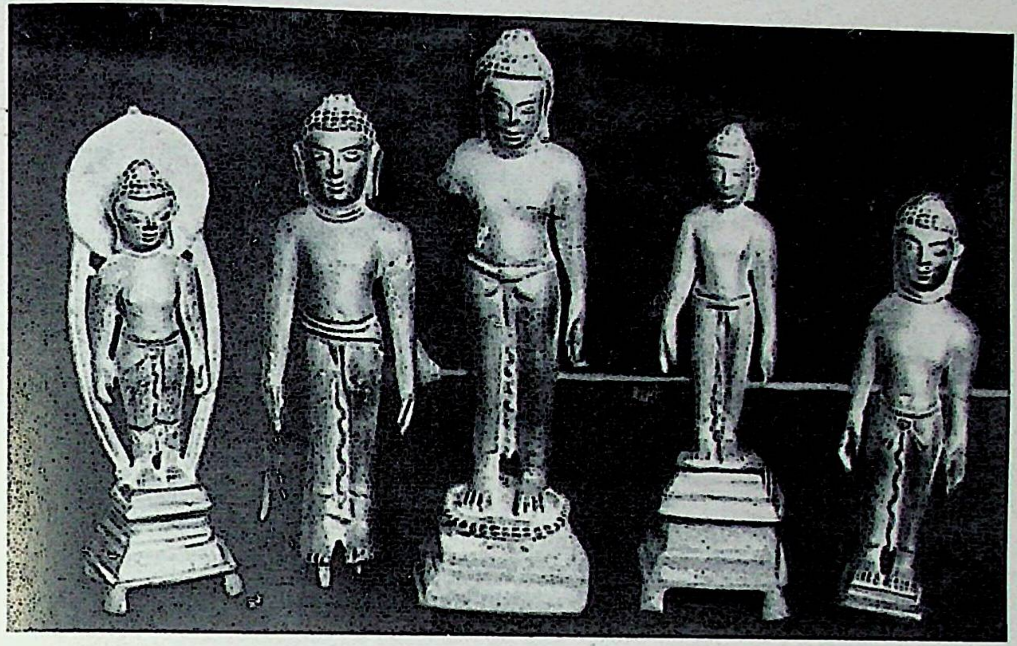

(क) वलभी — कांस्य तीर्थंकर मूर्तियां (प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय)

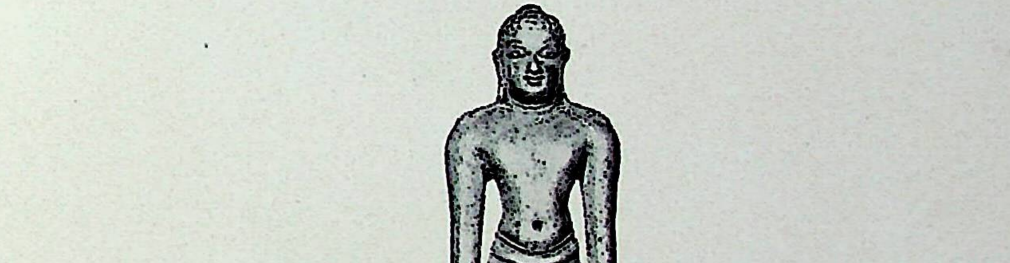

(ख) अकोटा — यक्ष और यक्षी के साथ तीर्थंकर ऋषभनाथ की कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 67

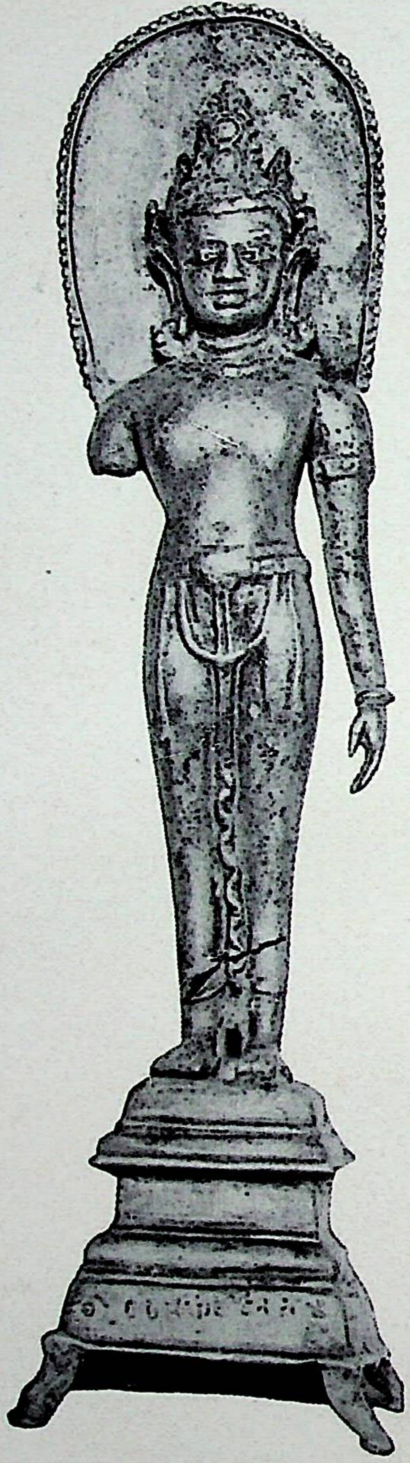

(क) अकोटा — जीवन्त स्वामी, कांस्य
(वड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 68

यौवनपूर्ण तथा प्रफुल्लित मुखाकृतियुक्त प्रदर्शित किया गया है।[1] शीर्ष पर सुनियोजित घुँघराली लटों के अतिरिक्त उष्णीष भी दिखाया गया है।

हरिषेण कृत बृहत्-कथा में उल्लिखित दिगंबर परंपरा के अनुसार भी कुछ जैन मुनियों के द्वारा वस्त्रों के उपयोग का आरंभ पश्चिम भारत में कांबलिका-तीर्थ नामक स्थान से हुआ प्रतीत होता है। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि तीर्थंकर की प्रारंभिक प्रतिमा श्वेतांबर रूप में (अर्थात् अधोवस्त्र, धोती सहित) पश्चिम भारत के अकोटा[2] नामक स्थान से उपलब्ध है।

तीसरी और चौथी शताब्दियों का कोई जैन अवशेष अभी तक उपलब्ध नहीं है। पाँचवीं शती की ऋषभनाथ की केवल कांस्य मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। छठी शती की कुछ और जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

वलभि से तीर्थंकरों की पाँच खड्गासन कांस्य मूर्तियों को डी० आर० भण्डारकर ने खोज निकाला (चित्र ६७ क) है, जो प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई में सुरक्षित रखी हैं।[3] इनके खण्डित अभिलेखों में से कम-से-कम दो के आंशिक रूप में उपलब्ध अभिलेख के आधार पर भण्डारकर ने इन्हें छठी शती का माना है। मोरेश्वर दीक्षित ने इनमें से एक पर वलभि-युग (५३८ से ५४८ ई०) का संव २०० (+) २० (+) पढ़ा है।[4] मूर्तियों के धड़ बौने हैं, किन्तु उनके सिर अपेक्षाकृत बड़े और भारी हैं जो कि प्रारंभिक पश्चिम भारतीय शैली की विशेषता है।

जैसा कि पहले (पृ १३९) उल्लेख किया जा चुका है, आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में जैन परिषद् का सम्मेलन वलभि में चौथी शती में हुआ। महान् जैन तार्किक तथा द्वादसार-नयचक्र के लेखक मल्लवदी ने वलभि में लगभग वि० सं० ४१४ (३५७ ई०) में बौद्धों को वाद-विवाद में पराजित किया था। परिषद् का द्वितीय सम्मेलन वलभि में ४५३-५४ ई० में हुआ। इस युग में पश्चिम भारत

---

[1] तुलनीय : आजानुलंबबाहुः श्रीवत्सांकः प्रशांत मूर्तिश्च, दिग्वासास्तरुणो रूपवंश्च कार्येर्हितामदेवाः **बृहत् संहिता**. 58,45. 1947. बंगलौर. यह तथ्य, कि वराहमिहिर के अनुसार तीर्थंकर प्रतिमाएँ वस्त्रहीन हैं, संकेत देता है कि वस्त्रयुक्त श्वेतांबर मूर्तियाँ उसके समय में लोकप्रिय न थीं। इस प्रकार वे कदाचित् परवर्ती हैं।

[2] शाह (यू पी). अकोटा ब्रोंजेज़. 1959. बंबई. पृ 26 चित्र 8 क और 8 ख. / **बृहत् कथाकोश**. संपा : ए० एन० उपाध्ये. सिंघी जैन सीरीज़, 17,131. पृ 317 तथा परवर्ती और भूमिका, पृ 118.

[3] शाह, पूर्वोक्त, 1950-51, पृ 36, **स्कल्पचर्स फ्रॉम सामलाजी एण्ड रोड़ा**, **बड़ौदा**. 1960. पृ 21-25. / शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट**,**1955**, बनारस. चित्र 29.

[4] **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वैस्टर्न सर्किल. प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1914-15.** पृ 30. / दीक्षित (मोरेश्वर जी.) **हिस्टारिक एण्ड इकॉनॉमिक स्टडीज**. पृ 63. / शास्त्री (एच जी). मैत्रिककालीन गुजरात. पृ 668-72 और पृ 671 पर नोट 168.

में जैन संपन्न होते गये, जैसा कि वलभि में पायी गयी जैन कांस्य प्रतिमाओं से भी स्पष्ट प्रतीत होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि भण्डारकर ने उसी स्थान से कुमारगुप्त-प्रथम के कई सिक्के भी खोज निकाले।

चित्र ६७ क में इन पाँच कांस्य मूर्तियों में दायीं ओर से दूसरी तथा बायीं ओर की पहली कुछ स्थूल प्रतीत होती हैं। गुजरात की प्राचीन कांस्य मूर्तियों का कोई विवरण उपलब्ध न होने से, केवल शैली के आधार पर इनके समय का निर्णय कर पाना कठिन है।

सांकलिया का मत है कि गुजरात में ढांक के कुछ शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन चौथी शती ई० के आरंभ के हैं।[1] पुनश्च, पश्चिम भारत में तीसरी और चौथी शताब्दियों के मूर्तिकला संबंधी पर्याप्त विवरण के अभाव में इन शिल्पांकनों का काल-निर्धारण करना सरल नहीं है। किन्तु तीर्थंकर और उनकी सेविका यक्षी अंबिका की प्रतिमाओं को चौथी शती के स्थान पर छठी या सातवीं शती के अंत की मानना चाहिए। अबतक ज्ञात कोई साहित्यिक या पुरातात्त्विक साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो छठी शती ई० के पूर्व जैन-पूजा-विधि में इस यक्षी का सम्मिलित किया जाना प्रमाणित करता हो। शैली के अनुसार ये प्रतिमाएँ सातवीं शती की मानी जा सकती हैं।

अकोटा समूह में उपलब्ध कुछ और कांस्य मूर्तियों को उनकी शैली तथा कहीं-कहीं उनके अभिलेखों की पुरालिपि के साक्ष्य के आधार पर इस युग के अंतिम भाग की माना जा सकता है। जैन कला तथा प्रतिमा-विज्ञान के इतिहास में जीवंतस्वामी की दो कांस्य मूर्तियाँ (एक अभिलेखांकित पादपीठ सहित तथा दूसरी पादपीठ रहित) अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।[2] जैसा कि नाम से ही विदित है, 'जीवंतस्वामी प्रतिमा' मूल रूप में एक व्यक्ति-प्रतिमा थी, जबकि स्वामी अर्थात् महावीर जीवित (जीवंत) थे। पुरातन जैन परंपरा के अनुसार, चंदन की एक ऐसी प्रतिमा (गोशीर्ष-चंदन) महावीर की उस समय की व्यक्ति-प्रतिमा थी, जब वे दीक्षा से पूर्व अपने महल में ध्यानावस्थित थे। अतएव महावीर को इसमें राजकुमार के उपयुक्त मुकुट तथा अन्य आभूषणों और अधोवस्त्र सहित प्रदर्शित किया गया है। बोधिसत्व की भाँति ही, जिन्हें बुद्धत्व प्राप्त होना था, जीवंतस्वामी की कल्पना को 'जिनसत्व' के रूप में की गई मानीं जा सकती है।

---

[1] **जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी**. 1938 ; 427 तथा परवर्ती, चित्र 3-4. / सांकलिया (एच डी). **आर्क्यॉलॉजी ऑफ गुजरात**. 1941. बंबई. पृ 160. / शाह, पूर्वोक्त, 1955, रेखाचित्र 31, पृ 16-17.

[2] जीवंतस्वामी की प्रतिमा के निर्माण और विचारधारा के लिए द्रष्टव्य : शाह (यू पी). ए युनीक जैन इमेज आफ जीवंतस्वामी. जर्नल **ऑफ दि ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ोदा**. 1, 1; 72-79 और 'साइड लाइट्स ऑन द लाइफटाइम सेंडलवुड इमेज ऑफ महावीर'. वही. 1, 4 ; 358-68. / और द्रष्टव्य : सम मोर इमेजेज आफ जीवंतस्वामी. **जर्नल ऑफ इण्डियन म्युजियम्स**. 1; 49-50.

चित्र ६५ ख अकोटा—जीवंतस्वामी की कांस्य प्रतिमा को प्रदर्शित करता है, जिसका पादपीठ नष्ट हो गया और जो आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त है। फिर भी, मुकुट सहित शीर्ष पूर्णतः सुरक्षित है। यह ऊँचा मुकुट मथुरा के कुषाणयुगीन विष्णु (पहले इंद्र समझा गया) के बेलनाकार मुकुट (ईरानी टोपी) के समान निर्मित है।[1] यह चौकोर है, जिसमें सामने की ओर चैत्य-वातायन के समान अलंकरण तथा पार्श्व, शीर्ष और पृष्ठभाग में कमल-प्रतीक अंकित हैं। बालों की कुण्डलित लटें कंधों पर तीन पंक्तियों में गिरती हैं और सुंदर शैली में सँवारे हुए केश पट्टे के नीचे से दिखाई देते हैं, जो संभवतः मुकुट का ही भाग है। मूर्ति का निचला अधर ताम्र-जटित है, जो अधरों के अरुणाभ होनें का संकेत देता है; रजत-मण्डित अर्धनिमीलित नयन ध्यान की गहनता का आभास देते हैं। उनके विशाल मस्तक पर वृत्ताकार तिलक का चिह्न है। आध्यात्मिक ध्यान एवं आनंद तथा पूर्ण यौवन की आभा से प्रदीप्त मुखमण्डलयुक्त महावीर की यह प्रतिमा कदाचित् अबतक प्राप्त मूर्तियों में श्रेष्ठतम है। मेखला (करधनी) से कसी हुई धोती घुटनों से नीचे तक लटकी हुई है। मेखला के मध्य में बनी कुण्डलपाश से बाँधा हुआ पर्यसत्क पार्श्व में नीचे की ओर लटक रहा है। इस प्रकार की कुण्डलपाश देवगढ़ की अनंतशायी विष्णु-प्रतिमा पर भी उत्कीर्ण है। धोती के मध्य भाग में एक अलंकृत लघुवस्त्र (पर्यसत्क) बँधा है, जिसके एक छोर की चुन्नटें नीचे की ओर लटक रहीं हैं तथा दूसरा छोर जो बायीं जाँघ को ढँकता है, विलक्षण अर्धवृत्ताकार चुन्नटों में वल्ली-जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार की धोती निःसंदेह पश्चिम भारतीय मूर्तिकला की आरंभिक शैली की विशेषता है। तीन धारियों युक्त ग्रीवा, चौड़े स्कंध, लंबी भुजाएँ, साधारण रूप में उभरा वक्ष और क्षीण कटि में गुप्त-कला की सभी विशेषताएँ हैं। ऊपरी भुजा के मध्य भाग की अपेक्षा कंधे के निकट धारण किया हुआ भुजबंध, जिसमें मणिमाल तथा गवाक्ष कला-प्रतीकों का होना भी इसके आरंभिक काल का द्योतक है। इसमें उत्कीर्ण कण्ठमाल की रूपरेखा भी मथुरा की प्रारंभिक कुषाण-मूर्तिकला की विशेषता लिये हुए है। चौड़ा स्वर्णहार गंधार की बुद्ध-प्रतिमा के गले में स्थित आभूषण के सदृश है। अतएव, यह प्रतिमा लगभग ५००-२५ के बाद की नहीं हो सकती; संभवतः, इससे कुछ पूर्व की हो सकती है।

अकोटा से प्राप्त जीवंतस्वामी की दूसरी प्रतिमा (चित्र ६८-क) में उन्हें एक ऊँचे अभिलेखांकित पादपीठ पर खड्गासन ध्यान-मुद्रा में दिखाया गया है। पादपीठ का अभिलेख लगभग ५५० ई० की लिपि में उत्कीर्ण है। अभिलेख में ऐसा उल्लेख है कि जीवंतस्वामी की यह प्रतिमा, चंद्रकुल की जैन महिला नागीश्वरी का धर्मोपहार (देवधर्म) था। कायोत्सर्ग-मुद्रा में यह प्रतिमा मुकुट, कुण्डल, भुजबंध, कंगन और धोती से युक्त है। धोती के दो छोर मध्य में बँधे हुए लहरा रहे हैं। भुजबंध मणिमय स्वर्णमाल-युक्त है, जो अत्यधिक घिसा हुआ है। दायें कान में मोती का कुण्डल लटक रहा है और बायें में मकर-कुण्डल प्रतीत होता है। त्रिकूट (त्रिकोणात्मक) मुकुट मध्य

---

[1] वोगल (जे फ). **ला स्कल्पचर डी मथुरा.** 1930. पेरिस और ब्रुसेल्स. चित्र 39 क और ख, पृ 46. / शाह, पूर्वोक्त, 1959, चित्र 9 क, 9 ख. पृ 26-27.

में बड़ी और दुहरे चूड़ामणियुक्त पर्त तथा दोनों ओर दो छोटी पर्तों से निर्मित है। ग्रीवा में मनोहर एकावली है।

नयनों में रंजित रजत, जो धूमिल पड़ चुकी है, विस्तृत स्कंधों युक्त देह, सुविकसित वक्षस्थल, कुछ-कुछ क्षीण कटि-प्रदेश, सुन्दर मुख, किनारी पर मणिकाओं युक्त अण्डाकार प्रभामण्डल तथा अभिलेख की पुरालिपि के आधार पर हम इस कांस्य मूर्ति को लगभग छठी शती के मध्यकाल का मान सकते हैं।

अकोटा समूह की एक अन्य प्रतिमा, जो कायोत्सर्ग-मुद्रा में प्रथम तीर्थंकर (ऋषभनाथ) की है, विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीर्थंकर (ऊँचाई २५ सें० मी०) आयताकार पादपीठ (३३ सें० मी०×९ सें० मी० लम्बे-चौड़े) के मध्य में खड़े हैं। पादपीठ के दोनों सिरों पर दो कमलपुष्प अंकित हैं, जिनपर प्रत्येक में एक यक्ष तथा यक्षी की मूर्तियाँ हैं (चित्र ६७-ख)। पृष्ठभाग में अन्य तीर्थंकरों के लिए पट्टिका अथवा प्रभामण्डल के लिए आधार-पेटिका या दोनों मूलतः उन छिद्रों में स्थित थे, जो पादपीठ के ऊपरी तल पर दृष्टिगोचर होते हैं। वृत्त में अंकित ऋषभनाथ की मूर्ति पृथक् ढाली गयी है और केन्द्र में धर्म-चक्र के ऊपर संयुक्त कर दी गयी। धर्म-चक्र के दोनों ओर सुंदर हरिण हैं। ऋषभनाथ के रूप में तीर्थंकर की पहचान उनके स्कंधों पर लटकती हुई केशराशि से हुई है। इसमें सँवारे हुए कुंचित केश और उष्णीष द्रष्टव्य हैं। वड़े नेत्र, विस्तृत ललाट, थोड़ी नुकीली नाक, सुडौल मुख तथा बौने धड़ पर छोटी ग्रीवा ऐसी विशेषताएँ हैं, जो प्रारंभ में गुजरात तथा पश्चिम भारत के अन्य स्थानों में प्रकट हुई हैं। ये प्रारंभिक पश्चिम भारतीय शैली के लक्षण हैं, न कि परवर्ती युग के।

तीर्थंकर के शरीर पर पारदर्शी धोती है, जिसमें से जननेन्द्रिय का स्वरूप स्पष्ट झलकता है। धोती सुन्दर रंगों में छापी गयी है जिसमें समानांतर पंक्तियों के मध्य पुष्प अंकित हैं। पुष्पों का अंकन एक आद्य कला-प्रतीक है। स्कंध चौड़े और सुदृढ़ हैं; कटि पतली, हाथ और टाँगें सुनिर्मित हैं तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न है। ये सभी विशिष्टताएँ उत्तर गुप्त-युग, लगभग ५४०-५०, की बोधक हैं। इसकी पुष्टि पृष्ठभाग में अंकित अभिलेख की भाषा से होती है जिसमें लिखा है: जिनभद्र वाचनाचार्य के निवृत्ति कुल की ओर से यह उपहार है। इस कांस्य प्रतिमा को स्थापित कराने वाले जिनभद्र वाचनाचार्य की पहचान प्रसिद्ध जैन विद्वान् और मुनि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से की गयी है, जो ५००-६०९ के वीच लंबे समय तक जीवित रहे थे।[1]

पादपीठ के दायें सिरे पर विराजमान यक्ष की पहचान सर्वानुभूति के रूप में की जाती है जो विशाल उदर तथा दो भुजाओंवाले हैं, जिनके दाहिने हाथ में फल (तुरंज) तथा वायें हाथ में धन

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, 1959, चित्र 10 क, 10 ख, 11, पृ 28-29, पृ 29, नोट 7.

की थैली है। आंतरिक रूपरेखा में मणिकायुक्त, कुछ-कुछ अण्डाकार तथा प्रदीप्त शोभायुक्त प्रभामण्डल उत्तर भारतीय मूर्तिकला में प्रथम बार देखने को मिलता है। प्रभामण्डल की ऐसी रूपरेखा का प्रचलन इस युग के अंतिम चरण से आरंभ हुआ, जिसे अजंता में भी देखा जा सकता है। यह रूपरेखा मण्डोर, अवंती, कन्नौज और भड़ौंच के गुर्जर-प्रतीहार शासनकाल में चार-पाँच शताब्दियों तक प्रचलित रही। इन आभूषणों में गुप्त-कालीन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, विशेषतया विशाल स्कंधों की संरचना ध्यान देने योग्य है। विशाल नेत्र एवं चौड़े ललाटयुक्त मुखमण्डल मूल प्रतिमा के अनुरूप है और प्रारंभिक पश्चिम भारतीय शैली में है।

सेविका यक्षी अंबिका एकावली सहित एक अतिरिक्त उरःसूत्र धारण किये हुए है, जो सुनिर्मित उन्नत स्तनों के मध्यभाग से गुजरता हुआ नीचे कुण्डली के रूप में लटकता रहता है। उसकी गोद में शिशु भी एकावली पहने हुए है। अंबिका के बाल उसके सिर के उपर जूड़े के रूप में सुसज्जित हैं और वह अपने दायें हाथ में आम्र-गुच्छ लिये हुए है। उसकी आकृति के प्रतिरूपण में इस शैली की विशिष्टता सम्मिलित है।

यक्ष और यक्षी दोनों की प्रतिमाएँ जैन कला की अवतक ज्ञात शैली की प्राचीनतम उपलब्धियाँ हैं। अंबिका का प्राचीनतम साहित्यिक संदर्भ भी अम्वा-कुश्माण्डिनी के रूप में जिनभद्र-गणि क्षमाश्रमण की समकालीन कृति की टीका अर्थात् 'विशेषावश्यक महाभाष्य'[1] की टीका में मिलता है। प्रसंगवश यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लगभग छठी शताव्दी से नौवीं शताव्दी तक सर्वानुभूति (अथवा सर्वाह्ण) तथा अंबिका यक्ष-युगल ही सभी चौवीस तीर्थंकरों के साथ एकमात्र सेवक यक्ष-युगल के रूप में विद्यमान रहा था।

अकोटा-समूह में तीर्थंकर की एक और कायोत्सर्ग प्रतिमा है, जिसके पृष्ठ में अण्डाकार अभिलेखांकित प्रभावली है। इसके अभिलेख से पता चलता है कि यह मूर्ति पूर्वोक्त जिनभद्र वाचनाचार्य ने दान की थी।

अकोटा-समूह में ही अंबिका की एक सुंदर कांस्य प्रतिमा के पृष्ठभाग में अभिलेख है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मूर्ति छठी शताव्दी के उत्तरार्ध की है। इसमें (चित्र १०६) वड़ी-वड़ी बिसूरती आँखों तथा लपलपाती जीभवाली अंबिका लेटे हुए सिंह पर ललित मुद्रा में बैठी है। संपूर्ण प्रतिमा और पृष्ठ का प्रभामण्डल एक पीठ से संलग्न है, जो भिन्न प्रकार की तीन पट्टियों तथा पादस्थान में कमल पुष्पों द्वारा सुसज्जित है। प्रभामण्डल कमल-पंखुड़ियों से या अग्निशिखा की उद्भासित किरणों से शोभायमान निर्मित किया गया है, जिसके शीर्ष पर पद्मासन ध्यान-मुद्रा में

---

[1] विशेषावश्यक-भाष्य जिसपर लेखक का स्वरचित अपूर्ण भाष्य है, जिसे कोट्यार्य ने पूर्ण किया, डी डी मालवणिया, अहमदावाद, द्वारा संपादित भाग-3, पृ 711, गाथा-3589 की टीका. कोट्यार्य, जिसने जिनभद्र की अधूरी टीका को पूरा किया, अवश्य ही जिनभद्रगणी का समसामयिक कनिष्ठ व्यक्ति रहा होगा.

पार्श्वनाथ की लघु प्रतिमा अवस्थित है। प्रभामण्डल पृष्ठभाग की सूची से वृहदाकार है, संधिस्थान और सूची मकरशीर्ष द्वारा अलंकृत हैं।

अंविका का भव्य किरीट त्रिकूट मुकुट से मिलकर बना है, जिसमें गवाक्ष अथवा सौर-मण्डलीय कला-प्रतीक के मध्य में एक विशाल रत्न जुड़ा हुआ है। शीर्ष पर सुशोभित विशाल जूड़ा पीछे की ओर से भी दिखाई देता है। अंविका का गोल-मटोल मुखमण्डल चौड़े जबड़े और बड़ी-बड़ी आँखों से युक्त है। कानों में दो कुण्डल भी ध्यान देने योग्य हैं। नारी-रूप का यह प्रतिरूपण पश्चिम भारतीय शैली की विशेषता लिये हुए है। उसका धड़ अनुपाततः छोटा और पतला है। इसकी तुलना पूर्वोक्त जिनभद्र-गणी द्वारा प्रतिष्ठापित ऋषभनाथ-मूर्ति की अंबिका से की जा सकती है। यह देवी एकावली, कण्ठहार, घण्टिकायुक्त मंगल-माला तथा उरःसूत्र धारण किये हुए है, अधोवस्त्र विकच्छ शैली में धारण किया गया है, जिसमें चौकोर धारियाँ छापी गयी हैं।

देवी के दायें हाथ में आम्र-गुच्छ है और वायें हाथ में तुरंज फल है। गोद में बायीं ओर एक शिशु बैठा है। दूसरा शिशु उसके साथ दायीं ओर खड़ा हुआ दिखाया गया है। पृष्ठभाग में एक क्षतिग्रस्त अभिलेख है, जिसकी लिपि के आधार पर इसे छठी शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जा सकता है।[1]

अकोटा-समूह में तीर्थंकर-मूर्ति का एक सुंदर सिर (चित्र ६६ ख) सुरक्षित है। उन्नत ललाट, सीधी नासिका, छोटे-छोटे होंठ, जिनमें निचला होंठ कुछ आगे की ओर निकला हुआ है, रजतरंजित विशाल नेत्रों से युक्त सुनिर्मित युवा मुखमण्डल उत्कृष्ट कला-कौशल का नमूना है। यह कंबु-ग्रीवा शैली में निर्मित है जो गुप्त-काल में महापुरुष और उसके आदर्श रूप की विशिष्टता थी। यह सिर लगभग ६०० ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता।[2]

उमाकांत प्रेमानंद शाह

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, 1959, चित्र 14, पृष्ठभाग के अभिलेख के लिए चित्र 74-ई भी द्रष्टव्य.

[2] वही, चित्र 16 क, 16 ख.

भाग 4

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

600 से 1000 ई०

अध्याय 14

उत्तर भारत

मंदिर

उत्तर भारत में प्रारंभिक मध्यकाल की वहुत अधिक वास्तुकलाकृतियाँ शेष नहीं बची हैं। अवशिष्ट कलाकृतियों में मुख्य हैं, पाली जिले में घानेराव का मंदिर और जोधपुर जिले में ओसिया नामक स्थान पर मंदिरों का समूह, जिसमें इस काल के मंदिरों के अतिरिक्त, परवर्तीकाल के मंदिर भी सम्मिलित हैं।

महावीर-मंदिर, घानेराव

घानेराव स्थित, महावीर-मंदिर (चित्र ६९) सांधार प्रासाद के रूप में है, जिसमें प्रदक्षिणा-पथ युक्त एक गर्भगृह, एक गूढ़-मण्डप, एक त्रिक-मण्डप तथा मुख-चतुष्की (द्वार-मण्डप) सम्मिलित हैं। इस मंदिर के चारों ओर चौवीस देवकुलिकाओं से युक्त एक रंग-मण्डप भी वना हुआ है और यह सम्पूर्ण निर्मिति एक ऊँचे प्राकार के भीतर स्थित है।

मंदिर के गर्भगृह की रचना-शैली सरल है। उसमें केवल दो अवयव हैं; अर्थात्, भद्र और कर्ण, प्रदक्षिणापथ के तीन ओर वनाये गये भद्र-प्रक्षेपों (छज्जों) को, गूढ़-मण्डप की भित्तियों की भाँति सुंदर झरोखों द्वारा सजाया गया है, जिनसे प्रकाश प्रस्फुटित होता है।

मंदिर की रचना (उठान; चित्र ७०) जाड्य-कुंभ के पीठ-बंधों, कलश तथा सादी पट्टिकाओं को आधार प्रदान करनेवाली युगल-भित्तियों द्वारा हुई है। पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जाने-वाले वेदी-बंध स्थित हैं, जो सादा होते हुए भी आकर्षक हैं। प्रत्येक झरोखेयुक्त भद्र के मध्य में भित्ति से थोड़ा वाहर की ओर निकलती हुई देव-कुलिकाएँ (आले) निर्मित की गयी हैं, जिनमें पद्मावती, चक्रेश्वरी, ब्रह्म यक्ष, निर्वाणी तथा गोमुख यक्ष की ऐसी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं, जो पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर अपनी प्रदक्षिणा के क्रम में एक दूसरे से मिलते हुए दिखाये गये हैं।

जंघाओं के कोनों पर दो भुजाओंवाले दिग्पालों की सुडौल आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, जो मनोहर त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी हैं और जिन्हें कीचकों ने उठाया हुआ है। ये आकृतियाँ भव्यता से

उत्कीर्ण व्यालों से संपार्श्वित हैं जो प्रतिस्पर्धा की भावभंगिमावाले हाथियों के मस्तकों से सुशोभित और विभिन्न प्रकार की मोहक मुद्राओं में गंधर्वों और अप्सराओं की सजीव मूर्तियों द्वारा अलंकृत टोड़ों पर आधारित हैं। गूढ़-मण्डप के सन्निकट त्रिक-मण्डप के प्राचीर स्तंभों पर नौवें और दसवें दिग्पाल ब्रह्मा तथा अनंत की मूर्तियाँ भी दिखाई पड़ती हैं।

जंघा के स्थान पर, छज्जों पर (चित्र ७१) राजसेनक, वेदिका, आसनपट्ट, कक्षासन गोटे लगाये गये हैं जो छोरों पर शिल्पांकनों तथा स्पंदनशील आकृतियों से अलंकृत हैं। दुर्दान्त व्यालों से अलंकृत झरोखे, मकर-तोरण की झालरों के नीचे, नृत्य तथा संगीत के नाटकीय शिल्पांकनों को आधार प्रदान करते हैं।

जंघा के शीर्षभाग में सादी सुदृढ़ वरण्डिका के ऊपर की संपूर्ण निर्मिति एक आधुनिक रचना है। उत्तरी तथा दक्षिणी पार्श्वों में स्थित कुंभ-पुरुषों की ओजस्वी मूर्तियों के अतिरिक्त त्रिक-मण्डप के राजसेनक पर विद्यादेवियों और गंधर्वों के शिल्पांकन हैं। त्रिक-मण्डप के सभी छह स्तंभ तथा चार प्राचीर-स्तंभ भव्य हैं और उनके ऊपरी भाग ललित रूप में उत्कीर्ण हैं। मुख-चतुष्की के सोपान के दोनों पार्श्वों पर विद्या-देवियों तथा यक्षों की आकृतियाँ बनी हुई हैं, जिनमें गोमुख तथा ब्रह्म यक्ष की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं।

अंतस्थ भवन (चित्र ७२) की छत पर मनोरंजक और विविधतापूर्ण आकृतियों का चित्रण किया गया है। मुख-चतुष्की पर मसूराकार क्षिप्त-वितान का निर्माण किया गया है, जो नाभिच्छंद शैली में है। इस शैली की निर्मितियाँ वर्मन के ब्राह्मणस्वामी मंदिर, अउवा के कामेश्वर मंदिर और ग्यारसपुर के मालादेवी मंदिर जैसे प्राचीन मंदिरों में देखी जा सकती हैं। त्रिक-मण्डप की केन्द्रीय छत समतल वितान के रूप में है जिसमें दण्ड-रास के उत्कीर्ण कला-पिण्डों से युक्त प्रभाग दर्शाये गये हैं। इनके चारों ओर संकेन्द्रित पंक्तियों में व्याल, नर्तक, नट तथा अलंकृत शिल्पांकन सुशोभित हैं। इसकी बायीं और दायीं ओर की पंक्तियों में नाभिच्छंद शैली में गजतालुओं के साथ क्षिप्त-वितानों की रचना की गयी है, तथापि अष्टकोणीय गूढ़-मण्डप की छत भव्यतम है, जिसपर सभा-मार्ग शैली में निर्मित विशाल क्षिप्त-वितान दर्शाया गया है। यह क्षिप्त-वितान पद्म केसर के रूप में परिणत होनेवाली, प्रभूत अलंकरणपूर्ण दस उत्कीर्ण संकेन्द्रित मुद्रिकाओं से युक्त है। इन मुद्रिकाओं में वामन आकृतियों की एक पंक्ति चित्रित की गयी है जिसमें से बाहर की ओर मनोमुग्धकारी अप्सराओं को धारण किये हुए आठ हाथी-टोड़े निकले हुए हैं।

गूढ़-मण्डप में पाँच शाखाओं के द्वारमार्ग का निर्माण किया गया है, जिसपर पत्र-शाखा और रूप-शाखा उत्कीर्ण हैं और पार्श्वभाग व्यालों, अप्सराओं, पद्मपत्र-शाखा तथा रत्न-शाखा से अलंकृत किये गये हैं जिसके नीचे नागों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। सरदल तथा रूप-शाखा की देवकुलिकाओं (आलों) में विद्यादेवियों अथवा यक्षियों की बीस आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें से रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा, पद्मावती तथा निर्वाणी अथवा महालक्ष्मी की आकृतियों की बायीं ओर

तथा महालक्ष्मी, मानसी अच्छुप्ता, वैरोट्या, वज्रांकुशा तथा अंबिका की आकृतियों को दायीं ओर देखा जा सकता है। ध्यान-मुद्रा में पार्श्वनाथ की एक मूर्ति ललाट-बिम्ब के रूप में उत्कीर्ण की गयी है। द्वार के दोनों पार्श्वों पर एक-एक कलात्मक खत्तक की रचना की गयी है, नीचे कीचक और ऊपरी भाग में उद्गम उत्कीर्ण किये गये हैं।

गर्भगृह का द्वार (चित्र ७३) गूढ़-मण्डप के समान और अपने वाहनों पर आरूढ़ विद्यादेवियों और यक्षियों की आकृतियाँ रूप-स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं। इन आकृतियों में से रोहिणी, निर्वाणी, वज्रांकुशा, चक्रेश्वरी, महामानसी, मानसी, वैरोट्या, प्रज्ञप्ति तथा महाज्वाला को पहचाना जा सकता है।

ढाकी, जिन्होंने इस मंदिर का विस्तृत अध्ययन किया है[1] इसे वास्तुकला की मारु-गुर्जर शैली की मेदपाट (मेवाड़) शाखा का एक उत्कृष्ट उदाहरण मानते हैं और उन्होंने जगत के अंबिका मंदिर से शैलीगत समानताओं के आधार पर इसका निर्माणकाल मध्य दसवीं शताब्दी ठीक ही निर्धारित किया है। इस कालावधि का पुष्टीकरण इस स्थान पर पाये गये एक पादपीठ से होता है, जिस पर ९५४ ई० का एक लेख भी उत्कीर्ण है। किन्तु अब वह पादपीठ अप्राप्य है।

ओसिया के मंदिर

ओसिया, प्रारंभिक मध्ययुगीन कला और स्थापत्य का एक सुप्रसिद्ध स्थान है, जहाँ आठवीं-नौवीं शताब्दियों के लगभग एक दर्जन मंदिर प्रारंभिक चरण की निर्मिति हैं। कोई आधा दर्जन मंदिर लगभग ग्यारहवीं शताब्दी की परवर्ती निर्माण-प्रक्रिया के हैं।

यहाँ का मुख्य जैन मंदिर महावीर-मंदिर (चित्र ७४) है जो प्रारंभिक चरण की निर्मितियों में से एक है। एक शिलालेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण प्रतीहार वत्सराज के शासनकाल (आठवीं शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश) में किया गया था। इस मंदिर का मुख उत्तर की ओर है। इसकी संपूर्ण निर्मिति में प्रदक्षिणापथ के साथ गर्भगृह, अंतराल, पार्श्व भित्तियों के साथ गूढ़-मण्डप, त्रिक-मण्डप तथा सीढ़ियाँ चढ़कर पहुँच जाने योग्य मुख-चतुष्की सम्मिलित हैं। द्वार-मण्डप से कुछ दूरी पर एक तोरण है जिसका निर्माण, एक शिलालेख के अनुसार, १०१६ ई० में किया गया था। किन्तु इससे भी पूर्व ९५६ ई० में द्वार-मण्डप के सामने संकेन्द्रित वालाणक (आच्छादित सोपानयुक्त प्रवेशद्वार) का निर्माण कराया गया था। गर्भगृह के दोनों ओर तथा पीछे की ओर एक आच्छादित वीथी निर्मित है। मुख-मण्डप तथा तोरण के बीच के रिक्त स्थान के दोनों पार्श्वों में युगल देवकुलिकाएँ बाद में निर्मित की गयी हैं।

---

[1] महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबिली वॉल्यूम. खण्ड 1. 1968. बम्बई. पृ 328-32.

गर्भगृह एक वर्गाकार कक्ष है जिसमें तीन अंगों, अर्थात् भद्र, प्रतिरथ तथा कर्ण, का समावेश किया गया है। इसकी उठान में, पीठ के अंतर्गत एक विशाल भित्त, विस्तृत अंतर-पत्र और चैत्य-तोरणों द्वारा अलंकृत कपोत सम्मिलित हैं। कपोत के ऊपर बेलबूटों से अलंकृत बसंत-पट्टिका चौकी के समानांतर स्थित पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जानेवाले वेदी-बंध स्थित हैं। वेदी-वंध के कुंभ देवकुलिकाओं द्वारा अलंकृत हैं जिनमें कुबेर, गज-लक्ष्मी, तथा वायु आदि देवताओं की आकृतियाँ वनायी गयी हैं। वेदी-वंध के अलंकरणयुक्त कपोत के ऊपर उद्गमों से आवेष्टित देव-कुलिकाओं में दिग्पालों की आकृतियाँ वनी हुई हैं। जंघा की परिणति पद्म-वल्लरियों की शिल्पाकृति के रूप में होती है और वरण्डिका को आधार प्रदान करती है। वरण्डिका द्वारा छाद्य से आवेष्टित दो कपोतों के वीच के अंतराल की रचना होती है। गर्भगृह के भद्रों को उच्चकोटि के कलात्मक झरोखों से युक्त उन गवाक्षों से संवद्ध किया गया है जो, राजसेनक, वेदिका तथा आसनपट्ट पर स्थित हैं। इन गवाक्षों को ऐसे चौकोर तथा मनोहारी युगल भित्ति-स्तंभों द्वारा विभाजित किया गया है, जो कमलपुष्पों, घटपल्लवों, कीर्तिमुखों तथा लतागुल्मों के अंकन द्वारा सुरुचिपूर्वक अलंकृत किये गये हैं और उनके ऊपर तरंग-टोड़ों की निर्मिति है। छज्जों से युक्त गवाक्षों के झरोखों के विविध मनोहर रूप प्रदर्शित हैं (चित्र ७५)। गर्भगृह के ऊपर निर्मित शिखर मौलिक नहीं है। यह ग्यारहवीं शताव्दी की मारु-गुर्जर शैली की एक परवर्ती रचना है। विकसित कर्णों को दर्शाने वाले उरःश्रृंगों तथा लघु श्रृंगों की तीन पंक्तियाँ इसकी विशेषताएँ हैं।

गूढ़-मण्डप की रूपरेखा में केवल दो तत्त्व सम्मिलित हैं; अर्थात्, भद्र और कर्ण। वरण्डिका तक गर्भगृह के गोटे तथा अन्य अलंकरण इसके अंतर्गत आते हैं। इसकी जंघा के अग्रभाग का अलंकरण यक्षों, यक्षियों और विद्यादेवियों की प्रतिमाओं द्वारा किया गया है। सामने के कर्ण में वायीं ओर सरस्वती और पार्श्व-यक्ष तथा दायीं ओर अच्छुप्ता और अप्रतिचक्रा की प्रतिमाएँ अवस्थित हैं।

गूढ़-मण्डप की छत तीन पंक्तियोंवाली फानसना है, जिसका सौंदर्य अद्भुत है। प्रथम पंक्ति रूपकण्ठ से प्रारंभ होती है और वह विद्याधरों और गंधर्वों की नृत्य करती हुई आकृतियों से अलंकृत है; जिनके पश्चात् छाद्य तथा शतरंजी रूप में उत्कीर्ण आले हैं। प्रथम पंक्ति के चार कोने भव्य श्रृंगों से मण्डित हैं। भद्रों से रथिका प्रक्षिप्त होती है, जिसपर पश्चिम दिशा में कुबेर तथा पूर्व में एक अपरिचित यक्ष की आकृति सम्मिलित है। दूसरी पंक्ति में सिंहकर्ण का अंकन है और उसके दोनों पार्श्वों में उसके आधे भाग की अनुकृति है। इस पंक्ति के चार कोनों को सुंदर कर्णकूटों द्वारा अलंकृत किया गया है। तृतीय या अंतिम पंक्ति के मध्य में चारों ओर सिंहकर्ण की रचना की गयी है और उसके शीर्षभाग में सुंदर आकृति के घण्टा-कलश का निर्माण किया गया है।

त्रिक-मण्डप का शिखर गूढ़-मण्डप के सदृश फानसना प्रकार की दो पंक्तियोंवाला है। इसके चारों ओर सिंहकर्ण के तीन फलक हैं। उत्तर की ओर के सिंहकर्ण पर महाविद्याओं – गौरी, वरोट्या तथा मानसी–की आकृतियाँ हैं। पश्चिमी फानसना के उत्तर की ओर यक्षी, चक्रेश्वरी, महाविद्या,

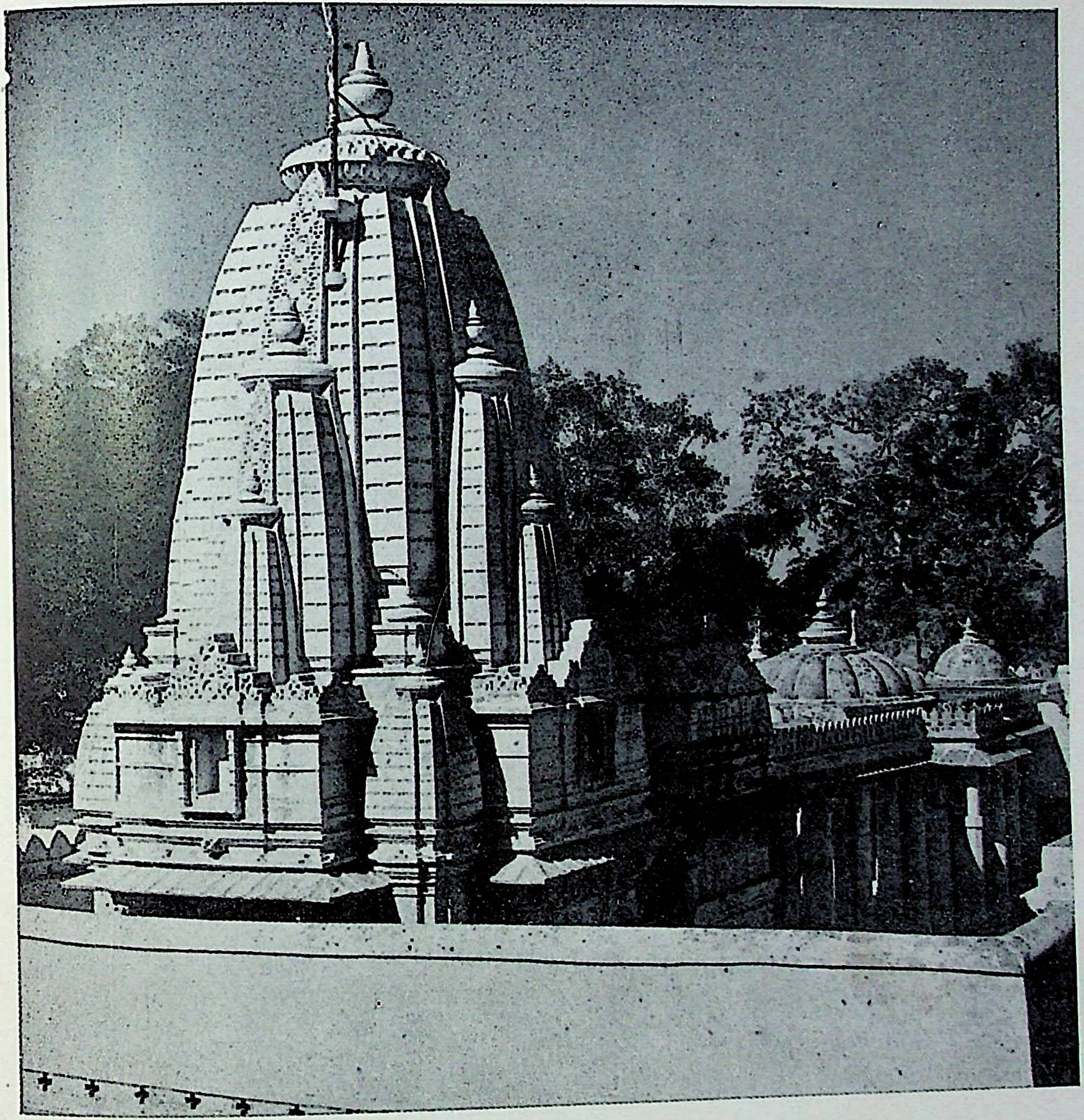

घानेराव — महावीर मंदिर

चित्र 69

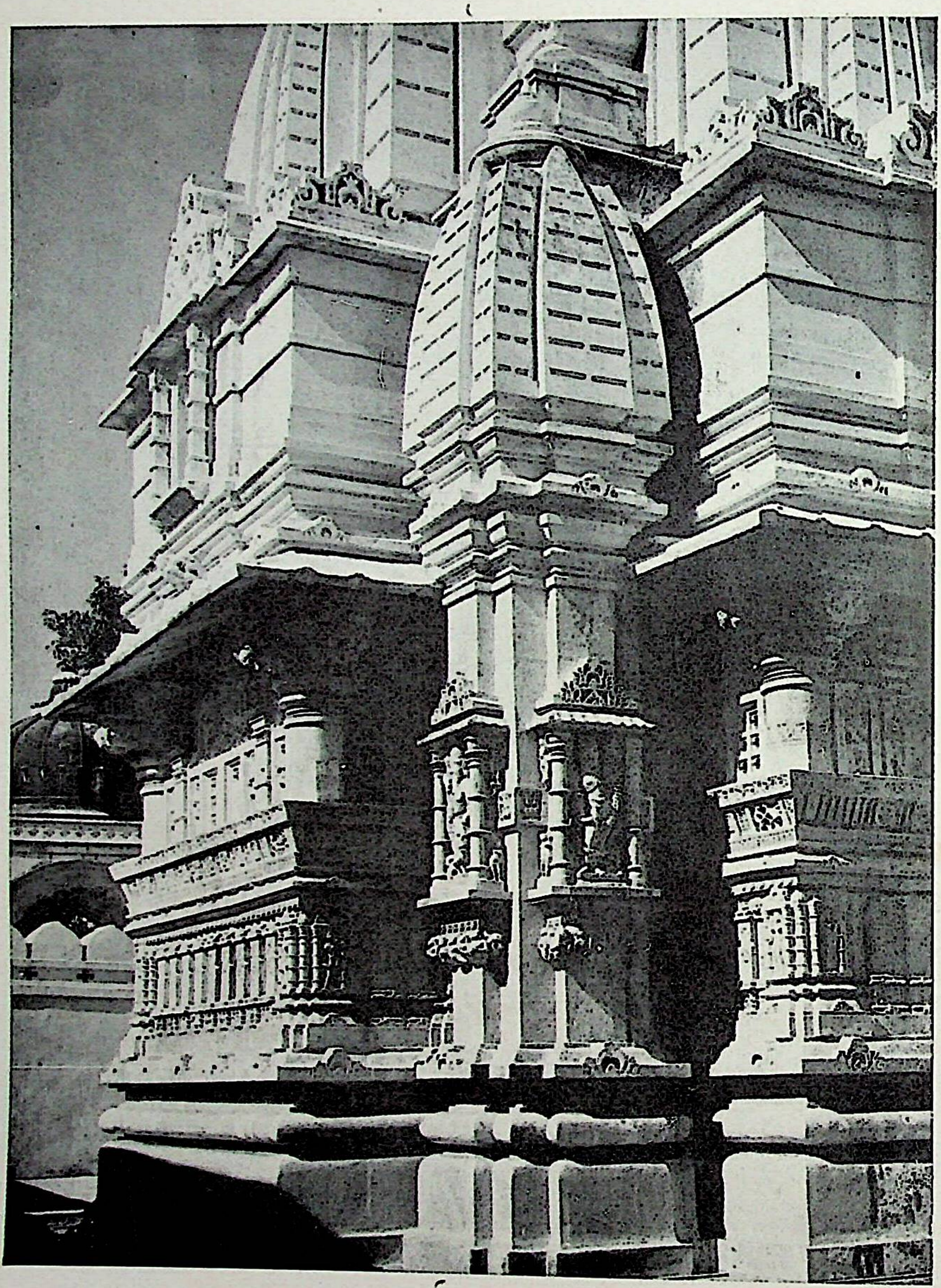

घानेराव — महावीर मंदिर, बहिर्भाग (उठान)

चित्र 70

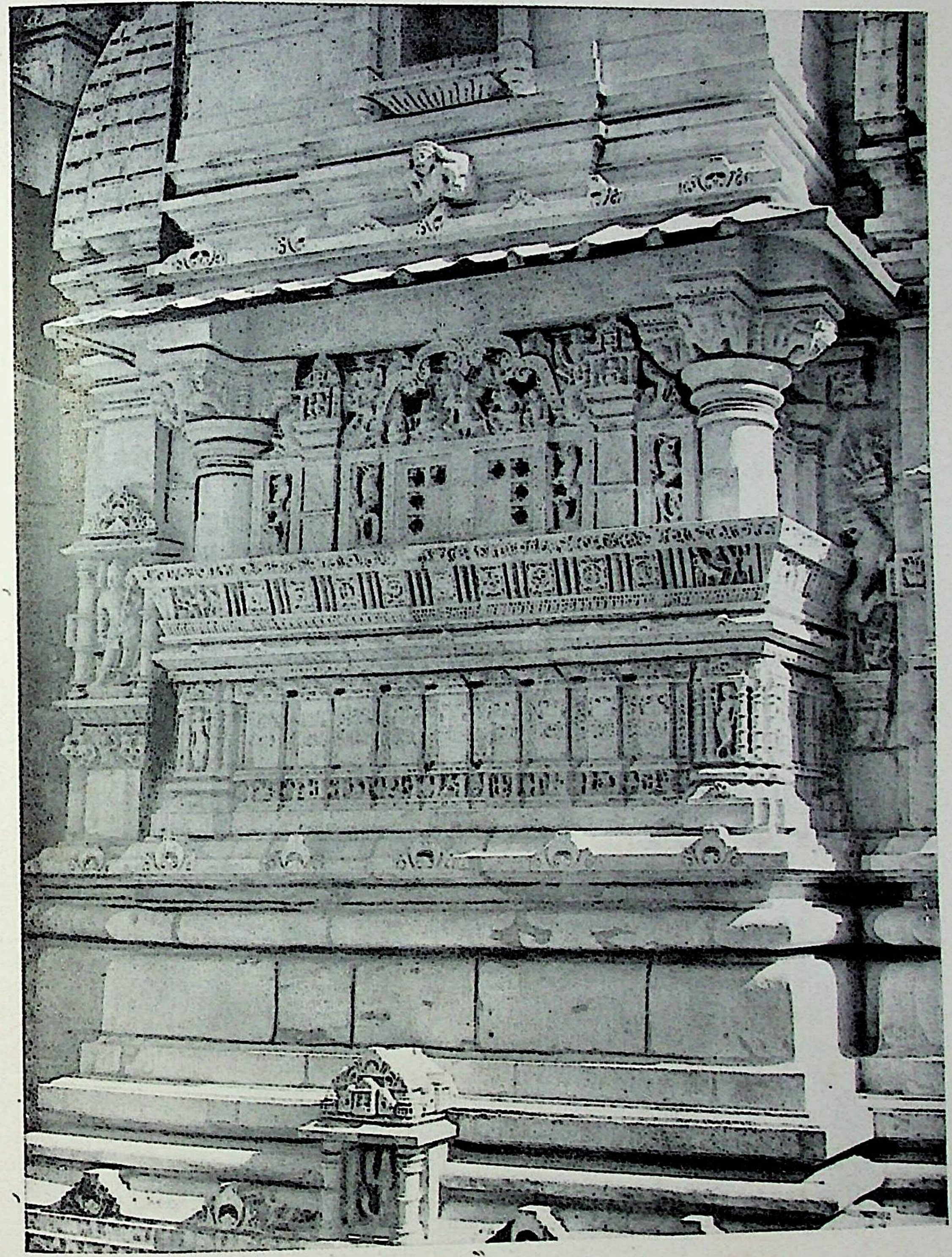

घानेराव — महावीर मंदिर, झरोखा

चित्र 71

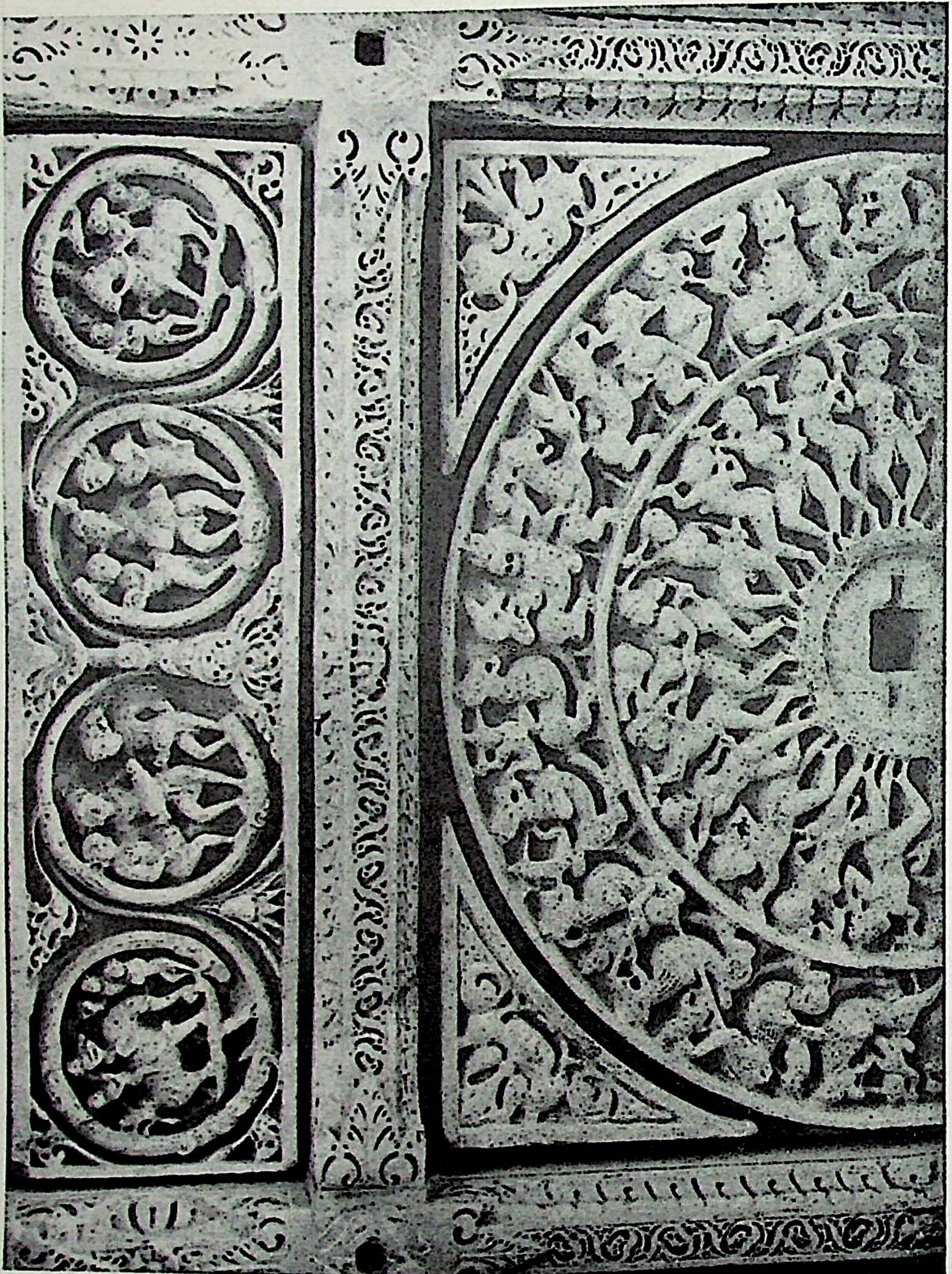

घानेराव — महावीर मंदिर, वितान

चित्र 72

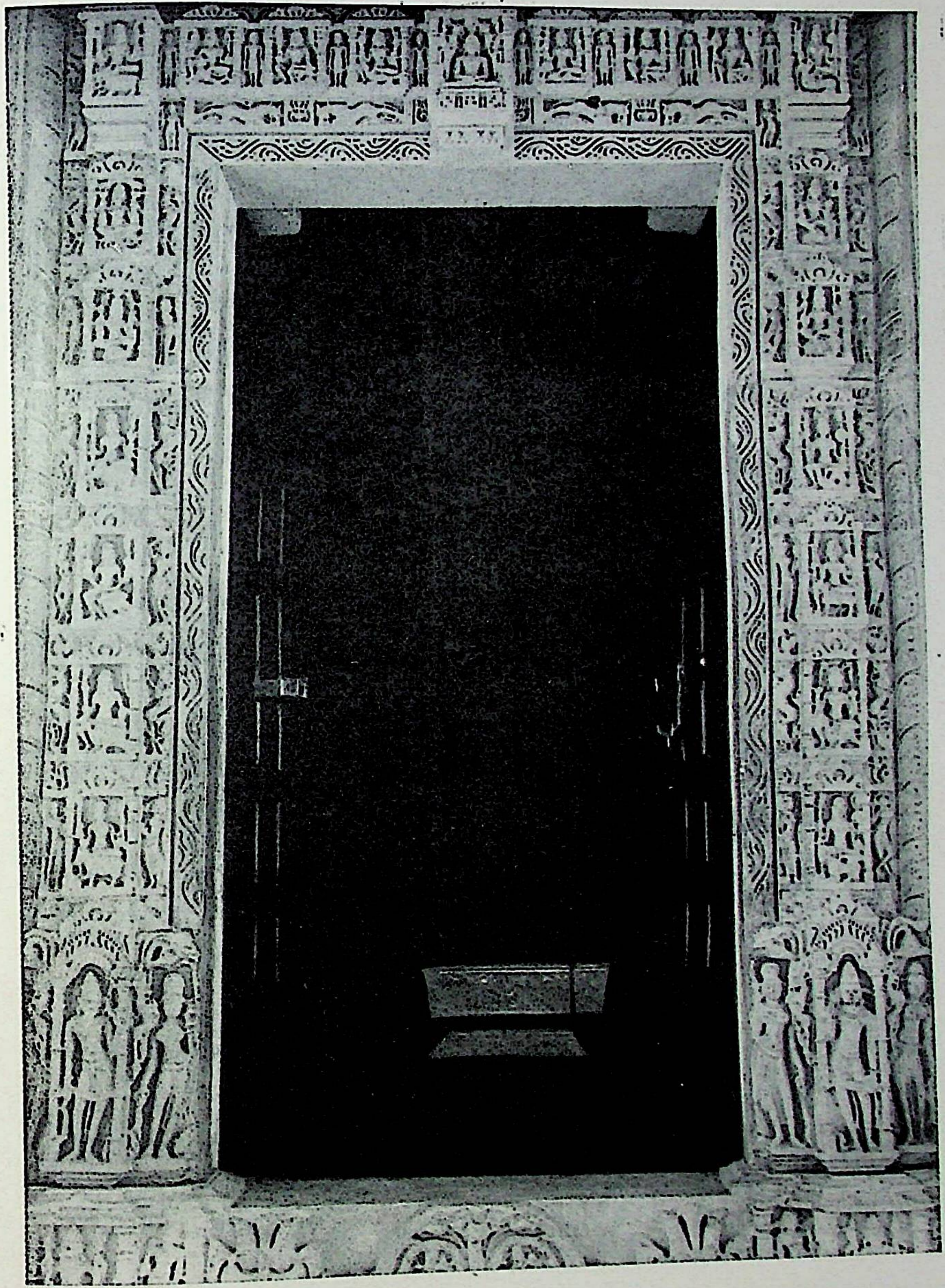

ओसिया — महावीर मंदिर, गर्भ-गृह का द्वार

चित्र 73

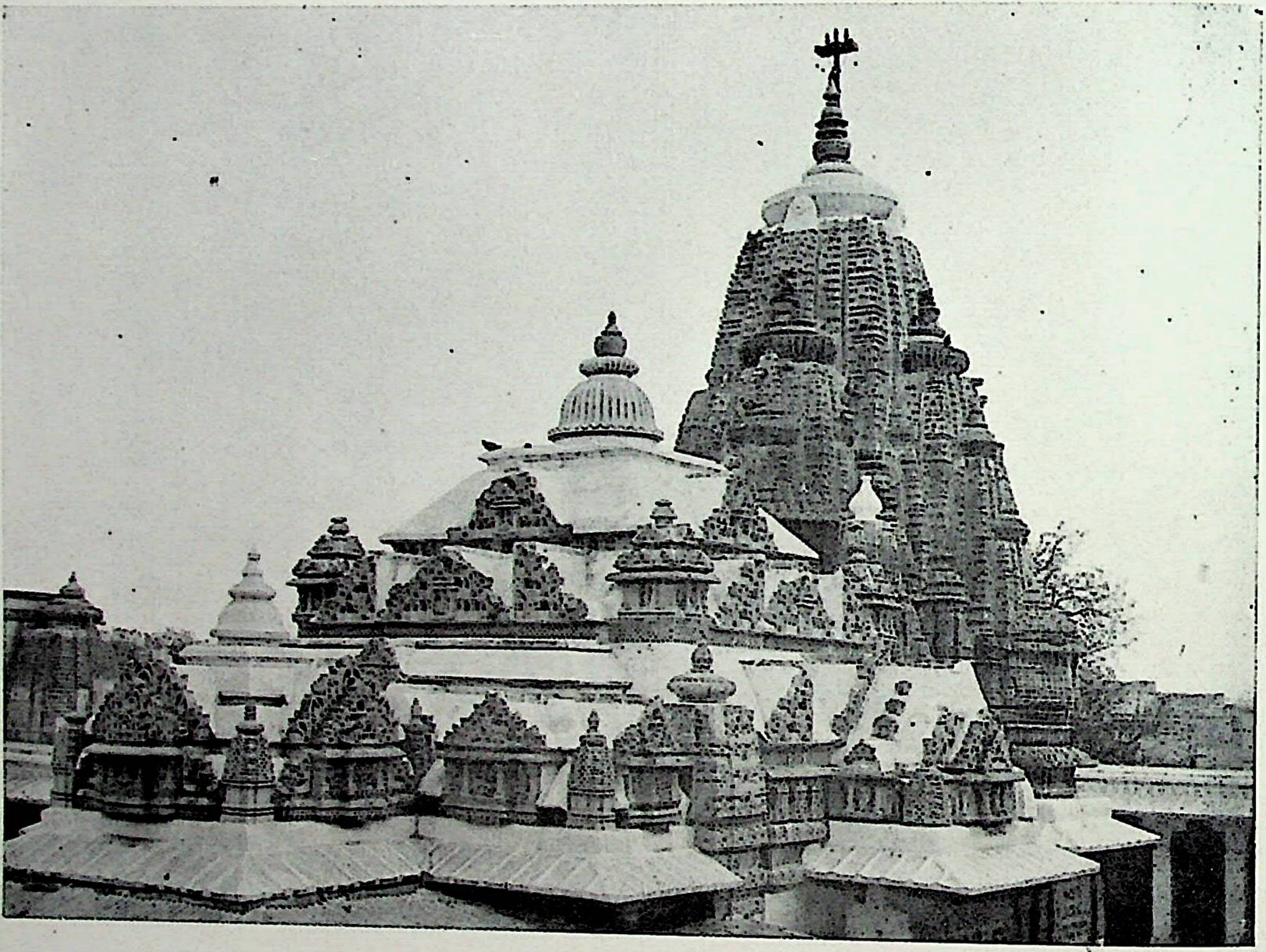

ओसिया — महावीर मंदिर

चित्र 74

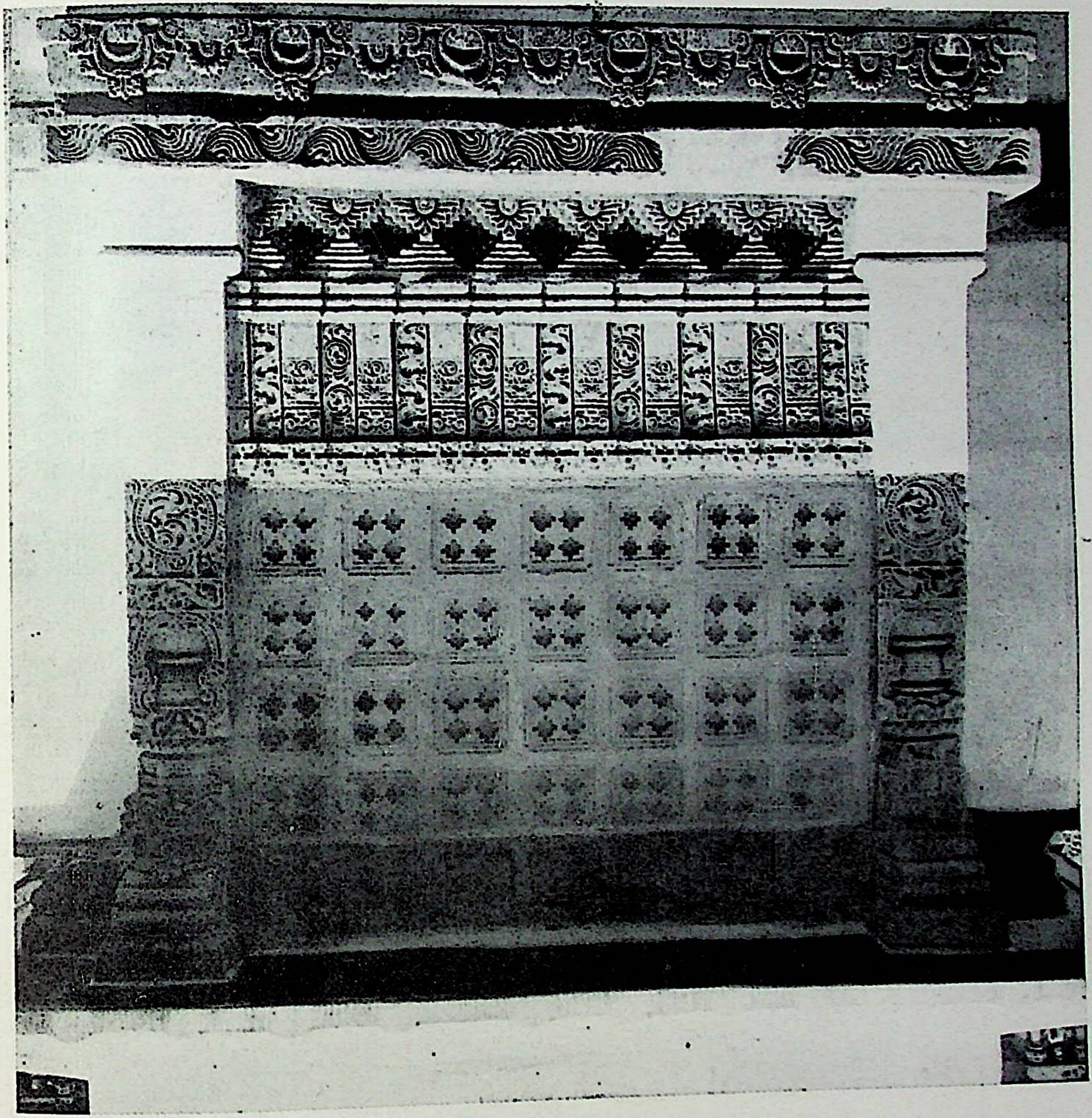

ओसिया — महावीर मंदिर, झरोखा

चित्र 75

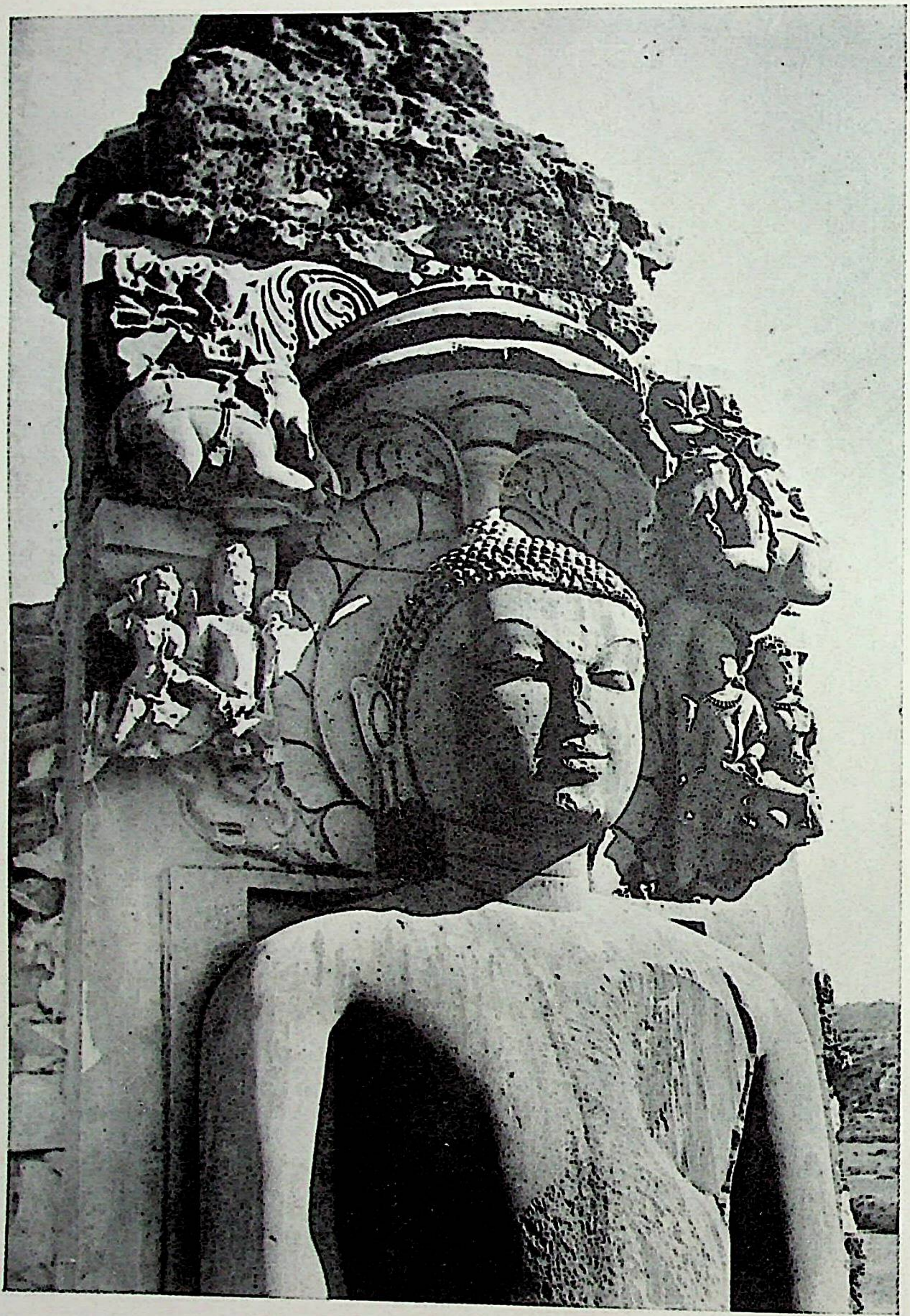

नीलकण्ठ — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 76

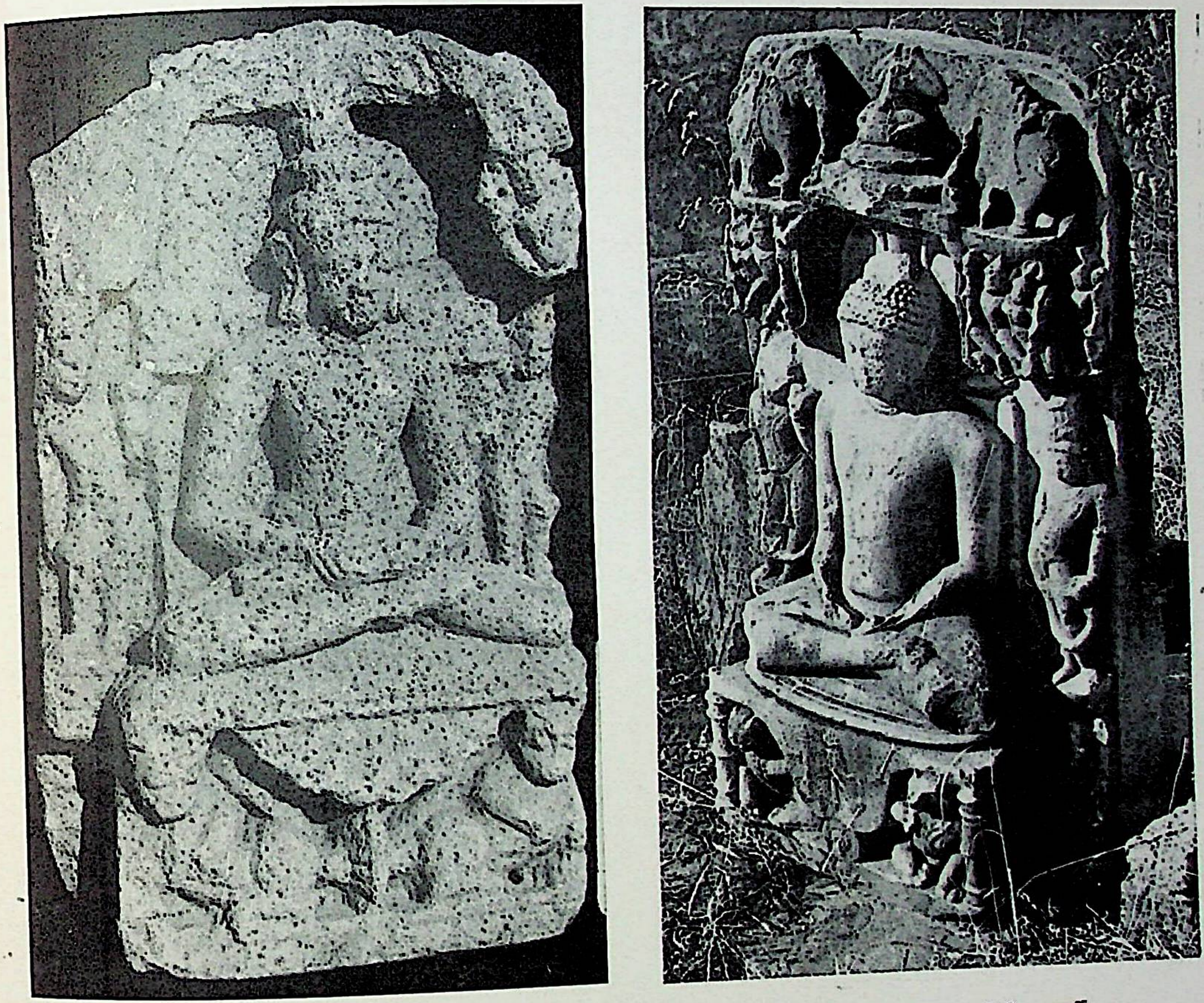

(क) नीलकण्ठ — तीर्थंकर मूर्ति

(ख) नीलकण्ठ — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 77

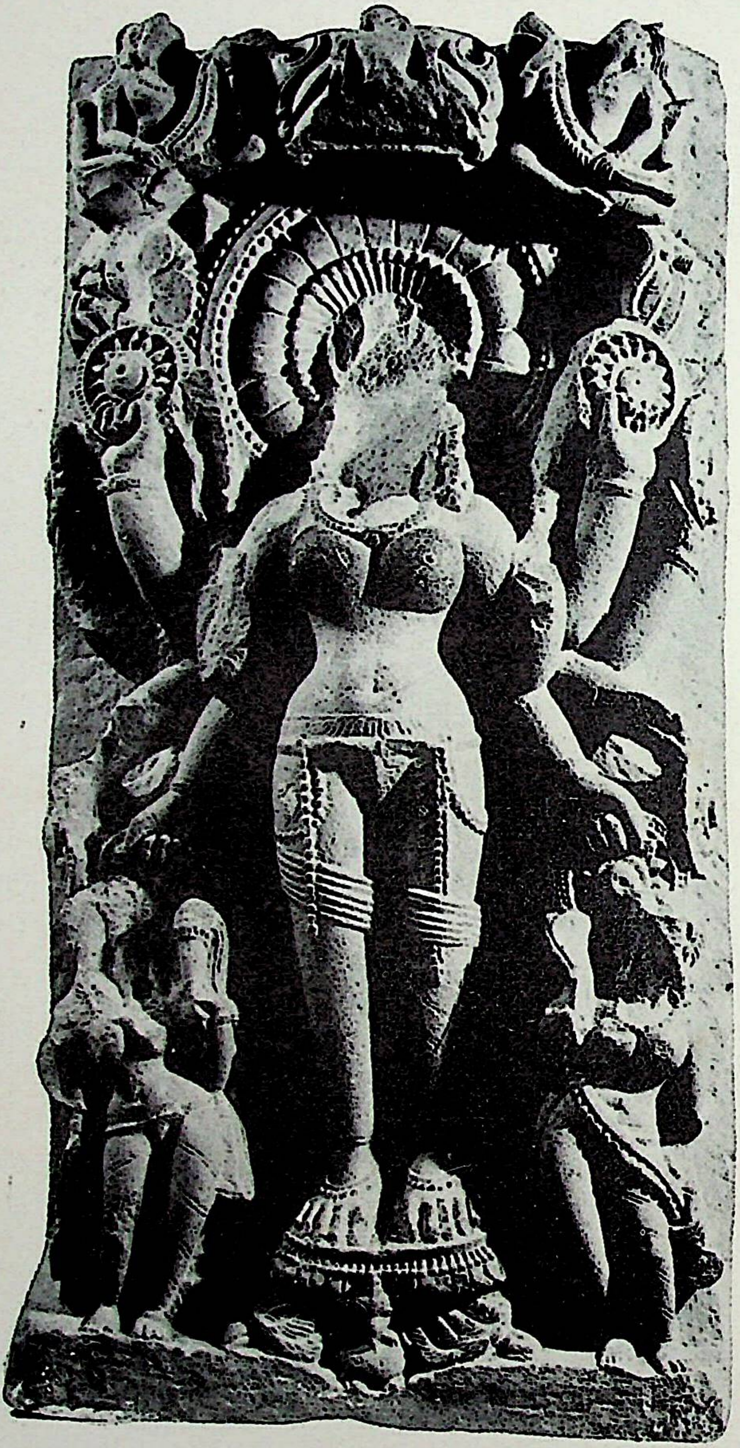

मथुरा संग्रहालय — चक्रेश्वरी यक्षी

चित्र 78

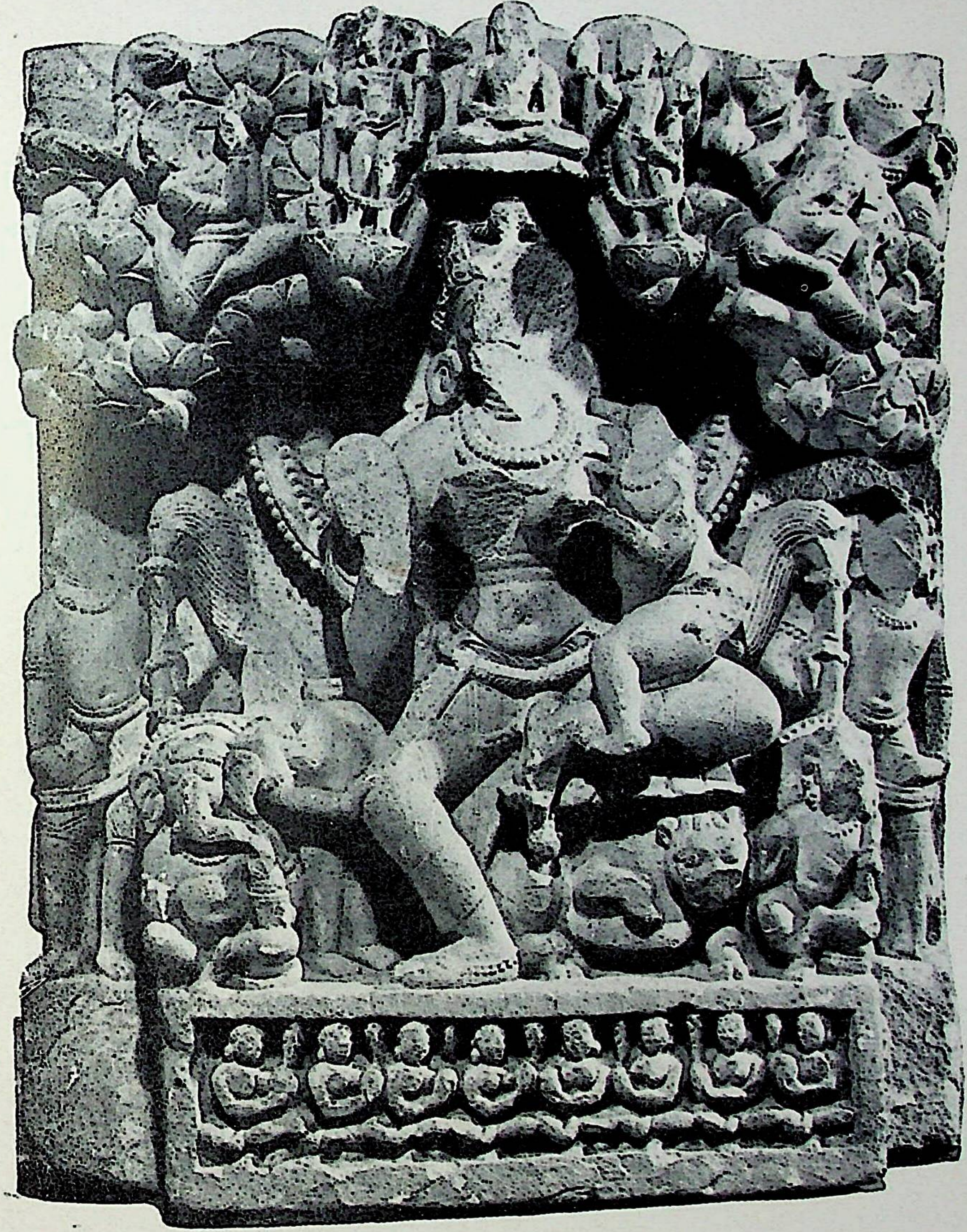

मथुरा संग्रहालय — अम्बिका यक्षी

चित्र 79

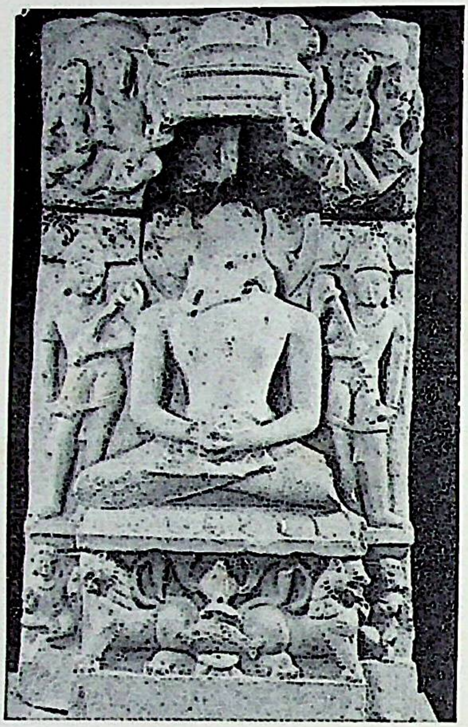

(क) लखनऊ संग्रहालय — तीर्थंकर सुविधिनाथ

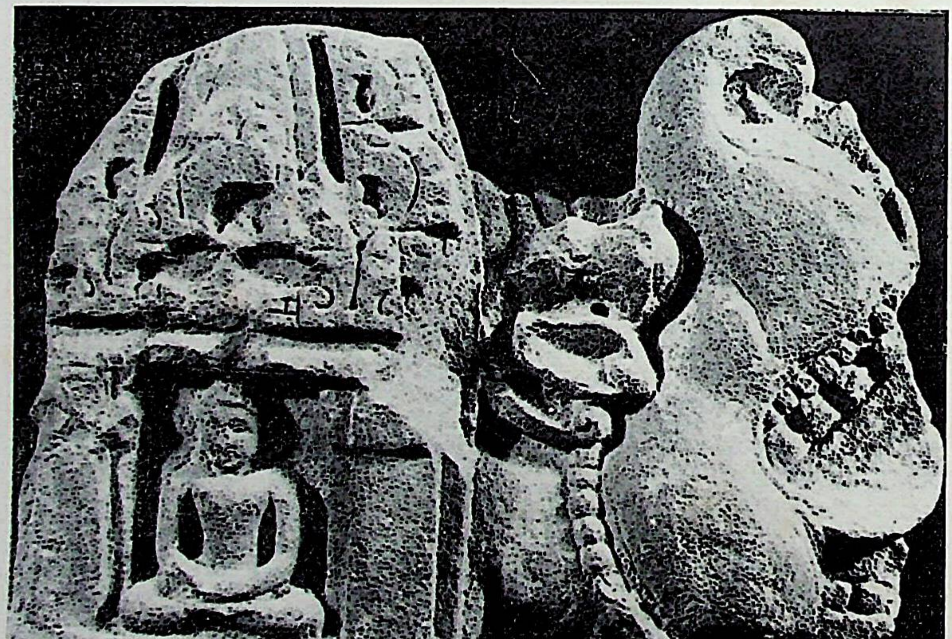

(ख) लखनऊ संग्रहालय — तोरण शीर्ष का एक भाग

चित्र 80

महाकाली तथा वाग्देवी की आकृतियाँ दर्शायी गयी हैं। पश्चिम की ओर, पार्श्व में, यक्षी मूर्तियों के मध्य महाविद्या मानवी की आकृति है।

द्वार-मण्डप की दो पंक्तियोंवाली फानसना-छत घण्टा द्वारा आवेष्टित है। इसके त्रिभुजाकार तोरणों की तीन फलकों में प्रत्येक पर देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं। पूर्व की ओर महाविद्या काली, महामानसी और वरुण यक्ष की प्रतिमाएँ हैं। उत्तर की ओर यक्ष सर्वानुभूति, आदिनाथ तथा अंबिका की प्रतिमाएँ हैं। पश्चिम की ओर देवियों द्वारा संपार्श्वित महाविद्या रोहिणी की मूर्ति है।

गर्भगृह की भीतरी रचना सादी है, किन्तु उसमें तीन देव-कुलिकाएँ निर्मित हैं, जो अब रिक्त हैं। गर्भगृह के द्वार के कलात्मक विवरण हाल में किये गये रंगलेप और शीशे की जड़ाई के कारण छिप गये हैं।

शाला के चारों स्तंभ मूल रूप से चौकोर हैं और उन्हें घट-पल्लव (बेल-बूटों), नागपाश और विशाल कीर्तिमुखों द्वारा अलंकृत किया गया है। शाला के ऊपर की छत नाभिच्छंद शैली में निर्मित है और उसकी रचना सादे गजतालुओं द्वारा होती है। गूढ़-मण्डप की भित्तियों में पर्याप्त गहराई की दस देवकुलिकाएँ हैं। उनमें से दो में कुबेर और वायु की आकृतियाँ हैं। गूढ़-मण्डप की प्रत्येक देवकुलिका के शीर्ष पर निर्मित भव्य चैत्य-तोरणों पर जैन देवताओं की आकृतियाँ निर्मित हैं। उत्तर-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर क्रमावस्थित प्रदक्षिणा शैली में निर्मित इन देवताओं की प्रतिमाएँ रोहिणी, वैरोट्या, महामानसी और निर्वाणी का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक भद्र के सरदल के ऊपर स्थित फलक पर अनुचरों के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा को दर्शाया गया है।

ऐसा विश्वास करने के लिए कारण हैं कि आठवीं शताब्दी में वत्सराज द्वारा निर्मित मूल मंदिर के अभिन्न अंग के रूप में वलाणक विद्यमान था और ९५६ ई० में स्तंभयुक्त कक्ष के अतिरिक्त निर्माण के साथ इसका नवीकरण कराया गया था।[1]

मूल महावीर-मंदिर प्रारंभिक राजस्थानी वास्तुकला का एक मनोरम नमूना है, जिसमें महान् कला-गुण संपन्न मण्डप के ऊपर फांनसना छत तथा जैन वास्तुकला के सहज लक्षणों से युक्त त्रिक-मण्डप की प्राचीनतम शैली का उपयोग किया गया है। मुख्य मंदिर और उसकी देवकुलिकाएँ प्रारंभिक जैन स्थापत्य और मूर्तिकला के समृद्ध भण्डार हैं और देवकुलिकाएँ तो वास्तव में स्थापत्य कला के लघुरत्न ही हैं।

---

[1] [तोरण, वलाणक तथा देवकुलिकाएं परवर्ती निर्मितियां हैं, इसलिए 1000 से 1300 तक की अवधि का विवरण प्रस्तुत करनेवाले अध्याय में इनका निरूपण किया गया है—संपादक].

मूर्तियाँ

विचाराधीन अवधि की मूर्तियों की संख्या तो बहुत है, किन्तु हमारे पास कुछ के ही विवरण उपलब्ध हैं। उनमें से जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उनका उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है, विशेष रूप से उनका, जो सुलभ्य संग्रहों में सुरक्षित हो चुके हैं।

प्रारंभिक मध्यकाल में मथुरा जैन कला और स्थापत्य का केन्द्र बना रहा। यह तथ्य यहाँ उत्तर-गुप्त-शैली की अनेक जैन प्रतिमाओं की उपलब्धि से प्रमाणित होता है। छठी से बारहवीं शताब्दी तक मथुरा तथा निकटवर्ती भरतपुर, कामन और बयाना क्षेत्रों में शूरसेन नामक सामंतवादी राजवंश का शासन था। शूरसेन-राजवंश कला और स्थापत्य के महान् संरक्षक थे। शूरसेनों के उदारतापूर्ण शासन के अंतर्गत ब्राह्मण और जैन धर्म दोनों ही समृद्ध हुए। प्राचीनकाल से ये क्षेत्र शूरसेन नाम से प्रसिद्ध थे। प्रत्यक्षतः उक्त राजवंश का नामकरण भी क्षेत्र के नाम पर ही किया गया था। कामन की चौंसठ-खंभा नाम से प्रसिद्ध प्राचीन मसजिद में प्रारंभिक मध्यकाल की अनेक ब्राह्मण और कुछ जैनधर्मी मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। कामन जैन धर्म के काम्यक-गच्छ का केन्द्र था। इस गच्छ के विष्णुसूरि तथा महेश्वरसूरि नामक जैन गुरुओं का उल्लेख १०४३ ई० के बयाना के शिलालेख में किया गया है।[1] लक्ष्मीनिवास के शासनकाल, १०३२ ई० में, जिसका परिचयन शूरसेन राज्याध्यक्ष लक्ष्मण से किया जा सकता है, जैन विद्वान् दुर्गदेव ने कुम्भनगर अथवा कामन नामक स्थान पर शान्तिनाथ के मंदिर में ऋष्ट-समुच्चय नामक ग्रंथ की रचना की थी।[2] कर्दम नामक एक अन्य शूरसेनवंशीय शासक का नाम उल्लेखनीय है, जिसे अभयदेवसूरि ने जैन धर्म में दीक्षित किया था और उसका नामकरण धनेश्वर-सूरि किया था। बताया जाता है कि उसने राज-गच्छ की स्थापना की थी। कामन के समान ही, प्राचीनकाल से शान्तिपुर अथवा श्रीपथ नाम से विख्यात, बयाना भी जैन धर्म का एक शक्तिशाली गढ़ था। इस स्थान से ९९४ ई० की एक अभिलेखांकित जैन प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमें उल्लेख है कि बागड़-संघ के शूरसेन की प्रेरणा से यह प्रतिमा प्रस्थापित की गयी थी।[3] बयाना में उखा-मसजिद के नाम से प्रसिद्ध चौदहवीं शती की एक मसजिद तथा पाँच अन्य मसजिदों का निर्माण, पूर्व मध्यकाल तथा परवर्ती अवधि के अनेक हिन्दू तथा जैन मंदिरों को विध्वंस करके प्राप्त की गयी सामग्री द्वारा किया गया था, जैसा कि पुनः उपयोग में लाये गये प्राचीन उत्कीर्ण स्तंभों तथा अन्य स्थापत्य-घटकों से प्रमाणित होता है। पिलानी का निकटवर्ती नरहद (प्राचीन नरभट) भी शूरसेन राज्य के कला-प्रदेश के अंतर्गत था; यह तथ्य इस स्थान पर पायी गयी उच्च कलात्मकता से युक्त नौवीं शताब्दी की चार कायोत्सर्ग तीर्थंकर-प्रतिमाओं[4] से प्रमाणित होता है। इनमें से दो प्रतिमाएँ नेमिनाथ की हैं और एक-एक सुमतिनाथ तथा शान्तिनाथ की।

---

[1] **इण्डियन ऐण्टीक्वेरी.** 14; 1885; 8 तथा परवर्ती.

[2] जैन (के सी). **ऐंश्येण्ट सिटीज़ एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान.** 1972. दिल्ली. पृ 150.

[3] वही, पृ 153.

[4] शर्मा (दशरथ). **अर्ली चौहान डाइनेस्टीज.** 1959. दिल्ली. पृ 228 के सामने का चित्र. / **इण्डियन आर्क्यॉलॉजीः ए रिव्यू,** 1956-57. 1957. नई दिल्ली. पृ 83.

नीलकंठ अथवा राजौरगढ़ (या गढ़), जो पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा के आधार पर पारनगर भी कहलाता है, शूरसेन क्षेत्र के पश्चिम की ओर स्थित मत्स्यदेश का एक प्राचीन नगर है। यह नगर जैन तथा ब्राह्मण (मुख्यतः शैव) धर्मों के पूर्व-मध्यकाल तथा मध्यकाल की मूर्तियों तथा मंदिरों का सुप्रसिद्ध केन्द्र है। सावट नरेश के राज्यकाल ९२३ ई० के एक अभिलेख में राज्यपुर में शान्तिनाथ-मंदिर के निर्माण और उसमें मुख्य प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख किया गया है। यह स्थान पार्श्वनाथ की विशाल (४·९५ मीटर ऊँची) प्रतिमा, जिसे स्थानीय लोग नौगजा कहते हैं, तथा तीन अन्य विशाल तीर्थंकर-प्रतिमाओं (चित्र ७६, ७७ क तथा ७७ ख) एवं हाल के अनुसंधान से प्राप्त लगभग दसवीं शताब्दी के जैन मंदिरों के अवशेषों के लिए सुप्रसिद्ध है।[1]

वाराणसी में भी लगभग छठी और सातवीं शताब्दियों की उत्कृष्ट कोटि की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें अजितनाथ की एक प्रतिमा भी सम्मिलित है जो अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।[2] लगभग नौवीं शताब्दी की एक भव्य सर्वतोभद्र प्रतिमा सरायाघाट,[3] जिला एटा से प्राप्त हुई है, जिसमें चार तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित हैं। इस प्रतिमा से उत्तर गुप्त-काल में मध्यदेश में विकसित हुई उत्तर गुप्तकालीन कला की जीवंतता का प्रमाण मिलता है।

कृष्णदेव

अपनी मूर्ति-संपदा के लिए समृद्ध मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में अधिकांशतः मथुरा क्षेत्र अर्थात् जैन और ब्राह्मण धर्मानुयायियों के लिए पवित्र ब्रजभूमि में निर्मित प्रतिमाएँ संगृहीत हैं। मथुरा के संगृहालय में छठी से दसवीं शताब्दियों की तीर्थंकरों, शासन-देवियों तथा गौण देवताओं की महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमाएँ संग्रहीत हैं। पद्मासन-मुद्रा में पार्श्वनाथ की शिल्पांकित प्रतिमा जिसे प्रतीहारकाल का कहा जा सकता है, कला के इतिहास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ध्यान-मग्न तीर्थंकर परंपरागत सिंहासन पर आधारित सर्प-कुण्डलियों पर विराजमान हैं। उनके ऊपर सात नागफणों की छत्रछाया है और अपने शीर्ष पर एक-एक नागफण धारण किये हुए उनके शासनदेवता धरणेन्द्र और पद्मावती विराजमान हैं। शीर्ष की ओर, परंपरागत कल्पना के अनुसार, मेघों का प्रतिनिधित्व करनेवाले उड़ते हुए विद्याधरों को दिखाया गया है। मुखाकृति यद्यपि खण्डित रूप में है, फिर भी उसे देखकर गुप्त-परंपरा का स्मरण हो आता है। तीर्थंकर की एक दूसरी पद्मासन-प्रतिमा, जिसमें अधिक विकसित कला के गुण पाये जाते हैं, किंचित् परवर्ती काल की प्रतीत होती

---

[1] **इण्डियन आर्क्यॉलॉजी—ए रिव्यू,** 1961-62. 1962. नई दिल्ली. पृ 85.

[2] **महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबिली वॉल्यूम.** खण्ड 1. 1968. बम्बई. पृ 143-55. चित्र 10-11.

[3] वही, पृ 217 के सामने का चित्र 4.

है। तीर्थंकर-मूर्ति सिंहासन पर स्थापित कमलपुष्प पर विराजमान है। मध्यदेश के कुछ अनुगामी देवताओं को भी कमलपुष्पों पर अंकित किया गया है। तीर्थंकरों के पार्श्वभागों में स्थित गौण देवताओं को पाँच पंक्तियों में अंकित किया गया है। सबसे निचली पंक्ति में यक्ष और यक्षी तथा उनके ऊपर की पंक्तियों में प्रभामण्डलयुक्त चमरधारी अंकित हैं। ऊपर की तीन पंक्तियों में संभवतः उच्चतर क्षेत्रों के देवों का प्रतिनिधित्व किया गया है, जिनमें विद्याधर भी सम्मिलित हैं। पादपीठ के मध्यभाग में धर्म-चक्र तथा हरिण-प्रतीक अंकित हैं। जैसा कि भट्टाचार्य का सुझाव है[1], हरिण-चिह्न से युक्त इस प्रतिमा को शान्तिनाथ का माना जा सकता है।

देवी-प्रतिमाओं में, अपने वाहन गरुड़ पर स्थापित कमलपुष्प पर खड़ी हुई दस भुजाओं वाली चक्रेश्वरी की मूर्ति उल्लेखनीय है (चित्र ७८)। उसके दोनों पार्श्वों पर दो सेविकाएँ और विद्याधर उत्कीर्ण किये गये हैं। यह मूर्ति प्रखर से प्राप्त हुई है।

इनमें सर्वाधिक उत्कृष्ट और जटिल, दसवीं शताब्दी की अंबिका की मूर्ति है, ज़िसमें वह अपने परिवार-देवताओं सहित अंकित की गयी है। मूर्ति के शीर्षभाग में पद्मासनस्थ तीर्थंकर-प्रतिमा की रचना की गयी है। देवी अर्धपर्यंक-मुद्रा में विराजमान हैं और अपनी गोद में एक शिशु को बैठाये हुई हैं, दूसरा शिशु उनके दाहिने घुटने को स्पर्श करता हुआ उनके सन्निकट खड़ा है। नीचे उनका वाहन सिंह अंकित है। उनके दोनों पार्श्वों पर चमरधारी, गणेश तथा कुबेर अवस्थित हैं। शीर्ष भाग पर नेमिनाथ के दोनों पार्श्वों में कृष्ण (विष्णु के रूप में) और बलराम अंकित हैं, क्योंकि अनुश्रुति के अनुसार वे तीनों एक ही परिवार के हैं। इसके अतिरिक्त इन तीनों को, तीर्थंकर, बलभद्र और वासुदेव के रूप में त्रेसठ शलाका-पुरुषों में गिना गया है। ऊपरी भाग में उड़ती हुई मुद्रा में चार देव आकृतियों को भी दिखाया गया है। निचले भाग में आठ साध्वियों का मूर्तन किया गया है। मध्यकालीन कलाकृतियों में यह मूर्ति (चित्र ७९) निस्संदेह एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें जैन तथा ब्राह्मण धर्मों की पौराणिक धारणाओं के सफल समन्वय की अभिव्यक्ति की गयी है।

लखनऊ के राज्य संग्रहालय में उत्तर प्रदेश के लगभग सभी भागों की मूर्तियों का प्रतिनिधि संग्रह विद्यमान है। उत्तर गुप्त-काल और पूर्व मध्यकाल की अनेक जैन प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में सुरक्षित हैं किन्तु उनमें से कुछ ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में सुविधिनाथ की एक दुर्लभ प्रतिमा है जिसकी पहचान उसके पादपीठ पर अंकित मत्स्य-चिह्न से होती है। पद्मासन-मुद्रा में तीर्थंकर सुविधिनाथ अंकित हैं। उनके नीचे यक्ष तथा यक्षी की लघु प्रतिमाएँ हैं और पार्श्व में चमरधारी तथा शीर्ष पर तीन छत्रों के दोनों ओर विद्याधर युगल अवस्थित हैं। छत्रों के ऊपर स्थित नगाड़ा देवदुन्दुभि का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिमा (चित्र ८० क) श्रावस्ती से प्राप्त हुई थी।

---

[1] भट्टाचार्य (बी सी). जैन आइकॉनॉग्राफी. 1939. लाहौर. पृ 73 तथा चित्र 4.

एक और मूल्यवान निर्मिति के खण्डित भाग पर, जो संभवतः मूल रूप से मथुरा के किसी तोरण-सरदल का भाग था, एक देवकुलिका उत्कीर्ण है। उसके भीतर एक तीर्थंकर-प्रतिमा तथा एक पार्श्व में मकर (चित्र ८० ख) उत्कीर्ण है।

देवकुलिका का शिखर यद्यपि स्थूल रूप में निर्मित है, उसकी आकृति भूमियों में विभक्त त्रि-रथ तथा शुकनास से युक्त है, जिसमें त्रिकूट तोरण द्रष्टव्य है।

लखनऊ संग्रहालय में प्रतीहारकाल की अन्य महत्त्वपूर्ण जैन मूर्तियों में कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ, श्रावस्ती से प्राप्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा और आगरा के निकट वटेश्वर से प्राप्त कुछ प्रतिमाएँ हैं, जिनमें सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हैं।

इलाहाबाद संग्रहालय में उत्तर भारत की जैन प्रतिमाओं की संख्या वहुत अधिक नहीं है। वहाँ सुरक्षित प्रतिमाओं में से अधिकांश कौशांवी से प्राप्त हुई हैं। पूर्व-मध्यकालीन जैन मूर्ति-कला का एक रोचक उदाहरण है — जैन परिरक्षक युगल जो आठवीं शताब्दी के लगभग का है और इलाहाबाद जिले के लच्छगिर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। बलुए शिलापट्ट पर उत्कीर्ण इस मूर्ति में अशोक वृक्ष के नीचे अर्धपर्यंकासन में विराजमान देव-देवियों को दर्शाया गया है। अशोक वृक्ष के मध्य में तने के ठीक ऊपर एक छोटी-सी तीर्थंकर-प्रतिमा है। दोनों देवताओं के दाहिने हाथ अभय-मुद्रा में हैं। उनके शरीरों पर सामान्य प्रयोग के आभूषण हैं और निचले भाग में धारीदार धोती है। एक देवी, जिसने यज्ञोपवीत भी धारण किया हुआ है, अपनी गोद में एक शिशु को लिये हुए है। आधारपट्ट के ऊपर छह प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति, जिसपर गुप्त-कला-परंपरा का प्रभाव है, पांचिका तथा हारिती बौद्ध प्रतिमाओं के आदर्श पर प्रतिरूपित की गयी है। अन्य प्रतिमाओं में तीर्थंकरों तथा सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की कुछ प्रतिनिधि मूर्तियाँ सम्मिलित हैं। सर्वोत्क्रष्ट तीर्थंकर-मूर्ति वह है जिसमें चंद्रप्रभ को पारंपरिक सिंहासन पर अवस्थित कमलपुष्प पर आसीन दिखाया गया है। तीर्थंकर के निम्न, मध्य तथा ऊपरी भागों पर क्रमशः यक्ष, यक्षी तथा भक्तजन अवस्थित हैं। कमलपत्रों तथा कुटिल-पत्रावली से सज्जित दोनों पार्श्वों पर मेघों की विरुद्ध दिशा में उड़ते हुए लंबे आकार के चमर-धारियों और विद्याधरों को दर्शाया गया है। इस मूर्ति का किरणोद्दीप्त वृत्त गुप्त-काल के अलंकृत प्रभामण्डल का स्मरण दिलाता है। एक और आसनस्थ तीर्थंकर-प्रतिमा शांतिनाथ की हो सकती है। क्योंकि इसके पादपीठ पर परंपरागत बौद्ध धर्म-प्रतीक चक्र के दोनों ओर हरिण अंकित हैं। पार्श्वों पर उत्कीर्ण अनुचरों की आकृतियों में चमरधारी, हाथी-सवार और उड़ते हुए विद्याधरों की मूर्तियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी तीर्थंकर मूर्ति पद्मासन-मुद्रा में मुनिसुव्रत की है। तीर्थंकर-प्रतिमा

के ठीक नीचे एक श्रद्धावनत महिला की मूर्ति उत्कीर्ण है।[1] शैली के आधार पर इन सभी प्रतिमाओं का काल-निर्धारण नौवीं शताब्दी के लगभग किया जा सकता है। सर्वतोभद्रिका तथा अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाओं का काल-निर्धारण दसवीं शताब्दी किया गया है। सर्वतोभद्रिका प्रतिमा में तीर्थंकरों को कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित किया गया है।[2]

मुनीशचन्द्र जोशी

---

[1] मुनिसुव्रत की अन्य प्रतिमाओं के नीचे श्रद्धावनत महिला की प्रतिमा के संदर्भ में द्रष्टव्य : मित्रा (देबला). आइकॉनॉग्राफिक नोट्स. **जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी**. 1; 1958; 38-39.

[2] इलाहाबाद संग्रहालय की प्रतिमाओं के विस्तृत विवरणों के लिए द्रष्टव्य : प्रमोदचंद्र. **स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम.** 1971 (?). पूना.

अध्याय 15

पूर्व भारत

पश्चिम बंगाल

बंगाल में जैन धर्म पूर्व मध्यकाल में बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के साथ ही साथ प्रचलित रहा। पुण्ड्रवर्धन (उत्तर बंगाल) और समतट (दक्षिण वांग्लादेश) के संदर्भ में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि इन दोनों क्षेत्रों में दिगंबरों (निर्ग्रंथों) की बड़ी संख्या थी, यद्यपि बहुत से बौद्ध संघाराम और देव-मंदिर भी थे।[1] जैन धर्म की लोकप्रियता यद्यपि बंगाल में ह्वेनसांग के समयोपरांत भी रही, किन्तु उसके पश्चात् आठवीं शती में जैन गतिविधियों के संकेत न तो साहित्यिक श्रोतों से मिलते हैं और न पुरातात्त्विक श्रोतों से। इससे कुछ लोग यह विश्वास करते हैं कि बौद्ध धर्म के प्रबल समर्थक पालवंश के उदय के साथ सातवीं शती के अनंतर बंगाल में जैन धर्म का ह्रास होने लगा। यह कल्पना इस तथ्य की दृष्टि से उचित नहीं कि नौवीं और दसवीं शताब्दियों में बंगाल के विभिन्न भागों में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ और पाषाण तथा कांस्य की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी गयीं, जबकि बौद्ध धर्म इस प्रदेश पर छाया हुआ था।

नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों तक जैन कला पूर्वी भारत में उतनी ही उत्कृष्ट और विविधतापूर्ण रही जितनी बौद्ध और ब्राह्मण कलाएँ। मूर्तिकला के क्षेत्र में, दीनाजपुर जिले में सुरोहोर से प्राप्त और शैलीगत विशेषताओं के कारण दसवीं शती की मानी जानेवाली ऋषभनाथ की पद्मासन-प्रतिमा का स्थान अद्वितीय है। इसमें गुप्त-कला की गरिमा और सौम्यता विद्यमान है (चित्र ८१ क) जे० एन० ब्नर्जी ने इस प्रतिमा का उल्लेख इस प्रकार किया है :

> 'एक लघु मंदिर के आकार में अंकित इस प्रतिमा में मूलनायक के रूप में तीर्थंकर अपने लांछन (वृषभ) से अंकित पादपीठ पर बद्ध-पद्मासन में हाथों को ध्यान-मुद्रा में स्थापित करके विराजमान हैं। शेष तेईस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी अपने-अपने लांछनों से चिह्नित और

---

[1] मजूमदार (रमेशचन्द्र). जैनिज्म इन एंश्येण्ट बंगाल. महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबिली वॉल्यूम. 1968. बम्बई. पृ 136-37. / बील (एस). बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्नवर्ल्ड. 2. 1884. लंदन.

> मूलनायक की-सी मुद्रा में लघुतर मंदिरों में अंकित हैं। इनमें से सात-सात की एक-एक पंक्ति मूलनायक प्रतिमा के दोनों ओर है और ऊपर नौ मूर्तियाँ तीन-तीन मूर्तियों की तीन समानांतर पंक्तियों में अंकित हैं। इन तीन पंक्तियों को थोड़ा आगे की ओर प्रक्षिप्त रूप में अंकित किया गया है ताकि वे मूलनायक प्रतिमा के लिए एक प्रकार से छत्र का-सा रूप दे सकें। इसके दोनों ओर चमरधारी अनुचर सौम्य मुद्रा में खड़े हैं और उनके जटामुकुट के समानांतर मालाधारी विद्याधर युगल मेघों के परंपरागत मूर्तन के मध्य उड़ते हुए दिखाये गये हैं। कदाचित् आरंभिक पालयुग की इस प्रतिमा की संपूर्ण निर्मिति सूक्ष्म कौशल और सुरुचिपूर्ण सरसता से की गयी है।'[1]

और भी बहुत-सी उत्कृष्ट जैन मूर्तियाँ बांग्लादेश के उत्तरी भाग में बनीं। इनमें वे मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं जिनमें कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए दम्पति को दर्शाया गया है, जिनकी गोद में बालक है और उनके ऊपर कल्पवृक्ष की शाखाएँ फैली हुई हैं।[2] यह जैन परंपरा के अंतर्गत एक शासन-यक्ष युगल है, और प्रजनन-स्वरूप का प्रतीक है, उसी प्रकार जैसे बौद्ध धर्म की महायान शाखा के कुबेर और हारीति। ऋषभनाथ की एक मूर्ति (दसवीं शती) भी इसी क्षेत्र की है जो अब कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष संग्रहालय में है। उसे एस० के० सरस्वती ने राजशाही जिले के मण्डोल से प्राप्त किया था।

नेमिनाथ की यक्षी अंबिका[3] की एक उत्कृष्ट कांस्य मूर्ति, २४ परगना जिले के नलगोड़ा से प्राप्त हुई थी। धनुषाकार फैले वृक्ष के नीचे अपनी देह में आकर्षक आकुंचन दिये और कटि पर बालक को हाथ से थामे हुए देवी एक कमलपुष्प पर खड़ी है। बायें हाथ में कोई पुष्प है। उसकी दायीं ओर एक नग्न बालक खड़ा है। वृक्ष के नीचे अंबिका का चिह्न सिंह अंकित है। शैली के आधार पर यह मूर्ति (चित्र ८१ ख) भी दसवीं शती की मानी जा सकती है। तेईस अन्य तीर्थंकरों के साथ कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ग्यारहवीं शती की कान्ताबेनिया से प्राप्त मूर्ति से प्रमाणित होता है कि मध्यकाल में इस क्षेत्र में जैन धर्म बहुत लोकप्रिय था।[4]

जैन मूर्तियाँ पश्चिम बंगाल के और भी कई जिलों में विपुल संख्या में उपलब्ध हैं। बर्दवान के उजनी में ग्यारहवीं शती की शान्तिनाथ की एक दुर्लभ मूर्ति खोज निकाली गयी थी, जो अब

---

[1] मजूमदार (रमेशचन्द्र), संपा. हिस्ट्री ऑफ बंगाल. खण्ड 1. 1942. ढाका. पृ 464 पर जितेन्द्रनाथ बनर्जी के विचार. [दीनाजपुर जिला अब दो भागों में विभक्त कर दिया गया है, पश्चिम दीनाजपुर (पश्चिम बंगाल, भारत) और पूर्वी दीनाजपुर (बांग्लादेश). यह निश्चित नहीं किया जा सका कि यह मूर्ति इन दो जिलों में से किस जिले की है—संपादक]

[2] वही, पृ 465.

[3] वही.

[4] वही.

कलकत्ता के वंगीय साहित्य परिषद् संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रतिमा के पृष्ठभाग पर नवग्रह उत्कीर्ण हैं, पाँच एक ओर तथा चार दूसरी ओर। पादपीठ पर तीर्थंकर का लांछन हरिण अंकित है।[1]

जिला वर्दवान के ही सात देउलिया में, कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े और अपने-अपने लांछनों के साथ अंकित ऋषभदेव, महावीर, पार्श्वनाथ और चंद्रप्रभ की एक चौमुखी तथा ऋषभ, पार्श्व और महावीर (?) (जिसके नीचे का भाग टूट गया है) की अलग-अलग मूर्तियाँ मिली हैं जिनपर चारों ओर विभिन्न तीर्थंकरों की सात लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी स्थान से एक अद्वितीय प्रस्तर-पट्ट प्राप्त हुआ है जिसपर वृषभ लांछन सहित ऋषभनाथ और कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकरों की सात पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ऋषभनाथ छत्रत्रय के नीचे पद्मासन-मुद्रा में विराजमान हैं। उनके दोनों ओर एक-एक चमरधारी अनुचर है। ऊपर दुन्दुभि या करताल वजाते हुए हाथ दिखाये गये हैं।[2] पद्मासनासीन ऋषभनाथ के नीचे सात पंक्तियों में तीर्थंकरों की एक सौ अड़तालीस मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जैसा कि पी०सी० दासगुप्ता का मत है, यह (चित्र ८२ क) कदाचित् अष्टापद तीर्थ का शिल्पांकन है।[3]

इस प्रस्तर-पट्ट की प्राप्ति से इस मान्यता को आधार मिलता है कि सात देउलिया का मंदिर (चित्र ८२ ख) भी मूलतः जैन है।[4]

सात देउलिया का ईंटों से निर्मित मंदिर उड़ीसा के मंदिरों की रेख-शैली का है। इसका गर्भगृह सीधा और लंबाकार है और उसपर वक्ररेखीय शिखर है। आमलक और सामान्य स्तूपिकाएँ भग्न हो चुकी हैं। सरस्वती लिखते हैं, 'इस मंदिर की ध्यान देने योग्य एकमात्र विशेषता यह है कि गभृगृह के लघुकक्ष पर अनेकों उल्टे छज्जे निर्मित हैं जो प्रक्षिप्त कपोत का-सा आकार ग्रहण कर लेते हैं जिसपर शिखर आरंभ होता है। गर्भगृह और शिखर के अग्रभाग सूक्ष्म पट्टिकाओं में विभक्त हैं, यह एक ऐसी आयोजना है, जो अग्रभागों के रथों और पगों के रूप में विभाजन के फलस्वरूप हुई होगी। इसके अतिरिक्त गर्भगृह की भित्तियाँ सपाट हैं किन्तु शिखर पर चैत्य-गवाक्ष और पत्रावलियों

---

[1] वही.

[2] दासगुप्ता (पी सी). ए रेयर जैन आइकॉन फ्रॉम सात देउलिया. **जैन जर्नल**. 7 ; 1973 ; 130 तथा परवर्ती.

[3] जैन परंपरा के अनुसार ऋषभनाथ के पुत्र भरत ने उस पर्वत पर सर्वप्रथम स्तूप और मंदिर बनवाया, जिसपर उनके पिता ने निर्वाण प्राप्त किया। 'मंदिर और स्तूप बनवाकर भरत ने पर्वत की उपत्यका और अधित्यका के मध्य आठ सोपान (अष्टापद) बनवाये, इससे उस पर्वत का नाम अष्टापद पड़ गया। यहाँ भी प्रथम जैन मंदिर की परिकल्पना अंतर्निहित है, जो एक आठ सोपानवाले पर्वत या आठ सोपानवाले जिग्गुरात या आठ सोपान वाले स्तूप के रूप में थीं'. शाह (उमाकांत प्रेमानंद). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 128.

[4] वर्दवान में प्राप्त जैन मूर्तियों में से ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की एक चौमुखी और आदिनाथ की दो मूर्तियाँ (लगभग दसवीं शती) उल्लेखनीय हैं, जो अब कलकत्ता के आशुतोष म्यूजियम ऑफ इण्डियन आर्ट में संगृहीत हैं।

का विपुल अलंकरण है। कोण इसलिए तनिक गोल से रखे गये हैं ताकि सामनेवाली पट्टिकाओं की तुलना में वे और भी सुन्दर प्रतीत हों, किन्तु तीक्ष्ण किनारों को फिर भी छोड़ा नहीं गया है।[1]

इस युग की जैन मूर्तियाँ मिदनापुर जिले में भी प्राप्त हुई हैं। उनमें से बाराभूम में मिली पार्श्वनाथ की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। अब कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में संगृहीत यह मूर्ति एक चतुर्विंशतिका है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की लघु मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसमें उत्कृष्ट कोटि का कला-कौशल दिखाया गया है। मूर्ति दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों की हो सकती है।[2]

पश्चिम बंगाल में बाँकुरा जैन कला का सर्वाधिक उर्वर केन्द्र रहा प्रतीत होता है। सामान्य योग-मुद्रा में आसीन और शीर्ष पर सप्त-फणावलि से मण्डित पार्श्वनाथ की बाँकुरा जिले के देवल-भीरा से प्राप्त मूर्ति जैन कला का एक सुंदर उदाहरण है और शैली के आधार पर इसे दसवीं शती का माना जा सकता है।[3] यह मूर्ति भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

देवला मित्रा ने बाँकुरा जिले में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के बहुत से अवशेषों का अन्वेषण किया है[4]। जिसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र दिगंबर जैनों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। जिन स्थानों का उन्होंने सर्वेक्षण किया, उनमें अग्रलिखित ग्राम सम्मिलित थे : कंगसावती और कुमारी के संगम पर अंबिकानगर; अंबिकानगर के सामने चिटगिरी; अंबिका नगर के पूर्व में चार किलोमीटर पर बरकोला; अंबिकानगर के उत्तर-पश्चिम में तीन किलोमीटर पर परेशनाथ; परेशनाथ के सामने चियादा; कंगसावती का तटवर्ती केंदुआ। अंबिकानगर से प्राप्त जैन अवशेषों में, ग्राममंदिर के बाहर पड़ा नेमिनाथ की शासनदेवी अंबिका की मूर्ति का एक खण्ड (स्पष्ट है कि देवी के नामपर इस ग्रामं का नामकरण हुआ है) और ऋषभनाथ की एक मूर्ति उल्लेखनीय हैं। अंबिका की मूर्ति का यह अवशिष्ट खण्ड अब मंदिर के भीतर रखा है और ब्राह्मण देवी के रूप में उसकी पूजा की जाती है। अंबिका देवी के मंदिर के पीछे एक भग्न मंदिर में स्थापित लिंग के पास पड़ी ऋषभनाथ की मूर्ति (चित्र ८३ क) का कला-कौशल उत्कृष्ट कोटि का है। मनोहर मुखमुद्रा और जटा-मुकुटयुक्त यह मूर्ति कायोत्सर्ग-आसन में युगल पंखुड़ियोंवाले कमल पर खड़ी है, जिसके नीचे वृषभ चिह्न अंकित है। अन्य मूर्तियों के सदृश, इसके भी दोनों ओर एक-एक अनुचर है और उसके

---

[1] मजूमदार, पूर्वोक्त, 1942, पृ 500-01 में सरस्वती के विचार [बर्दवान विश्वविद्यालय में संग्रहालय और कला-वीथि के संग्रहाध्यक्ष श्री शैलेन्द्रनाथ सामन्त से हमें इस मंदिर की पुनः सूचना प्राप्त हुई है, उन्होंने सात देउलिया में 1957 में उनके द्वारा खोजी गयी मूर्तियों के कुछ चित्र भी भेजे, जिनमें से कुछ यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं —संपादक]

[2] बनर्जी, पूर्वोक्त, पृ 465.

[3] वही, पृ 464.

[4] जर्नल ऑफ दि एशिआटिक सोसाइटी (लैटर्स). 24 ; 1958 ; 131-34.

मस्तक पर बहुपर्णी छत्र है जिसके दोनों ओर एक मालाधारी युगल उड़ता दिखाया गया है। छत्र के उपर दो हस्तयुगल संगीतवाद्य बजाते हुए अंकित हैं। मूर्ति के पीछे शिलापट्ट पर बारह-बारह की पंक्तियों में चौबीस तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में उत्कीर्ण किये गये हैं। इस मंदिर (चित्र ८३ ख) के विषय में मित्रा ने लिखा है :

> 'उड़ीसा के मंदिरों की भाँति उसकी बाड के कई भाग हैं—पाभाग, जंघा और बरण्ड। एक संकीर्ण मंच (उपान) पर निर्मित पाभाग के सबसे नीचे के चार गोटों खुरा, कुंभ, खुरा और उलटे खुरा में से अंत के दो थोड़े-थोड़े अंतर पर बनाये गये हैं और उनपर हृदयाकार कला-प्रतीक अंकित हैं। जंघा के उत्तर-पश्चिम और दक्षिण भागों में छह भित्ति-स्तंभ निर्मित किये गये हैं। इनमें से तीन मध्यवर्ती प्रक्षेप के एक ओर हैं तथा तीन दूसरी ओर। अंतिम भित्ति-स्तंभ में एक देव-कुलिका है, जो पार्श्व देवताओं के लिए बनायी गयी थी (वे अब उसमें नहीं हैं)। शीर्षभाग के दो गोटों – खुरा और उल्टे खुरा – के अतिरिक्त भित्ति-स्तंभों का शेष भाग सपाट है। बरण्ड एक प्रक्षिप्त गोटा है, जिसके ऊपर बाड और शिखर को पृथक् करनेवाले अंतराल पर गोटों की एक ऐसी श्रृंखला निर्मित है जो मंदिर के शिखर का रूप ले लेती है। इनमें से अब पाँच ही गोटे शेष हैं।
>
> 'मध्यवर्ती प्रक्षेप का मुखभाग (पूर्वी) शेष भागों से अधिक मोटा है और उसी में प्रवेश-द्वार है। द्वार के ऊपर पाँच अप्रकट धरनें हैं, जिनके ऊपर एक सरदल है, जो मध्यवर्ती प्रक्षेप की पूरी चौड़ाई तक फैला हुआ है।
>
> 'मंदिर की रूपरेखा त्रि-रथ शैली में है। इसका अन्तःभाग ४' २" (१·४० वर्ग मीटर) वर्गाकार है। भित्तियों की मोटाई २' १" (६३ सें० मी०) है, जिससे कि बहिर्भाग अन्तःभाग की अपेक्षा द्विगुणित हो गये हैं। मंदिर के अन्तःभाग में दो शिला-पट्टों से निर्मित गर्भ-मुद (गर्भगृह का निम्नतम वितान) के भीतर की ओर बढ़ती हुई धरनें हैं। गर्भ-मुद के ऊपर कम से कम एक कोठरी और थी, जिसमें प्रवेश के लिए द्वार के सरदल पर संकीर्ण प्रवेशमार्ग बनाया गया है।'

इस ग्राम में उपर्युक्त अवशेषों के अतिरिक्त, इसी युग की कुछ और खण्डित जैन मूर्तियाँ हैं।

अंबिकानगर के सामने चिटगिरि में कुछ जैन अवशेष हैं, जिनमें कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थंकर की एक मूर्ति भी है। इसके पादपीठ पर अंकित लांछन हरिण-जैसा प्रतीत होता है, अतएव यह तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमा हो सकती है।

अंबिकानगर के पूर्व में लगभग ४ किलोमीटर दूर स्थित बरकोला जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जैसा कि इस स्थान पर विद्यमान अवशेषों से विदित होता है। इस स्थान से प्राप्त उल्लेखनीय अवशेषों में अपनी सामान्य विशेषताओं से युक्त एक अंबिका की मूर्ति है, जिसमें नीचे लटकते हुए उसके

वायें हाथ को पकड़े एक वालक और कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो तीर्थंकर-मूर्तियाँ भी हैं जिनके लांछन अव अस्पष्ट हो गये हैं। तथापि उनमें से एक या तो सुविधिनाथ की हो सकती है या अजितनाथ की। सामान्यतः चतुर्मुख या चौमुख कहे जानेवाले दो लघु मंदिर भी यहाँ देखे गये थे। उनमें से जो अधिक सुरक्षित वच गया है, उसके चारों ओर त्रिपर्णी तोरणाकृतियों के भीतर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है; उनमें से लांछनों द्वारा पहचाने गये तीन तीर्थंकर हैं –– ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ और शान्तिनाथ, किन्तु चौथे का लांछन स्पष्ट नहीं रह गया है। जैसा कि मित्रा का विचार है, ये एक ही पाषाण से वने मंदिर इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनसे उत्तर भारत की रेख-शैली के मंदिरों के स्थापत्य-संबंधी आकार और लक्षणों का परिज्ञान होता है, 'जिनमें लंवाकार वाड रूपरेखा में पाभाग के लिए निर्मित दो गोटों के साथ एक त्रि-रथ, तथा क्रमशः संकीर्ण होते जानेवाले खुराकार गोटों की पंक्ति से वन जानेवाला पंच-पग शिखर होता है और एक ऐसी उत्तुंग बेलनाकार ग्रीवा होती है, जिसपर एक अनुपातहीन आमलक होता है। आमलक के ऊपर स्तूपाकार शिखर होता है।'

अंविकानगर से उत्तर-पश्चिम में तीन किलोमीटर दूर स्थित परेशनाथ नामक ग्राम में पार्श्वनाथ का (जिनके नाम पर इस ग्राम का नामकरण हुआ) मंदिर था, जिसकी अव केवल चौकी ही शेष वची है। सुघड़ और सौम्य शिल्पांकनयुक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति अव खण्ड-खण्ड हो गयी है। परेशनाथ के पास चियादा में भी कुछ तीर्थंकर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

अंविकानगर के उत्तर में ११ किलोमीटर दूर स्थित केंदुआ एक समय जैन कला और धर्म का उन्नतिशील केन्द्र रहा, जहाँ अव एक जैन प्रतिष्ठान के भग्नावशेष ही विद्यमान हैं। यह संपूर्ण क्षेत्र पाषाण निर्मित एक मंदिर के वास्तुखण्डों से भरा पड़ा है। यह मंदिर कदाचित् पार्श्वनाथ का था, क्योंकि उसके पास उनकी एक सुंदर मूर्ति पड़ी है, जिसका ऊपर का भाग टूट गया है।

पश्चिम वंगाल और विहार के सीमावर्ती जिलों, विशेषतः धनवाद और पुरुलिया के कई स्थानों पर जैन मंदिर मिले हैं, जिनमें से वहुत से अव भग्न हो चुके हैं। इनमें से ये स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: चारा, संका, सेनेरा, वोरम, वलरामपुर, पलमा, अरसा, देवली, पाकवीरा, लाठोंडूंगरी और डुल्मी। दामोदर, कंगसावती और सुवर्णरेखा नदियों की घाटियों में जैन धर्म का व्यापक विकास हुआ। वहाँ तीर्थंकरों और शासन-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ तो मिली ही हैं, अनेक जैन मंदिरों के अवशेष भी विद्यमान हैं।[1]

पुरुलिया जिले के देवली ग्राम में एक पंचायतन मंदिर-समूह था (चित्र ८९ क)। इस क्षेत्र से अरनाथ की एक पूर्णाकार मूर्ति प्राप्त हुई थी। देवली के समीप ही जोरापुकुर नामक स्थान में भी अनेक जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं।

---

[1] वावू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ. 1967. कलकत्ता. पृ 150 तथा परवर्ती पृष्ठों में एस सी मुखर्जी के विचार.

उसी जिले में, जैन मंदिरों और मूर्तियों की दृष्टि से पाकबीरा सभी स्थानों से अधिक समृद्ध रहा है। यहाँ प्राप्त मूर्तियाँ अब एक छतरी में रखी हैं। इनमें महावीर, पार्श्वनाथ, कुन्थुनाथ, नेमिनाथ, शांतिनाथ और ऋषभनाथ की मूर्तियाँ सम्मिलित हैं और अधिकतर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों की हैं, किन्तु महावीर की एक मूर्ति पर नौवीं शती का छोटा-सा अभिलेख है। पाकबीरा से प्राप्त अभिलेखांकित मूर्तियों में एक शांतिनाथ (चित्र ८४ क) की है, जो पुरालिपि-विज्ञान के आधार पर ग्यारहवीं शती की मानी जा सकती है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकर-युगल पंखुड़ियोंवाले कमल पर खड़े हैं, जो सप्तरथ पादपीठ पर बना है, जिसके चारों ओर ऊपर नीचे के किनारे शिल्पांकित हैं। लांछन हरिण पादपीठ के मध्य में अंकित है। दे ने इस मूर्ति का विवरण लिखा है; इसके पादपीठ पर उत्कीर्ण लघु आकृतियों में से एक को उन्होंने शिशुओं का अधिष्ठाता देव मेषमुख नैगमेषी और चार को अंजलि-मुद्रा में आसीन नारी-आकृतियाँ माना है।[1] दे लिखते हैं कि पादपीठ के नीचे बायीं ओर कलश और दायीं ओर शिवलिंग का अंकन है। एक जैन मूर्ति के पादपीठ पर प्रतीक के रूप में लिंग का अंकन एक विशेष बात है। साथ ही, युगल-पंखुड़ियोंवाले कमल पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में ऋषभनाथ की मूर्ति एक उत्कृष्ट कलाकृति है। उदात्त मुखाकृति सहित शरीर का समचतुरस्र संस्थान, कुशलता से गूँथा गया जटाजूट और अन्य विशेषताएँ इस मूर्ति की भव्यता में वृद्धि करते हैं। इसी कुशलता से दोनों ओर एक-एक चमरधारी अनुचर का अंकन है। जैसा कि प्रायः देखा जाता है, इस मूर्ति के पिछले शिलापट्ट के शीर्षभाग पर भी चौबीस तीर्थंकर-मूर्तियाँ, दोनों ओर बारह-बारह की पंक्ति में, उत्कीर्ण की गयी हैं; साथ में उड़ते हुए गंधर्व और दुंदुभि या करताल बजाते हुए हाथ दिखाये गये हैं। अनुचर आकृतियों के आभूषणों और शारीरिक सौष्ठव की संयोजना में कलाकार की उस उत्कृष्ट कोटि की प्रतिभा का परिचय मिलता है जिसके द्वारा वह इन आकृतियों के माध्यम से मूर्तिशास्त्रीय विधानों और सौंदर्यशास्त्रीय व्यावहारिकता की संगति बिठा सका। कलाकार की सिद्धहस्तता पार्श्वनाथ के मूर्त्यंकन में भी देखी जा सकती है (चित्र ८४ ख) जिसका अब केवल नीचे का भाग ही शेष बचा है, और जो नौवीं-दसवीं शताब्दियों की कृति है। चमरधारियों तथा एक-दूसरे के पुच्छ भागों को परस्पर गुंथित किये दो, नागिनें मूर्तन की उस परम उत्कृष्टता की द्योतक हैं, जो कोई कलाकार तीर्थंकर-मूर्तियों के अंकन में गुप्त-कला की गरिमा के प्रतिबिम्बन द्वारा प्रस्तुत कर सकता था। पाकबीरा से प्राप्त अन्य उल्लेखनीय पुरावशेषों में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों की ऋषभनाथ की अनेक मूर्तियों के अतिरिक्त एक खड़ी अंबिका की और एक यक्ष की मूर्तियाँ तथा एक शांतिनाथ की मूर्ति के नीचे का खण्डित भाग सम्मिलित है।

पश्चिम बंगाल के अन्य जिलों में भी पूर्व मध्यकाल की जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

उड़ीसा

उड़ीसा में यद्यपि पूर्वकाल के जैन पुरावशेष कम हैं, आरंभिक मध्यकाल के अवशेष बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। विचाराधीन अवधि में इस धर्म की लोकप्रियता के संदर्भ में ह्वेनसांग

---

[1] जैन जर्नल. 5, 1; 1970; 24-25 में सुधीन दे.

का विवरण उद्धृत किया जा सकता है : ‘नास्तिकों में सर्वाधिक संख्या निर्ग्रंथों की है · · · निर्ग्रंथ और उनके अनुयायी निर्वस्त्र भ्रमण किया करते थे, और अपने केशों को क्रूरता से उखाड़ने, शरीर को मलिन रहने देने और नदी के तट पर खड़े सूखे वृक्ष की भाँति अपने पैरों को कठोर हो जाने देने में अपनी महत्ता जताते हुए, वे लोगों का ध्यान आकर्षित किया करते थे ।’[1] लगभग उसी अवधि के शैलोद्भव राजा धर्मराज (छठी/सातवीं शताब्दी) के वानपुर-ताम्रलेख में उनकी रानी कल्याण देवी के द्वारा एकशत-प्रवुद्धचंद्र नामक जैन मुनि को कुछ भूमि दान में दिये जाने का उल्लेख है ।[2] उड़ीसा में जैन धर्म की दिगंबर परंपरा प्रचलित थी ।

इस युग में उड़ीसा के विभिन्न भागों में जैन धर्म, कला और संस्कृति के प्रचलन को सिद्ध करनेवाले पुरावशेष विपुल मात्रा में हैं। कालक्रमानुसार, आठवीं शती में पोड़ासिंगिडी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र रहा । क्योंझर जिले के आनंदपुर उपखण्ड में बौला पर्वतश्रेणियों के वनों में स्थित इस स्थान से अनेक जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिन्हें जोशी द्वारा प्रकाश में लाया गया है ।[3] इन मूर्तियों में अद्वितीय हैं, ऋषभनाथ की अभिलेखांकित पद्मासन मूर्तियाँ और अभिलेखरहित खड्गासन मूर्तियाँ, उड़ीसा में ऋषभनाथ की पूजा का विशेष प्रचलन रहा प्रतीत होता है ।

अभिलेखांकित मूर्ति (चित्र ८५ क) ध्यान-मुद्रा में कमलपुष्पयुक्त पादपीठ पर आसीन दिखायी गयी है । पादपीठ पर वृषभ-चिह्न अंकित है । वृषभ के सामने दीपक अंकित किया हुआ प्रतीत होता है और श्रद्धावनत दो भक्त करवद्ध घुटनों के वल वैठे हैं । ऊपर, दोनों ओर एक-एक मालाधारी गंधर्व उड़ता दिखाया गया है । तीर्थंकर के शीर्ष के पीछे प्रभामण्डल है । मूर्ति का समचतुरस्र संस्थान, ध्यान का संकेत करते अर्धनिमीलित नेत्र, कुंतल केश, ऊष्णीष और लंबे कर्ण गुप्त-कला की परंपरा के हैं । मूर्ति के दायें हाथ के पास चार पंक्तियों का एक छोटा-सा अभिलेख है, जिससे ज्ञात होता है कि ऋषभ-भट्टारक की इस मूर्ति का दान इढक (?) ने किया था । जोशी का विचार है कि पादपीठ पर वृषभ के सामने अंकित भक्त-युगल भरत और वाहुवली हो सकते हैं । उड़ीसा में अवतक प्राप्त मूर्तियों में यही प्राचीनतम अभिलेखांकित मूर्ति है ।

कायोत्सर्ग-मुद्रा में ऋषभनाथ की एक अन्य मूर्ति दो सिंहों पर आधारित कमलपुष्पयुक्त पादपीठ पर स्थित है । पादपीठ के ठीक नीचे लांछन वृषभ अंकित है । ऋषभनाथ के दोनों ओर, उतनी ही दक्षता से उत्कीर्ण एक-एक चमरधारी और हाथ में माला लिये हुए एक-एक उड़ता हुआ गंधर्व

---

[1] वील (एस). **लाइफ ऑफ ह्वेनसांग**. 1888. लंदन. पृ 162. / वील, पूर्वोक्त, खण्ड 2, 1884, पृ 208.

[2] **बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ**. पृ 170 पर के एस वेहरा.

[3] जोशी (अर्जुन). ए युनीक वृषभ इमेज फ्रॉम पोड़ासिंगडी. **उड़ीसा हिस्टॉरिकल रिसर्च जर्नल**. 10, 3; 1961, 74 तथा परवर्ती. / जोशी (अर्जुन). फर्दर लाइट ऑन द रिमेन्स ऑफ पोड़ासिंगडी. वही. 10, 4; 1962; 30 तथा परवर्ती.

अंकित हैं। मस्तक के ऊपर छत्र है और संगीत-वाद्य वजाते हाथ दिखाये गये हैं। मस्तक के पीछे गोलाकार प्रभामण्डल है।

इस मूर्ति में भी गुप्त-कला के परंपरागत लक्षण हैं; यथा, अर्धनिमीलित नेत्र, लंवे कर्ण और कंधों पर लहराती कुछ जटाओंवाला जटाजूट। शरीर समचतुरस्र और सौम्य है। शैलीगत आधार पर यह मूर्ति भी उसी अवधि अर्थात् आठवीं शती की हो सकती है जिसकी ऋषभनाथ की उपर्युक्त पद्मासन-मूर्ति है।

पोड़ासिंगडी में अब भी बहुत-सी जैन मूर्तियाँ पड़ी हैं, जिनमें पार्श्वनाथ, अंबिका आदि की मूर्तियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त, इसी स्थान से श्रीनिवासन भी पार्श्वनाथ, महावीर, अंबिका आदि की कुछ मूर्तियाँ लाये थे, जिन्हें उन्होंने आनंदपुर के पंचभवन के सामने सीमेंट की चौकियों पर स्थापित करवा दिया है।

बालासोर जिले के भद्रक रेलवे स्टेशन के उत्तर में कुछ मील दूरी पर स्थित चरंपा नौवीं-दसवीं शताब्दियों में जैन कला और संस्कृति का एक और महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा, जहाँ की अनेक आकर्षक जैन मूर्तियों की सूचना मिलती है। उनमें से चार, जो अब राज्य संग्रहालय भुवनेश्वर में संगृहीत हैं, की अपनी ही शैली है।

दास ने इनके विषय में लिखा है।[1] उनमें से एक कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित ऋषभनाथ की है, जिसके सुंदर जटाभार की कुछ लटें कंधों पर झूल रही हैं। अन्य अनेक मूर्तियों की भाँति उनके एक ओर भरत और दूसरी ओर बाहुबली का अंकन हुआ है। साथ ही इस मूर्ति में भी मस्तक के पीछे ऊपर उड़ते हुए गंधर्व दिखाये गये हैं। मूर्ति के पिछले शिलापट्ट पर अष्टग्रह उत्कीर्ण किये गये हैं। पादपीठ के नीचे बृषभ-चिह्न अंकित है।

शेष तीन मूर्तियों में अजितनाथ, शांतिनाथ (चित्र ८५ क) और महावीर की मूर्तियाँ हैं। इन सब की विशेषता यह है कि इनपर गहरे कटाव के चिह्न हैं। यह चिह्न अकारण लगे हुए नहीं हो सकते पर इनके होने का अभिप्राय बता पाना कठिन है। यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि इन चिह्नों के द्वारा कलाकार ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया हो कि तीर्थंकर को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने के लिए कैसी कठोर साधना करनी पड़ती है।

दूसरी मूर्ति पद्मासन ध्यान-मुद्रा में स्थित अजितनाथ की है। उनके दोनों ओर नीचे एक-एक चमरधारी और ऊपर एक-एक मालाधारी गंधर्व उड़ते हुए दिखाये गये हैं। मस्तक के ऊपर छत्रत्रय

---

[1] दास (महेश पी). जैन एण्टिक्विटीज फ्रॉम चरंपा. उड़ीसा हिस्टॉरिकल रिसर्च जर्नल. 11, 1; 1962; 50 तथा परवर्ती.

और कल्पवृक्ष हैं। मस्तक पर केश जटाजूट के रूप में प्रस्तुत हैं। पादपीठ के नीचे गजचिह्न अंकित हैं। दास ने इस मूर्ति में एक उल्लेखनीय विशेषता यह बतायी है कि इसमें अजितनाथ को ध्यानासन में दिखाया गया है, जबकि जैन परंपरा के अनुसार उन्हें और संभवनाथ तथा अभिनंदननाथ को खड्गासन में दिखाया जाना चाहिए।

शांतिनाथ की मूर्ति भी ध्यानासन में है। चमरधारी और गंधर्व उसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जिस प्रकार अजितनाथ की मूर्ति में। इन दोनों तीर्थंकर-मूर्तियों की केश-सज्जा भी एक जैसी है। शांतिनाथ के पादपीठ के नीचे उनका लांछन हरिण उत्कीर्ण है।

चरंपा से प्राप्त अंतिम मूर्ति कायोत्सर्ग-मुद्रा में महावीर की है। इस मूर्ति का मुख टूट-फूट गया है। लांछन सिंह पादपीठ के दोनों कोनों पर उत्कीर्ण हैं। सिंहों के मस्तक पर उत्कीर्ण कमलों पर एक-एक चमरधारी तीर्थंकर के दोनों ओर खड़े हैं।

उड़ीसा राज्य संग्रहालय के सुरक्षित संग्रह में इस राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त लगभग दसवीं शती की कुछ महत्त्वपूर्ण जैन प्रस्तर-मूर्तियाँ हैं। उनमें बालासोर जिले के जालेश्वर से प्राप्त एक शांतिनाथ की मूर्ति, एक चौमुख और एक सुपार्श्वनाथ की मूर्ति; तिगिरिया से प्राप्त महावीर-मूर्ति का एक खण्ड, किसी अज्ञात स्थान से प्राप्त पार्श्वनाथ-मूर्ति और कोंरापट से प्राप्त अंबिका-मूर्ति सम्मिलित है। सुपार्श्वनाथ की मूर्ति में पंच-फणावलि और पार्श्वनाथ की मूर्ति में सप्त-फणावलि परिचय-प्रतीकों के रूप में अंकित किये गये हैं।

इस संग्रहालय में वानपुर से प्राप्त कांस्य मूर्तियों का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समूह भी संगृहीत है। उनमें मुख्य हैं (१) आम्रवृक्ष के नीचे बैठी, गोद में बालक को लिये अंबिका, (२) वृक्ष की शाखा को पकड़कर खड़ी अशोका या मानवी जिसके आसन पर रीछ अंकित है, (३) सप्त-फणावलियुक्त पार्श्वनाथ, (४) सर्प-लांछन से अंकित पादपीठ पर खड़े पार्श्वनाथ और (५) कमल-पुष्पयुक्त पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े आदिनाथ की सुंदर मूर्ति। इस समूह में आदिनाथ की मूर्ति उत्कृष्ट कला-कौशल का एक उदाहरण है जिसका सुंदर जटाभार, शांत मुखमुद्रा और शरीर का सौम्य गठन उल्लेखनीय है। उसपर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार वह किसी श्रीकर का उपहार है।

वानपुर-समूह की मूर्तियों में जो दक्षतापूर्ण कला-कौशल है उसकी तुलना नालंदा और कुर्किहार की मूर्तियों से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनपर अबतक किसी ने यथोचित प्रकाश नहीं डाला है। दुर्भाग्य से उनके अच्छे चित्र यहाँ प्रदर्शन के लिए प्राप्त नहीं किये जा सके।

मध्यकाल में खण्डगिरि उड़िसा में जैन कला का कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ, मुनियों के आवास के लिए बहुत पहले काटी गयी कुछ गुफाओं को (अध्याय ७) अलग से लाकर

(क) सुरोहोर — तीर्थंकर ऋषभनाथ

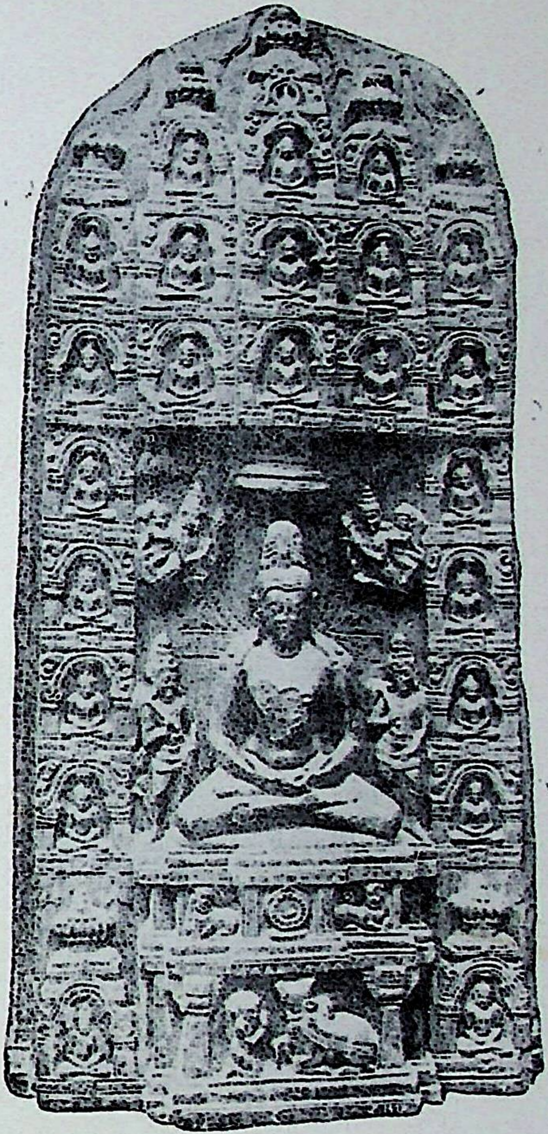

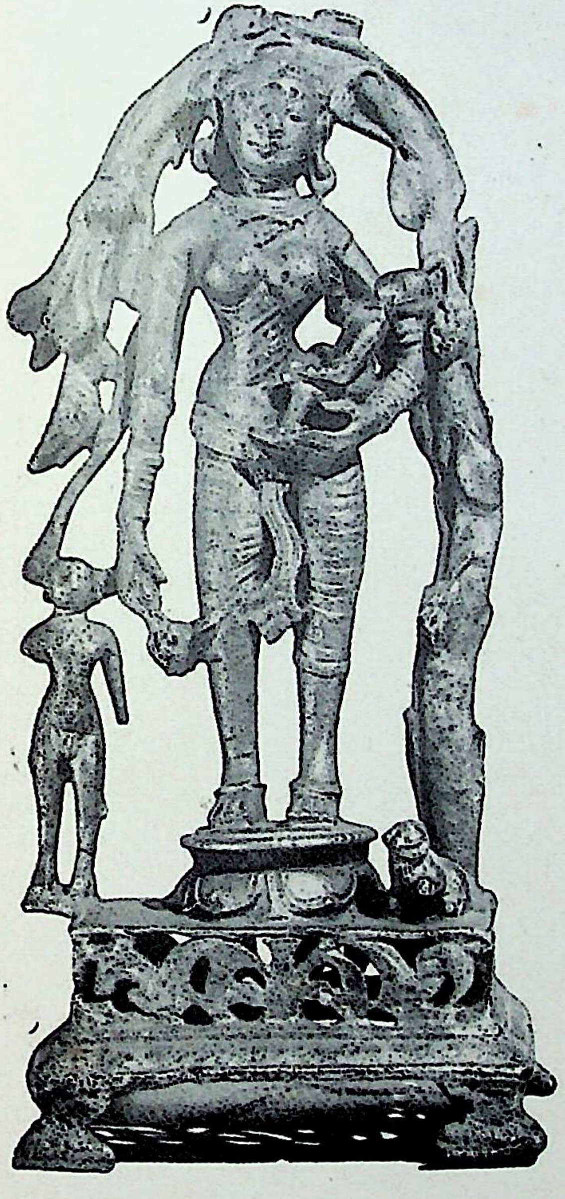

(ख) नालगोड़ा — अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति

चित्र 81

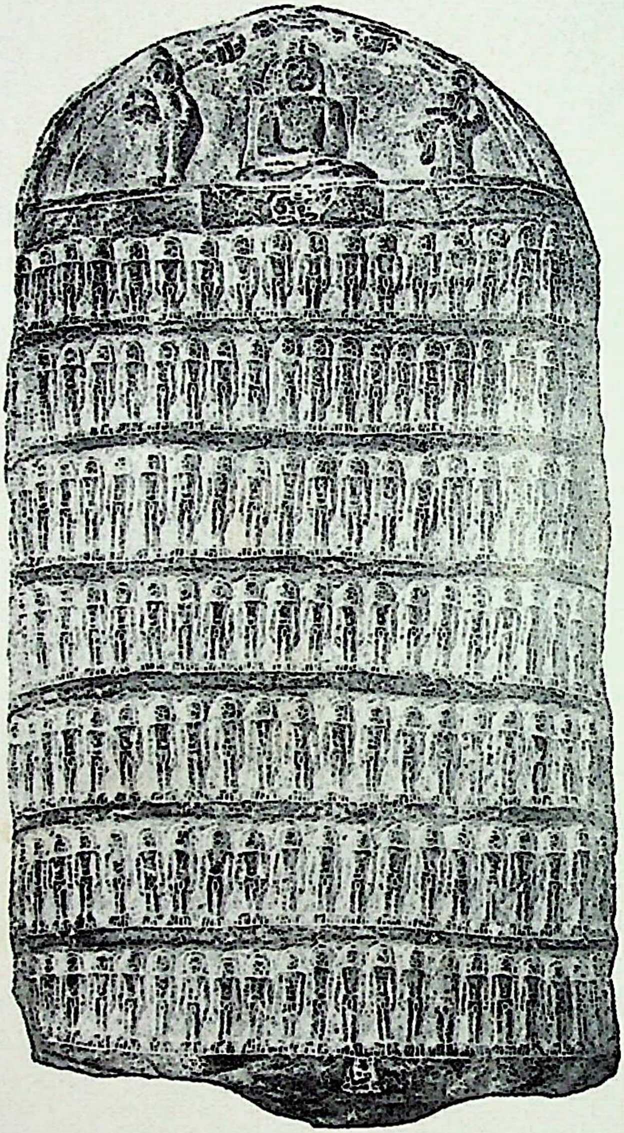

(क) सात देउलिया — अष्टापद-तीर्थ

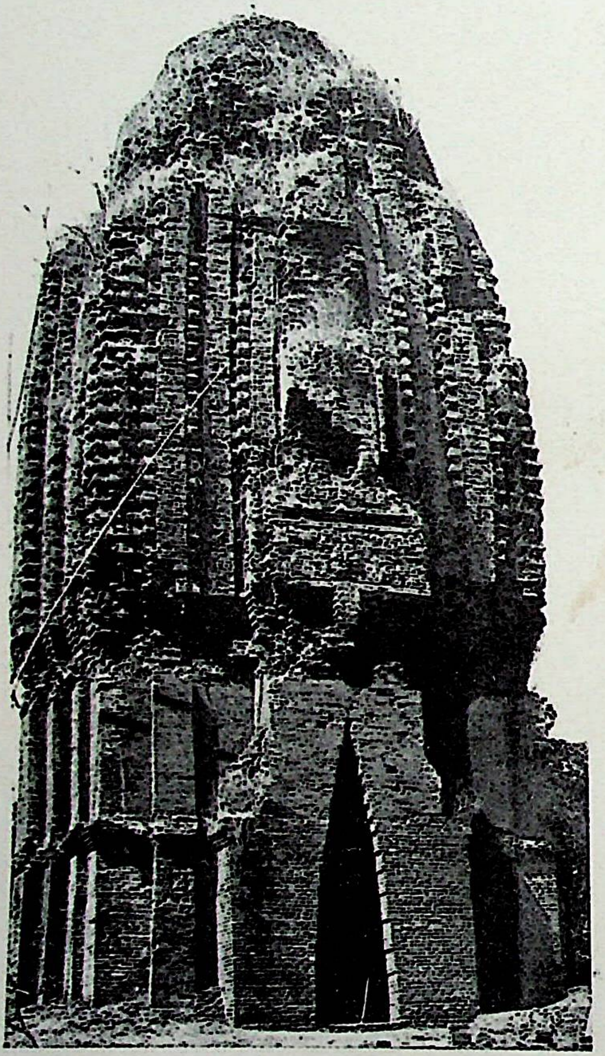

(ख) सात देउलिया — मंदिर

चित्र 82

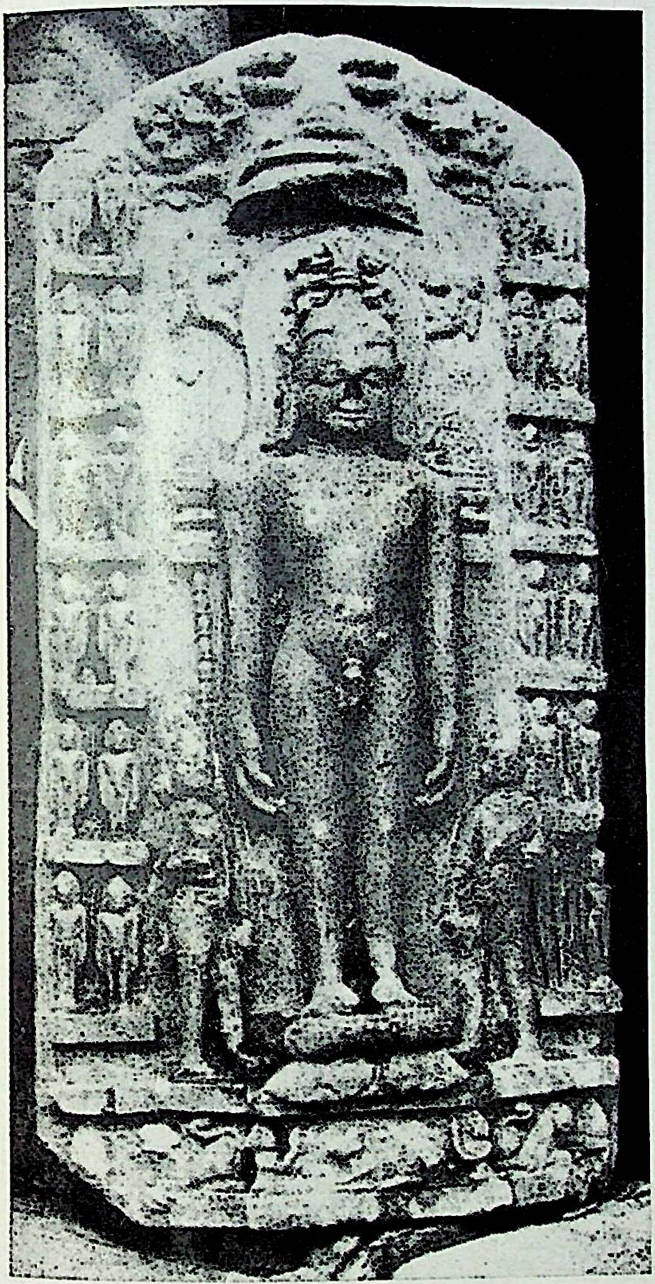

(क) अम्बिकानगर — तीर्थंकर ऋषभनाथ

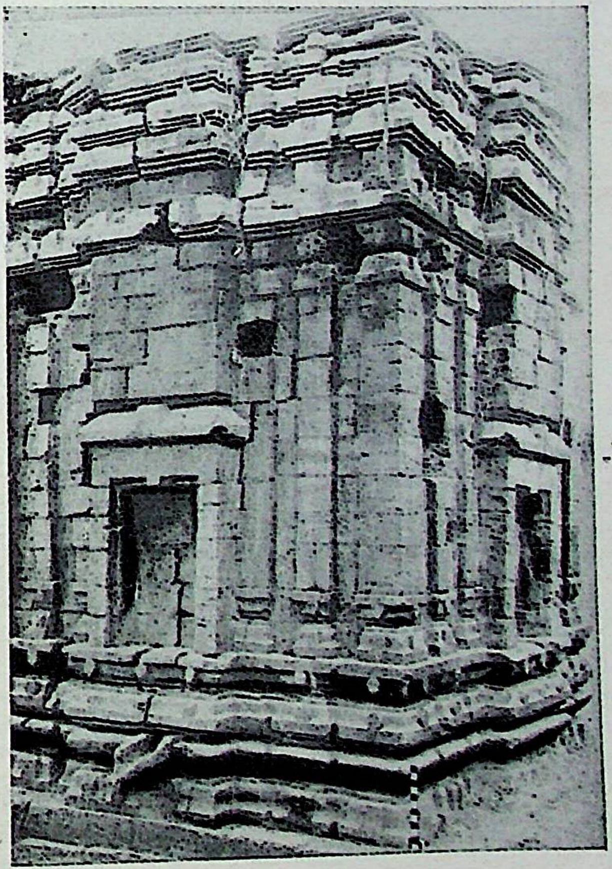

(ख) अम्बिकानगर — मन्दिर

चित्र 83

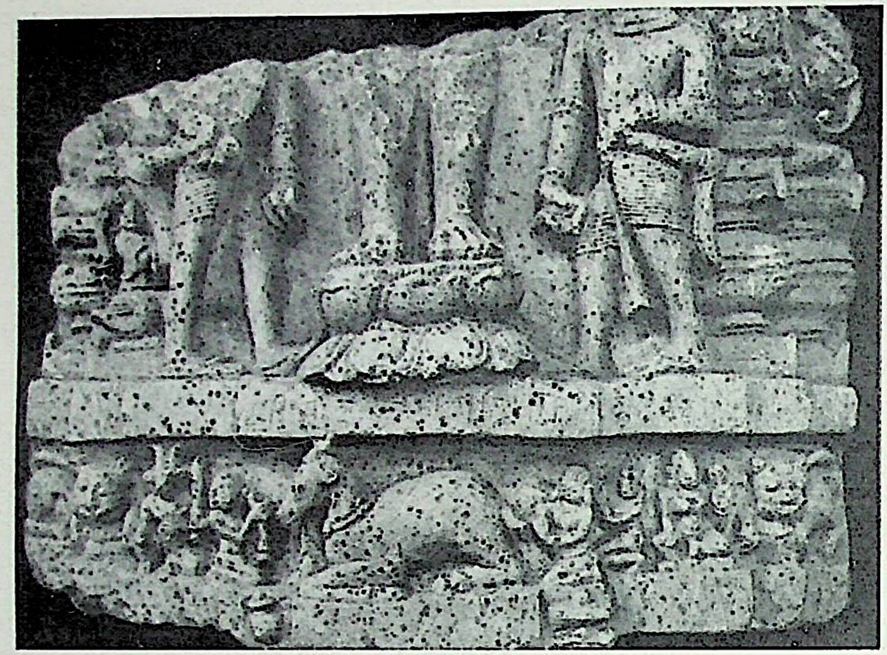

(क) पाकवीरा — तीर्थंकर शान्तिनाथ, अधो भाग

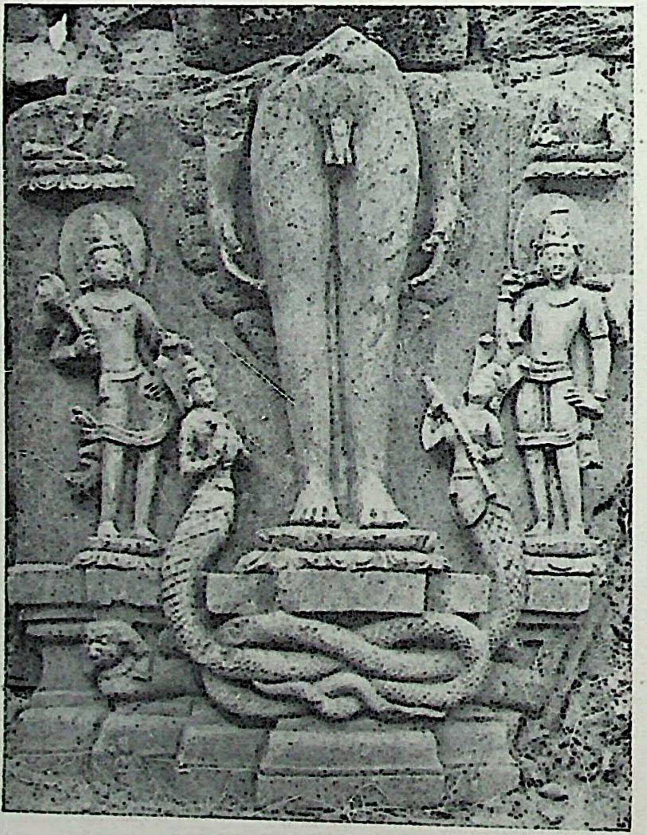

(ख) पाकवीरा — तीर्थंकर पार्श्वनाथ, अधो भाग

चित्र 84

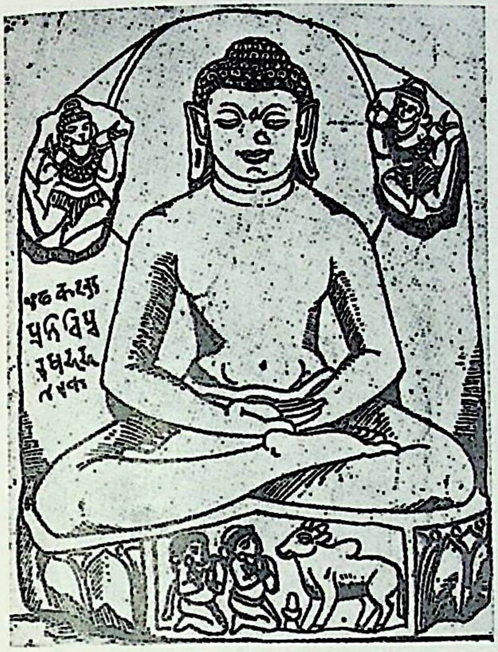

(क) पोड़ासिंगिडी — तीर्थंकर ऋषभनाथ

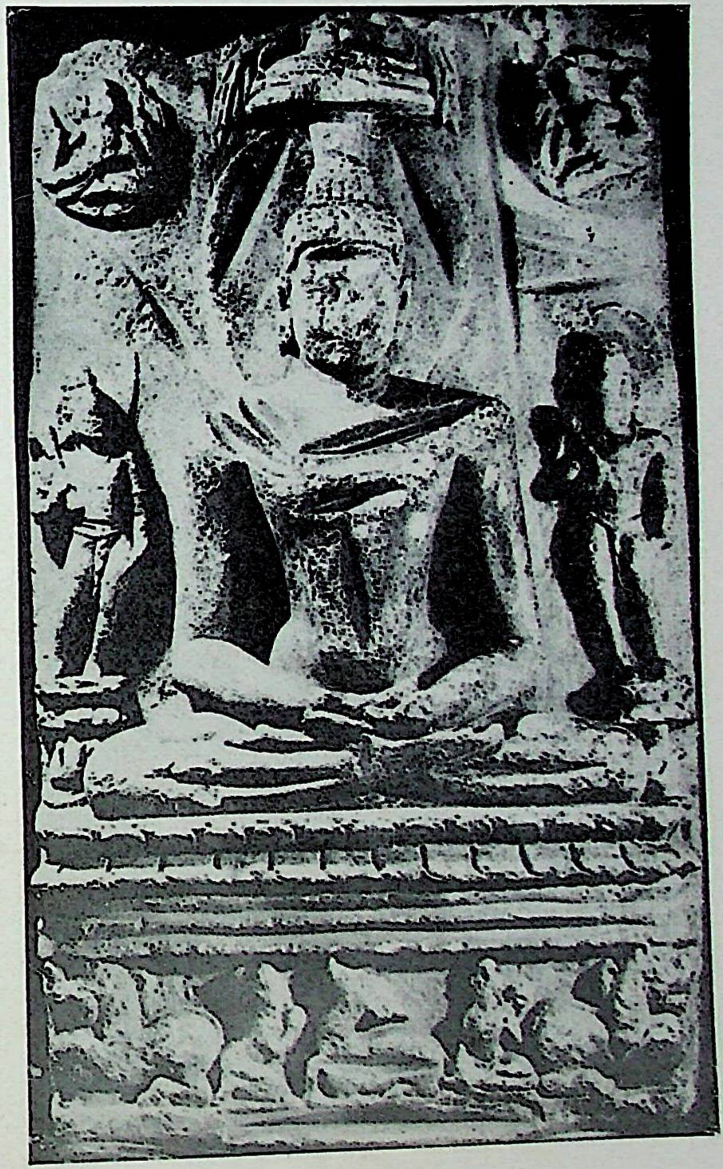

(ख) चरम्पा — तीर्थंकर शान्तिनाथ
(भुवनेश्वर संग्रहालय)

चित्र 85

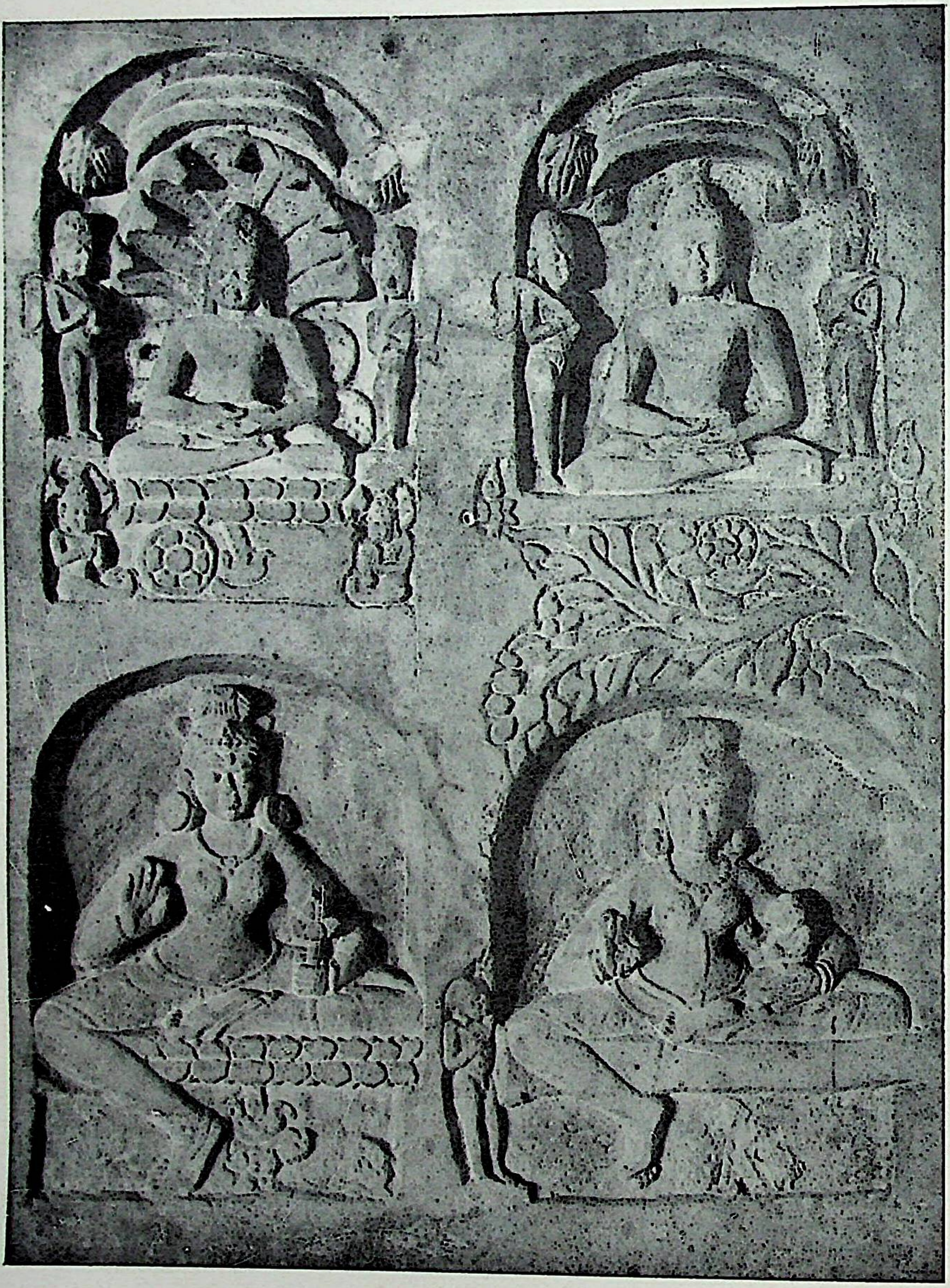

खण्डगिरि — गुफा सं० 8, तीर्थंकर पार्श्वनाथ और नेमिनाथ, अधोभाग में अंकित यक्षियां

चित्र 86

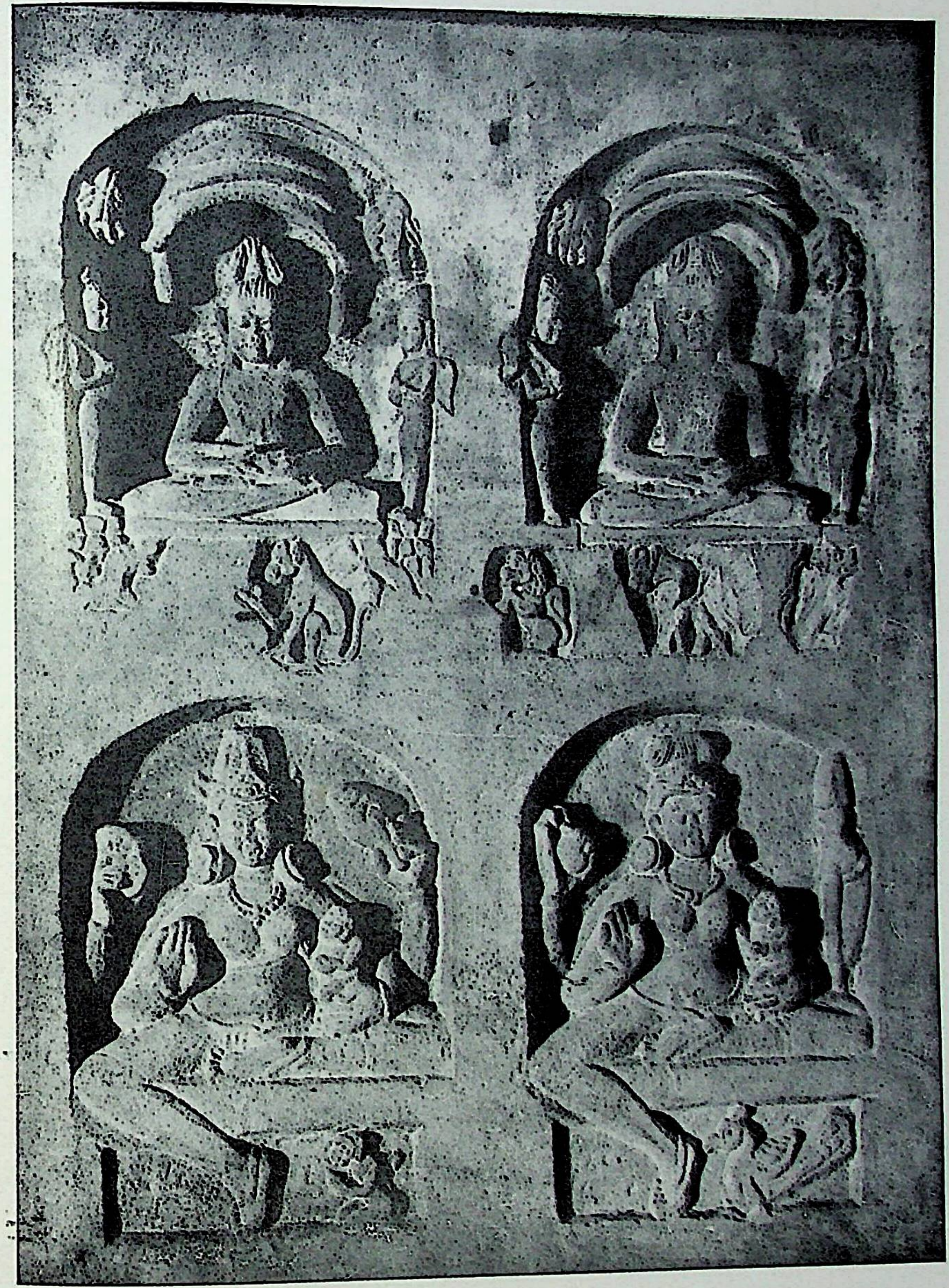

खण्डगिरि — गुफा सं० 8, तीर्थंकर अभिनन्दननाथ और सम्भवनाथ, अधोभाग में अंकित यक्षियां

चित्र 87

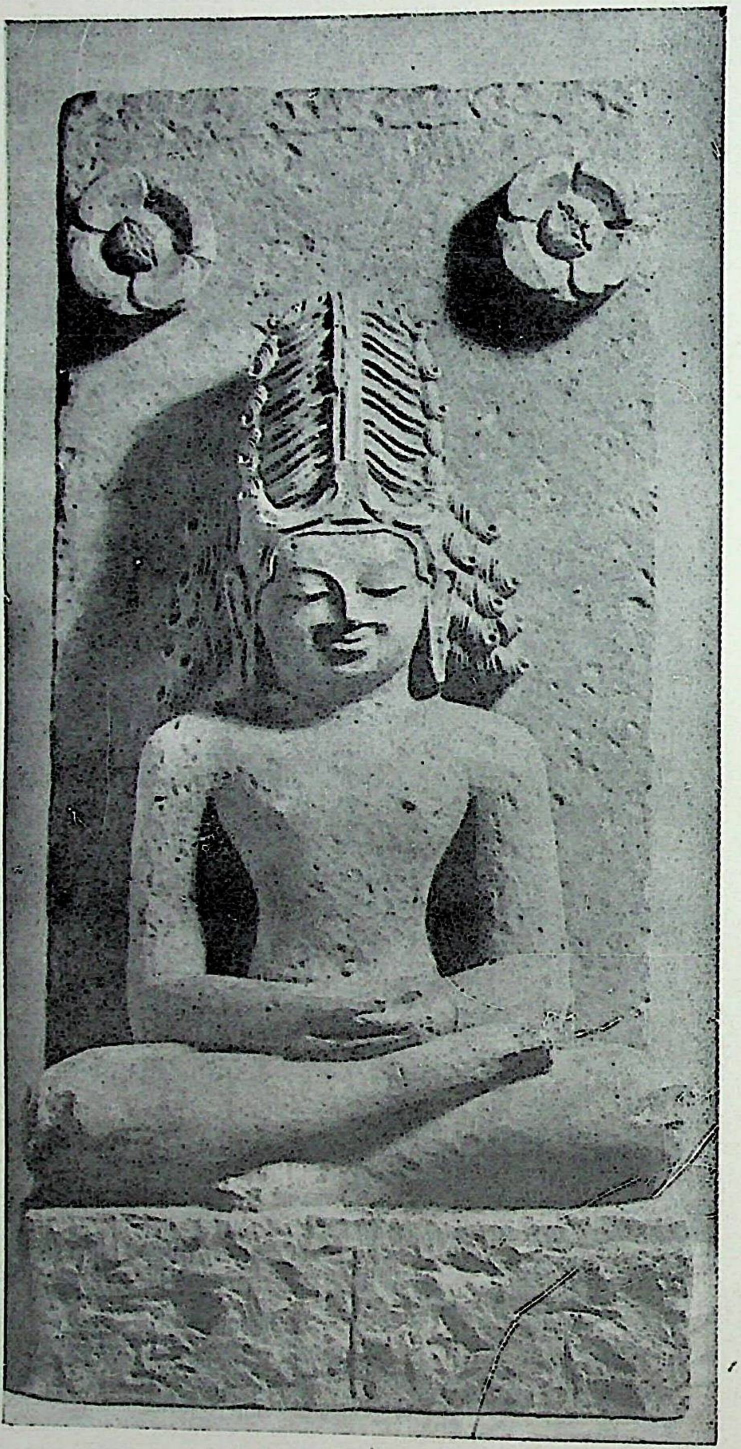

मयूरभंज — तीर्थंकर ऋषभनाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)

चित्र 88

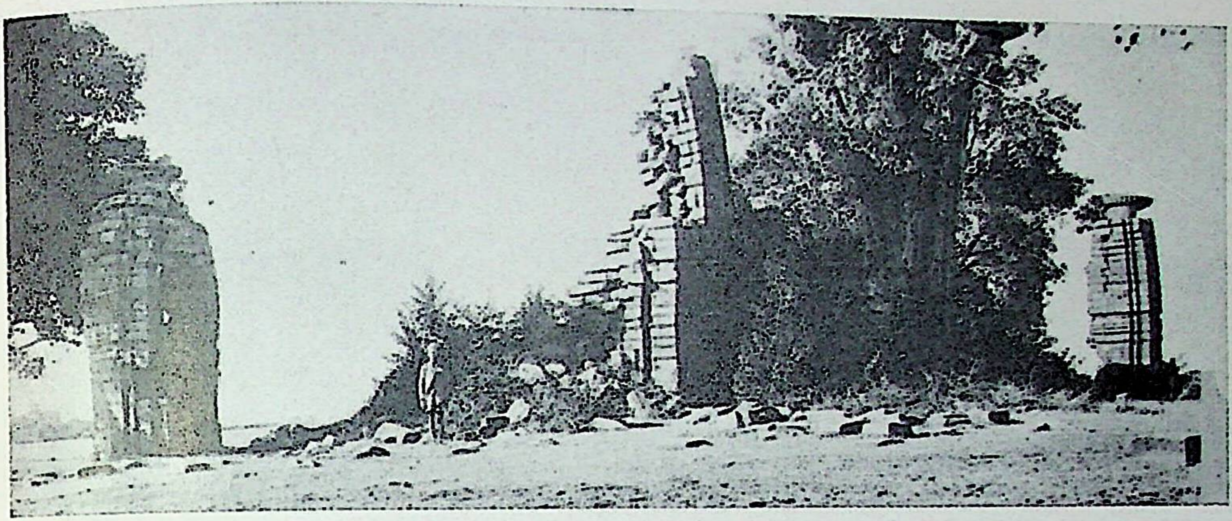

(क) देवली — पंचायतन मंदिर

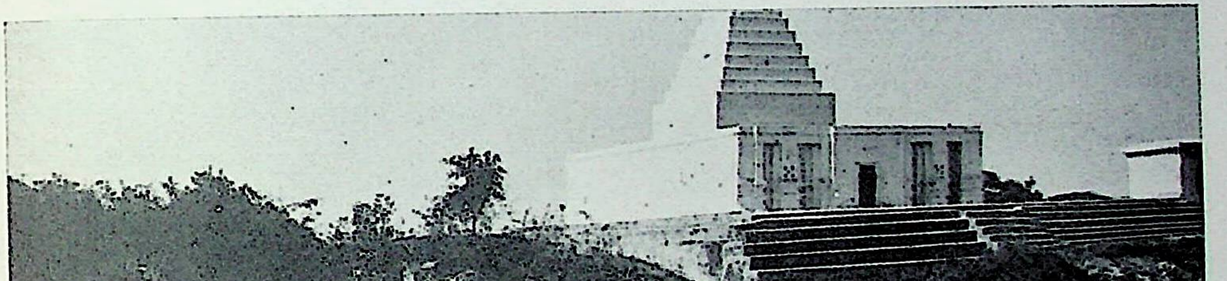

(ख) राजगिरि — वैभार पर्वत स्थित मंदिर

चित्र 89

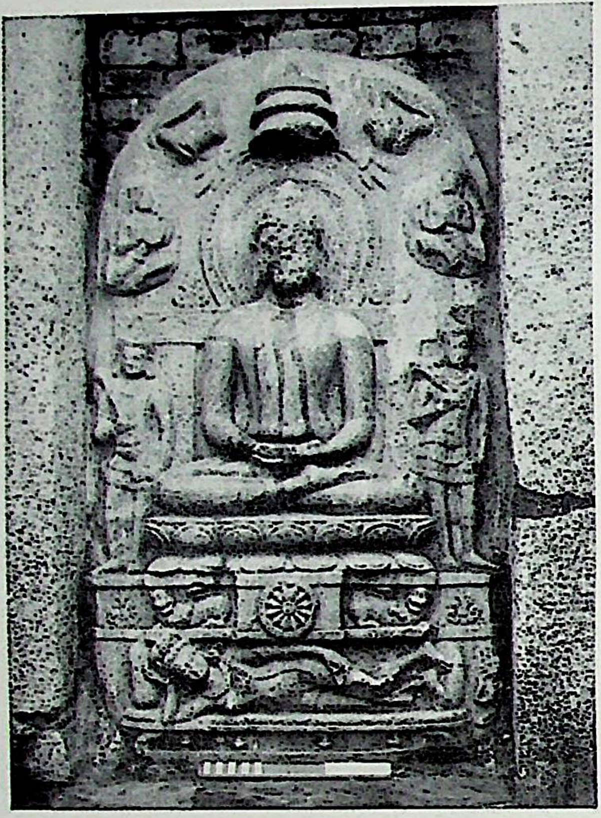

(क) राजगिरि — बहुरुपिणी यक्षी के साथ तीर्थंकर मुनिसुव्रत

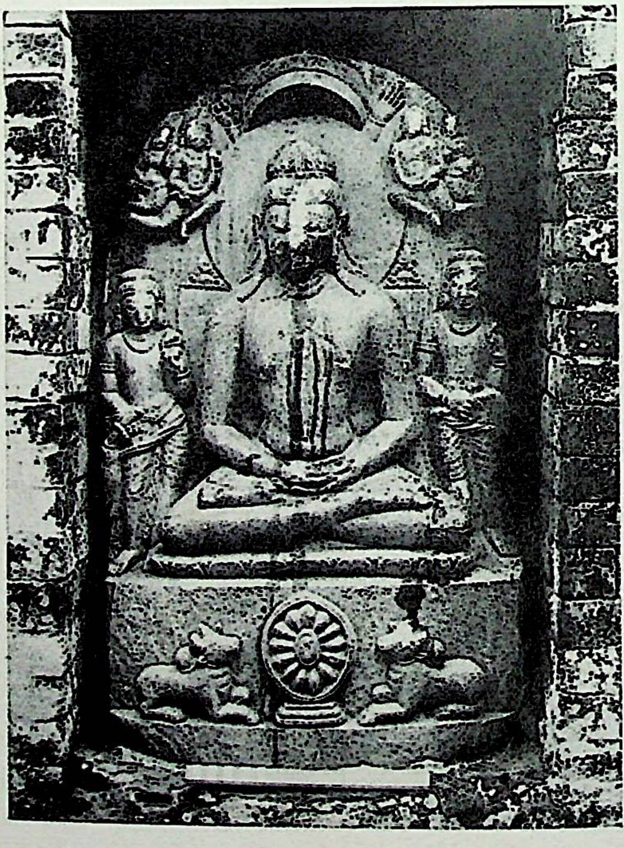

(ख) राजगिरि — वैभार पर्वत पर तीर्थंकर ऋषभनाथ

चित्र 90

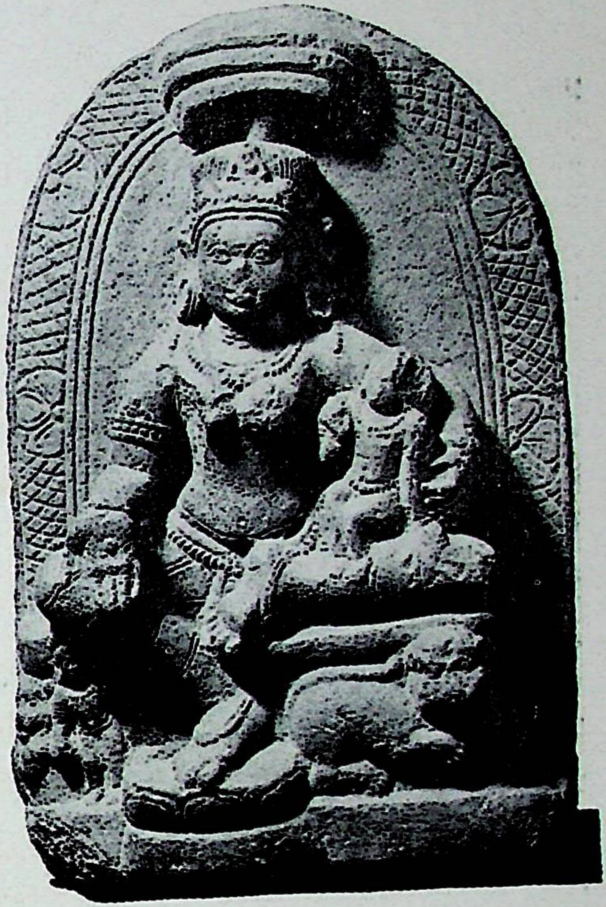

(क) बिहार — अम्बिका यक्षी (नाहर संग्रह)

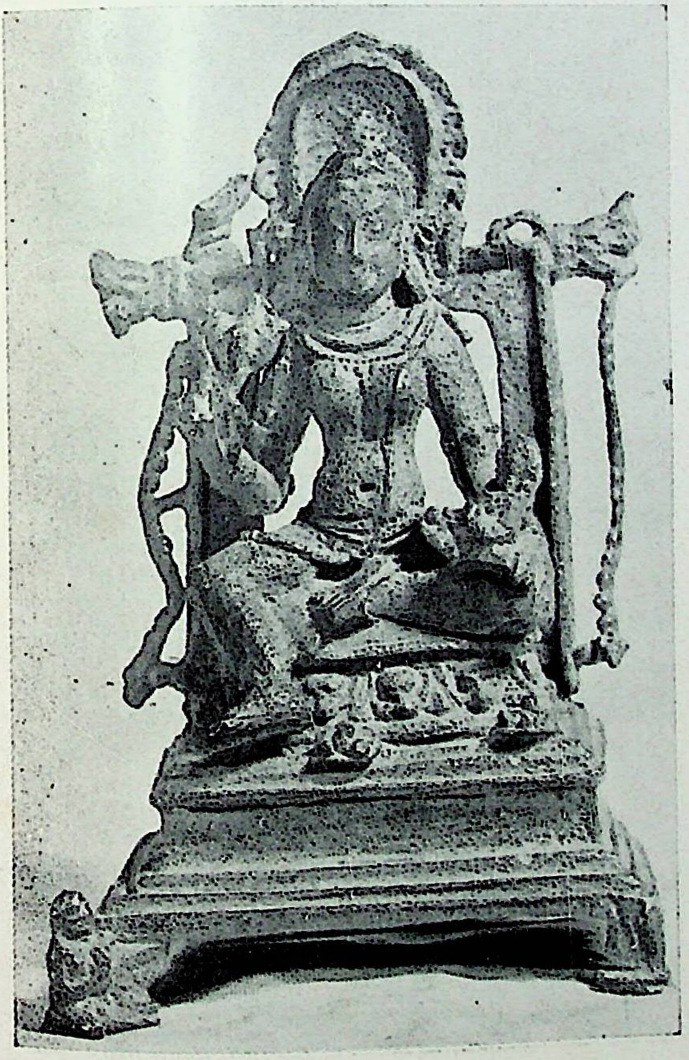

(ख) बिहार — यक्षी, कांस्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)

चित्र 91

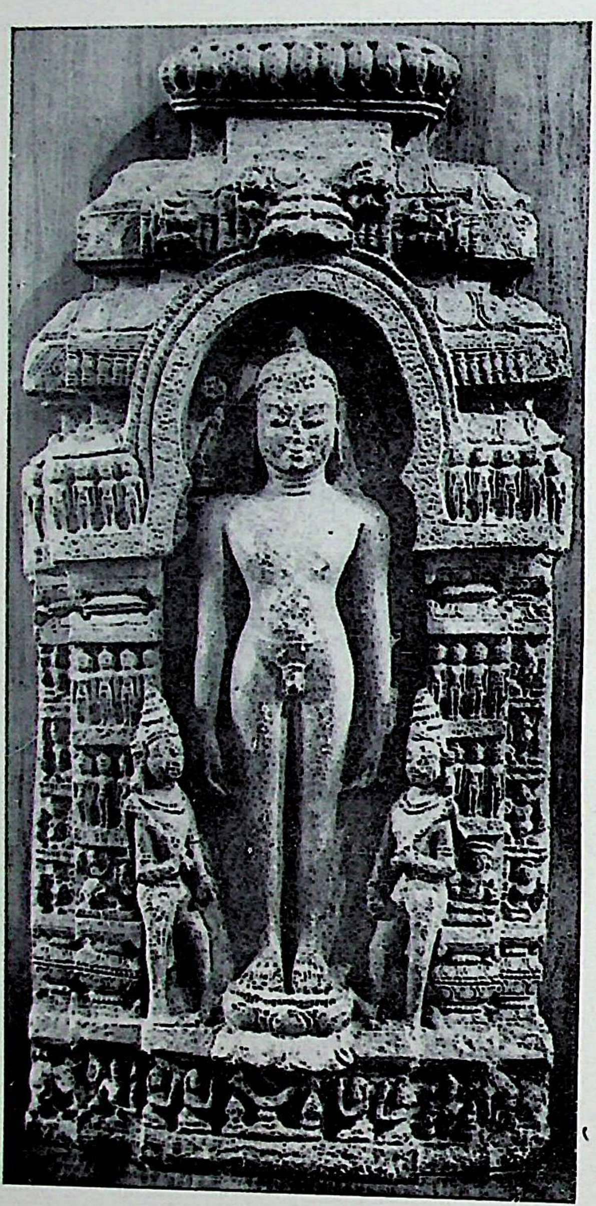

(क) बिहार — तीर्थंकर चन्द्रप्रभ (भारतीय संग्रहालय)

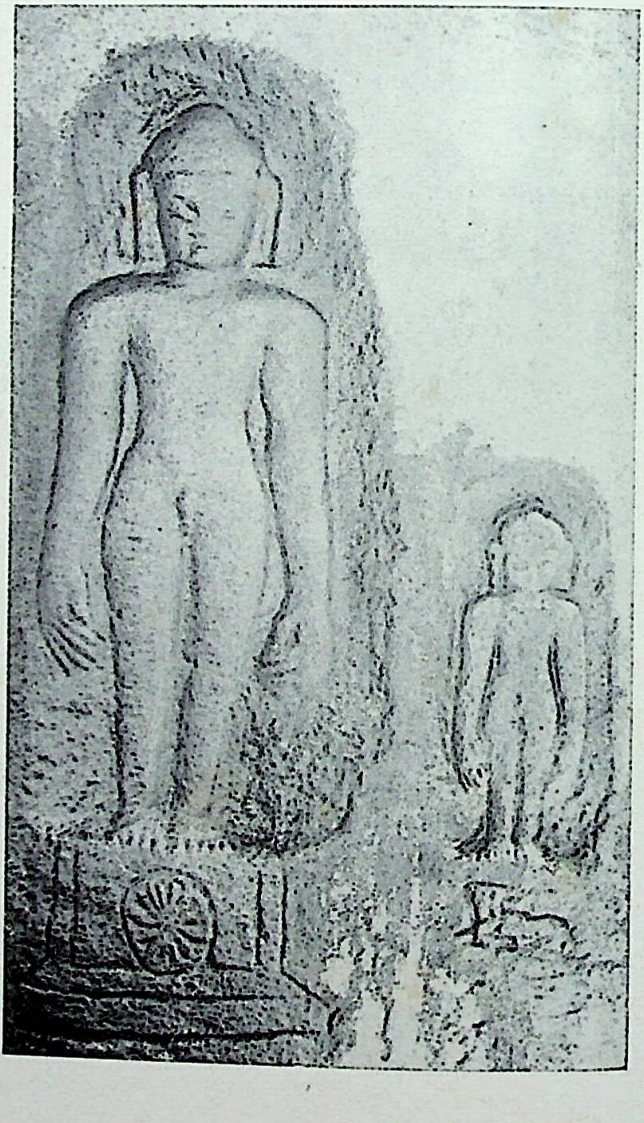

(ख) सूरज पहाड़ — शैलोत्कीर्ण तीर्थंकर

चित्र 92

रखी गयी या वहीं की शैलभित्तियों पर उत्कीर्ण की गयी मूर्तियों की स्थापना द्वारा गुफा-मंदिर का रूप दिया गया। ऐसी एक गुफा (गुफा सं० ७, नवमुनि)[1] के बरामदे के सरदल पर भीतर की ओर सोमवंशी शासक उद्योतकेसरी (ग्यारहवीं शती) का एक अभिलेख है; उसमें देशि-गण के कुलचन्द्र के शिष्य मुनि खल्ल शुभचन्द्र का उल्लेख है। मूर्तियों की समृद्ध संपदा के कारण इस गुफा का महत्त्व और भी बढ़ गया है। पीछे की भित्ति पर एक ही पंक्ति में स्थूल उभार में उत्कीर्ण सात तीर्थंकर-मूर्तियाँ और नीचे एक पंक्ति में उत्कीर्ण उन सातों की शासनदेवियाँ कलागत और प्रतिमा-शास्त्रीय विशेषताओं के कारण ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ उत्कीर्ण तीर्थंकर और उनकी शासनदेवियाँ अग्रलिखित हैं: ऋषभदेव और चक्रेश्वरी; अजितनाथ और रोहिणी; संभवनाथ और प्रज्ञप्ति; अभिनंदन और वज्रश्रंखला; वासुपूज्य और गांधारी; पार्श्वनाथ और पद्मावती तथा नेमिनाथ और आम्रा। यह उल्लेखनीय है कि शासनदेवियों की पंक्ति के आरंभ में गणेश की एक मूर्ति है।

इसके अतिरिक्त दायीं भित्ति पर ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की दिगंबर मूर्तियाँ हैं। वे पूर्ण उभार के शिल्पांकनों में हैं और उनके साथ शासनदेवियाँ नहीं हैं।

इन तीर्थंकर-मूर्तियों में सभी परंपरागत लक्षण हैं; यथा, छत्रत्रय, दोनों ओर करताल बजाते हस्त-युगल और चमरधारी अनुचर। किन्तु उनमें से किसी के भी पीछे प्रभामण्डल और वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न नहीं है। केशविन्यास भिन्न-भिन्न प्रकार का है। सुंदर आभूषणों से अलंकृत शासन-देवियाँ धोती और पारदर्शी दुपट्टे धारण किये हुए हैं जो उनके शरीर के ऊपरी भाग और बायें कंधों को ढँकते हैं।

कुशलता से उत्कीर्ण की गयी ये मूर्तियाँ दसवीं / ग्यारहवीं शताब्दी की हो सकती हैं।

इसके पास की गुफा सं० ८ (बारभुजी) वास्तव में मूर्तियों का एक विविधतापूर्ण कोषागार है, जो पूर्वोक्त गुफा से कुछ परवर्ती अवधि की हो सकती है। इस गुफा का नाम बारभुजी इसलिए पड़ा कि उसके बरामदे की पार्श्व-भित्तियों पर दो बारह भुजाओंवाली शासनदेवियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, इनमें से एक ऋषभनाथ की चक्रेश्वरी और दूसरी अजितनाथ की रोहिणी है। गर्भगृह की भित्तियों पर तीर्थंकरों की पच्चीस मूर्तियाँ और एक समूह में उनकी शासनदेवियाँ उत्कीर्ण हैं (चित्र ८६ और ८७), इनमें से पीछे की भित्ति पर पार्श्वनाथ की एक अतिरिक्त मूर्ति उत्कीर्ण है, पर उसके साथ शासनदेवी नहीं है। इस समूह में कुछ तीर्थंकरों के लांछन शास्त्रोक्त लांछनों से भिन्न हैं और किसी भी मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न नहीं है। प्रचुरता से अलंकृत शासनदेवियाँ संबद्ध तीर्थंकरों के नीचे

---

[1] मित्रा (देबला). **उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि.** 1960. नयी दिल्ली. पृ 53 तथा परवर्ती. / बेहरा, पूर्वोक्त, पृ 170.

उत्कीर्ण हैं, उनमें से कुछ अपने पशु-वाहनों पर आरूढ़ दिखाई गयी हैं। मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से यह द्रष्टव्य है कि वीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की शासनदेवी वहुरूपिणी शय्यासीन है।[1]

खण्डगिरि की अधिकांश गुफाओं में गुफा सं० ८ से आगे की गुफाएँ सं० ९ (त्रिशूल, सातबख़ा या महावीर जैसे विविध नामों से प्रसिद्ध), १०, ११ (ललाटेन्दु केसरी, जिसमें उद्योतकेसरी का अभिलेख है) और १२ से १५ वड़ी मात्रा में उत्खनन के कारण अत्यधिक क्षतिग्रस्त हुई हैं। परिणाम-स्वरूप उनकी मूल रूपरेखा ही नष्ट हो गयी है और उनमें से कुछ की मूर्तियों को अब वहुत निचले स्तर से खड़े होकर ही देखा जा सकता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की ये तीर्थंकर-मूर्तियाँ और उनके कुछ समय उपरांत की शासनदेवियों की मूर्तियाँ मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। गुफा सं० ९ में ऋषभनाथ की हरित पाषाण से निर्मित तीन खड्गासन मूर्तियाँ रखी हैं, जो निश्चित रूप से किसी अन्य स्थान से लाकर पादपीठों पर रखी गयी हैं। वे उस समय की हैं, जव उड़ीसा में मूर्ति-निर्माण के लिए हरित पाषाण का उपयोग वहुत अच्छा माना जाता था।

इसके पश्चात्, मयूरभंज क्षेत्र और कुछ अन्य स्थानों से प्राप्त जैन मूर्तियों की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है, जिनमें से कुछ व्यक्तिगत संग्रहों में भी हैं।

कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय संग्रहालय ने मयूरभंज की एक नौवीं-दसवीं शताब्दियों की सुंदर तीर्थंकर-मूर्ति (चित्र ८८) प्राप्त की है। आर० पी० महापात्र ने १२ जनवरी १९७० के उड़िया दैनिक 'मातृभूमि' में कटक जिले के जैपुर उपखण्ड के हटाडीहा से प्राप्त ऋषभनाथ की एक मूर्ति का विवरण प्रकाशित किया है। जैसा कि लेखक का सुझाव है, यह मूर्ति दसवीं शती की है। इस मूर्ति में ऋषभनाथ की सामान्य विशेषताएँ हैं। पृष्ठभाग पर वारह-वारह की दो पंक्तियों में चौवीस तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

चौधरी बाजार, कटक के दिगंवर जैन मंदिर में लगभग पच्चीस जैन मूर्तियाँ हैं, जिनमें से अधिकतर पाषाण की हैं। उनमें से छह को शाहू ने प्रकाशित कराया है।[2] कुछ शिलाफलकों के अतिरिक्त ये मूर्तियाँ मुख्यत: ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों की हैं। उनमें से कुछ दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों की हैं, पर कुछ उसके वाद की अर्थात् वारहवीं शती या उससे भी परवर्ती काल की हैं।

---

[1] इस गुफा तथा अन्य गुफाओं के लिए द्रष्टव्य : मित्रा, पूर्वोक्त, 1960, पृ 54 तथा परवर्ती. / शय्यासीन वहुरूपिणी के लिए द्रष्टव्य है मित्रा के उक्त लेख के पृ 165 पर पादटिप्पणी सं० 3.

[2] शाहू (एल एन). **जैनिज्म इन उड़ीसा.** जव यह लेखक 13 अक्तूवर 1972 को इस मंदिर में गया तो उसे दिगंवर मुनि नेमिचन्द्रजी से मिलने का सौभाग्य मिला, जो वहाँ अपना चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे. लेखक के कार्य में मुनिजी ने गहरी अभिरुचि ली और मूर्तियों के अध्ययन में पूरा सहयोग दिया.

कुछ वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ की एक, और ऋषभनाथ की दो मूर्तियाँ महानदी की सहायक कटभुरी नदी में मिली थीं। उनमें से एक लापता है और दो कटक से १० किलोमीटर दूर स्थित प्रतापनगर के एक वावाजी के संरक्षण में हैं।[1]

मूर्तिकला के माध्यम से ज्ञातव्य आद्येतिहास काल से उत्तर-मध्यकाल तक उड़ीसा का इतिहास महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में वर्णित पूर्व-मध्यकाल की चर्चा करते हुए कहा जा सकता है कि आठवीं-नौवीं शताब्दियों तक जैन और जैनेतर मतों की मूर्तियों पर गुप्त-शैली का प्रभाव बना रहा। परवर्ती शताब्दियों में स्थानीय शैलियों का प्रभाव रहा, जिससे कि तेरहवीं शती के पश्चात् शैली के स्तर में ह्रास आरंभ हो गया।

बिहार

सातवीं शती में ह्वेनसांग ने अपने बिहार-भ्रमण के समय राजगिर में जैन और वौद्ध दोनों धर्मों की समृद्धि देखी थी। उसने यह भी देखा कि राजगिर स्थित वहुत-से दिगंवर तपस्वी अपनी 'मुनिचर्या' का पालन सूर्योदय से सूर्यास्त तक किया करते थे।[2]

राजगिर में जैनों का सर्वाधिक पवित्र स्थान वैभार पहाड़ी है, जिसकी अधित्यका पर एक प्राचीन जैन मंदिर के अवशेष विद्यमान हैं (चित्र ८९ ख)। अवशिष्ट मंदिर में एक मध्यवर्ती कक्ष है, जिसके चारों ओर कोठरियों सहित बरामदा है। मध्यवर्ती कक्ष और कोठरियों में मूर्तियों के लिए देवकुलिकाएँ बनी हुई थीं।[3]

चंद्रगुप्त-द्वितीय के समय की नेमिनाथ की मूर्ति (पृ १२८) के अतिरिक्त, ऋषभनाथ की पद्मासन मूर्ति (चित्र ९० ख) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस तीर्थंकर-मूर्ति में जटा-मुकुट दिखाया गया है। मूर्ति के पादपीठ पर दो वृषभ और एक धर्म-चक्र अंकित है। यह मूर्ति अत्यंत महत्त्व की है, क्योंकि उसके पादपीठ पर उत्कीर्ण एक अभिलेख की पुरालिपि से उसके निर्माणकाल के निर्धारण में सहायता मिलती है। आठवीं शती की कील-शीर्ष लिपि में उत्कीर्ण इस अभिलेख का पाठ इस प्रकार है: आचार्य-वसन्तनन्दिर् (नो) देधर्मो=यः (दया-धर्मो=यम), जिसका अर्थ है कि यह मूर्ति मुनि

---

[1] इस लेखक को यह सूचना उसके कटक-प्रवास के समय प्राप्त हुई।

[2] बील, पूर्वोक्त, 1884, पृ 149.

[3] कुरैशी (एम एच) तथा घोष (अमलानन्द). राजगिर. 1958. नयी दिल्ली. पृ 16-17. [मंदिरका निर्माणकाल अनिश्चित है। ईंटों से बने इस मंदिर का उपयोग आरंभिक गुप्त-काल से (पृ 129) से आठवीं शती तक के विभिन्न युगों की मूर्तियों के संग्रह के लिए किया जाता था—संपादक]

वसन्तनन्दी का पुण्य उपहार है।[1] चंदा ने लिखा है : 'यह मूर्ति जिसे आठवीं शती की मूर्ति माना जा सकता है, पूर्वी भारत में गुप्त-कला से उत्तर-मध्यकालीन या पाल-कला में संक्रमण को व्यक्त करती है। संक्रमण का एक बहुत ही स्पष्ट लक्षण है पादपीठ, जिसपर ऊपर की ओर विकासमान कमल-पंखुड़ियों की एक पंक्ति का अंकन है। गुप्त-काल की आसीन मूर्तियों में कमल का कोई स्थान नहीं था, जबकि उत्तर-मध्यकालीन मूर्तियों पर युगल पंक्तियोंवाली कमल की पंखुड़ियों से अलंकरण होने लगा। ऊपरी पंक्ति की पंखुड़ियाँ ऊपर की ओर और निचली पंक्ति की नीचे की ओर मुड़ी होती हैं। इस मूर्ति की कुछ विशेषताएँ, जैसे तलुए और हथेलियाँ स्वाभाविकता की ओर एक नये झुकाव का संकेत करती हैं। शरीर-रचना की दृष्टि से अधिक युक्तिसंगत होते हुए भी उत्तर-मध्यकालीन मूर्तियों में गुप्तकालीन मूर्तियों के भाव-विस्तार और भाव-गांभीर्य की कमी है। ऋषभनाथ की इस मूर्ति के अंग स्थूल हैं। अंकन की यह स्थूलता कोहनियों के नुकीले कोणों से और भी बढ़ी हुई दिखती है।[2]

मंदिर के मध्यवर्ती कक्ष के चारों ओर बनी कोठरियों में जो मूर्तियाँ हैं, उनमें पार्श्वनाथ, महावीर, अश्व-चिह्नांकित पादपीठ पर ध्यानस्थ संभवनाथ और वृक्ष की शाखा के नीचे बालक-सहित एक जैन-दम्पति आदि की मूर्तियाँ हैं।

उदयगिरि पहाड़ी पर निर्मित एक आधुनिक जैन मंदिर में चंदा ने पार्श्वनाथ की एक पद्मासन मूर्ति देखी थी। पादपीठ के निचले भाग पर उत्कीर्ण अक्षरों के अवशेषों के आधार पर यह मूर्ति नौवीं शती की मानी जा सकती है। चंदा का कथन है कि 'इस मूर्ति में कुछ अद्वितीय विशेषताएँ हैं। यद्यपि कुशलता से गढ़ी गयी मुखाकृति से यह एक ध्यानस्थ योगी की मूर्ति प्रतीत होती है, किन्तु सुगठित और पुष्ट शरीर की दृष्टि से वह योगी की अपेक्षा मल्ल की मूर्ति अधिक जान पड़ती है। पादपीठ पर पद्मासनस्थ पार्श्वनाथ के शरीर से लिपटे हुए सप्तफण नाग की शरीर-रचना उच्चकोटि के आलंकारिक प्रभाव की सृष्टि करती है। जिस मूर्तिकार ने यह मूर्ति गढ़ी वह एक साहसी परिवर्तनकर्त्ता रहा होगा।[3]

राजगिर से ही प्राप्त लगभग उसी समय की एक और आकर्षक मूर्ति मुनिसुव्रत की है जिसमें उनकी शासनदेवी बहुरूपिणी पादपीठ के नीचे एक शय्या पर लेटी हुई दिखायी गयी है (चित्र ९० क)। यह मूर्ति वैभार मंदिर में स्थापित है। ऐसी ही कुछ और भी मूर्तियों का परिचय हमें प्राप्त है।[4] उनमें से एक कलकत्ता के श्री विजयसिंह नाहर के संग्रह में है,[5] और दूसरी खण्डगिरि की गुफा

---

[1] आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. एनुअल रिपोर्ट, 1925-26. 1928. कलकत्ता. पृ 126 पर रामप्रसाद चंदा का मत. / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 18.

[2] चंदा, पूर्वोक्त, पृ 126.

[3] वही, पृ 127.

[4] जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी. 1; 1959 ; 38-39 में देबला मित्रा.

[5] इस मूर्ति का प्राप्तिस्थान अज्ञात है, किन्तु शैली की दृष्टि से यह बिहार कला-शैली की है। मैं अत्यन्त आभारी हूँ श्री

सं० ८ में है जिसका उल्लेख पहले (पृ १६९) किया जा चुका है। यह समझना कठिन है कि बहुरूपिणी को लेटी हुई स्थिति में क्यों दिखाया गया है (जो हमें माया की उस समय की स्थिति का स्मरण दिलाती है जब उसने स्वप्न में बोधिसत्व को एक श्वेत गज के रूप में अपने गर्भ में प्रवेश करते देखा था) जबकि अन्य शासनदेवियाँ आसीन-मुद्रा में दिखाई गयी हैं।[1]

कलकत्ता के नाहर-संग्रह में ही बिहार से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ और भी हैं। इनमें से एक के ऊपरी भाग में पद्मासन ध्यान-मुद्रा में तीर्थंकर-मूर्ति है और निचले भाग में एक वृक्ष की शाखाओं के नीचे एक युगल आसीन है। नारी-मूर्ति की गोद में एक बालक बैठा दिखाया गया है। एक अन्य है—तीर्थंकर मूर्ति का ऊपरी खण्ड, जिसे लगभग नौवीं शती का माना जा सकता है। इस संग्रह की एक आसीन अंबिका भी बिहार से प्राप्त हुई प्रतीत होती है और शैली की दृष्टि से नौवीं / दसवीं शताब्दी की प्रतीत होती है (चित्र ९१ क)। लगभग इसी युग की अंबिका की एक सुंदर कांस्य मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय में कुछ समय पूर्व उपलब्ध की गयी है। इसका कला-कौशल नालंदा का है (चित्र-९१ ख)।

मार्च १९७४ में धनबाद जिले के अलुआरा में उन्तीस कांस्य मूर्तियाँ खोजी गयीं जिनमें से सत्ताईस तीर्थंकरों की हैं, वे अब पटना संग्रहालय में संगृहीत हैं। इस समूह की अधिकांश तीर्थंकर-मूर्तियों के ललाट पर ऊर्णा का अंकन है। तीर्थंकरों की खड्गासन मूर्तियों में हथेलियाँ और अँगुलियाँ शरीर का स्पर्श करती हैं। इन मूर्तियों के पादपीठों पर विभिन्न प्रकार की पट्टिकाओं के मिले-जुले अलंकरण हैं। सभी पर लांछन अंकित हैं जिनके कारण ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर और अंबिका की पहचान की जा सकती है। उनमें से कुछ को शैली के आधार पर आरंभिक ग्यारहवीं शती की माना जा सकता है।

इस संदर्भ में मानभूम से प्राप्त आदिनाथ की एक कांस्य मूर्ति उल्लेखनीय है,[2] जो अब कलकत्ता के आशुतोष म्यूजियम ऑफ इण्डियन आर्ट में सुरक्षित है। इसके साथ ही, यहाँ नालंदा के पुरातत्त्व संग्रहालय में संगृहीत फणावलियुक्त नारी की पाषाण-मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसे संदेहवश

विजयसिंह नाहर का जिन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक मुझे अपने संग्रह की जैन मूर्तियों का अध्ययन करने और उनके चित्र लेने की अनुमति प्रदान की।

[1] [मित्रा, वही, 1959. श्रीमती मित्रा ने समुचित कारण देकर यह सिद्ध किया है कि इस लेटी हुई नारी का तीर्थंकर की माता के रूप में समीकरण तर्कसंगत नहीं है.— संपादक]

[2] [पुराना मानभूम जिला अब दो जिलों में विभक्त कर दिया गया है, धनबाद (बिहार में) और पुरुलिया (पश्चिम बंगाल में)। यह ज्ञात करना संभव न हो सका कि यह कांस्य मूर्ति इन दो में से किस जिले से प्राप्त हुई. — संपादक]

जैन यक्षी पद्मावती कह दिया गया है (जिसका ब्राह्मण प्रतिरूप मनसा है) । यह नौवीं-दसवीं शताब्दियों की हो सकती है ।[1]

इसी काल की विहार से प्राप्त अन्य उल्लेखनीय मूर्तियों में चन्द्रप्रभ की एक प्रस्तर-मूर्ति (चित्र १२ क) है जो अब भारतीय संग्रहालय में संगृहीत है ।

इस अवधि में जैन धर्म और कला का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र सिंहभूम जिले में भी था, जैसा कि वेणीसागर में विद्यमान पुरावशेषों से निश्चित होता है; जिन्हें बेग्लर ने सातवीं शती का माना है, तथापि, वेणीसागर के पुरावशेषों का सर्वेक्षण नये सिरे से किया जाना चाहिए ।[2]

मध्यकाल में आसाम में जैन धर्म कम ही प्रचलित रहा प्रतीत होता है । तथापि ग्वालपाड़ा जिले में सूरज पहाड़ पर स्थित गुफाओं के भीतर उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ (चित्र ९२ ख) इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं ।

प्रियतोष बनर्जी

---

2 शाह, पूर्वोक्त, पृ 17. जैन देवियों में पद्मावती एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवी है । शासन देवी से एक स्वतंत्र देवी के रूप में उसके व्यक्तित्व का विकास उल्लेखनीय है ।

3 आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट्स. 13. संपा : जे डी बेग्लर. 1882. कलकत्ता. पृ 69-71. [जब इस ग्रंथ का संपादक 1937 में वेणीसागर गया तब उसे वहाँ थोड़ी-सी ब्राह्मण्य मूर्तियाँ ही मिलीं. — संपादक]

अध्याय 16

मध्य भारत

मध्य भारत में पूर्व-मध्यकालीन कला-कृतियाँ

बारहवें अध्याय में निम्नलिखित सामग्री का विवेचन आ चुका है :

(१) गुप्तकालीन उदयगिरि की जैन गुफा और उसकी तीर्थंकर-प्रतिमाएँ;

(२) विदिशा के निकटवर्ती दुर्जनपुर से हाल ही में उपलब्ध महाराजाधिराज रामगुप्त के शासन-काल की अभिलेखांकित जैन प्रतिमाएँ; तथा

(३) विदिशा से प्राप्त उत्तर-गुप्तकालीन एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर-प्रतिमा ।

विदिशा की कायोत्सर्ग तीर्थंकर-प्रतिमा मध्य भारत की गुप्त-कालीन मूर्ति-निर्माण-कला के उत्तरोत्तर विकास को प्रदर्शित करती है । यद्यपि बेसनगर में तत्संबंधी किसी जैन मंदिर का अवशेष उपलब्ध नहीं है तथापि विदिशा के समीपवर्ती कुण्डलपुर (जिला दमोह) के जैन मंदिर-समूह से पूर्वोक्त कला-परंपरा के जैन मंदिरों के वास्तुशिल्प का भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है । पूर्व-गुप्त-कालीन मंदिर-शैली की परंपरा को आगे ले जानेवाले ये मंदिर चौकोर पत्थरों से निर्मित समतल शिखर हैं जिनकी आयोजना में मात्र एक वर्गाकार गर्भगृह तथा कम ऊँचे सादा वेदी-बन्ध (कुरसी) पर निर्मित मुखमण्डप है (चित्र ९३ क) । गुप्त-कालीन कृतियों के विपरीत इन मंदिरों के मुखमण्डपों में भारी चौकोर स्तंभों का उपयोग हुआ है । स्तंभों के निचले भाग घट-पल्लव आकृतियों से अलंकृत हैं तथा उनके शीर्षभाग में सादे घुमावदार टोड़े लगे हुए हैं । इस प्रकार के सादे स्तंभों तथा द्वार-शाखाओं से युक्त ये मंदिर आठवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं ।

कुण्डलपुर स्थित बड़े बाबा में तीर्थंकरों और यक्षियों (चित्र ९३ ख तथा ९४) की पृथक् पड़ी हुई मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं जिनमें कुछ ही प्रतिमाएँ मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान हैं, किन्तु हैं सभी स्थूल और अपरिष्कृत ।

सतना जिले में पिथौरा का पतियानी देवी का जैन मंदिर (चित्र ९५ क), जिसका रचना-काल सन् ९०० के लगभग निर्धारित किया जाता है, इतने परवर्ती काल तक में समतल शिखर-युक्त मंदिरों की परंपरा के अविच्छिन्न प्रचलन का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस मंदिर के त्रि-शाख-द्वार की स्तंभ-शाखाएँ उत्कीर्ण पद्म-पत्रावलियों से अलंकृत हैं। इन स्तंभ-शाखाओं पर आधृत उत्तरांग तीन रथिकाओं में स्थापित तीर्थंकरों की पद्मासन प्रतिमाओं (चित्र ९५ ख) द्वारा अलंकृत हैं। स्तंभ-शाखा के निचले भाग पर गंगा तथा यमुना अतिभंग-मुद्रा में अंकित हैं, जिनके पार्श्व में यक्ष-द्वारपाल हैं जो अपने हाथों में गदा और सर्प के अपने विशेष लाक्षणिक उपकरणों को धारण किये हुए हैं।[1] (चित्र ९६)।

सतना जिले से भी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक पद्मासन प्रतिमा उपलब्ध हुई है जो इस समय रामवन स्थित तुलसी-आश्रम-संग्रहालय में सुरक्षित है। पार्श्वनाथ की इस प्रतिमा के पार्श्व में चमरधारी इंद्र और उपेंद्र को आकर्षक त्रि-भंग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर-मूर्ति का सुगठित रूपांकन-मुखमण्डप पर ध्यानस्थ शांत भाव तथा आध्यात्मिक दीप्ति का विकिरण, और देव-अनुचरों की कोमल-कमनीय मुद्रा का अंकन यह बताता है कि यह प्रतिमा गुप्त-कालीन कला-परंपरा के प्रेरणा-श्रोत के निकट है, और इसका रचनाकाल लगभग सातवीं शताब्दी प्रतीत होता है।

सीरा पहाड़ी से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का उल्लेख अध्याय १२ में किया जा चुका है। सीरा पहाड़ी के ही निकट स्थित नचना से भी लगभग आठवीं शताब्दी की तीन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें दो आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमाएँ और एक पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा है। नचना गुप्त और प्रारंभिक प्रतीहारकालीन ब्राह्मण्य मंदिरों के लिए विख्यात है।

जबलपुर के निकटवर्ती क्षेत्र तथा तेवर (प्राचीन त्रिपुरी) से भी, लगभग नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों तक की अनेक जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें से अति-अलंकृत परिकरयुक्त तीर्थंकर धर्मनाथ की पद्मासन प्रतिमा (चित्र ९७ क) लगभग दसवीं शताब्दी की कलचुरि मूर्तिकला की एक उल्लेखनीय कृति है। यह प्रतिमा इस समय नागपुर के केंद्रीय संग्रहालय में है। इसी प्रकार के गठन और कलात्मक अंकन के लिए विख्यात एक दूसरी उल्लेखनीय प्रतिमा पद्मासनस्थ तीर्थंकर आदिनाथ की है जो त्रिपुरी से उपलब्ध हुई है और इस समय कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में

---

[1] [पतियानी देवी मंदिर की विशद रूप से उत्कीर्ण अंबिका की एक प्रतिमा इलाहाबाद संग्रहालय में है (प्रमोद-चन्द्र. **स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम.** 1971 (?). पूना. पृ 162). इस चतुर्भुजी देवी की चारों भुजाएँ खण्डित हो चुकी हैं। देवी करण्ड-मुकुट धारण किये हुए है। इसका प्रभामण्डल चक्राकार कमल से सुशोभित है। देवी के पार्श्व में दो युवक हैं, पैरों के पास भक्त नर-नारी हैं, जिनके पार्श्व में दो चतुर्भुजी देवियाँ हैं। बायीं ओर की देवी को प्रजापति (प्रज्ञापति ?) और दायीं ओर वाली को वज्रशंखला (वज्रश्रंखला ?) लिखा गया है। पार्श्व की क्षुद्र-रथिकाओं पर उत्कीर्ण अनुचर देवियाँ नामांकित हैं। इस प्रतिमा का काल ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है — संपादक]

है।[1] [त्रिपुरी में आज भी तीर्थंकरों (चित्र ९७ ख) तथा यक्षियों की अनेक प्रतिमाएँ पड़ी हुई हैं। इनमें एक तीन यक्षियों का प्रतिमा-समूह (चित्र ९८ क) भी है जिसके पादपीठ पर किसी वीरनंदी का अभिलेख लगभग नौवीं शताब्दी की लिपि में उत्कीर्ण है––संपादक]

नागपुर संग्रहालय में प्रदर्शित राजनपुर-खिखिनी से उपलब्ध जैन प्रतिमा-समूह में सरस्वती की एक नौवीं शताब्दी की मूर्ति है जिसमें उनके स्तन असंगत रूप से बड़े हैं। मूर्ति में विलक्षण कठोरता है। इस प्रतिमा-समूह में नौवीं शताब्दी की तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं शान्तिनाथ की दो कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ भी हैं जिनपर गंग-कला-शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

मालवा क्षेत्र के देवास जिले में गंधावल लगभग नौवीं शताब्दी की कलात्मक रूप से उत्कृष्ट प्रतिमाओं (चित्र ९८ ख) का विशिष्ट केन्द्र है। तीर्थंकर की एक विशाल कायोत्सर्ग प्रतिमा भी प्राप्त हुई है, जिसके पार्श्व में इंद्र और उपेंद्र चमरधारी के रूप में अंकित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तीर्थंकर शान्तिनाथ, सुमतिनाथ एवं सुविधिनाथ तथा विद्या-देवियों और यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं।

रायपुर संग्रहालय में सहस्रकूट की एक उल्लेखनीय चौमुखी मूर्ति प्रदर्शित है। इसमें पाँच स्तर हैं। प्रत्येक स्तर में तीर्थंकरों की भामण्डलयुक्त पद्मासन प्रतिमाएँ पंक्तिबद्ध हैं (चित्र ९९)।

जैन प्रबंधों के अनुसार आम नामक नरेश ने, जो नौवीं शताब्दी में कन्नौज और ग्वालियर पर शासन करता था, कन्नौज में एक मंदिर का निर्माण कराया था, जो १०० हाथ ऊँचा था और जिसमें उसने तीर्थंकर महावीर की स्वर्णप्रतिमा स्थापित करायी थी। उसने ग्वालियर में २३ हाथ ऊँची महावीर की प्रतिमा भी स्थापित की थी। यह भी कहा जाता है कि उसने मथुरा, अनहिलवाड़, मोढेरा आदि में भी जैन मंदिरों का निर्माण कराया था।[2] जैन परंपराओं में उल्लिखित नरेश आम प्रतीहार नागभट-द्वितीय (मृत्यु ८८३ ई०) रहे होंगे जो जैन धर्म के प्रति अपनी आस्था के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इस जैन परंपरा की सत्यता इन स्थानों से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन जैन अवशेषों द्वारा प्रमाणित होती है।

तोमरकालीन शैलोत्कीर्ण विशाल जैन प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध ग्वालियर के किले में अंबिका यक्षी और गोमेध यक्ष की शैलोत्कीर्ण सपरिकर प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। ललितासन में बैठी अंबिका के पार्श्व में उनकी सेविकाएँ हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माणकाल लगभग आठवीं शताब्दी निर्धारित

---

[1] शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट.** 1955. बनारस. चित्र 42.

[2] मजूमदार (आर सी) तथा पुसालकर (ए डी), संपा. **एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज.** 1955. बम्बई. पृ 289.

किया जाता है।[1] ये प्रतिमाएँ भारी आकार और रचना-सौष्ठव के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं, तथा कुषाण एवं गुप्त-कालीन पांचिक और हारीति प्रतिमाओं के समनुरूप हैं। अंबिका यक्षी की मुखाकृति अण्डाकार है, नेत्र अर्धनिमीलित हैं, केशसज्जा घम्मिल्ल आकार का है, कसे हुए गोल स्तन हैं, ग्रीवा और कुक्षि पर त्रिवलियाँ हैं, उदर उभरा हुआ तथा नितम्ब चौड़े हैं। यक्ष की प्रतिमा स्थूलकाय और लम्बी-चौड़ी है। उसकी तोंद मटके-जैसी है। ग्वालियर के किले में तीन स्वतंत्र जैन प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं जो लगभग उसी काल की हैं। इनमें से एक प्रतिमा में कायोत्सर्ग-मुद्रा में आदिनाथ का अंकन है जिसके चारों ओर पद्मासन-मुद्रा में तेईस तीर्थंकर अंकित हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट के रूप में है। दूसरी प्रतिमा में नंदीश्वर-द्वीप सहित तीर्थंकर आदिनाथ अंकित हैं। तीसरी प्रतिमा कायोत्सर्ग-मुद्रा में पार्श्वनाथ की है। उनके शीर्ष पर नागफण का छत्र अंकित है तथा सुंदर अर्ध-मानवाकृति नागों द्वारा तीर्थंकर का जलाभिषेक करते दिखाया गया है। नागों के सिर पर लहरिया केश-सज्जा है।[2] ग्वालियर के दक्षिण-पूर्व में कुछ दूरी पर स्थित अम्रोल से भी, जो पूर्व मध्यकालीन महादेव-मंदिर के लिए प्रसिद्ध है, पार्श्वनाथ और आदिनाथ की तत्कालीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। आदिनाथ की प्रतिमा का सूक्ष्मता के साथ प्रतिरूपण हुआ है जिसमें तीर्थंकर के चारों ओर यक्षों की वामन आकृतियाँ पद्मपीठों पर सुखासन-मुद्रा में बैठी हुई दर्शायी गयी हैं। पद्म-पीठ कमल पत्रावली द्वारा भव्य रूप में अलंकृत है।

विदिशा जिले में बडोह नामक स्थान पूर्व-मध्यकालीन (प्रतीहार) कला और स्थापत्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि यहाँ अधिकांशतः मंदिर ब्राह्मण संप्रदायों से संबंधित हैं तथापि यहाँ जैनों का भी लगभग दसवीं शती का एक बड़ा मंदिर है जिसमें वर्गाकार भमती के मध्य में लतिन नागर शिखरयुक्त देवकुलिकाएँ हैं। यद्यपि इनकी समुचित सुरक्षा नहीं की गयी है तथापि यहाँ देवकुलिकाओं के अवशेष पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। ये देवकुलिकाएँ चौबीस तीर्थंकरों की थीं। इनमें से मध्यवर्ती देवकुलिका सबसे ऊँचे शिखरवाली है, जो संभवतः ऋषभनाथ को समर्पित की गयी थी।

इसी जिले के अंतर्गत ग्यारसपुर पूर्व-मध्यकालीन ब्राह्मण्य और जैन धर्मों के मंदिर तथा मूर्तियों के अवशेषों के समृद्ध भंडार के रूप में प्रसिद्ध रहा है। लगभग नौवीं शताब्दी की बीसियों स्वतंत्र जैन प्रतिमाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। इन प्रतिमाओं में कायोत्सर्ग एवं पद्मासन-मुद्राओं में तीर्थंकरों तथा जैन यक्ष-यक्षियों की कमनीय प्रतिमाएँ हैं। यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ ललितासन-मुद्रा में बैठी हुई अथवा आकर्षक त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी हुई अंकित हैं (चित्र १०० क)। इस स्थान के प्राचीन

---

[1] ब्रून (क्लॉस). जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़. 1969. लीडन. चित्र 18-18 ए.

[2] मेइस्तर (माइकेल डब्ल्यू). ग्राम, अम्रोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट. जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा. 22; 354-58.

मंदिरों में सर्वाधिक संरक्षित मालादेवी मंदिर के नाम से विख्यात जैन मंदिर है, जो वास्तव में प्रतीहार वास्तुकला के चरम विकास का प्रतीक है ।

मंदिर

मालादेवी मंदिर, ग्यारसपुर :

मालादेवी मंदिर एक सांधार-प्रासाद है जिसका कुछ भाग शैलोत्कीर्ण तथा कुछ भाग निर्मित रचना है । यह मंदिर मुखमण्डप, मण्डप, अंतराल तथा सांधार-गर्भगृह से युक्त है (चित्र १०१ तथा १०२) । गर्भगृह की रूपरेखा पंच-रथ प्रकार की है तथा इसके ऊपर रेखा-शिखर है (चित्र १०३) ।

मंदिर का पीठ सुदृढ़ और सामान्य गोटा-अलंकरणों से युक्त है । यह जंघा को आधार प्रदान किये हुए है । जंघा-भाग कक्षासन तथा देवकोष्ठों से मण्डित है (चित्र १०४) । आयताकार प्रासाद के लघुतर बाहुओं में दो कक्षासन हैं जबकि लंबे बाहुओं में ऐसे ही तीन-तीन गवाक्ष हैं जिनमें से दो मण्डप और एक गर्भगृह से प्रक्षिप्त हैं । ये गवाक्ष मुख्यतः अलंकरण के लिए बनाये जाने के कारण अत्यंत अल्प प्रकाश ही भीतर पहुँचने देते हैं ।

दक्षिण दिशा में मंदिर के छह निर्गम हैं जिनमें से तीन बड़े हैं और तीन छोटे । ये सभी देवकोष्ठों द्वारा अलंकृत हैं जो जंघा तथा पीठभागों पर हैं । जंघा पर निर्मित देवकोष्ठों में दिग्पालों तथा यक्ष-यक्षियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जबकि पीठों की शिल्पांकित फलकों पर मानव-मुखाकृतियाँ तथा बेल-बूटे प्रचुर मात्रा में अंकित हैं ।

मंदिर का शिखर पंच-रथ प्रकार का है जिसकी आकृति त्रिभुजाकार प्रतीत होती है । शिखर के चारों ओर आठ शिखरिकाएँ बनी हैं । मण्डपों की छतें ध्वस्त हो चुकी हैं फिर भी अवशिष्ट अंशों से ज्ञात होता है कि वे निस्संदेह फानसना बने थे और इनमें पीढ़े तथा रत्नों से अलंकृत कंठों का तारतम्य दर्शनीय है ।

दक्षिण दिशा में शिखर-मूल पर निर्मित (रथिका) में गरुड़ासीन अष्टभुजी चक्रेश्वरी देवी की प्रतिमा स्थापित है । देवी के अवशिष्ट दो दाहिने हाथों में पाश और वज्र हैं तथा बायीं ओर के दो अवशिष्ट हाथों में वज्र और चक्र । देवी के पार्श्व में दोनों ओर परिचारिकाएँ हैं । इसके ठीक बायीं ओर की रथिका में पद्मासनस्थ तीर्थंकर-प्रतिमा है, जबकि दायीं ओर की रथिका में शिशुसहित अंबिका यक्षी ललितासन में बैठी है । तदनुरूप उत्तर दिशा की रथिकाओं में चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमाएँ परिचारिकाओं सहित अंकित हैं । इसके ठीक दाहिनी रथिका में एक पद्मासनस्थ तीर्थंकर-

मूर्ति तथा बायीं में ललितासन में बैठी अंबिका यक्षी की प्रतिमा है। जंघा स्थित देवकोष्ठों का विवरण दक्षिण-पूर्व से प्रदक्षिणा-क्रम में निम्नलिखित है :

जंघा के दक्षिण-पूर्व कोने में स्थित प्रथम देवकोष्ठ में अष्टभुजी देवी की प्रतिमा दो सिरवाले पक्षी के ऊपर पद्मपीठ पर ललितासन में बैठी हुई है। देवी के अवशिष्ट दाहिने हाथों में गदा-जैसा आयुध, पद्मपुष्प तथा चौरी है जबकि बायें हाथों में चौरी, ध्वजा और धनुष हैं। यह देवी कुक्कुटाहि पर आरूढ़ यक्षी पद्मावती हो सकती है।

दक्षिण दिशा में निर्मित द्वितीय देवकोष्ठ में एक चतुर्भुजी देवी पद्मपुष्प पर ललितासन में बैठी है जिसके हाथों में कृपाण, चक्र, ढाल और शंख हैं। देवी का वाहन गज उनके पद्मपीठ के नीचे दर्शाया गया है। संभवतः वह देवी पुरुषदत्ता है जो पाँचवें तीर्थंकर की यक्षी है।

दक्षिण दिशा के शेष छह देवकोष्ठ (संख्या ३ से ८) रिक्त हैं। किन्तु इनके बीच के सलिलांतरों में छोटे-छोटे देवकोष्ठ हैं जिनमें यक्ष तथा यक्षी पद्मावती की प्रतिमाएँ हैं।

अंतराल से संलग्न पार्श्वभागों पर निर्मित लघु देवकोष्ठों में भी प्रतिमाएँ अंकित हैं। पश्चिमी देवकोष्ठ में एक देवी की प्रतिमा है जो मगर पर ललितासन में बैठी है। उसके हाथ वरद और अभय-मुद्राओं में है, दो हाथों में नीलपद्म एवं कलश हैं, जबकि पूर्वी भित्ति के देवकोष्ठ में पद्मपीठ पर ललितासन-मुद्रा में आसीन अष्टभुजी देवी की प्रतिमा स्थापित है। देवी की दायीं ओर के अवशिष्ट दो हाथों में पाश और कृपाण हैं तथा बायीं ओर के अवशिष्ट तीन हाथों में घण्टा, ढाल और पाश जैसे उपादान हैं। उनके पद्मासन के नीचे वाहन के रूप में अश्व अंकित हैं। संभवतः यह देवी मनोवेगा है जो छठे तीर्थंकर की यक्षी है।

दक्षिणी-भद्र के पश्चिमी पल्लविका के देवकोष्ठ में नाग-फण-छत्र के नीचे दो भुजाओंवाली यक्षी पद्मावती खड़ी हुई दिखाई गयी है। इससे संलग्न पार्श्वभागों पर निर्मित लघु-देवकोष्ठों में से प्रत्येक में ललितासन-मुद्रा में एक देवी-मूर्ति अंकित है।

पश्चिमी भाग में स्थित नौवाँ देवकोष्ठ रिक्त है, जबकि पश्चिमी भद्र की पल्लविका के एक मात्र देवकोष्ठ में नाग-फण-छत्र के नीचे खड़ी हुई दो-भुजी पद्मावती देवी की प्रतिमा है। उनके दायें हाथ में नीलकमल है तथा बायाँ हाथ एक दण्ड पर टिका है। उससे संलग्न एक लघु देवकोष्ठ में चतुर्भुजी देवी ललितासन-मुद्रा में मकर पर आरूढ़ है। उसके निचले दायें हाथ में पुष्प है और ऊपरी दायाँ हाथ सीमांत पर है; ऊपरी बायें हाथ में दर्पण है और निचला बायाँ हाथ गोद में रखा हुआ है।

मंदिर का उत्तर-पश्चिम कोना शिलाटंकित होने के कारण पश्चिमी भाग के दसवें-ग्यारहवें तथा उत्तरी भाग के बारहवें-तेरहवें देवकोष्ठ कभी निर्मित ही नहीं हुए।

अंतराल के उत्तरी भाग में स्थित चौदहवें देवकोष्ठ में दो-भुजी कुबेर को खड़े हुए दर्शाया गया है। कुबेर के हाथों में कपाल(खप्पर) और थैली है। थैली दो निधिकलशों के ऊपर रखी हुई है। चौदहवें देवकोष्ठ के नीचे एक चतुर्भुजी देवी खड़ी है, जिसका एक हाथ अभय-मुद्रा में है तथा अन्य हाथों में पद्मपुष्प, नीलपद्म और संभवतः दर्पण हैं।

महामण्डप के उत्तरी कक्षासन के नीचे पंद्रहवें देवकोष्ठ में ललितासन मुद्रा में आसीन बारह-भुजी देवी की एक प्रतिमा है। देवी के दायीं ओर के अवशिष्ट पाँच हाथों में खड्ग, दर्पण, पुष्प, चक्र और वज्र हैं तथा बायीं ओर के अवशिष्ट दो हाथों में पद्मपुष्प तथा फल हैं। उसके वाहन के रूप में एक पशु अंकित है जो खण्डित हो चुका है किन्तु उसका आकार-प्रकार वराह या सुअर से मिलता-जुलता है।

मण्डप के उत्तरी निर्गम पर स्थित सोलहवें देवकोष्ठ में इन्द्र की द्विभुजी प्रतिमा उत्कीर्ण है। इन्द्र ललितासन-मुद्रा में गज पर आरूढ़ हैं। उनके बायें हाथ में वज्र है तथा दायाँ हाथ खण्डित हो चुका है। सोलहवें देवकोष्ठ के नीचे, अधिष्ठान के कोष्ठ में, बारहभुजी देवी की प्रतिमा स्थित है। देवी ललितासन-मुद्रा में पहिये-युक्त लौहरथ में आरूढ़ है। देवी का एक बायाँ हाथ अभय-मुद्रा में है तथा अन्य बायें हाथों में त्रिशूल, चक्र, ढाल, धनुष, प्रसाधन-पेटिका और फल हैं। लौहरथ (लौहासन) के कारण यह देवी द्वितीय तीर्थंकर की यक्षी अजिता या रोहिणी के रूप में पहचानी जा सकती है।

सत्रहवें देवकोष्ठ में ललितासन में बैठी हुई एक चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा है, जिसका सिर और हाथ खण्डित हो चुके हैं। उत्तरी भाग के पूर्वी कोने पर स्थित अठारहवें देवकोष्ठ में चतुर्भुजी देवी ललितासन में मत्स्य पर आरूढ़ है। देवी के अवशिष्ट हाथों में से दो वरद एवं अभय-मुद्रा में हैं तथा एक अन्य हाथ में जाल है। इस देवी को पंद्रहवें तीर्थंकर की श्वेतांबर यक्षी कंदर्पा के रूप में पहचाना जा सकता है।

उत्तर-पूर्व कोने पर स्थित उन्नीसवें देवकोष्ठ में, रेवंत की प्रिया ललितासन में बैठी है। यह देवी चतुर्भुजी है, जिसके चारों हाथों में वज्र, खट्वांग, जाल और छत्र हैं। उसके आसन के नीचे अश्व अंकित हैं।

मंदिर का मुखमण्डप चार स्तंभों पर आधारित है। इसका वितान समक्षिप्त शैली में नेत्राकार है जिसमें कोल तथा गजतालु के अलंकरण बने हैं। मुखमण्डप के भीतरी दो स्तंभों के मध्य तथा मण्डप के प्रवेशद्वार में भी इसी प्रकार के वितान हैं।

मण्डप का प्रवेशद्वार पंच-शाख शैली का है। शाखाओं पर क्रमशः बेल-बूटे, नाग, मिथुन और दो कुड्य स्तंभों का अंकन है। मिथुनों का अंकन बारी-बारी से भूतों या पाश की आकृति के साथ हुआ है। ललाट-बिम्ब में गरुड़-आरूढ़ अष्टभुजी चक्रेश्वरी देवी प्रदर्शित है। यह देवी अपने बायीं ओर के अवशिष्ट तीन हाथों में पद्म, चक्र एवं फल धारण किये हुए है तथा दायीं ओर के एकमात्र अवशिष्ट हाथ से कमलनाल पकड़े हुए है। द्वारशाखा के आधार-भाग पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं जिनके पार्श्व में अनुचर तथा द्वारपाल हैं।

मण्डप बीचों-बीच चार स्तंभों पर आधारित है। इसका वितान अष्टकोण तथा संभवतः समक्षिप्त शैली का है जिसमें गजतालुओं के चार क्रमशः घटते हुए रद्दे हैं जो अब अंशमात्र सुरक्षित हैं। मण्डप वितान के सरदलों और शहतीरों पर रथिकाओं की दो पंक्तियाँ अंकित हैं। मण्डप की दक्षिण-भित्ति के साथ तीर्थंकर की एक विशाल कायोत्सर्ग प्रतिमा अवस्थित है जिसके दोनों पार्श्वों में दो भक्त अंकित हैं।

मंदिर के भीतरी भाग के सभी स्तंभ आकार-प्रकार में एक-जैसे तथा अत्यंत अलंकृत हैं। स्तंभों के निचले और ऊपरी भाग वर्गाकार हैं। मध्यभाग सोलह पहलुओं का तथा घण्टा-किंकिणि-चित्रण द्वारा अलंकृत है। स्तंभ का शीर्षभाग एक गोल चौकी, कीर्ति-मुख तथा लता-वल्लरियों से अलंकृत एक वर्गाकार फलक, एक आमलक, पत्रावलियों से अलंकृत एक अन्य वर्गाकार फलक तथा दो वर्गाकार आमलकों से उत्कीर्ण हैं। स्तंभों के शीर्षभाग में टोड़े लगे हुए हैं जिनके पार्श्व अंजलिबद्ध नागों के चित्रण से अलंकृत हैं।

मंदिर के कुछ आकर्षक कला-प्रतीकों में एक विशेष प्रकार का कीर्तिमुख (चित्र १०० ख) तथा प्रचुरता से अलंकृत घट-पल्लव सम्मिलित हैं। गर्भगृह का प्रवेशद्वार मण्डप के प्रवेशद्वार से सामान्यतः मिलता-जुलता है। इसके दो सरदलों में से निचले सरदल पर रथिकाओं में तीर्थंकरों की नौ कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ एक पंक्ति में प्रदर्शित हैं। सरदल के दायें सिरे पर मालाधारी मिथुन आकृतियाँ अंकित हैं तथा एक खड़ी हुई चतुर्भुजी विद्यादेवी की प्रतिमा है जिसके हाथ वरमुद्रा में तथा पुस्तक और कलश लिये हुए अंकित है। इसी प्रकार बायें सिरे पर वीणा लेकर खड़ी हुई चतुर्भुजी सरस्वती की खण्डित प्रतिमा है। द्वारशाखाओं के निम्नभाग में गंगा और यमुना देवियाँ अंकित हैं जिनमें से प्रत्येक के पार्श्व में युगल द्वारपाल निर्मित हैं। पूर्वाभिमुख द्वारपाल अपने एक हाथ में गदा लिये हुए है।

गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ है जिसमें दोनों ओर प्रवेशद्वार हैं। इनके उत्तरांग रथिकाओं और मूर्तियों से अलंकृत हैं। दक्षिणी प्रवेशद्वार के उत्तरांग के निचले स्तर पर नौ तीर्थंकर, मध्य पर चार तथा ऊपरी स्तर पर सात तीर्थंकर-प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं। द्वारशाखाओं पर नदी-देवियाँ उत्कीर्ण हैं जिनके पार्श्वों में द्वारपाल अंकित हैं। गर्भगृह के उत्तरी प्रवेशद्वार के उत्तरांग पर सप्त-मातृकाएँ नृत्य-मुद्रा में अंकित हैं जिनके पार्श्व में गणेश और वीरभद्र हैं।

भीतरी प्रदक्षिणापथ की तीनों दिशाओं में तीन देवकोष्ठ हैं। दक्षिण दिशा के प्रमुख देवकोष्ठ में पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है तथा उत्तरी दिशा के एक देवकोष्ठ में यक्षी चक्रेश्वरी स्थित है।

प्रौढ़ तथा आलंकारिक वास्तुकला एवं सुविकसित मूर्तिकला के आधार पर इस मंदिर का रचना-काल नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया जा सकता है। यह मंदिर मध्य भारत की प्रतीहारकालीन स्थापत्य शैली का चरमोत्कर्ष प्रदर्शित करता है।

देवगढ़ के जैन मंदिर[1]

देवगढ़ किले के पूर्वी क्षेत्र में लगभग ३१ जैन मंदिरों का एक समूह है (रेखाचित्र ९), जिसमें नौवीं से बारहवीं शताब्दी तथा उससे भी परवर्ती काल के मंदिर सम्मिलित हैं। मध्य भारत में यह स्थान तीन शताब्दियों के लंबे समयांतराल में जैन कला एवं स्थापत्य के विकास का अध्ययन करने के लिए उल्लेखनीय केन्द्रों में से एक है। यहाँ पर लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दियों का भी एक जैन मंदिर था, इस तथ्य का प्रमाण यहाँ से उपलब्ध गुप्तोत्तर शैली के कुछ वास्तु-अवशेषों और एक तीर्थंकर प्रतिमा से मिलता है।

वर्तमान मंदिरों में अधिकांशतः दस से बारहवीं शती के हैं। पूर्ववर्ती दो शताब्दियों के मंदिरों की संख्या वास्तव में बहुत कम है। मंदिर संख्या ११, १२ और २८ जैसे कुछ मंदिरों को छोड़कर शेष मंदिर अलंकरणविहीन तथा छोटे आकार के हैं। इनकी रूपरेखा या तो वर्गाकार है या आयताकार। प्रत्येक मंदिर एक विशाल कक्ष है। कुछ मंदिरों में इस कक्ष के पिछले भाग में बाहर एक छोटा गर्भगृह भी है, कुछ में नहीं है। किन्तु सामान्यतः सभी के आगे एक बरामदा या प्रवेशमण्डप है। अधिकांश मंदिर समतल शिखरयुक्त हैं, पर कुछ पर छतरियाँ बनी हैं।

क्रमांक २५ से ३१ तक के मंदिर एक घने झुंड के रूप में निर्मित हैं, शेष मंदिर यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं जिनमें से मंदिर क्रमांक १, २ तथा १० एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं।

मंदिर क्रमांक २२ तथा २४ (क) के अतिरिक्त क्रमांक १२ और १५ तथा क्रमांक १२ के के आस-पास के सात छोटे मंदिर नौवीं शताब्दी के हैं। मंदिर क्रमांक १२ के प्रवेशमण्डप के स्तंभ पर उत्कीर्ण विक्रम संवत् ९१९ (८६२ ई०) के अभिलेख के आधार पर इन मंदिरों का रचनाकाल लगभग ८५०-९०० ई० निर्धारित किया जा सकता है। यहाँ उपलब्ध असंख्य वास्तु-अवशेष और

---

[1] [इस मंदिर-समूह में कुछ मंदिर ऐसे भी हैं जिनका रचना-काल इस भाग की विचाराधीन अवधि से परवर्ती है, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से इस समूह को कालखण्डों में वर्गीकृत न करना सुविधाजनक प्रतीत हुआ है. – संपादक]

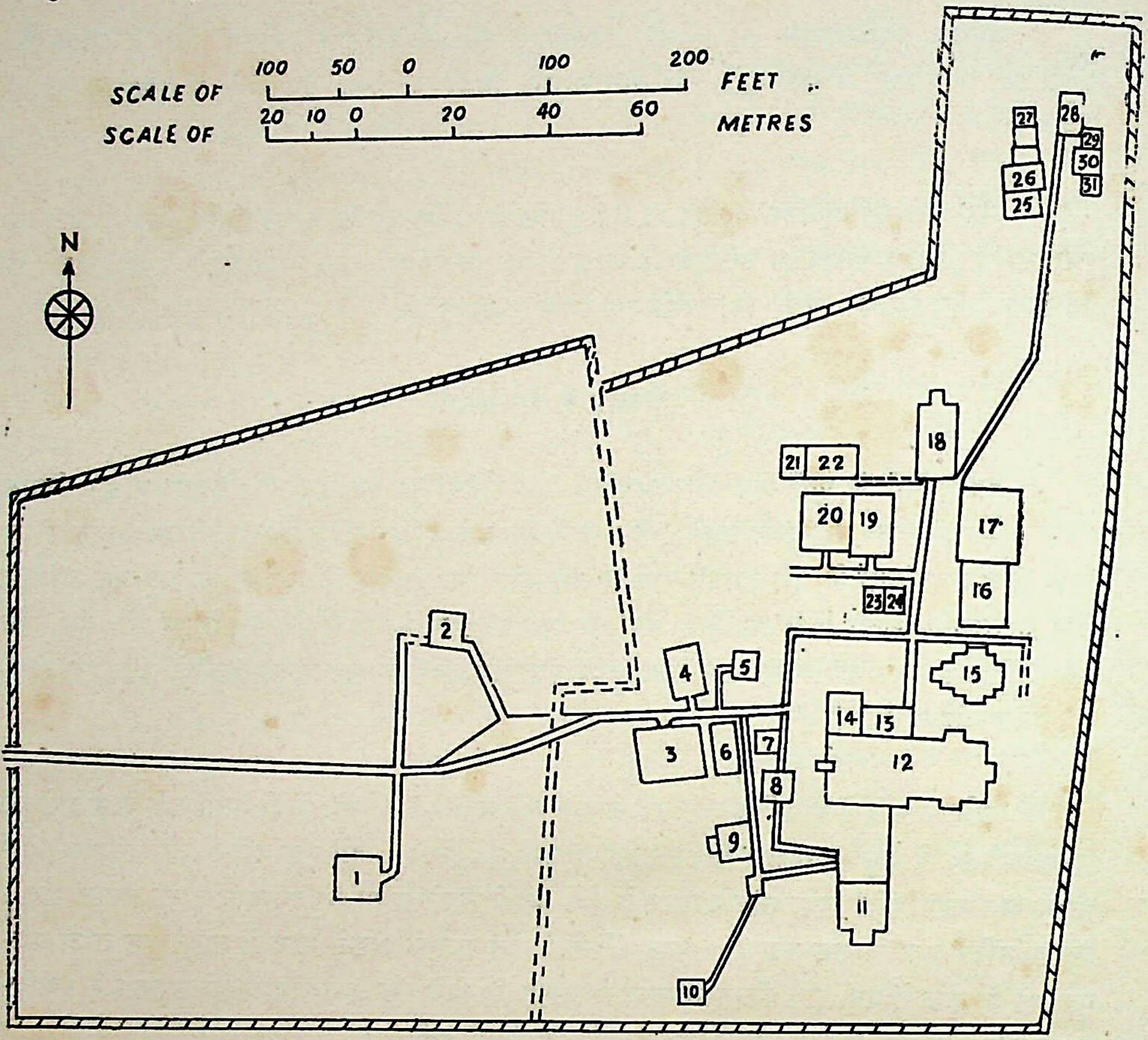
SCALE OF
100 50 0 100 200
FEET
SCALE OF
20 10 0 20 40 60
METRES
N
1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27
28
29
30
31

रेखाचित्र 9. देवगढ़ : मंदिरों की रूपरेखा

प्रतिमाएँ यह प्रमाणित करते हैं कि इस स्थान पर नौवीं शताब्दी के और भी अनेक मंदिर विद्यमान रहे होंगे।

बड़े शिलाखंडों से निर्मित विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक ९, १३, १६ और २० दसवीं शती के हैं, जिनमें पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाएँ स्थापित हैं। विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक १७ में भी पूर्व मध्यकालीन दसवीं शताब्दी की प्रतिमाएँ हैं। इस मंदिर की भित्तियाँ ध्वंस हो चुकी हैं।

विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक २, ३, ११ और १९ दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के हैं। इनकी भित्तियाँ शिलापट्टों से निर्मित हैं और इनमें मध्यकालीन प्रतिमाएँ स्थापित हैं। मंदिर क्रमांक २ (विक्रम संवत् १०२३, १०५१ तथा १०५२) और मंदिर क्रमांक ११ (विक्रम संवत् ११०५ तथा ११२९) के

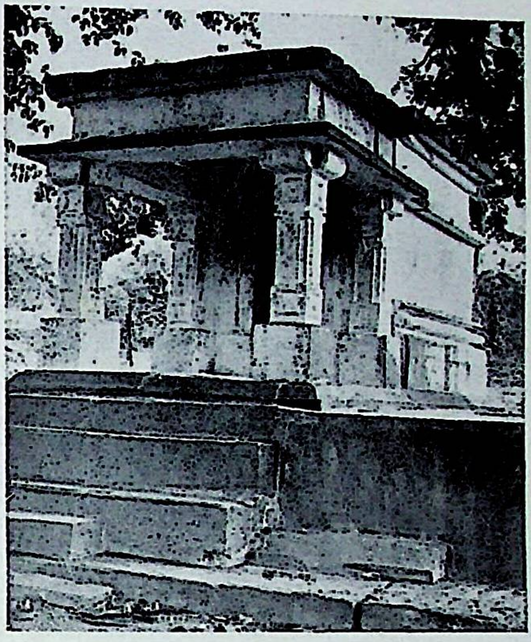

(क) कुण्डलपुर — मन्दिर

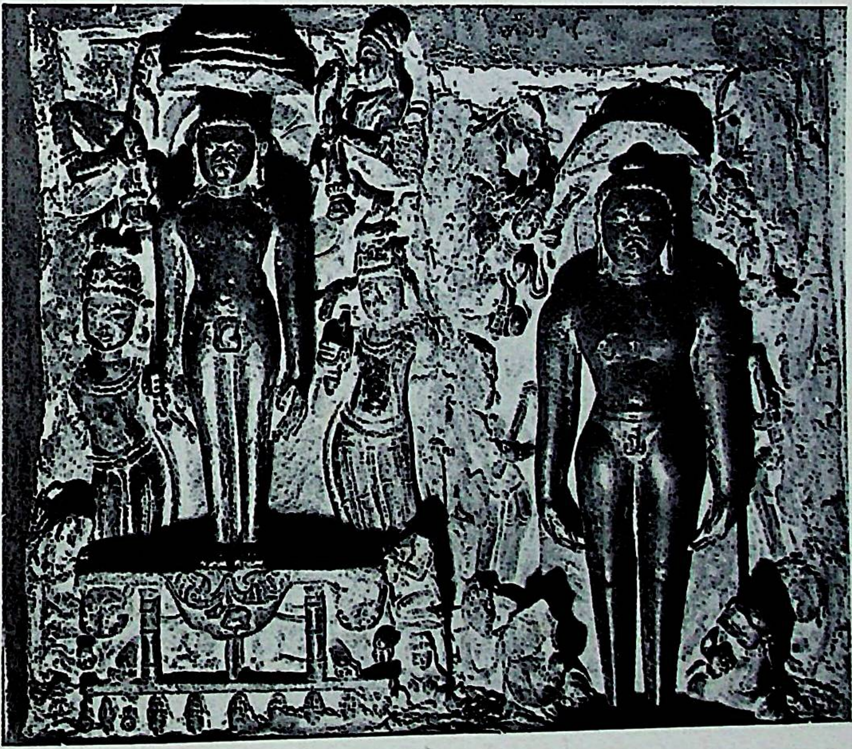

(ख) कुण्डलपुर — दो तीर्थंकर मूर्तियाँ

चित्र 93

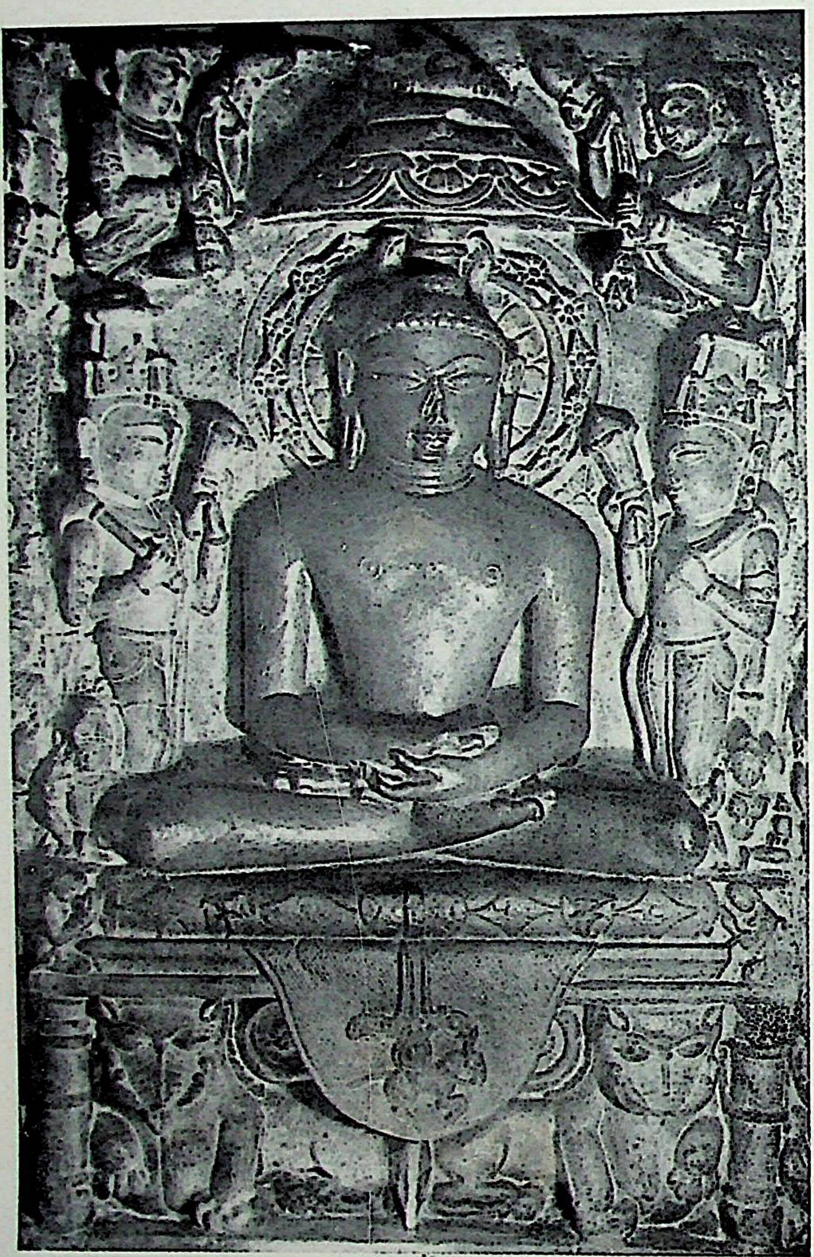

(क) कुण्डलपुर — तीर्थंकर अभिनन्दननाथ

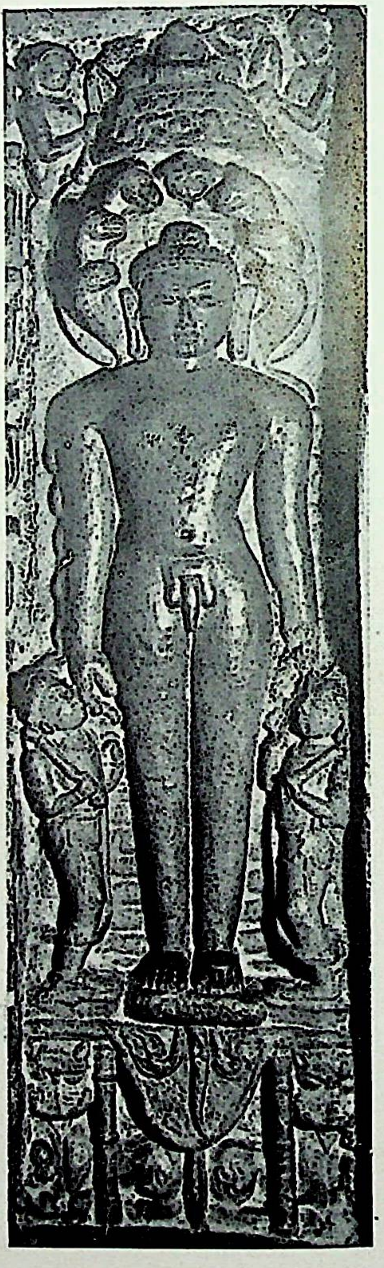

(ख) कुण्डलपुर — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 94

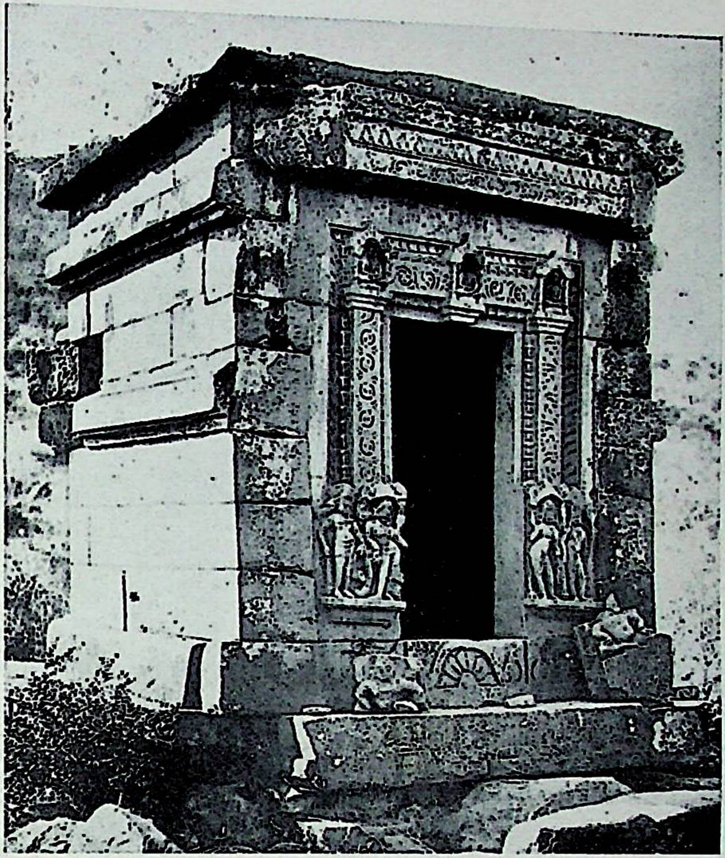

(क) पिथौरा — पतियानी देवी का मंदिर

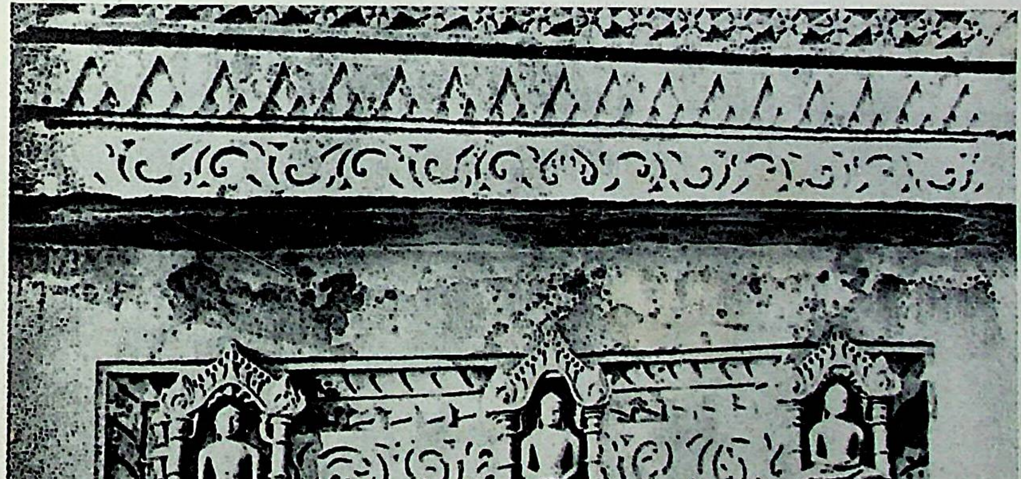

(ख) पिथौरा — पतियानी देवी के मंदिर का सरदल

चित्र 95

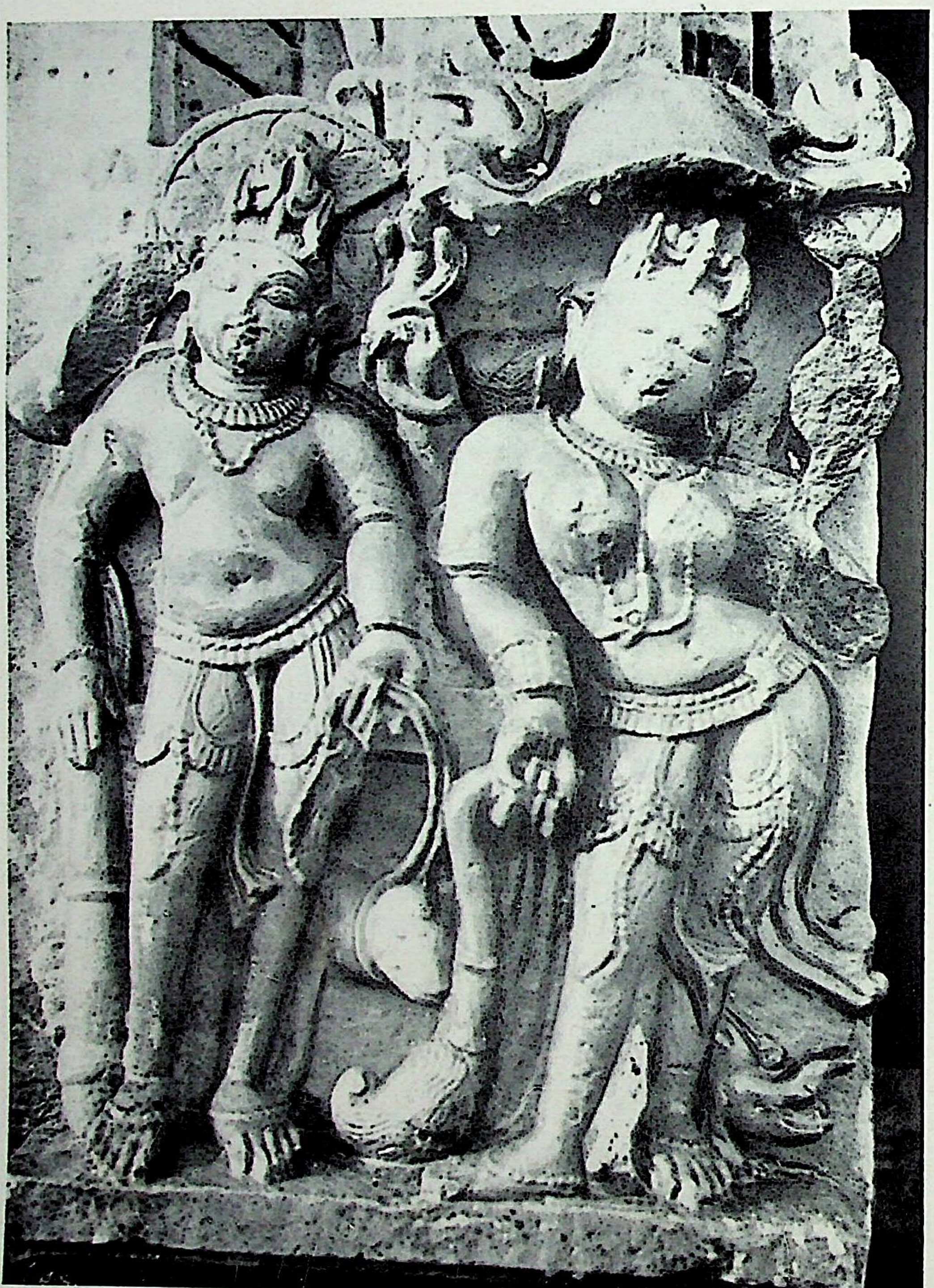

पिथौरा — पतियानी देवी का मन्दिर, द्वारपाल

चित्र 96

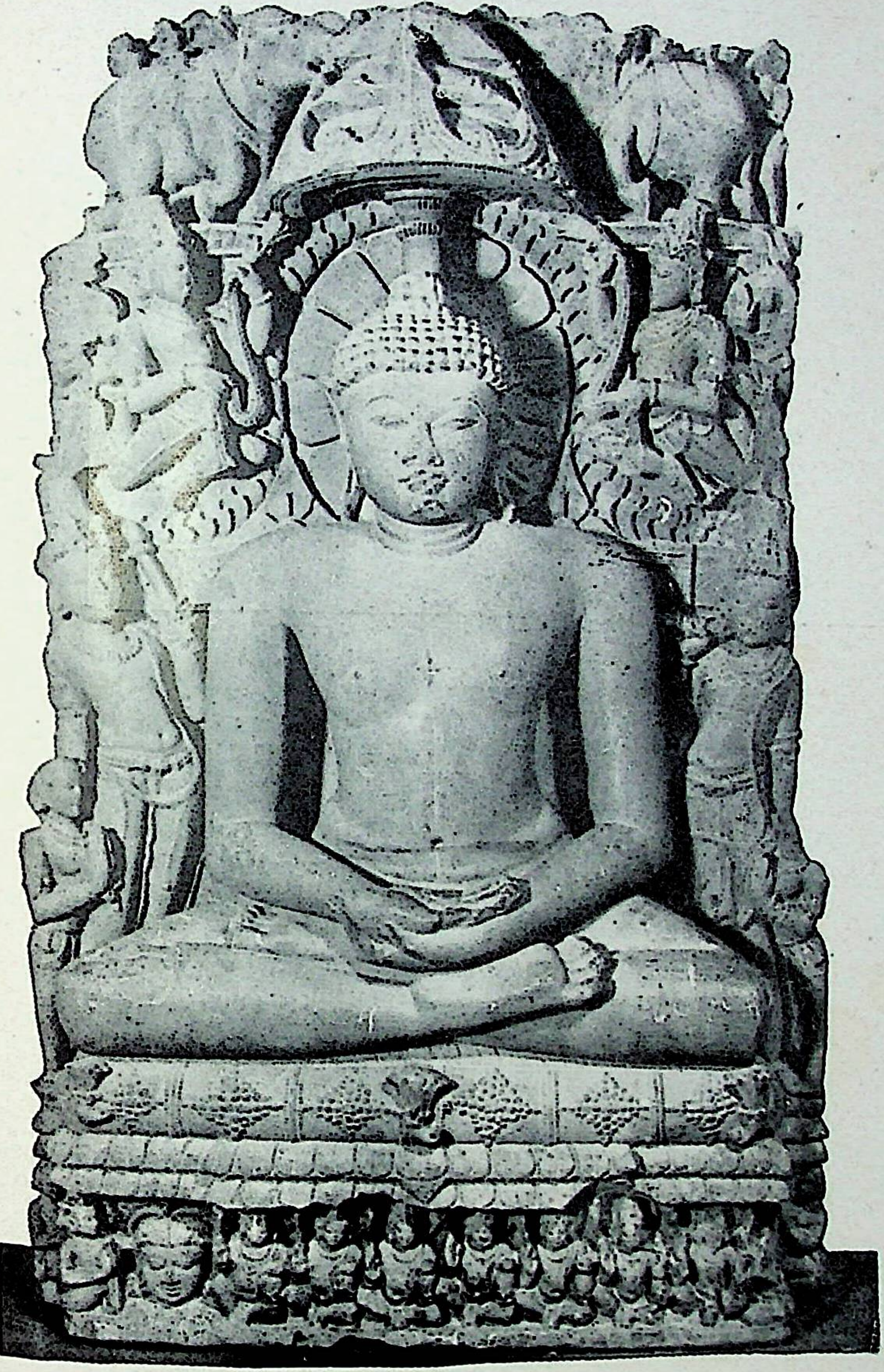

(क) जबलपुर — तीर्थंकर धर्मनाथ
(नागपुर संग्रहालय)

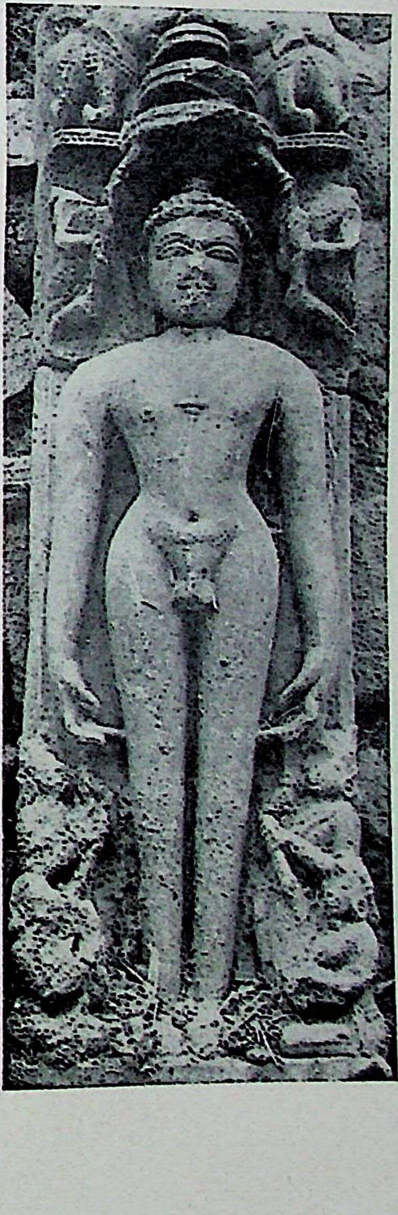

(ख) तेवर — तीर्थंकर मूर्ति

चित्र 97

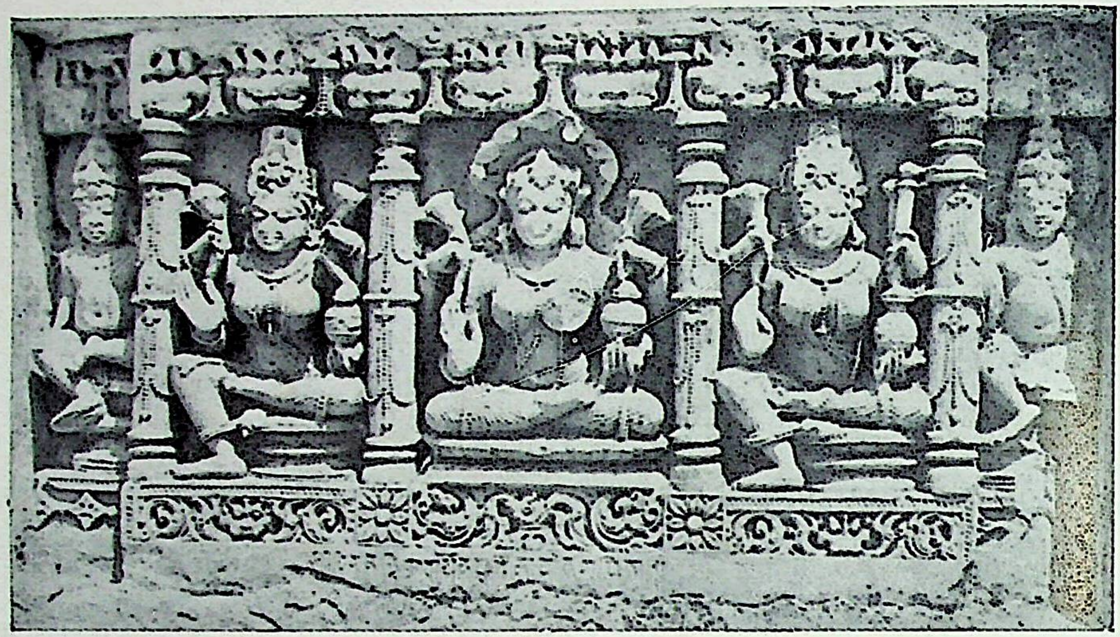

(क) तेवर — अभि-लेखांकित यक्षियाँ

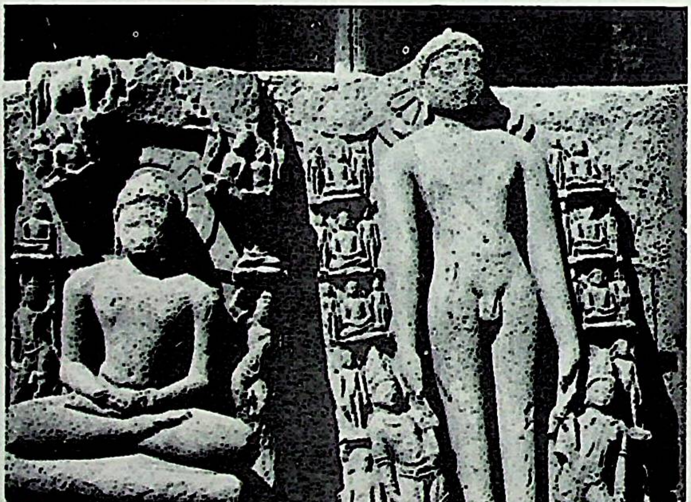

(ख) गंधावल — तीर्थंकर मूर्तियाँ

चित्र 98

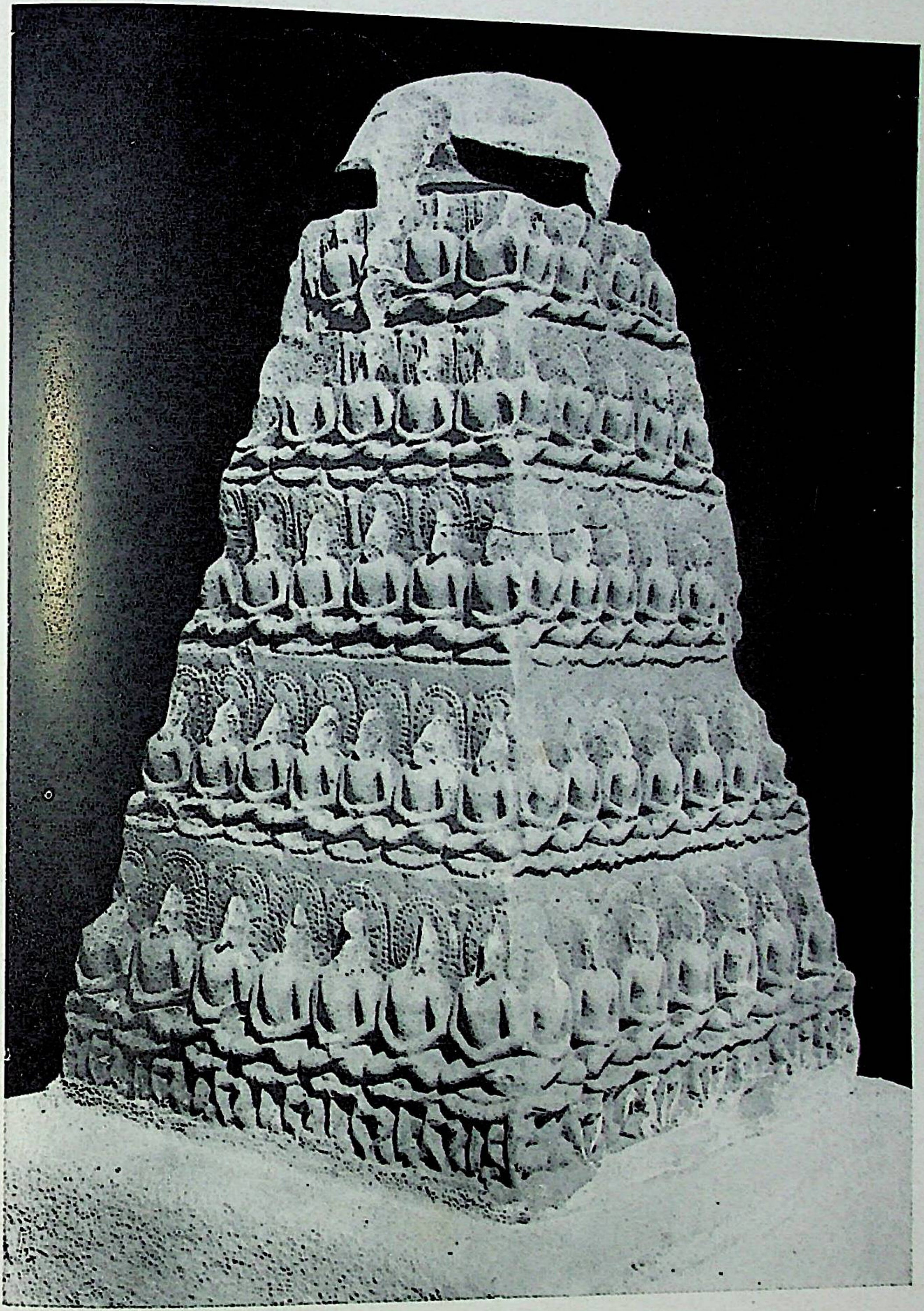

रायपुर संग्रहालय — सहस्रकूट

चित्र 99

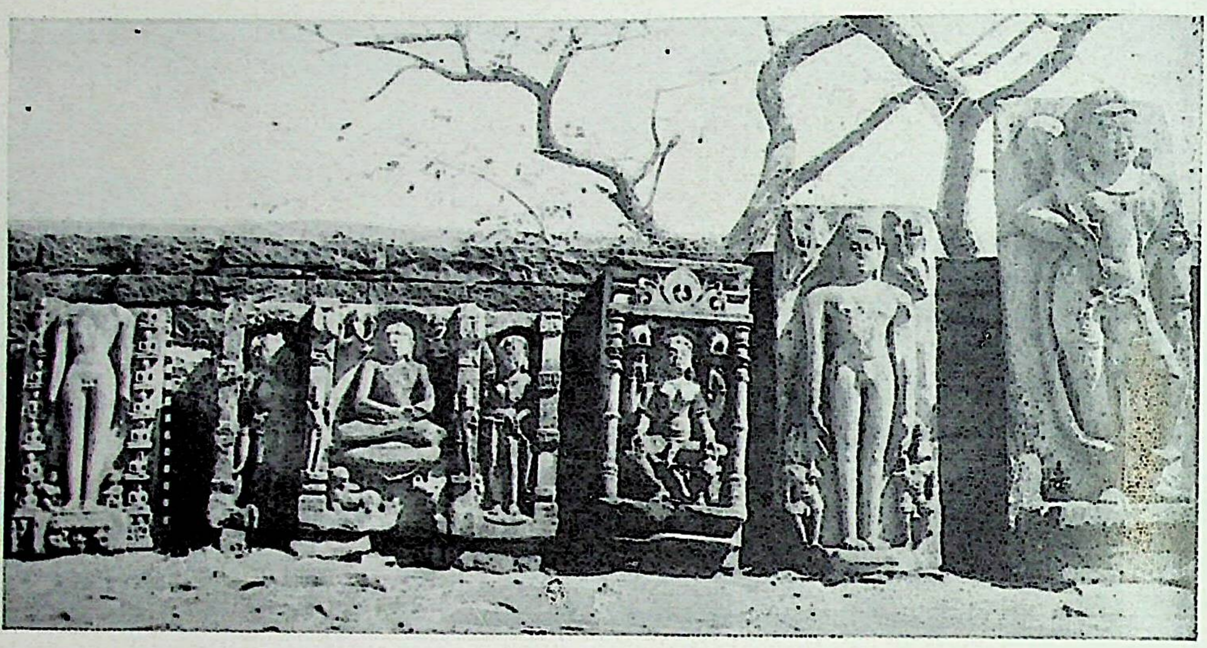

(क) ग्यारसपुर — तीर्थंकर और यक्षियाँ

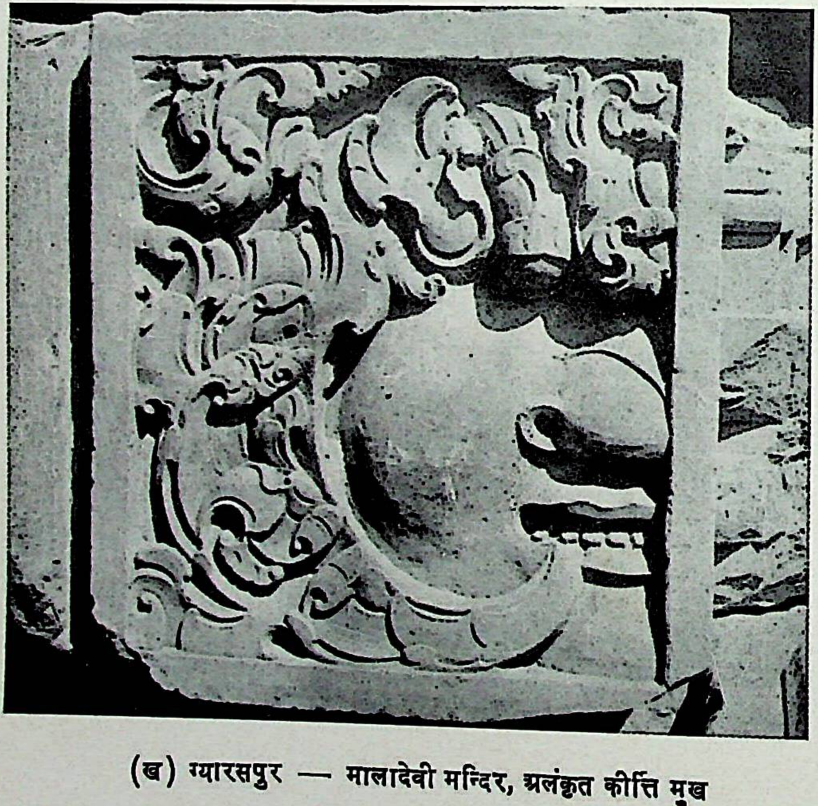

(ख) ग्यारसपुर — मालादेवी मन्दिर, अलंकृत कीर्त्ति मुख

चित्र 100

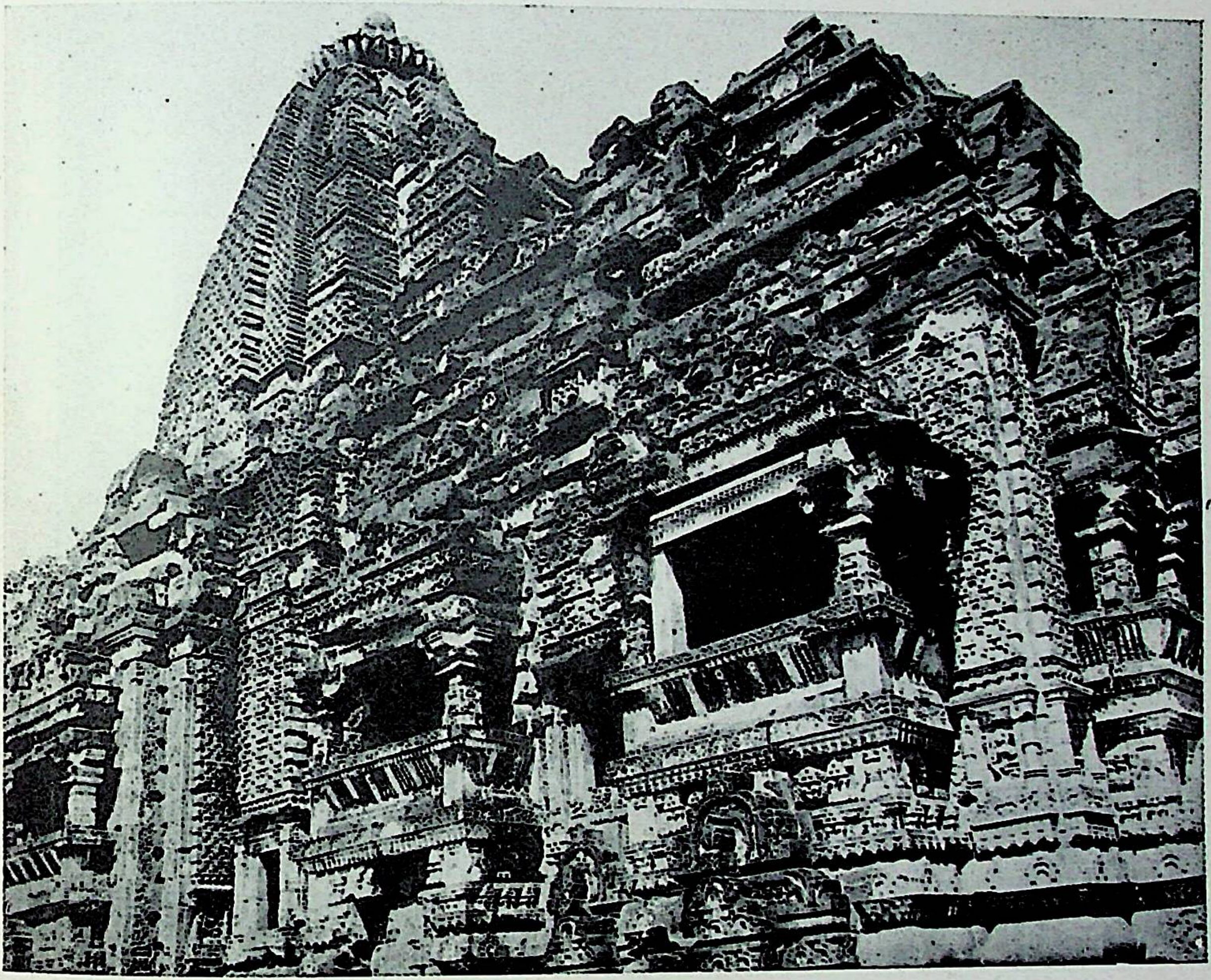

ग्यारसपुर — मालादेवी मन्दिर

चित्र 101

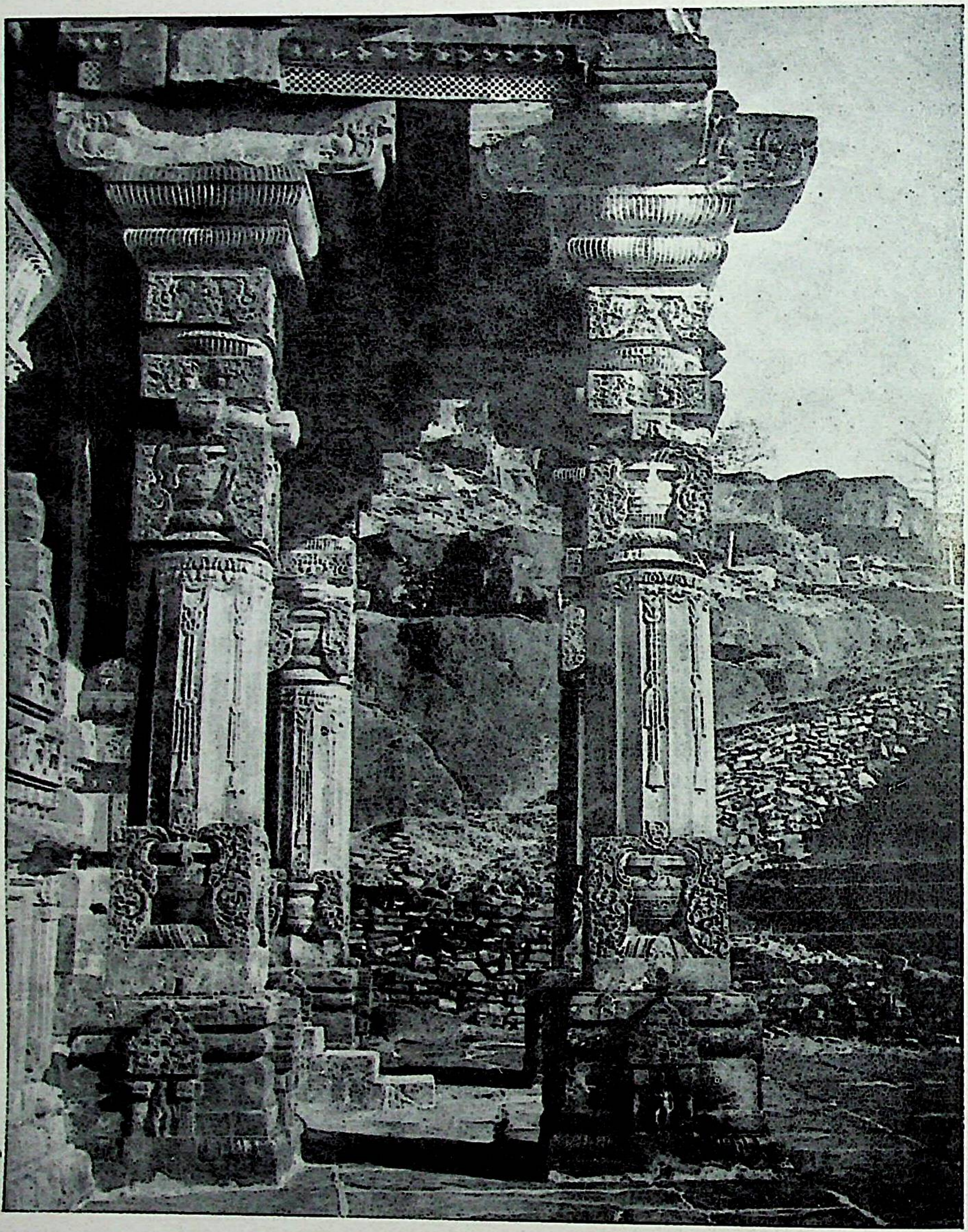

ग्यारसपुर — मालादेवी मंदिर, मुख-मण्डप

चित्र 102

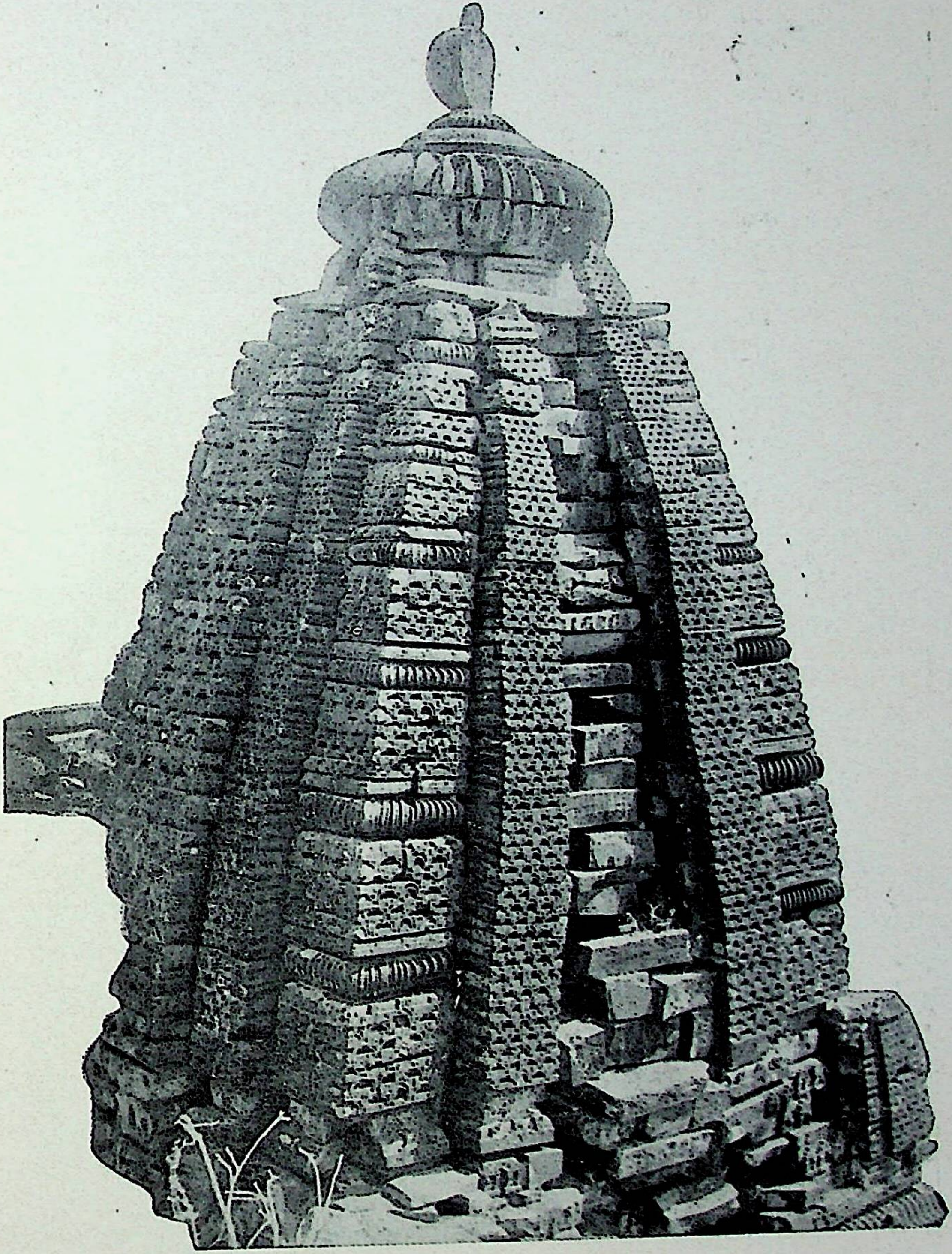

ग्यारसपुर — मालादेवी मंदिर, शिखर

चित्र 103

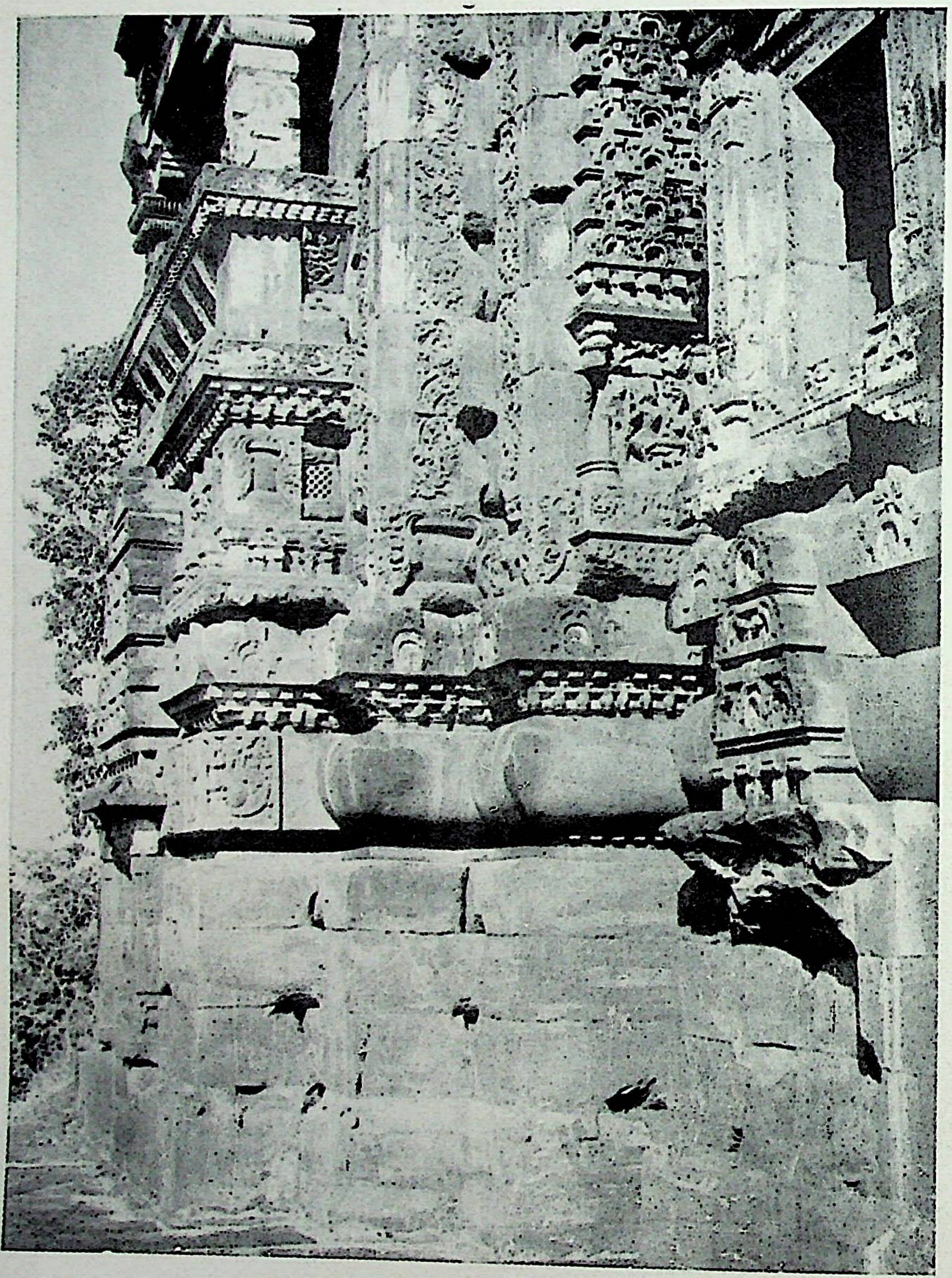

ग्यारसपुर — मालादेवी मन्दिर, जंघा

चित्र 104

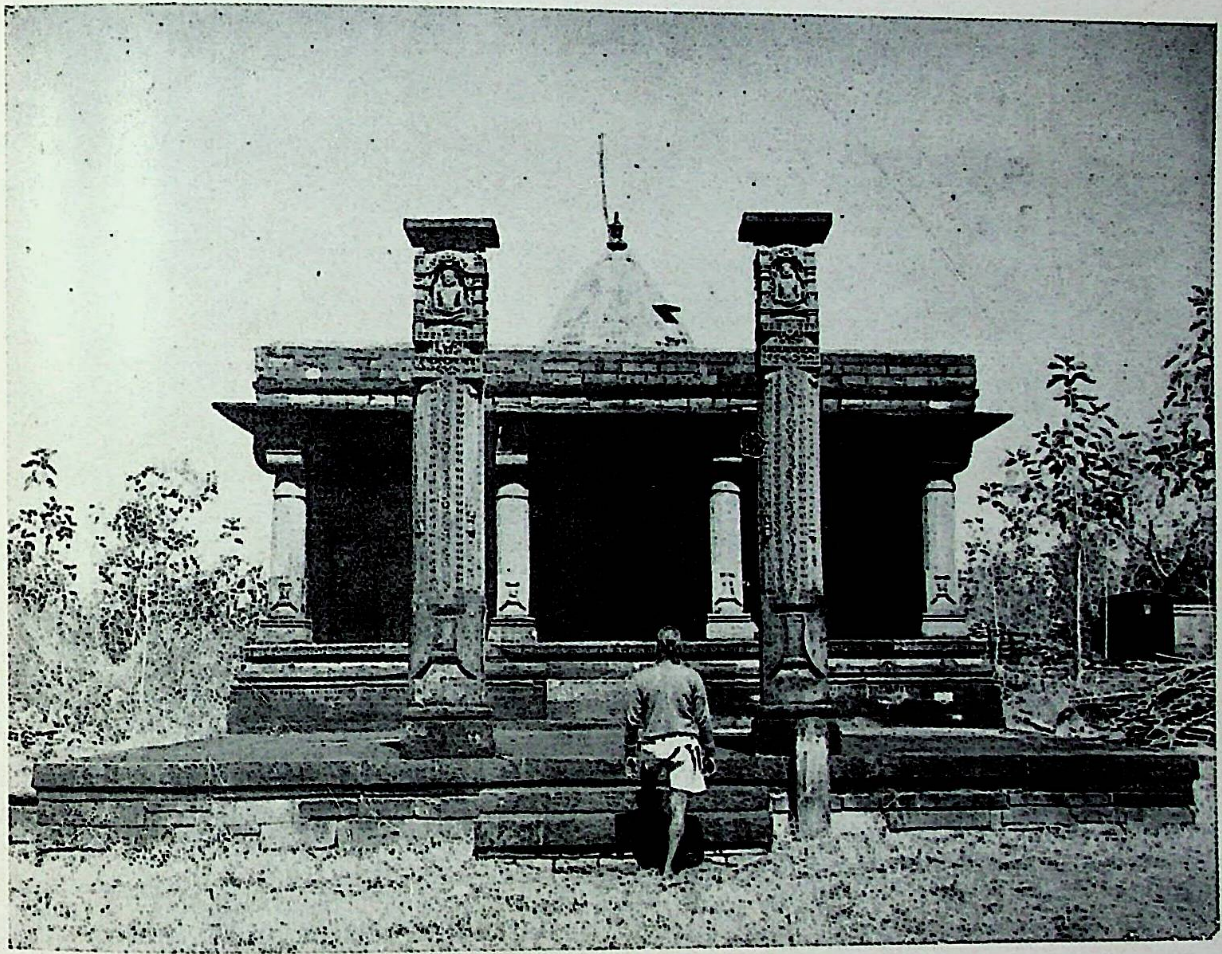

देवगढ़ — मन्दिर सं० 18

चित्र 105

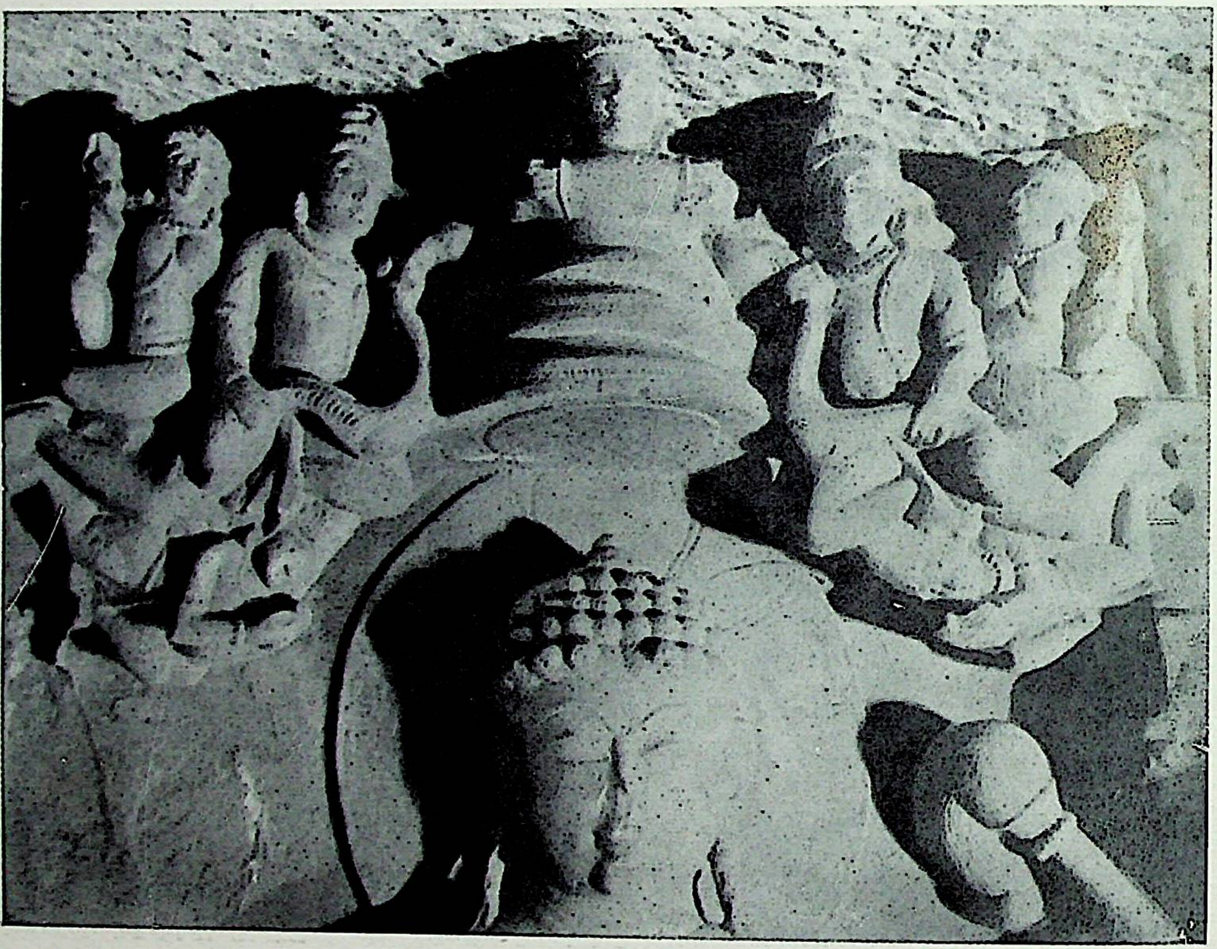

देवगढ़ — मंदिर सं० 21, आंतर-शिल्पांकन

चित्र 106

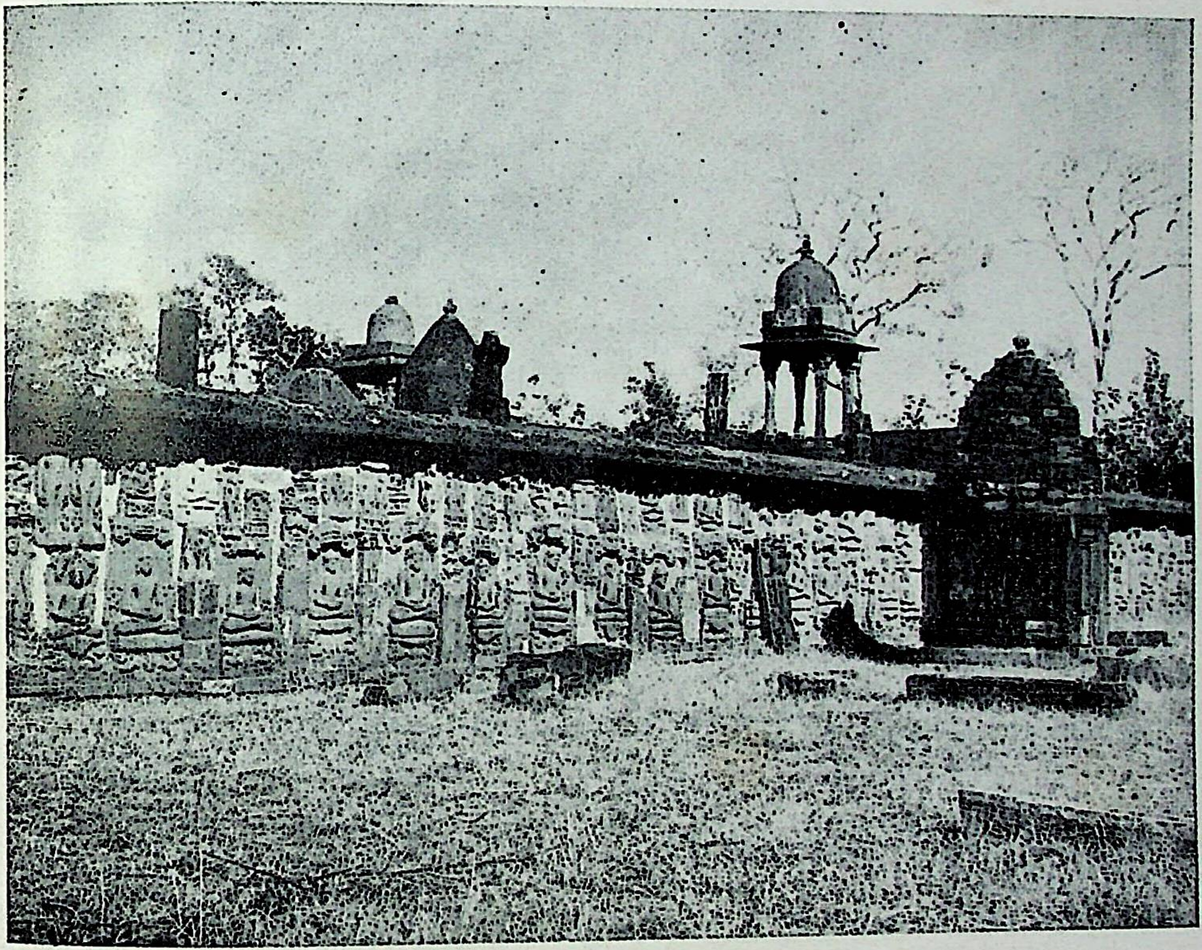

देवगढ़ — मंदिर सं० 12, दायाँ भाग, प्राकार में जड़ दी गई तीर्थंकर मूर्तियाँ

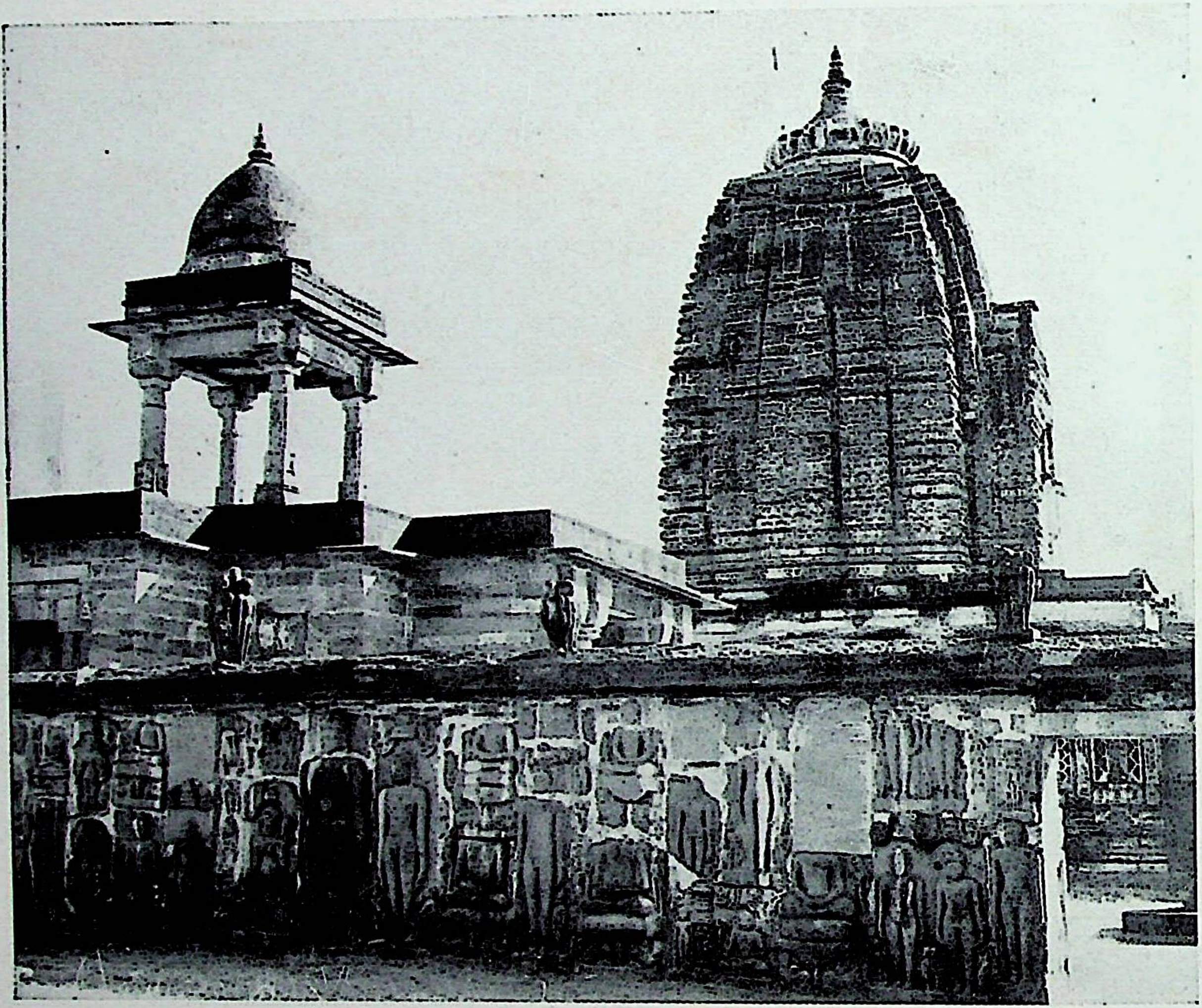

देवगढ़ — मन्दिर सं० 12, शिखर ग्रौर परवर्ती छत्री

चित्र 108

अभिलेखों से इनकी निर्माण-तिथि ज्ञात होती है। ये विशाल कक्षीय मंदिर चैत्यवासीय स्थापत्य के नमूने हैं, जो मध्य भारत के रणोद, कद्वाह तथा सुर्वाया जैसे स्थानों के शैव-मठों के अनुरूप हैं। मंदिर क्रमांक ५ एक विशेष प्रकार के शिखर से मण्डित है तथा इसके भीतर एक विशाल सहस्र कूट विद्यमान है। इस मंदिर में विक्रम संवत् ११२० का अभिलेख उत्कीर्ण है। यह मंदिर, मंदिर क्रमांक ३१ के अतिरिक्त, इसी कालखण्ड के अंतर्गत आता है। यहाँ उपलब्ध अनेक वास्तु-अवशेष और स्तंभ, जिनमें से कुछ मंदिर क्रमांक १२ के आस-पास पड़े हैं, अपनी विशेषताओं के आधार पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के हैं।

छोटे तथा पतले शिलाफलकों से निर्मित लघु मंदिर बारहवीं शताब्दी के माने जा सकते हैं। ये हैं मंदिर क्रमांक १८ (चित्र १०५), २१, २५, २६, २७ (ख) तथा ३०। मंदिर क्रमांक २१ में गुणनंदी-समूह के दो अभिलेख हैं, जिनका समय बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। इस मंदिर में कुछ प्रतिमाएँ भी स्थापित हैं (चित्र १०६)।

शेष मंदिर क्रमांक ४, ६, ८, १२ (ग) तथा १४ बारहवीं शताब्दी से परवर्ती हैं। इन मंदिरों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये ईंट जैसे छोटे-छोटे प्रस्तर-फलकों से निर्मित हैं, जिनकी चिनाई में सामान्यतः चूने का उपयोग हुआ है। मंदिर क्रमांक ६, १३, १५, १८ तथा २० समूहगत मंदिर हैं। विचाराधीन अवधि में ही इनकी मरम्मत की गयी थी और उसी समय मंदिर क्रमांक ४ तथा १५ के आगे प्रवेशमण्डपों का भी निर्माण किया गया। साथ ही, इसमें भी संदेह नहीं कि बहुत-से मंदिरों में बुंदेला युग में अकबरकालीन स्थापत्य शैली की छतरियों, उपशिखरों, मण्डपों तथा मुण्डेरों का अतिरिक्त निर्माण किया गया।

केवल दो मंदिरों, क्रमांक १० और १५ में वास्तु-अलंकरण देखने को मिलता है। दोनों ही मंदिर नौवीं शती के हैं। शेष मंदिर अपनी द्वारशाखाओं को छोड़कर अधिकांशतः अलंकरणविहीन हैं। मंदिर क्रमांक १२ तथा २८ पर रेखा-शिखर हैं। शेष मंदिर अधिकांशतः समतल शिखर-युक्त विशाल कक्षीय हैं, या फिर वे प्रवेश-मण्डपयुक्त मंदिर हैं जो गुप्तकालीन मंदिरों के समान हैं जिनमें मात्र एक समतल शिखरयुक्त गर्भगृह तथा प्रवेशमण्डप होता था।

देवगढ़ में मूर्तियाँ, मानस्तंभ और अभिलेख प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ पर मंदिरों तथा खुले स्थान में उपलब्ध प्रतिमाओं की संख्या एक हजार से ग्यारह सौ तक के लगभग है। इनमें से एक तीर्थंकर-प्रतिमा निश्चित रूप से गुप्तोत्तरकालीन (लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दियाँ) है, जबकि लगभग ५० प्रतिमाएँ नौवीं शती की हैं, जिनमें मंदिर क्रमांक १२ और १५ की मूल प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हैं। लगभग इतनी ही संख्या में दसवीं शती की प्रतिमाएँ हैं। शेष प्रतिमाएँ अधिकांशतः ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की हैं।

मंदिर क्रमांक १२ एक सांधार-प्रासाद है, जिसमें गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ और अंतराल सम्मिलित हैं। इस मंदिर के चारों ओर एक आधुनिक प्रकार की रचना की गयी है, जिसमें प्राचीन मूर्तियाँ

जड़ दी गयी हैं (चित्र १०७)। गर्भगृह की रूपरेखा पंच-रथ प्रकार की है, जिसमें पंच-रथ प्रकार का ही एक बृहद रेखा-शिखर है (चित्र १०८)। शिखर के सामने शुकनास है। इस मंदिर का वाह्य अलंकरण विशिष्ट प्रकार का है, जिसमें जंघाभाग पर जाल-वातायन और कुड्य एकांतर क्रम से निर्मित हैं। जालवातायन में देवकोष्ठ जड़े हैं, जिनके ऊपर उद्गम उत्कीर्ण हैं। जंघा के चारों ओर देवकोष्ठ हैं, जिनमें तीर्थंकरों और उनसे संबद्ध २४ यक्षियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। जंघा के तीनों भद्रों पर घनद्वार चित्रित हैं। जैसा कि अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है, यह मंदिर तीर्थंकर शान्तिनाथ को समर्पित किया गया था। मंदिर में तीर्थंकर शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा स्थापित है, जो पाँच मोटर से अधिक ऊँची है और गर्भगृह की पूरी ऊँचाई के लगभग है। मूर्ति एक विशाल परिकर से युक्त है, जिसके पार्श्वों में चमरधारियों की स्मितमुख प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं, जो त्रि-भंग की आकर्षक मुद्रा में खड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त अंबिका यक्षी की चार पृथक् प्रतिमाएँ हैं, जो चमरधारियों की भाँति मनोरम त्रि-भंग-मुद्रा में खड़ी है। इनमें से दो प्रतिमाएँ गर्भगृह के अंतःभाग में स्थित हैं और दो बहिर्भाग में। ये सभी प्रतिमाएँ नौवीं शती की उत्कृष्ट प्रतीहार-शैली में उत्कीर्ण हैं।

मंदिर क्रमांक १५ एक त्रि-पुरुष-प्रासाद (तीन मंदिर का समूह) है। इसका शिखर नष्ट हो चुका है और मूल शिखर के स्थान पर अब बुंदेल शैली की एक कुरूप छतरी पड़ी है। मंदिर का वेदी-बंध नीचा है तथा जंघाभाग सादा है, किन्तु इसपर उद्गमों से आच्छादित कम उभार की उत्कीर्ण मूर्तियों से युक्त देवकोष्ठ हैं। तीनों गर्भगृहों के लिए एक ही नवरंग मण्डप की योजना हुई है। इसमें मुखमण्डप के द्वार से प्रवेश किया जाता है। मण्डप का समतल वितान चार केंद्रीय स्तंभों तथा बारह कुड्य-स्तंभों पर आधारित है। स्तंभ और कुड्य-स्तंभ-घट-पल्लव, पद्म-पिण्ड, ताल-वृन्त तथा आमलक जैसे प्रतीहारकालीन विशिष्ट अलंकरणों से सुसज्जित हैं। इसी प्रकार प्रवेशद्वार भी प्रतीहारकालीन विशेष अलंकरणों से अलंकृत हैं जिनमें घण्टा-किंकिणि के चित्रण सम्मिलित हैं। इस मंदिर की मूलनायक पद्मासन तीर्थंकर-प्रतिमा पूर्व-मध्यकालीन कला की एक श्रेष्ठ कृति है जिसके मुखमण्डप से आत्मिक शांति और तपश्चर्या की दीप्ति प्रभासित हो रही है। सूक्ष्म प्रतिरूपण एवं भाव-संयोजन के लिए यह प्रतिमा सारनाथ की गुप्तकालीन बुद्ध की प्रसिद्ध प्रतिमा के समकक्ष है। इस मंदिर के भद्रों पर निर्मित देवकोष्ठों में अंकित खड्गासन तथा पद्मासन प्रतिमाएँ भी नौवीं शती की प्रतीहारकला की विशिष्ट कृतियाँ हैं। यह मंदिर शैली के अनुसार मंदिर क्रमांक १२ से लगभग दो दशक परवर्ती है।

कृष्णदेव

अध्याय 17

पश्चिम भारत

पश्चिम भारत में जैन कला की प्रारंभिक कृतियों के रूप में हमारा परिचय उन ६८ कांस्य प्रतिमाओं से है जो बड़ौदा नगर के वाह्य अंचल में अकोटा के भूमिगत भण्डार[1] से प्राप्त हुई हैं और जिनका रचनाकाल पाँचवीं शती के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं शती तक निर्धारित किया जाता है। इन प्रतिमाओं में ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ और अजितनाथ सहित अनेक तीर्थंकरों, जोवंतस्वामी, सरस्वती, अच्छुप्ता तथा अंबिका (चित्र १०९) की अनेक मूर्तियों सहित अन्य यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं। तीर्थंकर-प्रतिमाएँ खड्गासन या पद्मासन-मुद्रा में निर्मित हैं तथा उनके पार्श्व में सर्वानुभूति यक्ष और अंबिका यक्षी की प्रतिमाएँ अंकित हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ त्रि-तीर्थिक (चित्र ११०), षट्-तीर्थिक और अष्ट-त्रि-तीर्थिक तथा एक चतुर्विंशति-पट्ट (चित्र १११) के रूप में परिष्कृत रचना शैली की प्रतीक हैं। इन ६८ प्रतिमाओं में से ३० अभिलेखांकित हैं, जिनमें से दो प्रतिमाओं पर निश्चित तिथियाँ— शक संवत् ६९१ तथा विक्रम संवत् १००६ भी अंकित हैं। पुरालेखीय एवं शैलीगत अध्ययन के आधार पर इन प्रतिमाओं में से कम से कम २८ का रचनाकाल सातवीं शती से पूर्व का निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार ये प्रतिमाएँ छठी तथा सातवीं शताब्दियों की सजीव कलात्मक गतिविधियों का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। पाँचवीं शती के अंतिम चरण की ऋषभनाथ और जीवंतस्वामी[2] की कांस्य प्रतिमाएँ तथा आठवीं शती की निर्धारण करने योग्य तथा चमर-धारिणी[3] की कांस्य प्रतिमा वस्तुतः पश्चिम भारतीय कला की श्रेष्ठतम कृतियाँ हैं।

वल (वलभी) से प्राप्त कांस्य निर्मित तीर्थंकर-प्रतिमाओं[4], जिनका समय पुरालेखीय आधार पर छठी शती निर्धारित किया जा सकता है, की तुलना अकोटा से प्राप्त कुछ समनुरूप प्रतिमाओं से की जा सकती है; यद्यपि, वल (प्राचीन वलभी) से प्राप्त तीर्थंकर-प्रतिमाएँ कलात्मक दृष्टि से

---

[1] शाह (उमाकांत प्रेमानंद). **अकोटा ब्रोंजेज**. 1959. बम्बई. [प्रारंभिक कांस्य प्रतिमाओं के विषय में अध्याय 13 में विवेचन किया जा चुका है—संपादक]

[2] वही, चित्र 8-9 [अध्याय 13 भी द्रष्टव्य—संपादक]

[3] वही, चित्र 42-43.

[4] वही, पृ 21, चित्र 21 [अध्याय 13 भी द्रष्टव्य—संपादक]

कुछ स्थूल हैं और उनमें पतली देह-यष्टि पर अपेक्षाकृत भारी सिर निर्मित किये गये हैं। वल से प्राप्त प्रतिमाओं का वस्त्रांकन सिरोही[1] जिले में वसंतगढ़ से प्राप्त ६८७ ई० की तीर्थंकर की एक सुंदर कांस्य प्रतिमा के वस्त्रांकन का पूर्वरूप है। वसंतगढ़ से ही लगभग ७०० ई० की सरस्वती की खड्गासन-मुद्रा में अंकित एक छोटी-सी ताम्र-प्रतिमा तथा तीन कलात्मक रूप से उत्कीर्ण त्रि-तीर्थिक कांस्य प्रतिमाएँ, जिनका समय लगभग सन् ७५० निर्धारित किया जा सकता है, प्राप्त हुई हैं। भिनमाल[2] से प्राप्त खड्गासन मुद्रा में दो कांस्य तीर्थंकर-प्रतिमाओं का, जिनका समय आठवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है, वस्त्रांकन ६८७ ई० की निर्मित वसंतगढ़ की कांस्य तीर्थंकर-प्रतिमा के अनुरूप है, वैसे भिनमाल की प्रतिमाओं की रचना कुछ बेडौल तथा कलात्मक दृष्टि से निम्नस्तरीय है। इसी स्थान से प्राप्त और इसी काल की निर्मित, पद्मासन-मुद्रा में ऋषभनाथ[3] की कांस्य प्रतिमा उच्च श्रेणी की है, जिसकी तुलना वसंतगढ़ की तिथियुक्त तीर्थंकर-प्रतिमा से की जा सकती है।

ओसिया स्थित आठवीं शताब्दी के महावीर-मंदिर की पाषाण-प्रतिमाएँ प्रतिरूपण और स्थूल रचना में सामान्यतः अकोटा तथा वसंतगढ़ की समकालीन कांस्य प्रतिमाओं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, के समान हैं किन्तु सामग्री की विविधता के कारण उनमें स्पष्टतः कुछ अंतर है। सिरोही जिले में नंदिया स्थित सातवीं/आठवीं शती के महावीर-मंदिर के चमरधारी अनुचरों की पाषाण-प्रतिमाएँ[4] प्रतिरूपण की उत्कृष्टता प्रदर्शित करती हैं। भटेवर से प्राप्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा जो अब गुजरात के चंस्मा स्थित जैन मंदिर में है, शैलीगत रूप से इसी काल की है।

नौवीं शताब्दी की राष्ट्रकूट कला का एक उत्तम उदाहरण हमें धूलिया जिले के चहरदी[5] से प्राप्त कांस्य चतुर्विंशति-पट्ट पर ऋषभनाथ की एक सुंदर प्रतिमा के रूप में प्राप्त है। इस प्रतिमा की नेत्र-रचना तथा अनुचरों की आकृतियों के अंकन में कर्नाटक का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा चंद्रकुल के प्रद्युम्नाचार्य के एक शिष्य द्वारा स्थापित करायी गयी थी। इस प्रतिमा की समकालीन तथा इन्हीं आचार्य को उनके एक अन्य शिष्य द्वारा समर्पित पार्श्वनाथ की एक अन्य कांस्य निर्मित त्रि-तीर्थिक प्रतिमा है जिसके पार्श्व में गज पर आरूढ़ एक यक्ष (मातंग ?) और सिंह पर आरूढ़ अंबिका यक्षी अंकित है। यह प्रतिमा जैसलमेर के निकट अमरसागर के जैन मंदिर में प्रतिष्ठित है, जहाँ आज भी उसकी उपासना होती है। राष्ट्रकूट मूर्तिकला अपने उत्कृष्टतम रूप में ऐलोरा की जैन गुफाओं की प्रतिमाओं से समानता कर सकती है।[6]

---

[1] शाह, पूर्वोक्त, पृ 22, चित्र 19, 49 तथा 72.

[2] वही, पृ 22, चित्र 35 ए तथा 35 बी.

[3] वही, चित्र 29 ए.

[4] क्रमरिश (स्टेला). आर्ट ऑफ इण्डिया. चित्र 54.

[5] शाह, पूर्वोक्त, पृ 24, चित्र 7.

[6] [इसका विवेचन अध्याय 18 में किया गया है—संपादक]

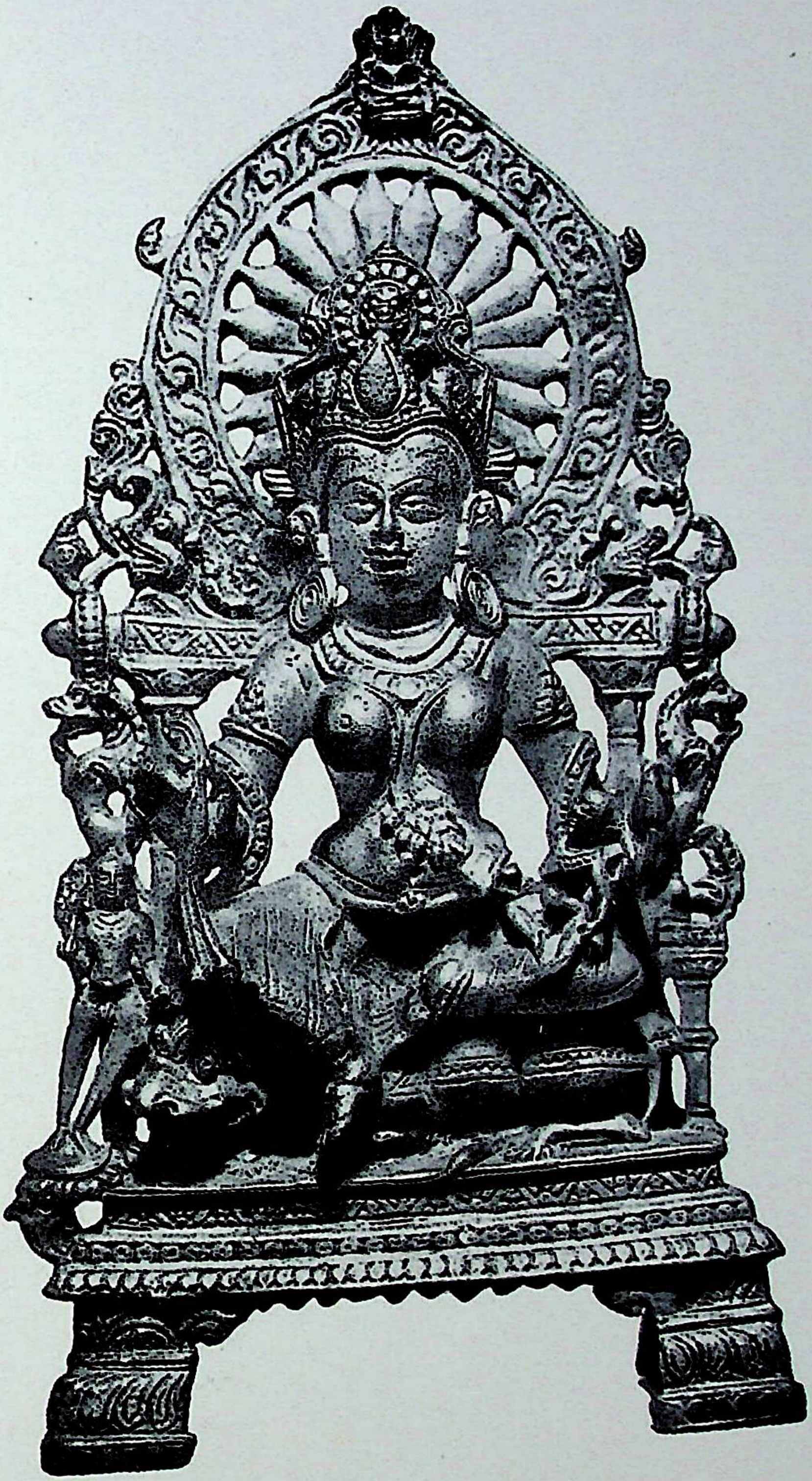

अकोटा — अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 109

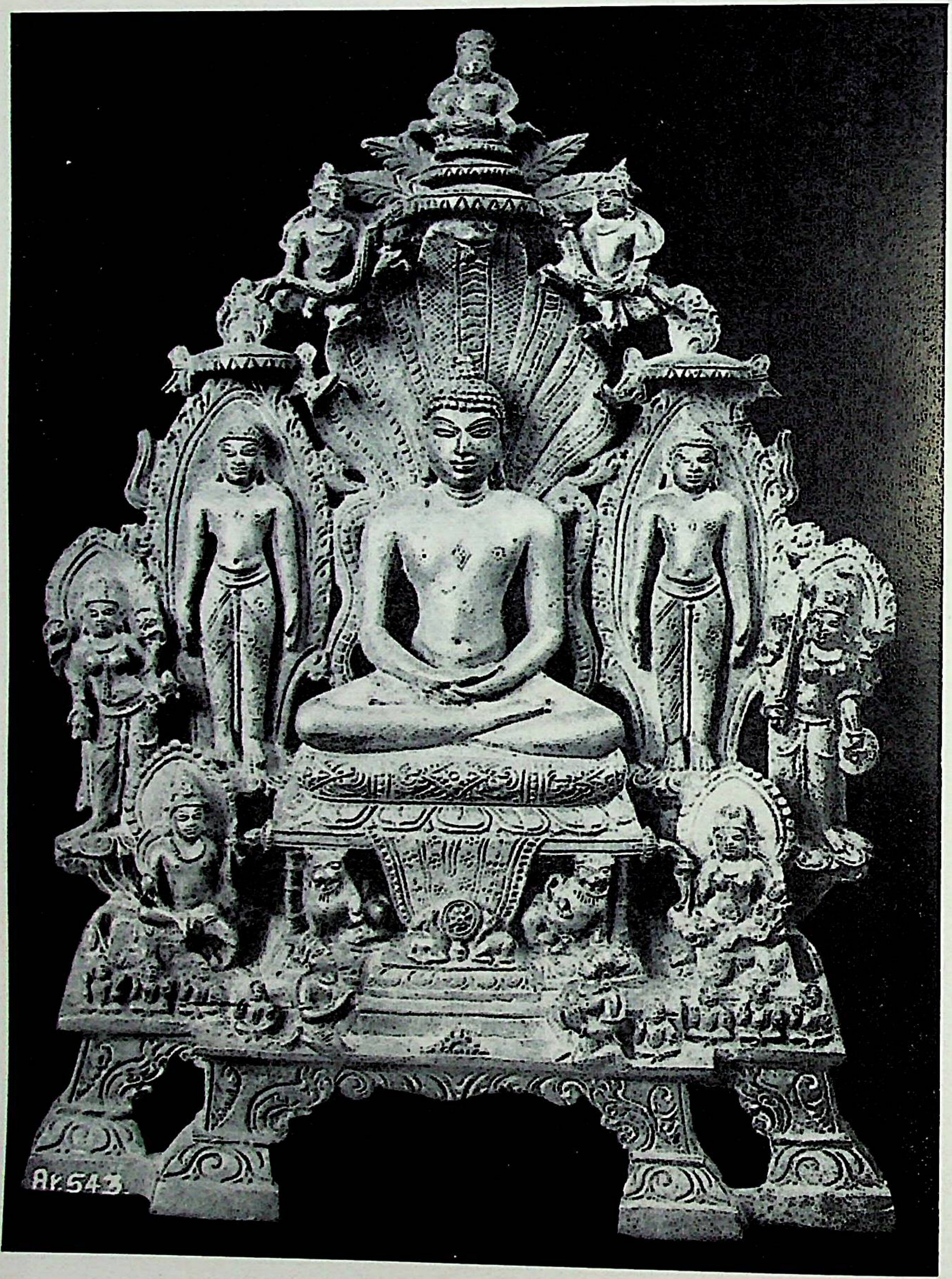

अकोटा — तीर्थंकर पार्श्वनाथ, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 110

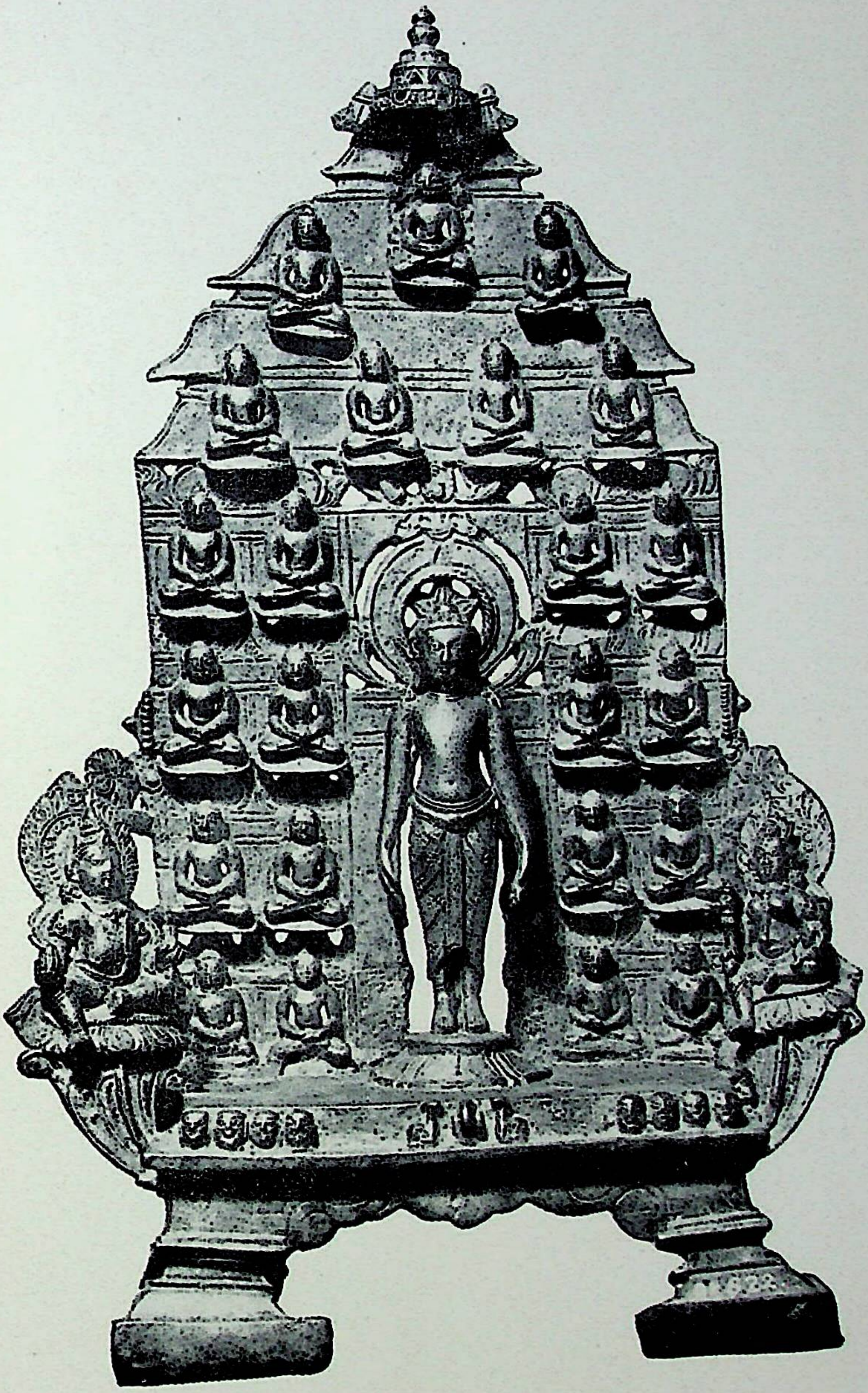

अकोटा — चतुर्विंशति-कांस्य पट्ट (बड़ोदा संग्रहालय)

चित्र 111

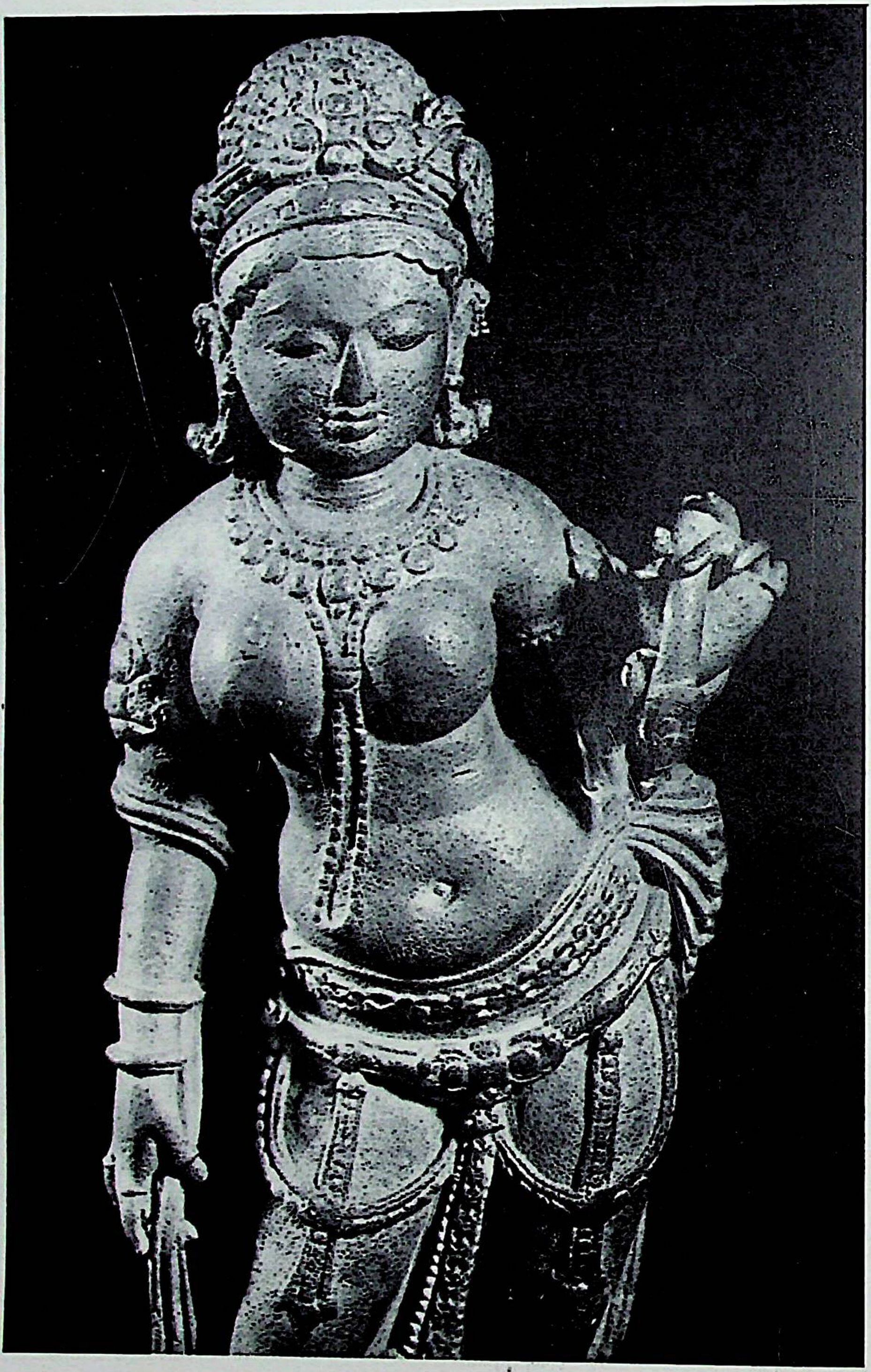

अकोटा — चमरधारिणी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

चित्र 112

अकोटा, वलभी, वसंतगढ़ और भिनमाल में उपलब्ध जैन प्रतिमाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छठी-सातवीं शताब्दियों में इन स्थानों पर जैन मंदिर विद्यमान थे। अकोटा से प्राप्त सातवीं शताब्दी की अभिलेखांकित पार्श्वनाथ की प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति रथ-वसतिका में प्रस्थापित की गयी थी। इसी स्थान से प्राप्त और लगभग सन् १००० की एक अन्य अभिलेखांकित ऋषभनाथ की प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है कि वह द्रोणाचार्य द्वारा अंकोट्टक-वसतिका में प्रस्थापित की गयी थी। इस प्रकार रथ-वसतिका और अंकोट्टक-वसतिका अकोटा स्थित जैन मंदिरों के नाम थे, जहाँ अभिलेखों के अनुसार लगभग छठी शताब्दी के प्रमुख जैनाचार्य जिनभद्र वाचनाचार्य द्वारा भी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं।

जैन साहित्य से ऐसे अनेक जैन मंदिरों के अस्तित्व का संकेत मिलता है, जो आज नष्ट हो चुके हैं। वताया जाता है कि वनराज-चापोत्कट ने पंचासर के तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा हेतु अनहिलवाड़ पाटन में वनराज-विहार की स्थापना करायी थी, जहाँ उसके मंत्री निन्नय ने, जो राज्यपाल विमल का पूर्वज था, सन् ७४६ के लगभग तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रतिष्ठा में एक मंदिर बनवाया था। निन्नय ने चंद्रावती में भी एक जैन मंदिर का निर्माण कराया था। लगभग उसी अवधि में वटेश्वर-सूरी की प्रेरणा से उत्तर-पश्चिम गुजरात के थराड नामक स्थान पर ऋषभ-मंदिर का निर्माण किया गया। जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण नामक ग्रंथ का लेखन सन् ७८३ में वर्धमान (वध्वन) स्थित पार्श्वनाथ मंदिर (नन्नराजवसति) में रहकर किया था। इस ग्रंथ में दोस्ततिका स्थित शांतिनाथ के मंदिर और गिरनार पहाड़ी पर स्थित अंबिका के मंदिर का उल्लेख मिलता है। आठवीं शताब्दी में प्रभास नामक स्थान पर तीर्थंकर चंद्रप्रभ के दिगंबर और श्वेतांबर मंदिर विद्यमान थे। दिगंबर आम्नाय ने ऊन नामक नगर में पार्श्वनाथ-मंदिर तथा खंभात में एक अन्य जैन मंदिर का निर्माण कराया था।

बताया जाता है कि उद्योतन-सूरि के पूर्ववर्ती यक्षदत्त-गणि ने पश्चिम भारत में जैन मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें भिनमाल के मंदिर भी सम्मिलित हैं। उद्योतन-सूरि ने अपने कुवलय-माला नामक ग्रंथ का समापन सन् ७७९ में जालौर स्थित आदिनाथ के अष्टापद-प्रासाद में किया था। हरिभद्र-सूरि के समय आठवीं शताब्दी में चित्तौड़ में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ था। जयसिंह-सूरि (सन् ८५९) के अनुसार नागौर में भी जैन मंदिर विद्यमान थे।

मध्यकाल के पूर्वार्ध में पश्चिम भारत के विभिन्न राज्य-वंशों के शासकों में जैन धर्म को संरक्षण देने तथा जैन मंदिरों के निर्माण और उनके संचालन के लिए अनुदान देने में प्रतिस्पर्द्धा रहा करती थी। प्रतीहार नागभट-प्रथम (लगभग ७५०-५६) ने जालौर में अपने गुरु यक्षदत्त-गणि के सम्मान में यक्ष-वसति नामक जैन मंदिर का निर्माण कराया था। साचोर और कोरता के प्रसिद्ध महावीर-मंदिरों को भी परंपरागत मान्यताओं के अनुसार यक्षदत्त-गणि से संबंधित बताया जाता है। अध्याय १४ में उल्लिखित ओसिया स्थित महावीर-मंदिर का निर्माण प्रतीहार वत्सराज (लगभग ७७२-९३) द्वारा

कराया गया था। उसके उत्तराधिकारी नागभट-द्वितीय (सन् ७९३-८३३) ने अपने गुरु बप्पभट्टि-सूरि का सम्मान किया और कन्नौज तथा गोपगिरि में जैन मंदिरों का निर्माण कराया। बप्पभट्टि-सूरि के शिष्य नन्न-सूरि और गोविंद-सूरि का प्रतीहार सम्राट् मिहिर भोज (लगभग ८३६-८५) द्वारा उचित स्वागत-सम्मान किया गया था। मंदौर के प्रतीहार कक्कुकराज द्वारा सन् ८६१ में घटियाला नामक स्थान पर जैन मंदिर का निर्माण कराया गया था। मेवाड़ के गुहिल भर्तृभट-प्रथम ने भटेवर नगर में, जिसकी उसने लगभग सन् ९३० में स्थापना की थी, गुहिल-विहार का निर्माण कराया। हठूँडी के राष्ट्रकूट शासकों में विदग्धराज ने हठूँडी में सन् ९१७ में ऋषभ-मंदिर का निर्माण कराया था तथा उसके पुत्र मम्मट और प्रपौत्र धवल ने इस मंदिर की व्यवस्था और पुनर्निर्माण के लिए अनुदान दिये।

दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रघुसैन नामक एक राजकुमार ने उत्तर-पश्चिम गुजरात के रामसैन नामक स्थान पर एक जिन-भवन का निर्माण कराया। किन्तु गुजरात के चौलुक्य शासकों द्वारा कराये गये निर्माण-कार्य इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मूलराज-प्रथम (९४२-९५) ने अनहिलवाड़ पाटन में दिगंबर आम्नाय के लिए मूल-वसतिका तथा श्वेतांबरों के लिए मूलनाथ-जिनदेव-मंदिर का निर्माण कराया था। उसके उत्तराधिकारी चामुण्डराज ने सन् ९७७ में वदसम स्थित जैन मंदिर को अनुदान दिया था। उत्तरवर्ती चौलुक्य नरेशों द्वारा कराये गये निर्माण-कार्यों का विवेचन यथास्थान आगामी अध्याय में किया जायेगा।

कृष्णदेव

अध्याय 18

दक्षिणापथ

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विंध्याचल से दक्षिणवर्ती भारत के इतिहास में छठी शती के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं शती तक पाँच सौ वर्ष लंबा समयांतराल अत्यंत घटनाशील रहा है क्योंकि इस काल में मंदिर-स्थापत्य तथा मूर्ति, चित्र एवं अन्य संबद्ध कलाओं का उद्‌भव और विकास अपने चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचा, विंध्य सीमा से पार यह दक्षिणवर्ती भू-भाग तीन उन्नत राज्यों की सार्वभौमिकता में आता था – दक्षिणापथ में चालुक्य राज्य जिसकी राजधानी वातापी (बादामी) थी, पूर्ववर्ती तटीय क्षेत्र में पल्लव राज्य जिसकी राजधानी कांची थी एवं सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य राज्य जिसकी राजधानी मदुरै थी। तीनों राज्य न केवल राजनीति वरन् स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा नृत्य कलाओं और साहित्य में भी परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे। एक ओर जहाँ चालुक्य नरेश पुलकेशी (६०९-४२) ने हर्षवर्धन के दक्षिणी राज्य-विस्तार को सफलतापूर्वक रोके रखा, वहीं दूसरी ओर पल्लव राजा नरसिंहवर्मन-प्रथम मामल्ल (६३०-६८) ने पुलकेशी को परास्त करके बारह वर्ष तक वातापी को अपने अधीन रखा। उधर पाण्ड्य नरेश पल्लव राजाओं के दक्षिणी विस्तार को रोकने के साथ-साथ निकटवर्ती श्रीलंका में अपनी राज्य-सत्ता फैलाने में सफल हो गये थे। पूर्वी चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग, मुत्तरैयार, नोलंब, इरुक्कुवेल-जैसे छोटे-छोटे राज्य बड़े राज्यों के मित्रराष्ट्र या उनके अंतस्थराज्य के रूप में विभाजित थे। इन राज्यों का भी तत्कालीन कलात्मक एवं साहित्यिक परंपराओं और उपलब्धियों में अपना योगदान रहा। जब पल्लव और पाण्ड्य सत्ताएँ नौवीं शती के मध्य तक अपने-अपने क्षेत्रों में अखंड प्रभुत्व संपन्न बनी रहीं, वातापी के चालुक्य राजाओं में सत्ता का विभाजन हो गया था। पुलकेशी-द्वितीय के अंतिम दिनों में उसके भाई कुब्ज विष्णुवर्धन (६२४-४१) ने चालुक्य राज्य से पृथक् होकर आंध्र के तटीय क्षेत्रों में स्वतंत्र सत्तावान पूर्वी या वेंगी चालुक्य राज्य स्थापित किया था। इसके उपरांत वातापी की राज्य सत्ता आठवीं शती के मध्य में राष्ट्रकूट राजाओं के हाथ में चली गयी, जिन्होंने मान्यखेट (मलखेड) को अपनी राजधानी बनाया। दूसरी ओर, नौवीं शती के मध्य में सुदूर दक्षिण की पल्लव एवं पाण्ड्य सत्ताओं पर तंजौर के चोल-सम्राटों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। ग्यारहवीं शती के आगमन तक दक्षिण में सार्वभौम सत्ता और कला एवं स्थापत्य के सृजन के लिए केवल दो ही प्रतिद्वंद्वी थे—राष्ट्रकूट एवं चोल राज्य; वेंगी चालुक्य राज्य की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से गौण थी।

जिस काल के राजनीतिक घटनाक्रम का यहाँ विवरण दिया गया है उसी काल में दक्षिण में शैव नायनमार तथा वैष्णव आलवार के भक्तिपंथों की वढ़ती लोकप्रियता से जैन धर्म के उत्कर्ष को चुनौती का सामना करना पड़ा था। शैव नायनमार तथा वैष्णव आलवार-संत, कवि एवं संगीतज्ञ, तमिलनाडु एवं सीमावर्ती क्षेत्रों में अधिक लोकप्रिय थे, किंतु कन्नड़ और तेलुगु प्रदेशों में इन दिनों जैन धर्म लुप्तप्राय वौद्ध धर्म के स्थान पर अधिक लोकप्रियता पा रहा था। अनेक राजवंशों के नरेश जैन धर्म का पालन करते थे और उनमें से अनेक ने जैन धर्म को राजधर्म भी वनाया था; अन्य राजा जैन धर्म को प्रश्रय देने के साथ-साथ इससे संवद्ध क्रिया-कलापों एवं संस्थाओं के प्रति उदार थे। उत्पादकों, शिल्पियों एवं वणिक वर्ग के सामूहिक समाज (संघ) भी इसी प्रकार सभी आम्नायों के मंदिरों तथा धार्मिक संस्थाओं के संरक्षक थे। राजकीय प्रश्रय के अभाव में यह संरक्षण वहुधा और भी अधिक सक्षम सिद्ध होता था तथा कई उदाहरणों में राजकीय प्रश्रय का स्थानापन्न होता था। जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र श्रवणवेलगोला (तमिल जैनों में वप्पारम और अरुकुड़म् के नाम से विदित) था। परंपरानुसार अंतिम श्रुतकेवली भद्रवाहु (जिनका समय ईसवी सन् से भी पूर्व का है) से संवद्ध यह स्थान महान् कुंदकुंदाचार्य का स्थल और प्रथम शती ईसवी में उनकी कुंदकुंदान्वय परंपरा का केन्द्र रहा। तदुपरांत, अर्हंदवली ने मूलसंघ को चार वर्गों में विभाजित किया, जिनके नाम हैं: नंदि, सेन, देव, एवं सिंह। प्रत्येक संघ पुनः गच्छों एवं गणों में विभाजित था। इसी समय वज्रनंदी द्वारा द्रविड़ संघ की स्थापना की गयी जिसकी शाखाएँ समस्त तमिलनाडु में थीं और यह संघ श्रवणबेलगोला के मूलसंघ से भी संवद्ध था।

जैन गुरुओं के मुख्य अधिष्ठान पहाड़ी उपत्यकाओं में हुआ करते थे, जिनमें प्रायः प्राकृतिक गुफाएं या ओटें होती थीं। जन साधारण की पहुँच से दूर इन स्थानों में कहीं कोई झरना या पहाड़ी झील मिल जाती थी (अध्याय ६)। वारहवीं शती तक इस प्रकार के अनेक स्थल उपयोग में लाये जाते रहे। प्राकृतिक गुफाओं में प्रायः इंटों से मंदिरों का निर्माण कर लिया जाता था जिनमें स्थापत्य कला के विशिष्ट अवयव होते थे। इन मंदिरों में प्लास्टर तथा रंगों का भी प्रयोग किया जाता था। इस श्रेणी के सातवीं-आठवीं शताब्दियों के निर्मित मंदिर निकट अतीत में ही प्रकाश में आये हैं। इनके भग्नावशेष उत्तर अर्काट जिले में तिरक्कोल और आर्मामलै में उपलब्ध हुए हैं जिनमें से आर्मामलै के खण्डहरों में एक ओर शित्तन्नवासल से टक्कर लेते हुए तथा दूसरी ओर ऐलोरा की जैन चित्रकला से मेल खाते हुए चित्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। चिंगलपट जिले में वल्लिमलै, श्रवणवेलगोला की चंद्रगिरि पहाड़ी पर गुफा-मंदिर एवं अन्य जिलों में इसी प्रकार के अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। उत्तर-अर्काट में तिरुमलै का मंदिर सबसे बड़ा मंदिर है। इसकी रचना में चोल तथा राष्ट्रकूट स्थापत्य शैलियों के संरचनात्मक तत्त्व समाविष्ट हैं और साथ ही दोनों शैलियों की मूर्ति एवं चित्रकला के अंश भी विद्यमान हैं। वल्लिमलै की प्राकृतिक कंदराओं में से एक के वितान पर उत्कीर्ण तीर्थंकर की मूर्ति युक्त मंदिर जिसे अब सुब्रह्मण्य मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है तथा दूसरी कंदरा में ज्वालामालिनी यक्षी का मंदिर उक्त शैली के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

छठी शती के अंतिम चतुर्थांश में राजकीय प्रश्रय के अंतर्गत ब्राह्मण्य एवं जैन धर्मों के धार्मिक प्रासादों के निर्माण में चट्टान तथा प्रस्तर के विशेष प्रयोग से एक नये युग का सूत्रपात्र हुआ। ५७८ में चालुक्य मंगलेश ने बादामी में स्थानीय चिकने बलुए पत्थर की चट्टानों में विष्णु को समर्पित गुफा-मंदिर शैलोत्कीर्ण करवाया था।

गुफा-मंदिर

चालुक्यकालीन गुफा-मंदिरों में आयताकार स्तंभयुक्त बरामदा या मुखमण्डप, एक न्यूनाधिक वर्गाकार स्तंभयुक्त कक्ष या महामण्डप और लगभग वर्गाकार गर्भगृह होते हैं। ये मण्डप-शैली के मंदिरों के उदाहरण हैं जिनमें उर्ध्वस्थ चट्टान के मुख पर एक के वाद दूसरे कक्ष निर्मित होते हैं। वादामी पहाड़ी शिखर के उत्तरी ढाल पर उत्कीर्ण चार मंदिरों में से अंतिम (जो कालक्रमानुसार भी अंतिम है) और सर्वोत्कृष्ट एक जैन मंदिर सातवीं शती के मध्य में उत्कीर्ण ऐसे जैन मंदिरों का एकमात्र उदाहरण है (चित्र ११३ क)। यहाँ निर्मित अन्य तीन ब्राह्मण्य मंदिरों की रूपरेखा के समान होते हुए भी जैन मंदिर आकार में लघुतम किंतु अलंकरण में सर्वोत्कृष्ट हैं। स्तंभीय अग्रभाग के नीचे सामने की ओर एक छोटा-सा चबूतरा है और अपरिष्कृत बहिर्भाग के ऊपर एक कपोत है जिसके नीचे का भाग चिकना और घुमावदार है। कपोत के बीच में कुबेर की आकृति उत्कीर्ण है। मुखमण्डप के अग्रभाग में चार स्तंभ हैं और दोनों कोनों पर दो भित्ति-स्तंभ हैं। बीच के दो खानेदार स्तंभ चालुक्य शैली और उसके प्रतिरूपों की प्रमुख विशेषतानुसार अधिक सज्जा से वनाये गये हैं। अन्य गुफाओं की तुलना में, इन बृहदाकार स्तंभों के वर्गाकार आधार-भाग में कलापिण्ड उत्कीर्ण हैं जिनमें कमल, मिथुन युगल, लता-वल्लरियाँ तथा मकर-वल्लरियाँ अंकित हैं। इन स्तंभों के सुनिर्मित शिखर, पल्लव-शैली की भाँति कलश, (पुष्पासन) और कुम्भ के अलंकरण युक्त हैं। इन कलशों के अग्रभाग में मिथुन-युग्म उत्कीर्ण हैं और बहिर्भाग में कपोत की विपरीत दिशा में मुँह बाये व्याल-युक्त नारी-स्तंभ हैं। पोतिकाएँ या धरनें चालुक्य शैलीवत् दुहरे स्तर की हैं और निचला भाग दुहरे घुमाव (कुण्डलित) वाला है अन्त: एवं बाह्य मण्डपों के मध्य चार स्तंभ तथा दो भित्ति-स्तंभ और हैं। मुख मण्डप की छत आड़ी कड़ियों द्वारा पाँच खण्डों में विभक्त है। मध्य खण्ड में विद्याधर युगल की बड़ी मूर्ति उत्कीर्ण है। महामण्डप के केवल तीन प्रवेशद्वार हैं। दोनों ओर के दो स्तंभों और भित्ति-स्तंभों के बीच का भाग एक ओट भित्ति से बंद कर दिया गया है। आड़ी धरनों द्वारा तीन खण्डों में विभक्त छत के मध्यभाग में एक दूसरा विद्याधर युगल अंकित है। मंदिर के प्रवेशद्वार तक पहुँचने के लिए अंत:मण्डप की पिछली मित्ति के मध्यभाग में तीन शैलोत्कोर्ण सोपान और एक चंद्रशील का प्रावधान है (चित्र ११३ ख)।

प्रवेशद्वार पाँच चितकबरी शाखाओं के पक्षों से निर्मित है। यह चालुक्य शैली की एक विशेषता है। मुड़े हुए कपोत सरदल पर कुडु अलंकरणयुक्त लघुमंदिरों के प्रतिरूपों की उत्तरांग श्रृंखला बनी हुई है; जिनमें शालाएँ, द्वितल मण्डप या अट्टालिकाएँ हैं। शाला-मुख पर तीर्थंकर

मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मध्यभाग की रूपरेखा कुडु तोरण की है जिसके शीर्ष पर उद्गम रूप का अर्ध-तोरण है। ऊपर के आलों में तीर्थंकरों की तीन पद्मासन मूर्तियाँ हैं जिनके दोनों ओर चमरधारी हैं। प्रवेशद्वार के दोनों पक्षों के आधार-भाग में द्वारपाल फलक हैं। गर्भगृह में सिंहासन पर प्रतिष्ठित महावीर की मूर्ति है, जिससे गर्भगृह के पीछे का अर्धाधिक क्षेत्र घिर गया है। दोनों मण्डपों के सिरों की भित्तियों के आलों में गोम्मटेश्वर (चित्र ११४ क) एवं तीर्थंकरों – पार्श्वनाथ (चित्र ११५) तथा आदिनाथ (चित्र ११४ ख) इत्यादि – की मूर्तियाँ हैं जिनके चतुर्दिक प्रभावली है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। चार मूर्तियाँ ऊपरी भाग में, अठारह लघु मूर्तियाँ पार्श्वों में, प्रत्येक ओर नौ-नौ, तथा शेष दो अपेक्षाकृत बड़ी और कायोत्सर्ग मूर्तियाँ प्रभावली के स्तंभ-तोरण के प्रत्येक आधार-भाग में उत्कीर्ण हैं। मुख्य प्रतिमा के दोनों ओर यक्ष-यक्षी शासनदेवता के रूप में विद्यमान हैं। परवर्ती मूर्तियाँ, जो खड्गासन-मुद्रा में हैं अधिकांशतः तीर्थंकरों की हैं स्तंभों और भित्ति-स्तंभों के चतुर्दिक छेनी से कुरेदकर या उकेरकर खोखला करने की विधि से बनायी गयी हैं। कुछ उदाहरणों में स्तंभों के शीर्षभाग का संपूर्ण क्षेत्र जड़े हुए गोमेद रत्नों की भाँति तीर्थंकरों लघु मूर्तियों से मण्डित है जिसमें महावीर की अपेक्षाकृत बड़ी मूर्ति केन्द्रीय भाग में उत्कीर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुफा-मंदिर के निर्माणोपरांत अधिक अलंकरण हेतु ये सज्जाएँ की जाती थीं।

ऐहोले किसी समय एक वाणिज्य-प्रधान महानगर एवं 'अनिन्द्य पंचशतों' का प्रमुख केंद्र था। यहाँ की मेगुटी पहाड़ी के दक्षिण-पूर्वी भाग में मेनावस्ति जैन गुफा-मंदिर (चित्र ११६ क) है। यह सातवीं शती के अंत तथा आठवीं शती के प्रारंभ में तनिक भिन्न संरचनात्मक योजनानुसार बना था। यहीं के रावलगुडी ब्राह्मण्य गुफा-मंदिर के सदृश इसमें भी सादे वर्गाकार अंतरालयुक्त स्तंभों के पीछे एक संकीर्ण मण्डप है। स्तंभों के केन्द्रीय अंतराल को छोड़कर शेष को चौकोर प्रस्तर-खण्डों द्वारा बंद कर दिया गया है। मण्डप की बायीं पार्श्व भित्ति पर पार्श्वनाथ की मूर्ति अपने शासनदेवों – धरणेंद्र एवं पद्मावती – तथा अन्य अनुचरों के साथ उत्कीर्ण है। अंतःमण्डप वर्गाकार कक्ष की भाँति है जिसमें दो पार्श्व मंदिर हैं जो इसकी पार्श्व भित्तियों में उकेरकर बनाये गये हैं। महावीर को समर्पित बायीं ओर का मंदिर वस्तुतः अपूर्ण है। इसमें कई परिचारकगण भी हैं जो अर्धनिर्मित प्रतीत होते हैं। पिछले मंदिर में प्रवेश के लिए दो स्तंभों से निर्मित तीन अंतःमार्ग हैं जिनके सम्मुख ऐलीफेंटा शैली के समरूप ऊँची पगड़ीवाले दो द्वारपाल एक वामन पुरुष तथा स्त्री-अनुचर के साथ खड़े हैं। बादामी गुफा-मंदिर के सदृश इस मंदिर में महावीर की पद्मासन प्रतिमा है।

ऐहोले की इस पहाड़ी की अधित्यका के ठीक नीचे और मेगुटी मंदिर के निकट ही एक और द्वितल गुफा-मंदिर है जिसका कुछ भाग निर्मित रचना है तथा कुछ शैलोत्कीर्ण (चित्र ११६ ख); या यह भी हो सकता है कि इस रूप में यह प्राकृतिक गुफा ही हो। इसमें दो ऊपर से बनाये गये मण्डप हैं जिनमें से प्रत्येक के आगे चार स्तंभ, दो वर्गाकार भित्ति-स्तंभ और सादी वक्र धरनें हैं। ऊपरी मण्डप की छत के मध्य में वस्त्रधारी तीर्थंकर की लघु मूर्ति पद्मासन-मुद्रा में उत्कीर्ण है जिसके

शीर्ष पर छत्र-त्रय है। उसी मण्डप के एक सिरे पर एक लम्बा कक्ष है जिसमें आंशिक रूप में शैलोत्कीर्ण तीन मंदिर हैं और थोड़ा नीचे की ओर एक और मंदिर आरंभिक स्थिति में है। निचले तल के गर्भगृह की ओर जानेवाले द्वार की चौखट, अलंकृत बहुशाखा प्रकार की हैं। इसकी रूपरेखा लगभग मेनाबस्ति मंदिर के सदृश है तथा पशु, मानव, एवं पत्रपुष्पादि के चित्रण से विशुद्ध रूप में सज्जित है। द्वार-चौखट के उत्तरांग पर दक्षिण शैली में लघु मंदिर भी अंकित किये गये है। स्तंभों और बाहर की चट्टान पर उत्कीर्ण अभिलेखों में अधिकांशतः व्यक्तियों के नाम मात्र हैं। इन अभिलेखों तथा वास्तु शैली से इस गुफा-मंदिर की तिथि सातवीं शती निर्धारित की जा सकती है।

मेगुटी पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर शैलोत्कीर्ण छोटे-से जैन मंदिर में मुख्यतः गर्भगृह और एक सादा मुखमण्डप है। मंदिर का प्रवेशद्वार त्रिशाख शैली का है जिसके द्वारा मुखमण्डप में होते हुए गर्भगृह में प्रवेश किया जा सकता है। मूर्ति के पादपीठ के मुखभाग पर अंकित सिंह-प्रतीक तथा अन्य विवरणों से प्रतीत होता है कि गर्तिका में प्रस्थापित पद्मासन मूर्ति महावीर की थी जो अब नष्ट हो गयी है। पूर्वोक्त द्वितल मंदिर की भाँति इस मंदिर की तिथि भी सातवीं शताब्दी मानी जायेगी।

राष्ट्रकूट नरेशों के सत्ता-ग्रहण के साथ-साथ स्थापत्य कला की गतिविधि का प्रमुख केन्द्र एलापुर या एलोरा की ओर हो गया था। एलोरा में उत्कीर्ण बौद्ध तथा ब्राह्मण्य गुफाओं के पश्चात् शैलोत्कीर्ण जैन गुफा मंदिरों की एक शृंखला है, साथ ही यहाँ इकहरे शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण विमान की प्रतिकृति, पूर्ववर्ती तथा विशाल ब्राह्मण्य कैलास की अनुकृति पर बनाया गया 'छोटा कैलास', तथा इसकी और भी छोटी अनुकृति इंद्रसभा के प्रांगण में है। एलोरा की गुफाओं में ऐसी शैलोत्कीर्ण जैन गुफाओं की संख्या ३० और ४० तक है, जो एलोरा पहाड़ी के उत्तरी भाग में हैं और दुमर्लेना नामक विशाल ब्राह्मण्य गुफा से लगभग १२०० मीटर उत्तर में हैं। यह गुफा-मंदिर निर्माण की विभिन्न स्थितियों में मिलते हैं। इनकी रूपरेखा, शैली और अभिलेखों से स्पष्ट है कि ये मंदिर आठवीं शताब्दी के अंत अथवा नौवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्कीर्ण किये गये थे और बाद में भी इनका निर्माण-कार्य चलता रहा था।

जैन मंदिर-शृंखला में इंद्रसभा (गुफा ३२) एवं जगन्नाथसभा (गुफा ३३) विशेष उल्लेखनीय और भव्य हैं। इनमें सर्वप्रथम निर्मित इंद्रसभा (चित्र ११७) सबसे बड़ा दक्षिणमुखी द्वितल मंदिर है। यह मंदिर शैल स्थापत्य कला का विशिष्ट नमूना है, जो वास्तव में एक मंदिर न होकर, मंदिर-समूह ही है। द्वितल गुफा के समक्ष प्रांगण में अखण्ड शिला का विमान है जिसकी पूर्व दिशा में सामने की ओर एक हाथी बना है। और पश्चिम में कुंभ-मण्डित-कलश शैली का मानस्तंभ है, जिसके शिखर पर चतुर्दिक ब्रह्म यक्ष की प्रतिमाएं हैं। ओट-भित्ति के गोपुर द्वार से प्रांगण में प्रवेश किया जा सकता है। खुले हुए उत्कीर्ण प्रांगण की पार्श्व भित्तियों में एक ओर दो लघु स्तंभीय मण्डप उत्कीर्ण किये गये हैं और दूसरी ओर एक अर्धनिर्मित वीथी है। इनमें पार्श्वनाथ (चित्र ११८ क), गोम्मट (चित्र ११८ ख)

कुबेर, अंबिका, सुमतिनाथ तथा अन्य तीर्थंकर एवं यक्षों आदि की मूर्तियाँ हैं। अग्रभाग की भाँति प्रांगण के तीन ओर प्रचुर शिल्पांकनों के कारण इसके द्वितल होने का आभास होता है। मुख्य गुफा का निचला तल अर्धनिर्मित है तथा उसकी रूपरेखा भी कुछ विलक्षण है। इसके सामने एक मण्डप है जिसमें चार स्तंभ एवं चार वर्गाकार भित्ति-स्तंभ हैं जिनमें से एक पर तीर्थंकर अभिलेखांकित दिगंबर मूर्ति उत्कीर्ण है। मण्डप की भाँति ही उसके आगे एक दो स्तंभोंवाला आँगन है (चित्र ११६), जो पीछे की ओर एक अर्धमण्डप से होकर गर्भगृह की ओर पहुँचता है। मंदिर सुनिर्मित है और उसमें तीर्थंकर की विशाल प्रतिमा स्थापित है। दो तीर्थंकर-मूर्तियाँ और भी हैं जिनमें से एक मण्डप के पश्चिमी सिरे पर शान्तिनाथ की मूर्ति है। इन मूर्तियों के पीछे एक और मंदिर है जिसमें रीतिगत मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मण्डप के पूर्वी या दायें सिरे पर सीढ़ियाँ हैं जो ऊपरी तल पर जाती हैं।

ऊपरी तल पर केंद्रीय कक्ष है जिसके दोनों सिरों पर दो अतिरिक्त गर्भगृह हैं। इन तीनों के छज्जे खुले आँगन में निकलते हैं। सामने के मण्डप में कुम्भावली तथा अंतरालयुक्त कलशशीर्ष-शैली के दो स्तंभ हैं। पूर्वी पार्श्व के भीतर दोनों ओर तीर्थंकरों की पाँच खड्गासन प्रतिमाएँ हैं जिनके दोनों ओर कुबेर तथा अंबिका अंकित हैं। मण्डप के दोनों सिरों पर कुबेर और अंबिका की इनसे बड़ी तथा अधिक सुंदर मूर्तियाँ हैं। मुख्य कक्ष में चार प्रकार के बारह स्तंभ हैं, जिनकी पार्श्व भित्तियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं। केंद्रीय भाग औरों से कुछ बड़ा है। इस भाग में, जैसा कि चक्र-प्रतीक से स्पष्ट है, सुमतिनाथ की पद्मासन मूर्ति अंकित है। अन्य चार भागों में भी तीर्थंकर-मूर्तियाँ अंकित की गयी हैं। मण्डप की पिछली भित्ति में उत्कीर्ण मुख्य मंदिर महावीर को समर्पित है। इसमें प्रवेश के लिए बने संकीर्ण द्वार-मण्डप में सुंदर रूप से उत्कीर्ण, पतले कलश-शिखर युक्त दो स्तंभ हैं जिनके ऊपर कपोत सहित एक सरदल (उत्तरांग) है। उत्तरांग के ऊपर एक पंक्ति में पाँच लघु मंदिरों की अनुकृतियाँ हैं। द्वार के दोनों ओर की भित्ति पर दो खड्गासन तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं। इससे आगे, भित्ति के पूर्वी छोर पर एक पार्श्वनाथ की तथा दो सुमतिनाथ की मूर्तियों के फलक हैं। इसी प्रकार पश्चिमी छोर पर एक गोम्मट तथा दो सुमतिनाथ की मूर्तियों के फलक हैं। मण्डप की छत और उसकी धरनों पर रंग-लेपन किया गया है। रंग-लेपन की दो परतें हैं।

मण्डप के दक्षिण-पूर्वी कोने से एक और गुफा-मंदिर की ओर जाया जाता है, जो आँगन की पूर्वी भित्ति की दक्षिणी चट्टान को काटकर बनाया गया है। यह मंदिर मुख्य मंदिर सहित सुमतिनाथ को समर्पित है। सामने के मण्डप में कलश-शीर्षयुक्त चार स्तंभ हैं और उसकी छत के मध्य में कमल उत्कीर्ण है। भित्तियाँ, वितान एवं गर्भगृह अत्यंत सुंदर चित्रांकनों से आवेष्टित हैं और अभी तक पर्याप्त रूप में सुरक्षित हैं। उड़ते हुए गंधर्व एवं विद्याधर युगलों के अतिरिक्त अंतराल की छत पर नृत्य की चतुर्भंगी-मुद्रा में अष्टभुजी देवता का एक अत्यंत रोचक चित्रांकन है। इस चित्र में शिवपरक किसी भी प्रतीक के अभाव से स्पष्ट है कि यह किसी जैन देवता का चित्र है, कदाचित् इंद्र का हो।

मुख्य कक्ष के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर सुमतिनाथ को अर्पित वैसे ही तथा बहुत सुंदर चित्रों से सज्जित एक और मंदिर है जहाँ के चित्र उपर्युक्त मंदिर की भाँति सुरक्षित नहीं रह पाये हैं। इस मंदिर के उत्खनन की चित्ताकर्षक विशेषता इसके अग्रभाग के कपोत हैं जो निचले तल को ऊपरी तल से अलग करते हैं और ऊपरी तल के ऊपरी आवेष्टन का काम देते हैं। कपोत उत्कृष्ट शिल्पांकनयुक्त हैं। निचले कपोत पर सिंह और हाथी तथा ऊपरी कपोत पर तीर्थंकर-प्रतिमाओं से युक्त लघु मंदिरों की शिल्पाकृतियाँ हैं। आँगन में बने अखण्ड शिला-विमान की चर्चा आगे की जायेगी।

जगन्नाथ-सभा (गुफा ३३, चित्र १२० क) इंद्र-सभा के समान ही है, किंतु रूपरेखा सुव्यवस्थित नहीं है। भूमितल पर तीन क्रमहीन गर्भगृहों का एक समूह है। प्रत्येक अपने में एक इकाई है, जिसमें अग्र तथा महामण्डप हैं। आँगन की ओर खुलनेवाला मुख्य गर्भगृह ढह चुका है जिससे दक्षिणमुखी प्रवेशद्वारयुक्त प्राकार भित्ति तथा मध्य मण्डप के अवशेष नाममात्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस तल पर चार स्तंभों का सामान्य मुखमण्डप है तथा दोनों ओर कुबेर (?) (चित्र १२१) और सिंह पर आरूढ़ अंबिका (चित्र १२२) है। पिछला कक्ष वर्गाकार है। उसकी प्रत्येक पार्श्व भित्ति पर एक विशाल देवकुलिका है। इन देवकुलिकाओं में तथा उनकी पार्श्व भित्तियों पर गोम्मट, पार्श्वनाथ और अन्य तीर्थंकरों (चित्र १२३) की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सुमतिनाथ को समर्पित पृष्ठभाग के मंदिर में एक मुखमण्डप है। इस तल के स्तंभ दो प्रकार के हैं—कलश-शीर्ष-युक्त एवं कुम्भवल्लि-कलश-शीर्ष-युक्त (चित्र १२५)। अपने सूक्ष्म शिल्पांकनों तथा अन्य विशेषताओं के कारण यह गुफा परवर्ती तिथि की प्रतीत होती है। इस तल के अन्य दो गर्भगृहों की रूपरेखा और साज-सज्जा भी लगभग एक समान है।

दूसरे तल पर पहुँचने के लिए इंद्र-सभा मंदिर-समूह की पार्श्व भित्ति के ऊपरी मंदिर के दक्षिण-पूर्वी कोने में से चट्टान काटकर सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। ऊपरी तल अधिक सुरक्षित एवं उत्कृष्ट है। इसमें बारह विशाल स्तंभोंवाला नवरंग कक्ष है। इंद्र-सभा के सदृश बीच में चार और दोनों ओर आठ स्तंभ हैं। कुछ स्तंभों में वर्गाकार आधार एवं कलश शीर्ष हैं। सभी स्तंभ अत्यंत अलंकृत हैं। मंदिर के पृष्ठभाग में एक सुसज्जित प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं। मूर्तियों के दोनों ओर कुबेर और अंबिका हैं। पार्श्व भित्तियों पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, और कक्ष की छत पर प्राचीन चित्रकला के अवशेष भी दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डप की छत के मध्यभाग में वृत्ताकार चित्रांकन था जिसमें समवसरण प्रदर्शित किया गया था। अब इसका अंशमात्र ही शेष है।

मण्डप के पूर्वी छोर पर एक कोने में एक छोटा मंदिर है जो रूपरेखा में निचले तल के मंदिर की भाँति है, किंतु अधिक संपूर्ण एवं प्रचुर शिल्पांकन युक्त है।

प्रांगण की दक्षिणी भित्ति पर शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर है छोटा कैलास (गुफा ३०) जिसमें गर्भगृह, अंतराल एवं मुखमण्डप हैं। यह मंदिर सुमतिनाथ को समर्पित है। इसके अंतराल में पार्श्वनाथ, कुबेर तथा अंबिका की मूर्तियाँ हैं और मण्डप की भित्तियों पर अन्य मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में उत्कीर्ण हैं। इसके समीप एक और शैलोत्कीर्ण गुफा (गुफा ३० क) में केवल एक लम्बा कक्ष एवं कुम्भवल्ली-कलश-शीर्ष प्रकार के स्तंभों का द्वार-मण्डप है। कक्ष के मध्य में एक चौमुखी जैन प्रतिमा है। कपोतों पर उड़ते हुए गंधर्व अंकित हैं और द्वार-मण्डप के दोनों ओर कक्षासन बने हैं।

हाल के उत्खनन में इस मंदिर-समूह से पूर्व की ओर कतिपय अपूर्ण मंदिर मिले हैं। इनमें अल्प महत्त्व की शिल्पाकृतियाँ हैं। उनमें से एक तीर्थंकर की खड्गासन मूर्ति है जिसके पीछे 'टिरुवाची' या प्रभामण्डल है जिसमें चौवीस तीर्थंकर अंकित हैं।

एलोरा की नरम काले पत्थर की चट्टान पर गुफा-मंदिरों का उत्खनन दसवीं शताब्दी में हुआ होगा, किंतु इसके अनंतर भी कुछ अलंकरण-कार्य हुआ प्रतीत होता है। मंदिर-स्थापत्य-कला की दृष्टि से, विशेषतः अपने वास्तुशिल्पीय अवयवों की परिपूर्णता के संदर्भ में, एलोरा की अन्य गुफाओं से ये मंदिर अधिक उत्कृष्ट हैं। क्योंकि अलंकरण, वेषभूषा, भंगिमा एवं मुद्रा के सौंदर्य को गौण देवताओं की प्रतिमाओं में ही अभिव्यक्त किया जा सकता था, अतएव इनके अंकन में कला-कौशल का बहुत ध्यान रखा गया। तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ रीत्यानुसार समान मुद्रा एवं शैली में ही निर्मित होती थीं, अतः ये मूर्तियाँ उतनी सुंदर नहीं वन पड़ी हैं। जैन वास्तु-स्मारकों के अलंकृत शिल्पांकन-प्राचुर्य में, कला-कौशल की पूर्णता में, विशेषतः स्तंभों की विभिन्न शैलियों में, सौंदर्य की पराकाष्ठा के दर्शन होते है। उनमें परिलक्षित है पाषाण को काटने-छाँटने का सूक्ष्म एवं यथार्थ कौशल; यद्यपि, अलंकरण-सौंदर्य के होते हुए भी, इतना तो स्पष्ट है कि यह मंदिर किसी पूर्व-निश्चित योजनानुसार उत्खनित नहीं किये गये और लगता है कि जव जैसे वना वैसे ही काम चलाया गया है। फिर भी, सच तो यह है कि शास्त्रीय रूपवान चित्रांकनों से सज्जित ये मंदिर भारत की कलात्मक देन का महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

शैलोत्कीर्ण मंदिर

दक्षिण में तथा अन्यत्र गुफा-मंदिरों के उत्खनन की परंपरा लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीन है। गुफा-मंदिरों की आंतरिक तथा वाह्य रचना ईंट तथा लकड़ी से निर्मित सम-सामयिक भवनों की आंतरिक एवं वाह्य रचना का सर्वोत्तम प्रतिरूप है। ठीक यही स्थिति विमान-मंदिरों की भी है। गुफा-मंदिरों के उत्खनन के साथ-साथ ही विमान शैली के मंदिरों का उत्खनन आरंभ हुआ, यद्यपि उनका उत्खनन अपेक्षाकृत अल्प संख्या में ही था। पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन-प्रथम मामल्ल (६३०-६६८) ने सर्व-प्रथम स्थानीय कठोर स्फटिकवत् (ग्रेनाइट) नाइस पत्थर की चट्टानों को काटकर विविध रूपरेखा और विस्तार के शैलोत्कीर्ण मंदिरों का सूत्रपात कराया जिसका सुंदर उदाहरण महावलीपुरम के रथ-मंदिरों

में पाया जाता है। इन मंदिरों के वाह्य आकार को ईंट-लकड़ी से निर्मित भवन की रूपरेखा देने के लिए अखण्ड चट्टान को पहले ऊपर से नीचे की ओर काटा जाता था और फिर भीतर उत्खनन करके मण्डप तथा गर्भगृह के विभिन्न अंग उत्कीर्ण किये जाते थे। कालांतर में पल्लव राज्य और सुदूर दक्षिण में इन शैलोत्कीर्ण मंदिरों ने प्रस्तर-निर्मित मंदिरों के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया। समसामयिक वादामी चालुक्यों के राज्यकाल में ईंट-लकड़ी से निर्मित भवन के मूल स्वरूप के अनुसार अखण्ड शिला पर उत्कीर्ण मंदिरों की परंपरा को छोड़ दिया गया। इस युग में वलुए प्रस्तर-खण्ड काटकर चिनाई द्वारा मंदिर-निर्माण आरंभ हुआ क्योंकि अपेक्षित माप के प्रस्तर-खण्ड काटना अधिक सुविधाजनक था। किंतु अखण्ड शिला से मंदिर-रचना का विचार इतना अद्भुत् था कि तत्कालीन एवं परवर्ती राजवंशों तथा क्षेत्रों में इस शैली का बहुत प्रसार हुआ। उदाहरणतः, तिरुनलवेली जिले में पाण्डवों का वेट्टुवान्कोविल, विजयवाड़ा, अंदवल्ली और भैरवकोण्डा के मंदिर क्रमशः वेंगी चालुक्यों तथा तेलुगुचोलों के प्रश्रय में निर्मित हुए। धमनर (जिला मंदसौर), मसरूर (जिला कांगड़ा), ग्वालियर (चतुर्भुजी मंदिर), कोलगाँव (जिला भागलपुर) जैसे दूरवर्ती क्षेत्रों में भी इस प्रकार के मंदिर की संरचना का विस्तार दृष्टिगोचर होता है। पश्चिम भारत के बौद्ध गुफा-चैत्य-कक्षों में उत्कीर्ण स्तूपों तथा विदिशा जिले में उदयगिरि की 'तवा' गुफा में उपलब्ध गुप्तकालीन अर्धविकसित, लगभग वृत्ताकार, विमान-मंदिर में अखण्ड-शिला-मंदिर के मूलस्वरूप को देखा जा सकता है जिसे वलुए पत्थर की किसी एकाकी चट्टान में अर्धवृत्ताकार नींव काटकर ऊपर तवे के आकार के सपाट शिलाखण्ड से आच्छादित किया गया है।

दक्षिण में राष्ट्रकूटों के पूर्ववर्ती चालुक्यों द्वारा विकसित की गयी प्रस्तर-निर्मित मंदिर-शैली और इस शैली में राष्ट्रकूटों की अपनी उपलब्धियों के होते हुए भी राष्ट्रकूट राजाओं ने एलोरा के प्रसिद्ध कैलास नामक अखण्ड-शिला-मंदिर-समूह की रचना में एक बृहद चट्टान के मध्यभाग को काटकर विमान मंदिर, चारों ओर परिधीय मंदिर, संकेंद्रित मण्डप तथा पार्श्ववर्ती प्राकारों से युक्त गोपुर और इनके बीच में एक खुले हुए आँगन को उत्कीर्ण कर अखण्ड-शिला-मंदिर विन्यास का अत्यंत साहसिक पग उठाया था। शिव को समर्पित इस मंदिर की रचना का श्रेय राष्टकूट राजा कृष्ण-तृतीय (७५७-८३) को दिया जाता है। यद्यपि यह मंदिर अपने वर्ग में सर्वाधिक बृहदाकार है, स्थानीय जैनों ने वहीं एलोरा की चोटी पर इसी विन्यास में एक छोटे कैलास-मंदिर-समूह की रचना की। छोटा कैलास और इंद्र-सभा-प्रांगण में उत्कीर्ण चौमुखी-विमान अखण्ड-शिला-मंदिर-संरचना के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं।

छोटा कैलास (गुफा ३०) बृहत् कैलास से एक चौथाई विस्तार का है। छोटा करने की प्रक्रिया में इसकी अधिरचना अनुपातहीन हो गयी है और अपूर्ण भी है। मध्य शिला को चारों ओर से काटकर ४०×२५ मीटर क्षेत्र का गड्ढा बनाया गया है। मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है। मुख्य विमान में अन्य जैन मंदिरों के सदृश दो तल हैं जिनके कारण ये खंड और भी अधिक अनुपातहीन लगते हैं। नीचे के खण्ड में यक्ष-यक्षी द्वारा परिचारित महावीर की विशाल प्रतिमा गर्भगृह में

प्रतिष्ठित है। प्रतीत होता है कि ऊपर के खण्ड में अनुचरों सहित सुमतिनाथ की मूर्ति स्थापित है। गर्भगृह सहित ऊपर के खण्ड में अष्टभुजीय ग्रीवा एवं शिखर हैं जो इसे द्रविड़ शैलीय विमान का रूप प्रदान करते हैं। नीचे के मंदिर की पार्श्व भित्तियों पर तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं तथा उत्तरी भित्ति पर एक अष्टभुजी देवी की मूर्ति है। चालुक्य-राष्ट्रकूट शैली के द्वार-स्तंभ बहुशाखा प्रकार के हैं जो गुप्तकालीन उत्तर भारत की देन हैं। सरदल के ऊपर उत्तरांग के रूप में दोनों सिरों पर दो कूट या वर्गाकार लघु विमान उत्कीर्ण हैं और मध्य में शाला या आयताकार लघु विमान शिल्पांकित हैं। मंदिर के पूर्व एक छोटा-सा अंतराल तथा महामण्डप है जिसमें सोलह स्तंभ हैं। इनमें से कुछ कलश शीर्ष प्रकार के एवं अन्य कुंभवल्ली प्रकार के स्तंभ हैं। महामण्डप के चारों कोनों पर चार-चार के समूह में स्तंभ हैं। मण्डप में तीन ओर उत्तर, पश्चिम और दक्षिण से प्रवेश संभव है। तीनों प्रवेशद्वारों के समक्ष बृहत् कैलास की भाँति स्तंभीय द्वारमण्डप हैं, जहाँ उत्तर भारतीय मंदिरों तथा उनके प्रतिरूप दक्षिणी चालुक्य मंदिरों के समान कक्षासन पीठिकाएँ बनी हुई हैं। पश्चिमी मुख्य-द्वार के दोनों ओर एक-एक द्वारपाल अंकित हैं। रोचक बात यह है कि द्वारमण्डप के दोनों ओर की भित्तियों पर नृत्य-मुद्रा में शिव की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं और दक्षिणी भित्ति पर देवी की एक अर्ध-निर्मित मूर्ति भी है। ऊपरी खण्ड के गर्भगृह के पहले शुकनासा है जो अंतराल के ऊपर होकर दूसरे खण्ड के गर्भगृह की ओर जाती है। शुकनासा भी उत्तर भारतीय मंदिरों तथा उनके चालुक्य-राष्ट्रकूट प्रतिरूप की प्रतीक है। आँगन के गोपुर-प्रवेशद्वार के समक्ष एक द्वारमण्डप है जिसमें तीर्थंकरों, गौण देवताओं एवं षट्भुजी देवी की मूर्तियाँ अंकित हैं।

इंद्र-सभा के सामनेवाले आँगन में उत्कीर्ण एक जैन चौमुख या चतुर्मुख विमान (चित्र १२५) एक अद्भुत कलाकृति है, जिसकी दक्षिणी विमान-शैली में कुछ अन्य विशेषताएँ भी सम्मिलित हैं। यह विमान तीन खण्डों का है और रूपरेखा में वर्गाकार है, किंतु इसकी ग्रीवा और शिखर अष्टभुजी हैं, जिससे यह दक्षिण शैली का विशिष्ट द्रविड़-विमान बन जाता है। स्तूपी, जो अखण्ड शिला से भिन्न शिलाखण्ड रहा होगा, अब अलग ही जा पड़ा है। भूमितल पर चारों दिशाओं में प्रवेशद्वार हैं जिनके आगे द्वारमण्डप हैं। प्रवेशद्वारों के साथ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं जो अधिष्ठान या चौकी तक पहुँचती हैं। अधिष्ठान कपोत-बंध प्रकार का है, जिसमें उपान, कुमुद, कण्ठ एवं कपोत बने हैं। कपोत की प्रति ऊपरी गर्भगृह के फर्श का काम देती है। प्रक्षिप्त द्वारमण्डपों में उन्नत स्तंभ हैं। प्रत्येक स्तंभ का आधार वर्गाकार तथा दण्ड अष्टकोणीय है। शिखर भाग पर कुंभ की रचना अधिकांशतः प्रमुख है परंतु कलश या लशुन और ताडि (पुष्पासन) को लघुरूप देकर शीर्षस्थ किया गया है। प्रस्तर या सरदल पर कुण्डलित कपोत बने हैं जिनके प्रक्षिप्त अंशों पर कोण-पट्ट या बेल-बूटे अंकित हैं। गर्भगृह में एक केंद्रीय मूर्तिपट्ट के चतुर्दिक तीर्थंकर-मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके मुख चार प्रवेशद्वारों की ओर हैं। द्वारमण्डप के सरदलों पर पंजरवत् नासिकाग्र तथा सिंहमुखी कंगूरे हैं। वे हार की लघुशाला या भद्रशाला के ढलुवाँ शीर्ष के मध्य भाग से कहीं अधिक प्रक्षिप्त हैं। हार के चार कोने हैं, प्रत्येक कोने पर एक कर्णकूट या विमान की वर्गाकार लघु अनुकृति है जिसका शिखर (कूट) अण्डाकार है और उसपर दक्षिणी-विशाल-शैली के अनुसार एक स्तूपी है। दूसरे खण्ड

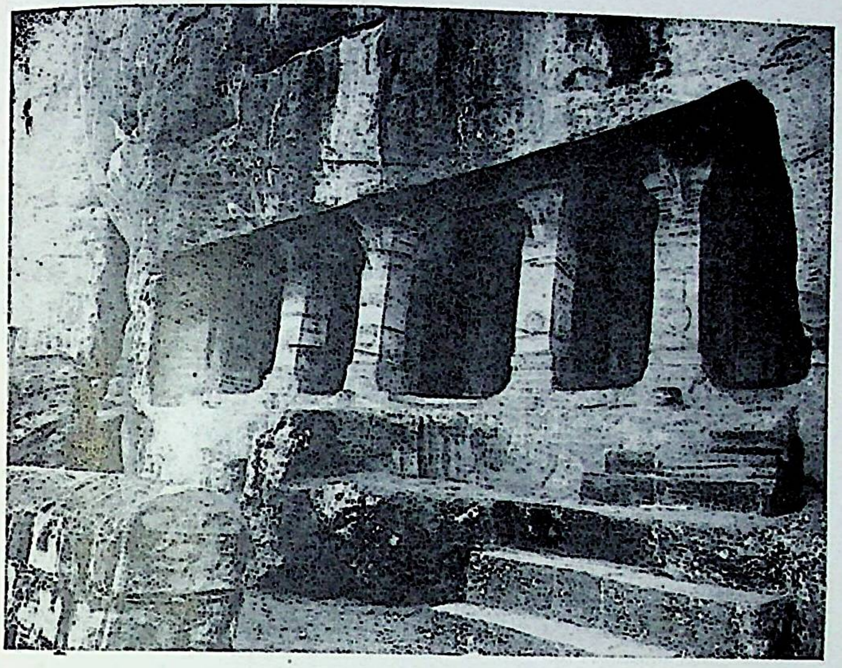

(क) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, बाहरी भाग

(ख) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, अंतः भाग

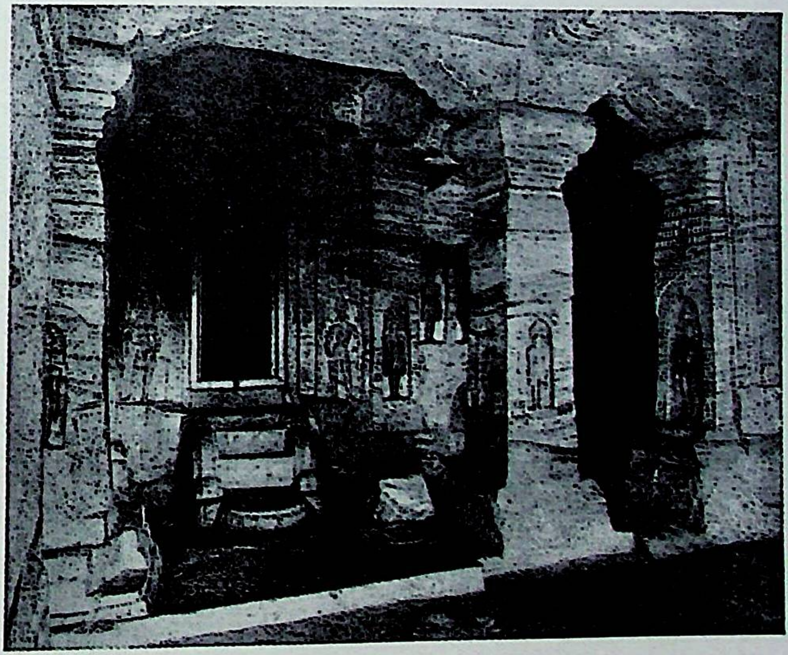

चित्र 113

(क) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, गोम्मटेश्वर

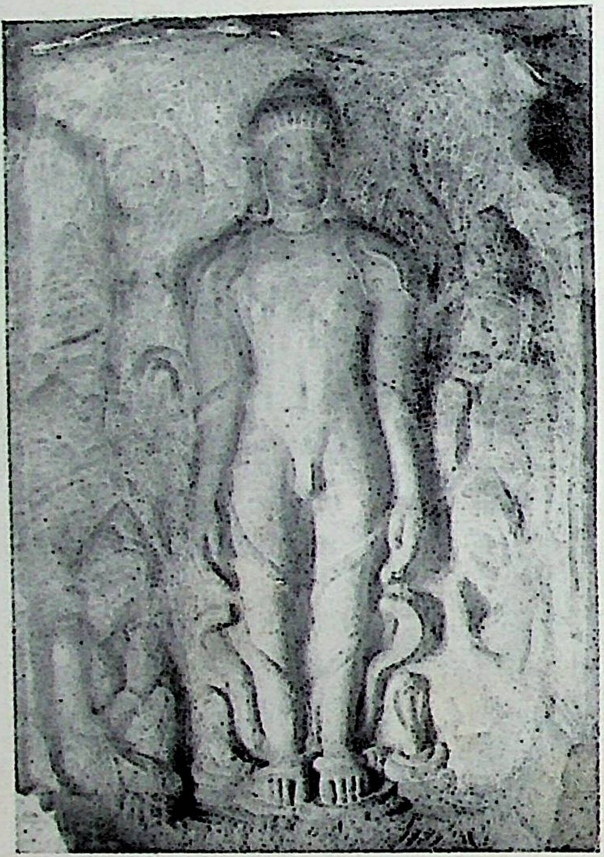

(ख) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, तीर्थंकर ऋषभनाथ

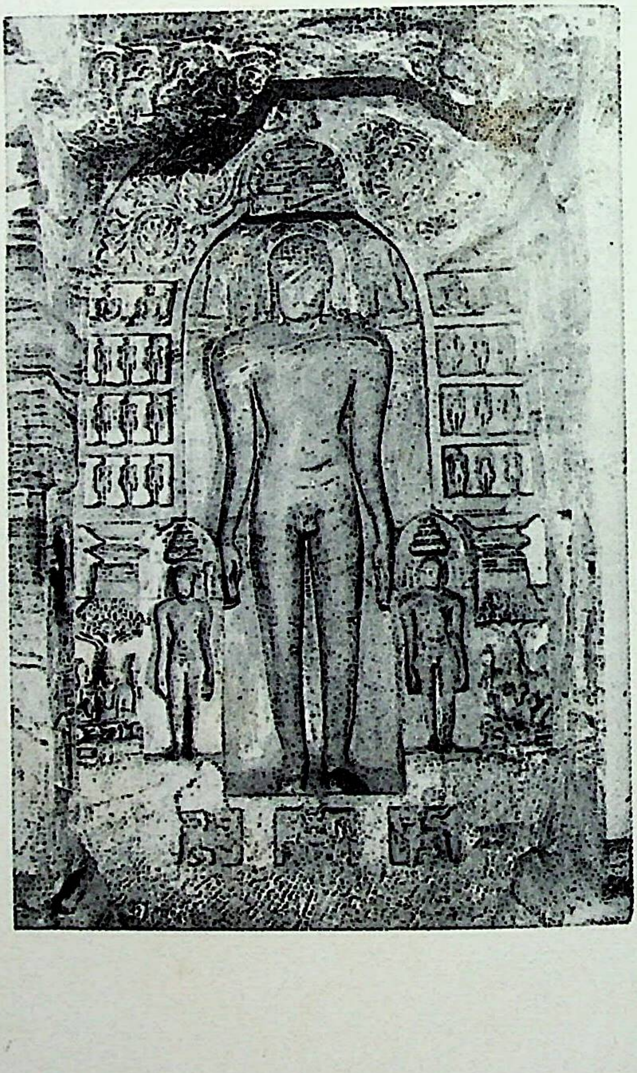

चित्र 114

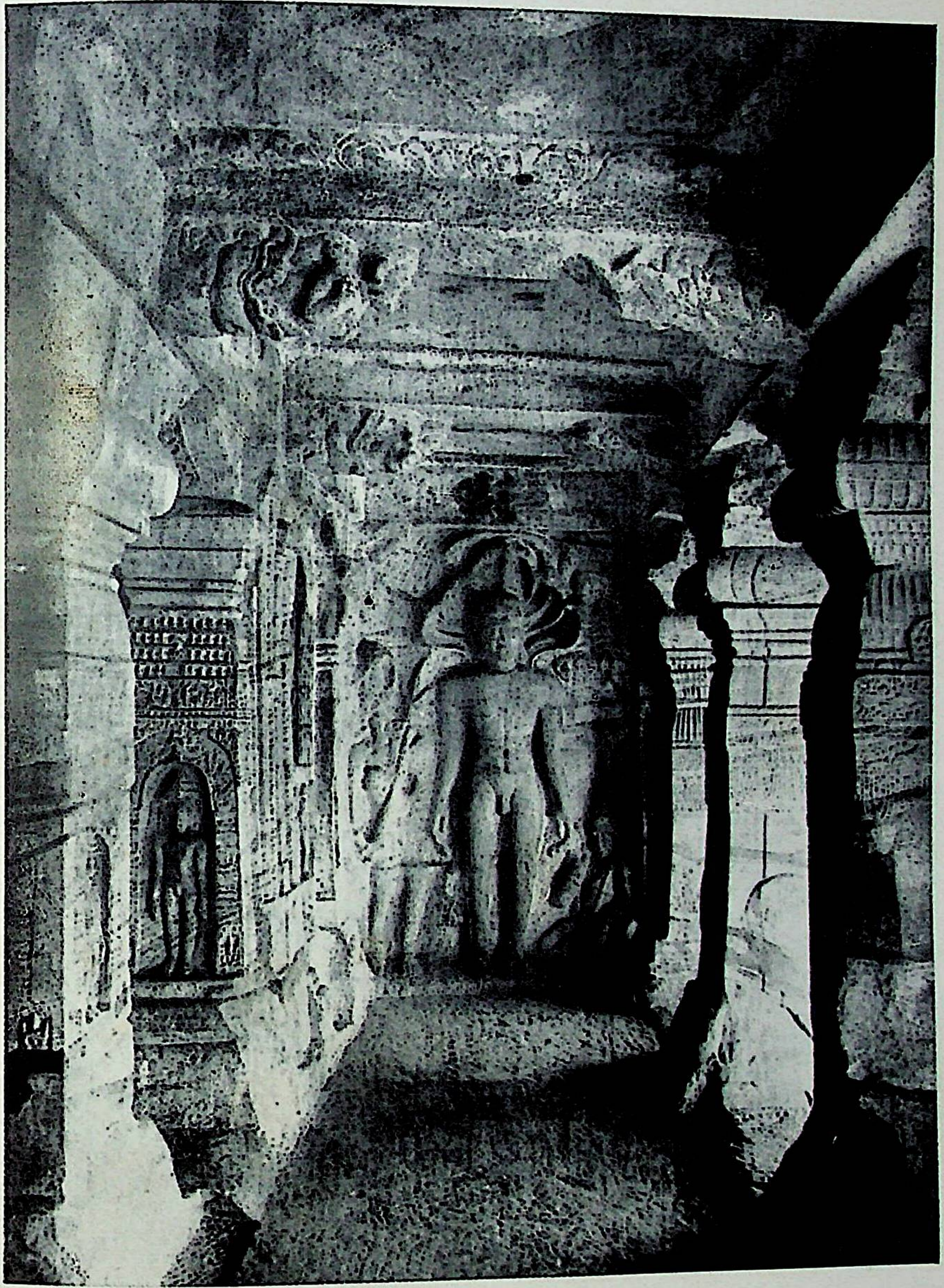

बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, तीर्थंकर, पार्श्वनाथ

चित्र 115

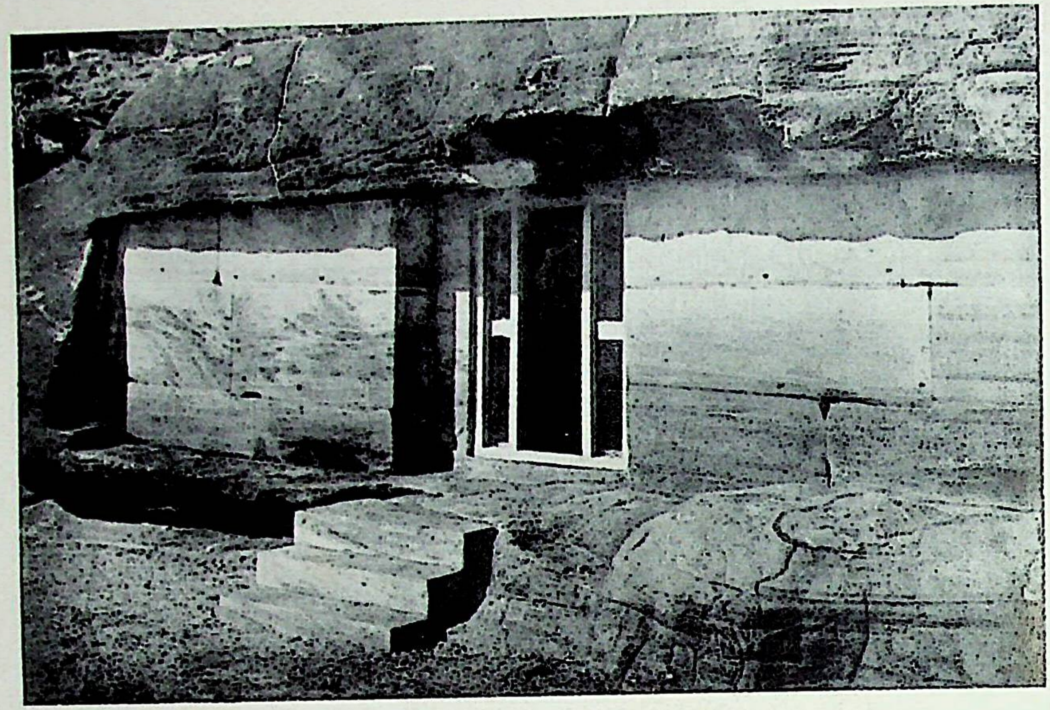

(क) ऐहोले — मैनावस्ति गुफा-मन्दिर, बाहरी भाग

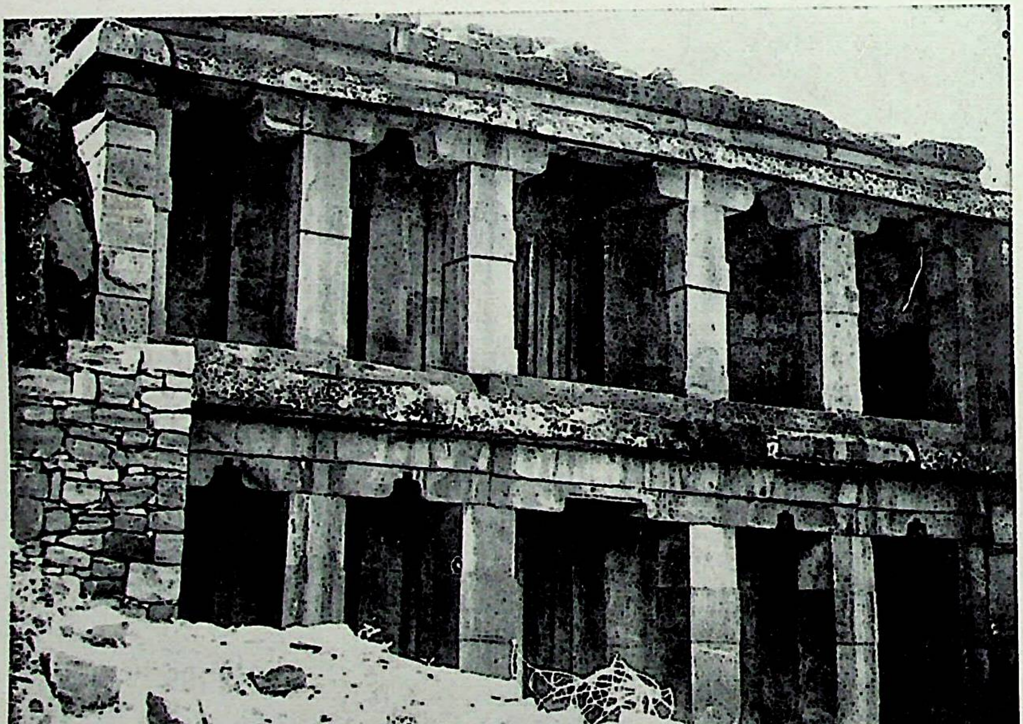

(ख) ऐहोले — जैन गुफा-मन्दिर, बाहरी भाग

चित्र 116

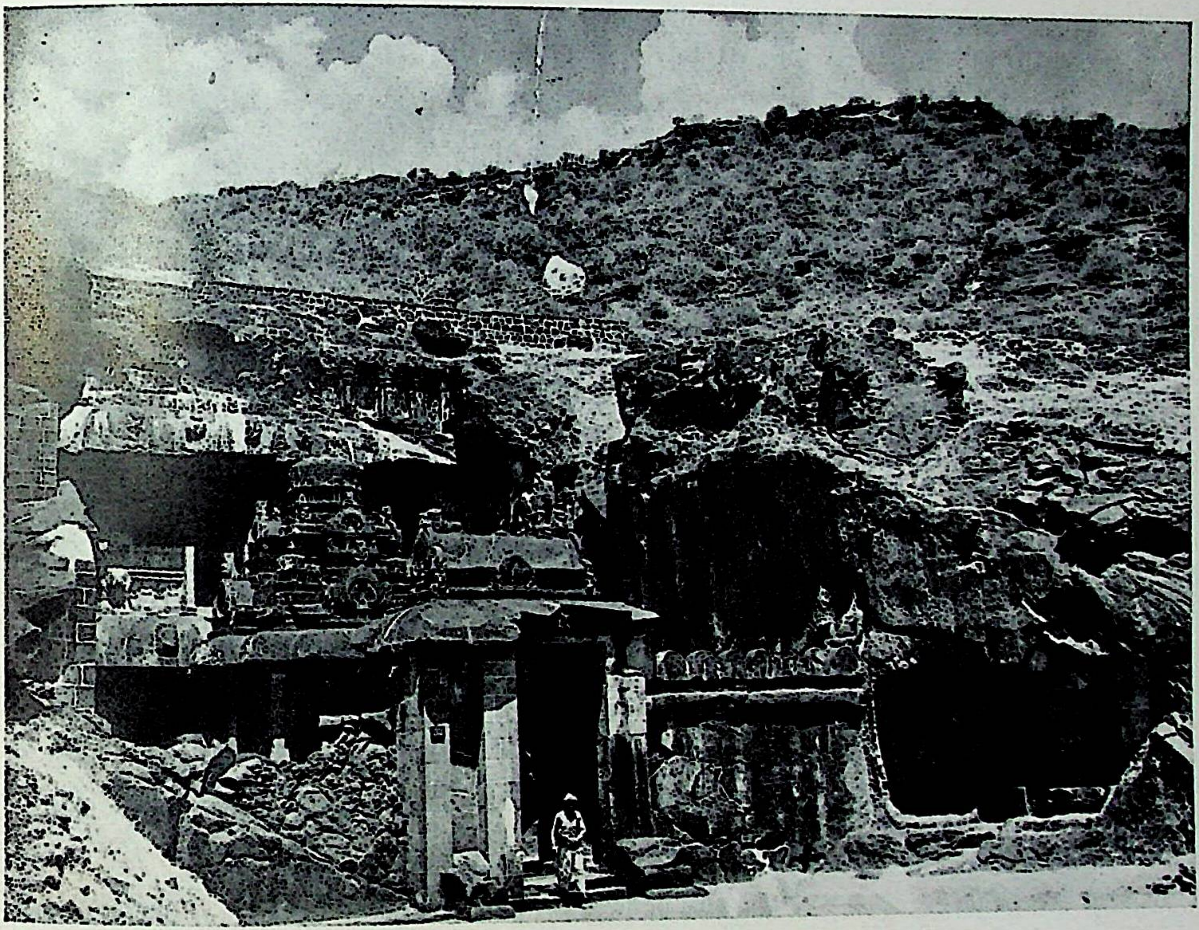

एलोरा — इन्द्र सभा (गुफा सं० 32), बाहरी भाग

चित्र 117

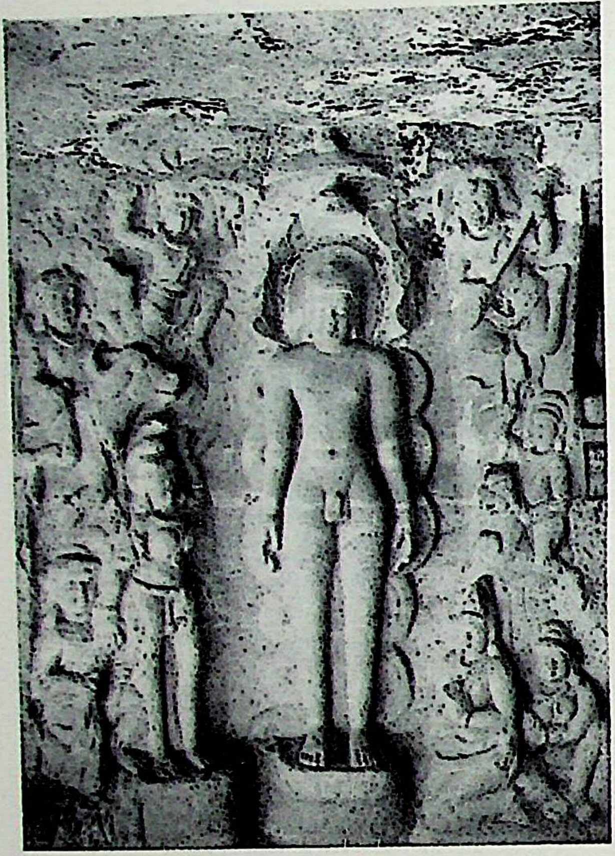

(क) एलोरा — इन्द्र सभा (गुफा सं० 32), तीर्थंकर पार्श्वनाथ

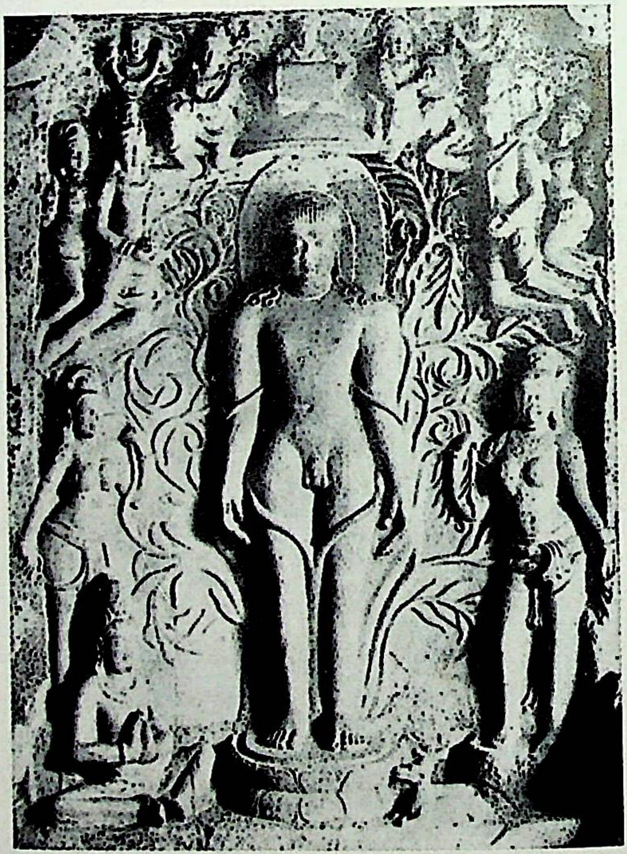

(ख) एलोरा — गोम्मटेश्वर (गुफा सं० 32)

चित्र 118

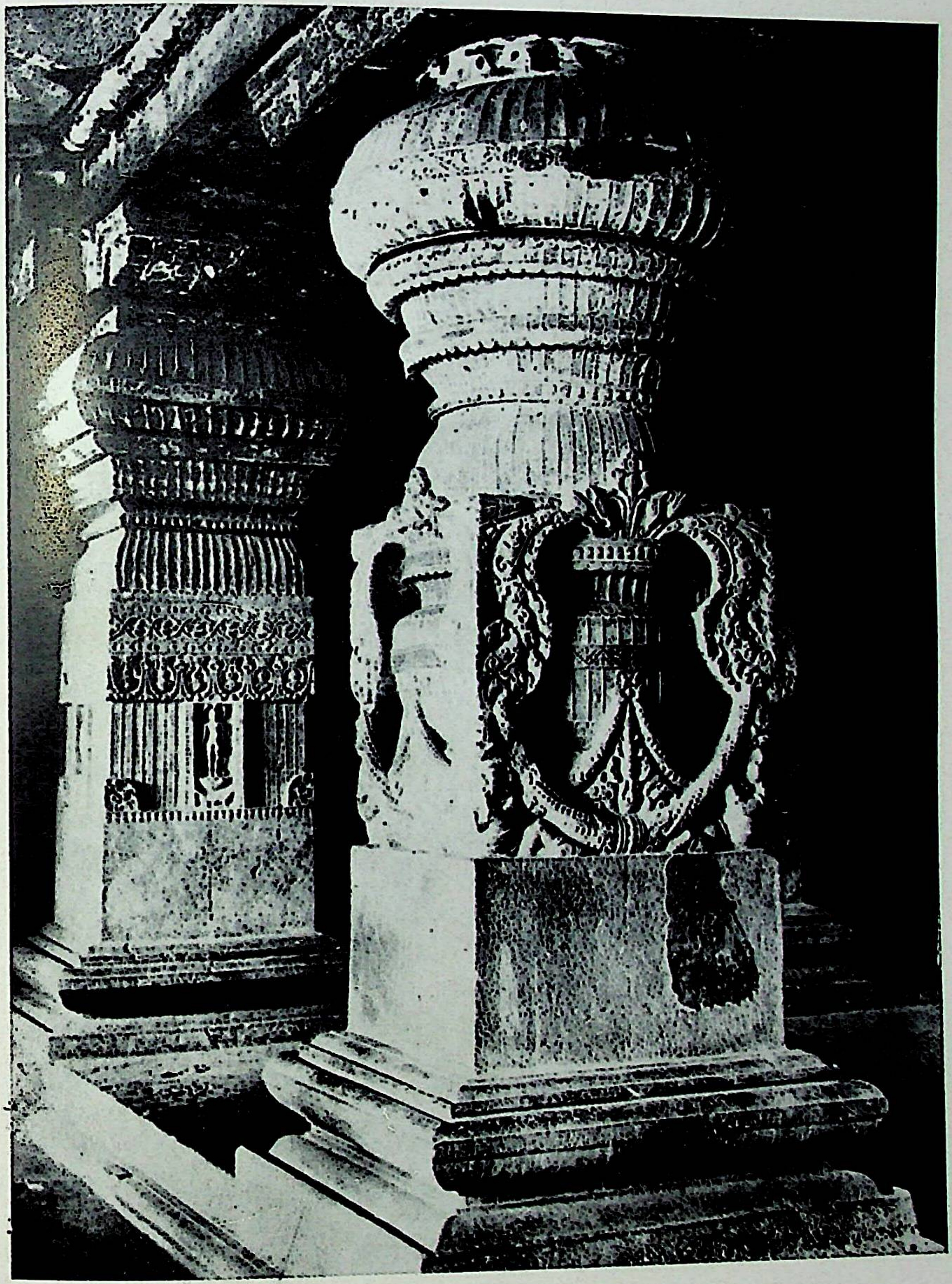

एलोरा — स्तम्भ, गुफा सं० 32

चित्र 119

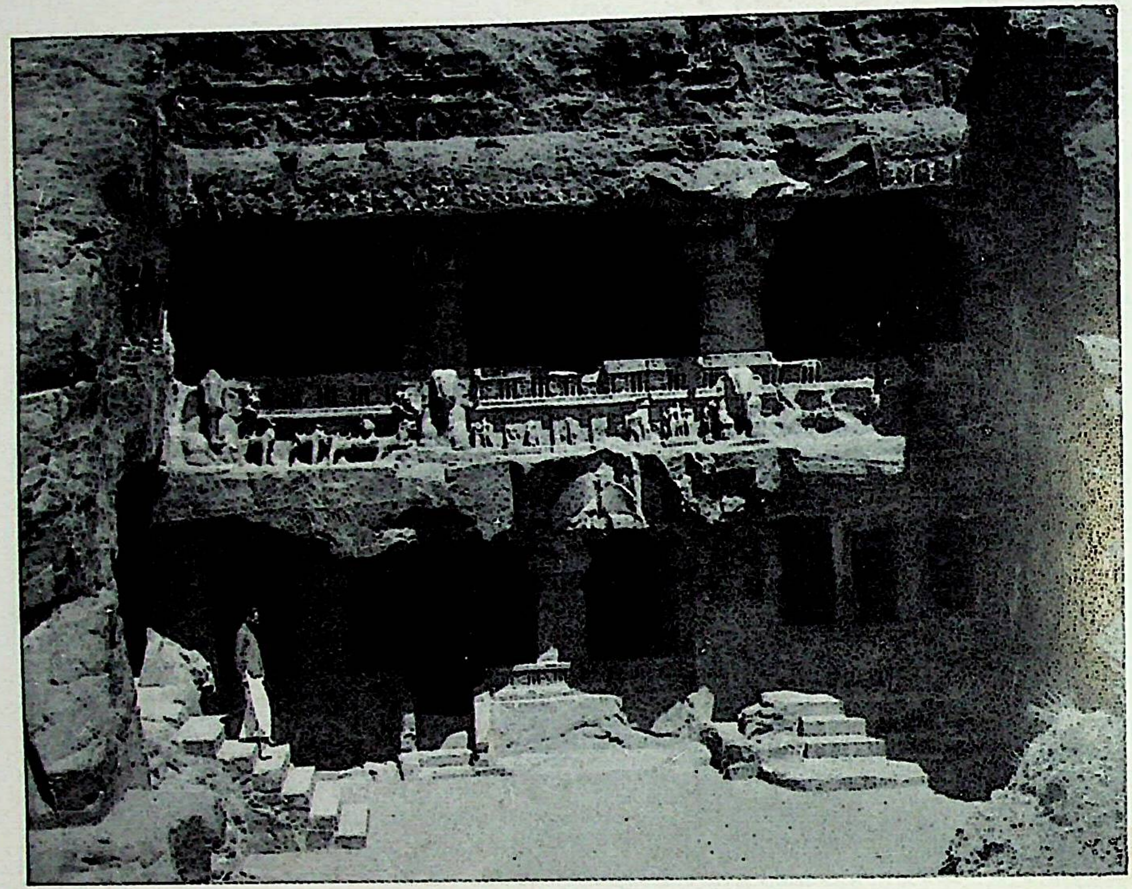

(क) एलोरा — गुफा सं० 33, बाहरी भाग

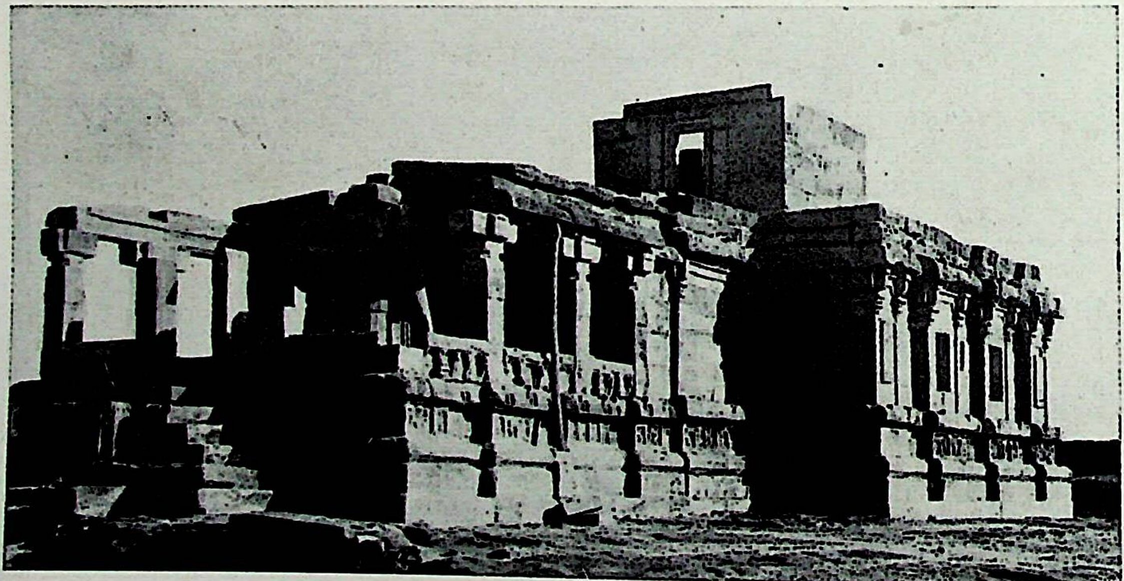

(ख) ऐहोले — मेगुटी मन्दिर

चित्र 120

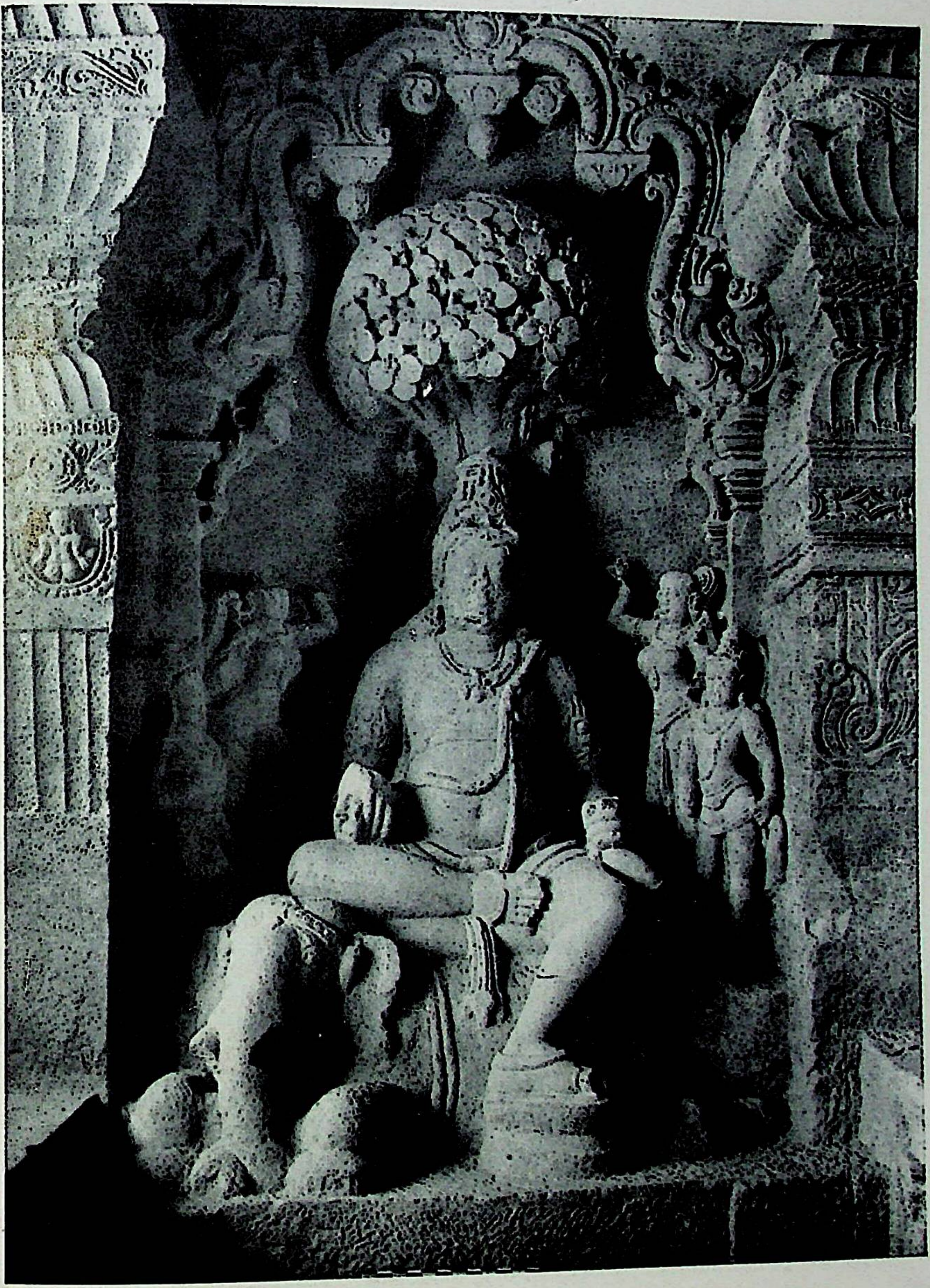

ऐलोरा — कुबेर, गुफा सं० 33

चित्र 121

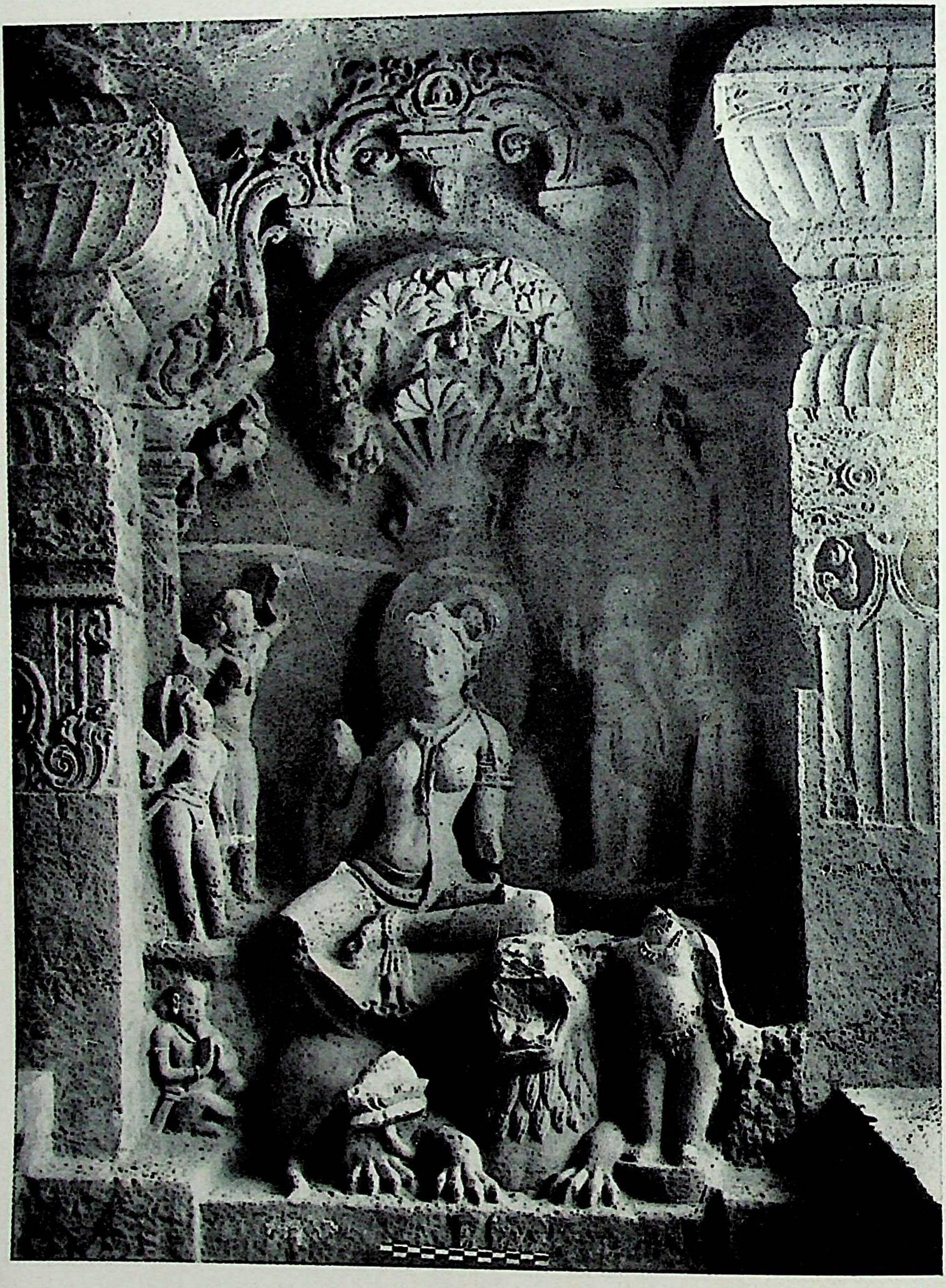

एलोरा — अम्बिका यक्षी, गुफा सं० 33

चित्र 122

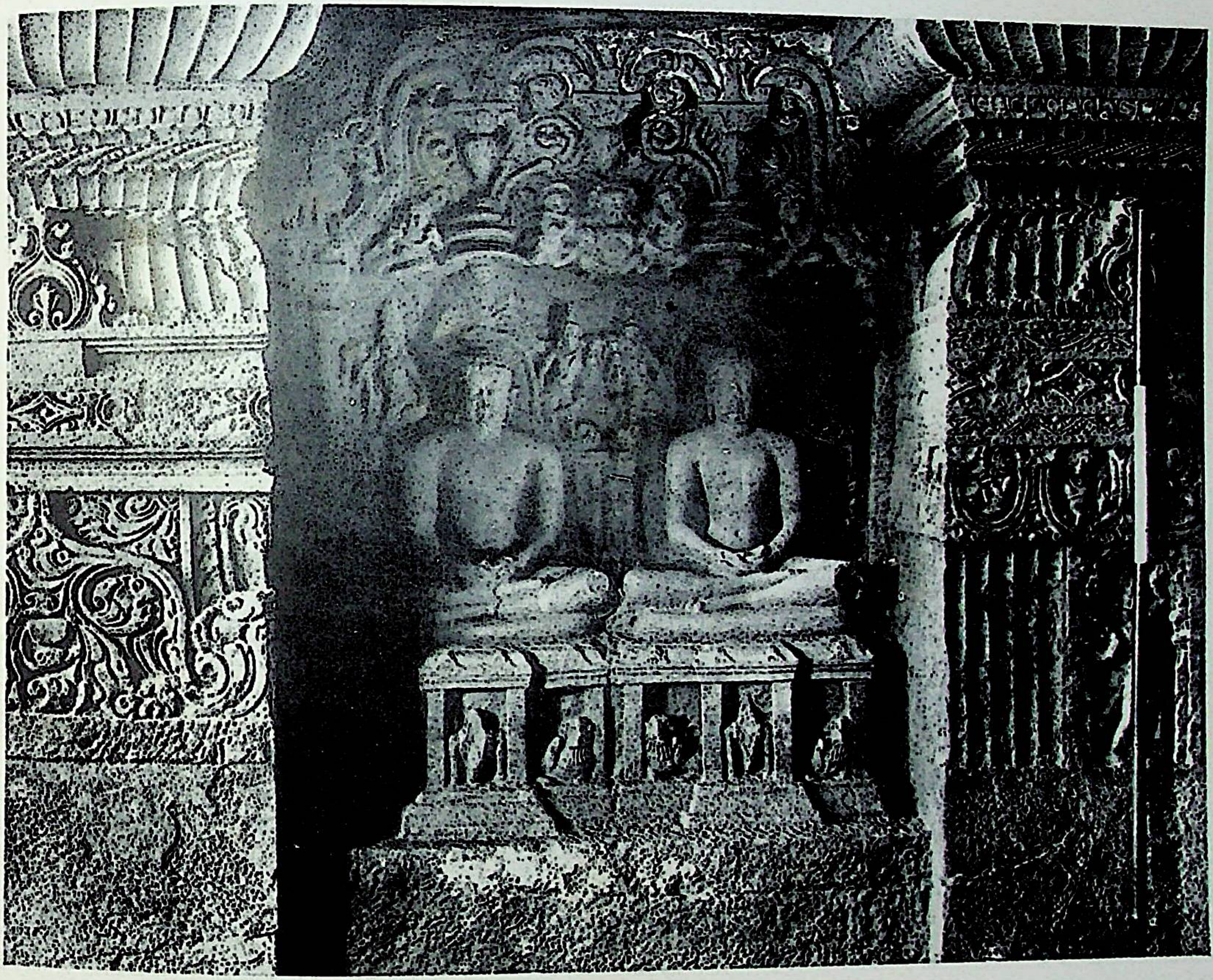

एलोरा — तीर्थंकर, गुफा सं० 33

चित्र 123

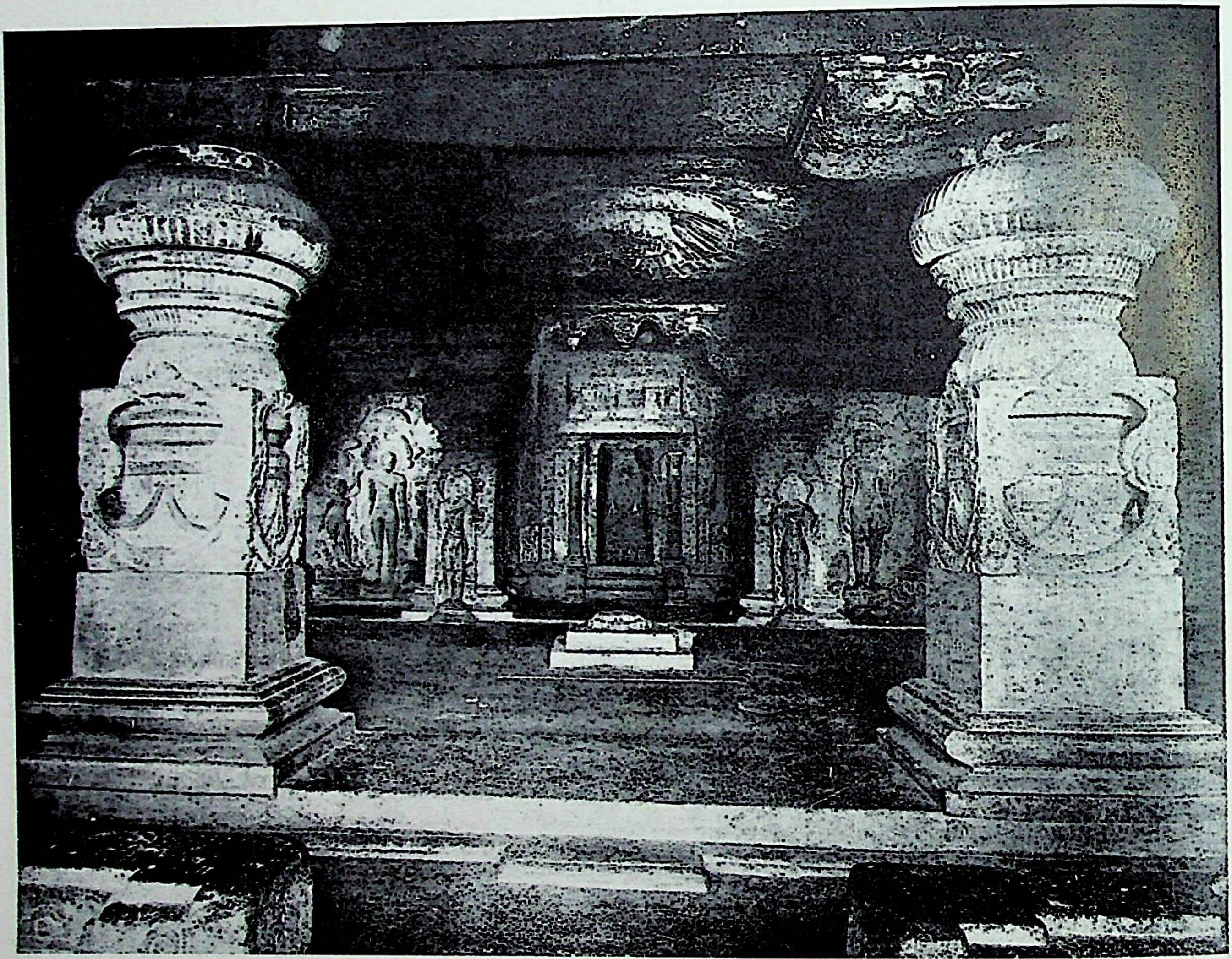

एलोरा — गुफा सं० 33, अंतः भाग

चित्र 124

का चौक निचले खण्ड से छोटा तथा कम ऊँचाई का है। इसमें चतुर्दिक प्रक्षिप्त चार नासिकाएँ हैं, किंतु हार की शालाएँ या कूट नहीं हैं। नासिका-तोरण सिंहमुखी कंगूरों से आवेष्टित हैं। तीसरे खण्ड का चौक और भी छोटा तथा कम ऊँचा है। इसमें हार के अंगकूट शाला या पंजर कुछ भी नहीं है, किंतु चारों कोनों की चोटी पर चार सिंह बने हैं जो जैन मंदिरों के विशिष्ट प्रतीक हैं और शास्त्रोक्त मान्यता के अनुसार बनाये गये हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार शीर्षस्थ खण्ड भूमितल के गर्भगृह में जिस तीर्थंकर की मुख्य प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाये उसके प्रतीक या वाहन को विमान के शीर्षस्थ खण्ड के कोनों पर अंकित किया जाना चाहिए। अष्टभुजी ग्रीवा शिखर के आठ कोणों से लघु महानासिकाएँ ढलुवाँ छत की भाँति बाहर की ओर निकली हुई हैं।

छोटा कैलास एवं चौमुख में बृहत् कैलास की भाँति आठवीं शती की विमान-मंदिर-शैली की सभी विशिष्टताएँ विद्यमान हैं। छोटे कैलास की अपेक्षा चौमुख मंदिर स्थापत्य की अधिक सरल एवं भव्य कृति है।

निर्मित मंदिर

प्रस्तर-निर्मित रचनाओं के आद्यरूपों में पूर्ववर्ती चालुक्यों द्वारा उनकी राजधानियों बादामी, महाकुटेश्वर तथा ऐहोले और पटडकल नगरों में निर्मित कुछ जैन रचनाएँ हैं जिनमें ऐहोले का मेगुटी मंदिर (चित्र १२० ख) अपनी उत्कृष्टता एवं आधारशिला के पुरालेखीय साक्ष्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अभिलेख संस्कृत पद्य के रूप में है, जो कोई सामान्य रचना नहीं है, वरन उस युग की प्रशंसात्मक काव्य-रचना का सुंदर उदाहरण है। अभिलेख में पुलकेशी-द्वितीय के राज्यकाल में सन् ६३४ में इस मंदिर के निर्माण का वर्णन है। इसमें पुलकेशी-द्वितीय की विभिन्न विजय-यात्राओं का भी विवरण है एवं इसके रचयिता रविकीर्ति की प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना कालिदास और भारवि से की गयी है।

यह मंदिर मुख्यतः बंद-मण्डप प्रकार का चौक है जिसमें मध्य के चार स्तंभों के स्थान पर गर्भगृह है। इसकी एक बाहरी भित्ति बारह सीमावर्ती भित्ति-स्तंभों को जोड़ते हुए बनायी गयी है। इस प्रकार भीतर और बाहर की भित्ति के बीच में परिक्रमा करने के लिए सांधार-मार्ग बन गया है। इससे बने गर्भगृह की छत पर एक और मंदिर बना है। मुख्य गर्भगृह के तीन ओर अंतिम पार्श्ववर्ती कोनों और मध्यवर्ती खण्ड में पाँच कक्ष बनाये गये, जबकि सामने के खण्ड और पूर्ववर्ती कोनों के समानांतर क्षेत्रों में एक आड़े ढंग का आयताकार मण्डप है। पीछे के दो कक्ष मुख्य गर्भगृह की भाँति वर्गाकार, किंतु अपेक्षाकृत छोटे हैं और गर्भगृह के समानांतर न होकर थोड़ा पीछे की ओर होते हुए दो पार्श्व मंदिरों का निर्माण करते हैं। उनके साथ उसी पंक्ति में मुख्य गर्भगृह के पार्श्ववर्ती दो आयताकार कक्ष हैं। दोनों अंतराल-मण्डप के रूप में हैं तथा सामने के संयुक्त मण्डप की ओर खुलते हैं। अंतराल-मण्डपों की छत समतल है जबकि पीछे के वर्गाकार कक्षों की छत ढलुवाँ है।

संयुक्त मण्डप की छत भी इसी प्रकार ढलुवाँ है। इस प्रकार इस मंदिर की संरचना त्रिकूट (तीन मंदिरों का समूह) का अद्भुत रूप है जिसमें तीनों मंदिर एक पंक्ति में और एक ही विस्तार के न हो होकर पार्श्व के दो अपेक्षाकृत छोटे हैं और बड़े गर्भगृह के पीछे हैं। समस्त संरचना का निर्माण एक गोटायुक्त अधिष्ठान पर सीधी मान-सूत्र रेखा में हुआ है, जिसके प्रत्येक ओर चार शाखीय प्रक्षेप बने हुए हैं। दो प्रक्षेप दो कोनों पर हैं और दो वीच में हैं जिससे उनके मध्य में तीन संकीर्ण आले बन गये हैं। आधारभूत उपान और जगति गोटों के ऊपर त्रिपट्ट प्रकार का कुमुद गोटा है। बादामी गुफा सदृश गणमूर्तियों की अवलियों के साथ कुमुद गोटे पर कण्ठ का आधिक्य है। कण्ठ के ऊपर कुछ-कुछ अंतर पर कुडु अलंकरण सहित कपोत बनाये गये हैं जिससे कपोत-बंध-प्रकार के अधिष्ठान का निर्माण हुआ है। अधिष्ठान से ऊपर की भित्ति शिल्पांकनों और देव-कुलिकाओं से युक्त है। शिल्पांकनों के वीच-वीच में एक रूप के सपाट चतुर्भुजी भित्ति-स्तंभ हैं, जिनके शीर्ष पर कलश (लशुन), ताडि (पुष्पासन), कुम्भ, पालि एवं फलक बनाये गये हैं। पोतिकाओं के सिरे भव्य रूप में मुड़े हुए हैं और तरंग में सादा मध्यपट्ट हैं। प्रस्तर या सरदल भी अधिष्ठान की भाँति कुण्डलित कपोत और कुडु-अलंकरणों से सज्जित है जो उत्तीर (शहतीर) और वलभी के ऊपर आ जाते हैं। वलभी से ऊपर की ओर निकलते हुए दण्डिकावत् प्रक्षिप्त आधार है जो कपोत-प्रक्षेपों के लिए टेक का काम देते हैं। प्रस्तर पर अवशिष्ट चिह्नों से स्पष्ट है कि वहाँ पहले कूटों और शालाओं का हार था। ये कूट भित्ति के कोनों और प्रस्तर पर थे, जिसके कारण उनका नाम कर्ण-कूट पड़ गया। कोने की ओर मध्यवर्ती शिला-फलकों या प्रत्येक ओर के भद्रों पर सादे देवकोष्ठ मूर्तियों को रखने के लिए बने हैं जिनमें अब मूर्तियाँ नहीं हैं। पार्श्व तथा पीछे की भित्तियों के आलों में पार्श्व तथा मध्यवर्ती कक्षों के अंतरालों को प्रकाशित करने के लिए जालीदार गवाक्ष हैं। मंदिर के वाह्य भित्ति-स्तंभ की शैली, देवकोष्ठ, आले, प्रस्तर-संरचना, अवशिष्ट अनर्पित-प्रकार का हार, ऊपरी तल जो ग्रीवा, शिखर और स्तूपी (जिनके होने से ऊपरी तल की रचना अष्टकोणीय होती) से रहित ये समस्त विशेषताएँ स्पष्ट संकेत देती हैं कि यह मंदिर दक्षिणी विमान-शैली का है। यहाँ इतना कह देना उचित होगा कि चालुक्य और राष्ट्रकूट काल के ऐहोले तथा अन्य चालुक्य क्षेत्रों के सारे जैन मंदिर दक्षिणी या विमान-शैली के हैं जबकि तत्कालीन व्राह्मण्य मंदिर उत्तर भारतीय रेख-प्रासाद शैली के भी हैं।

मेगुटी-मंदिर की मुख्य संरचना में अर्ध मुख-मण्डप भी जुड़ा हुआ है जो आयताकार है। इसके समक्ष सीढ़ियाँ हैं। अधिष्ठान, भित्ति-स्तंभ और प्रस्तर मुख्य मंदिर की भाँति ही हैं। इसी मण्डप की दक्षिणी भित्ति के शिलापट्ट पर पुलकेशी का अभिलेख अंकित है, अतः इसे मुख्य मंदिर का अभिन्न अंग ही मानना चाहिए। इस प्रकार मंदिर की मूलभूत रूपरेखा में मुख्य भवन, केन्द्रीय गर्भगृह, वाह्य तथा अंतःभित्तियों के वीच का सांधार-पथ और सामनें अर्धमण्डप है। सांधार-पथ की भित्तियों को पीछे और पार्श्वभाग में विभक्त करके अंतराल सहित उपमंदिरों की रचना व्राद में की गयी लगती है। इस संपूर्ण रचना में एक विशाल महा-मण्डप भी सामने के भाग में निर्मित है जो किंचित् परवर्ती रचना है किंतु शैली इसकी भी लगभग समान ही है। सभी मूल प्रतिमाएँ नष्ट हो चुकी हैं। केवल

पिछली भित्ति पर उत्कीर्ण वर्द्धमान की एक बड़ी पद्मासन मूर्ति तथा उनकी यक्षी सिद्धायिका की मूर्ति अवशिष्ट है। सिद्धायिका की मूर्ति अब सामने की वीथी में रख दी गयी है।

भागलकोट से बीस किलोमीटर दूर हल्लूर में मेगुडी नामक जैन मंदिर ऐहोले के मेगुटी मंदिर से न केवल नाम वरन् रूपरेखा में भी समान है। ऐसा नहीं लगता कि ऐहोले का मंदिर हल्लूर के मेगुडी मंदिर से विशेष कालांतर में वनाया गया होगा। किन्तु इसके प्रथम तल के गर्भगृह के शिखर की अधिरचना से स्पष्ट है कि यह मंदिर अधिक परिरक्षित है। इसमें अर्धमण्डप के दोनों ओर की भित्तियों पर बनी देवकुलिकाएँ एवं छत पर पहुंचने के लिए अखण्ड-शिला पर उत्कीर्ण सीढ़ियाँ चालुक्य राज्य में प्रचलित आद्य प्रथाओं के प्रयोग का प्रमाण हैं। इस मंदिर को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जा सकता है।

ऐहोले में अन्य जैन मंदिर भी हैं, यथा, येनियवार्गुडि, योगी-नारायण समूह, एवं चारण्टी मठ। येनियवार्गुडि समूह में छह मंदिर हैं, जिनमें से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है और प्रवेश उत्तर की ओर से एक स्तंभयुक्त मुख-मण्डप में होकर। मुख-मण्डप के चार स्तंभ हैं और वह सभा-मण्डप के साथ संलग्न है। मुख-मण्डप दसवीं शताव्दी की शैली में वना है और उसके सामने एक ध्वज-स्तंभ है। सरदलों पर ललाट-विम्ब के रूप में गजलक्ष्मी का अंकन है। अधिष्ठान के ऊपर वेदी या व्यालवरि का अभाव है, किन्तु उसपर उपान, पद्म, कण्ठ, त्रिपट्ट-कुमुद, गल एवं प्रति निर्मित हैं। भित्तियाँ शिल्पांकित तथा अंतरालयुक्त हैं जिनमें क्रमशः कर्ण, केन्द्रीय भद्र और दो मध्यवर्ती अनुरथ प्रक्षेप हैं। अनुरथों पर विमान-पंजर अलंकरण हैं जो देवकोष्ठों को परवेष्टित किये हुए पास-पास निर्मित युगल भित्ति-स्तंभों पर सुशोभित हैं। प्रस्तर के उत्तीर पर हंसवलभी, किंचित् प्रक्षिप्त कपोत तथा शीर्ष पर वेदी और व्यालवरि हैं, जिनपर हार के अंग निर्मित हैं। विमान के दो तल हैं किन्तु उसके शीर्षभाग से ग्रीवा, शिखर एवं स्तूपी लुप्त हो गये हैं। फिर भी जो अंग अवशिष्ट हैं उनसे स्पष्ट है कि यह मंदिर विशिष्ट दक्षिणी विमान-शैली का है जो नौवीं-दसवीं शताब्दियों में इस क्षेत्र में विकसित हुई और जिसके आधार पर इस मंदिर की तिथि प्रारंभिक या मध्य दसवीं शती निश्चित की जा सकती है। समीपस्थ मंदिर तथा उप-मंदिर कम महत्त्व के हैं, रिक्त हैं, और अब उनमें कोई भी उल्लेखनीय मूर्ति अवशिष्ट नहीं है।

इस समूह का सबसे भीतरी मंदिर दक्षिणमुखी है। इसके सामने चार अलंकृत स्तंभों का आयताकार यथा आवृत मुख-मण्डप है, मण्डप की भित्तियों पर निर्मित अर्धस्तंभ सादा और चतुर्भुजी हैं। मण्डप के चारों स्तंभ प्रारंभिक चालुक्य शैली के विकृत रूप हैं। इनमें आधारपीठ पर शदुरस चौकी है। दण्ड छोटे और धारीदार हैं, जिनमें ऊपर की ओर के निकट वृत्तखण्ड हैं, स्तंभों पर पालि या पद्म और फलक का प्रयोग नहीं किया गया है। इनकी पोतिकाओं (धरनों) की भुजाएं प्रवणित (ढलुवाँ) हैं जिनपर तरंग शिल्पांकन और मध्य में सादी धारियाँ हैं। मेगुडी मंदिर की भाँति, इसकी छत समतल है और उसपर मुंडेरें बनी हुई हैं। नीचे की ओर छत ढलुवाँ है जिससे स्पष्ट है कि कक्ष

सदृश ही सही किन्तु मण्डप शैली तथा दक्षिणी विमान शैली की मंदिर-संरचना का सम्मिश्रण पर्याप्त समय तक जारी रहा था। अधिष्ठान साधारण प्रकार का है जिसपर उपान और पद्म निर्मित हैं।

दूसरे मंदिर-समूह का केन्द्रीय मंदिर अपनी अलंकृत द्वार-रचना के लिए प्रसिद्ध है। यह द्वार गर्भगृह के प्रवेशद्वार से पूर्व बना है। गर्भगृह में एक वृत्ताकार पीठ पर लिंग स्थापित है। सामने के अर्धमण्डप का क्षेत्र गर्भगृह जितना ही है। इसके पूर्व बने नवरंग में दोनों कोनों पर दो उपमंदिर हैं जो पटडकल के प्रसिद्ध विरुपाक्ष एवं अन्य मंदिरों का स्मरण दिलाते हैं। नवरंग के स्तंभ सकूटिक कुम्भवाले हैं। उनकी पोतिकाओं की रचना किंचित् नतोदर है और मुंडेरों से युक्त पार्श्व वितान ढलुवाँ हैं। अधिष्ठान सामान्य मंच प्रकार का है और नींव के सादे रद्दों पर बनाया गया है। प्रक्षिप्त आड़ी कपोतिका मुख-मण्डप के आंतरिक खण्ड पर समाप्त होती हुई मंदिर के कपोत से मिल जाती है।

विरुपाक्ष मंदिर के समीप योगीनारायण मंदिर-समूह में मुख्यतः पूर्व-पश्चिम कोने में स्थित एक बड़ा पूर्व-मुखी मंदिर है। इसका मुख्य भाग त्रिकूट अर्थात् तीन-मंदिर-समूह है। तीनों मंदिरों की एक सामूहिक वीथिका है जो एक स्तंभयुक्त बाह्य-मण्डप की ओर निकलती है। बाह्य-मण्डप भी इस मंदिर-समूह का सामूहिक मण्डप है। बाह्य-मण्डप के सामने मुखमण्डप है जिसमें कक्षासन, संकीर्ण अंतराल और एक गर्भगृह है। गर्भगृह में अवशिष्ट पादपीठ और उसपर अंकित चिह्नों से ज्ञात होता है कि अनुचरों तथा टिरुवाची के साथ महावीर की मूर्ति विराजमान थी। महावीर की मूर्ति के स्थान पर अब कार्तिकेय की प्रतिमा है। त्रिकूटाचल मुख्य-मंदिर में गोटायुक्त अधिष्ठान है जिसपर उपान, पद्म, कर्णिक, कपोत, एवं व्यालवरि बने हैं। भित्तियाँ सादी और कुड्य-स्तंभविहीन हैं। मंदिर के प्रस्तर और हार विशुद्ध दक्षिणी विमान-शैली के हैं। त्रितल विमान के तीसरे तल पर भी हार के कूट और शालाएँ हैं जो एक पुरातन परिपाटी है। शीर्ष पर शुण्डाकार गृहपिण्डि है। विमान के ग्रीवा और शिखर लुप्त हो गये हैं। मुख्य मंदिर के समक्ष विशिष्ट शुकनासा प्रक्षिप्त है। त्रिकूट के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की पालिशदार पत्थर की मूर्ति है। सामनेवाले मंदिर की अपेक्षा मुख्य मंदिर अधिक प्राचीन ज्ञात होता है क्योंकि इसके स्तंभों की रचना भिन्न प्रकार की है। स्तंभ कुण्डलित दण्ड के समान नहीं हैं, न ही वे काले पत्थर से बनाये गये हैं; वे पूर्व-मध्यकालीन शैली में बलुआ पत्थर से निर्मित हैं। सामूहिक वीथिका के कन्नड़ अभिलेखों, मंदिर की शैली तथा अन्य लक्षणों के अनुसार इसे येनिय-वार्गुडि वर्ग का ही मानना चाहिए।

ऐहोले का चारण्टी मठ वर्ग मह्निगुडि और त्रयम्बकेश्वर मंदिरों की भाँति है। लगता है कि चारण्टी मठ किसी समृद्ध जैन बस्ती का केन्द्र था। मंदिर की मुख्य संरचना उत्तरमुखी है। प्रवेश के लिए स्तंभयुक्त द्वार मण्डप है जो अपने से अधिक बड़े सभा मण्डप की ओर ले जाता है। सभा मण्डप में चार स्तंभ हैं और वह पीछे की ओर एक सँकरे अंतराल के माध्यम से मुख्य विमान से जुड़ा हुआ

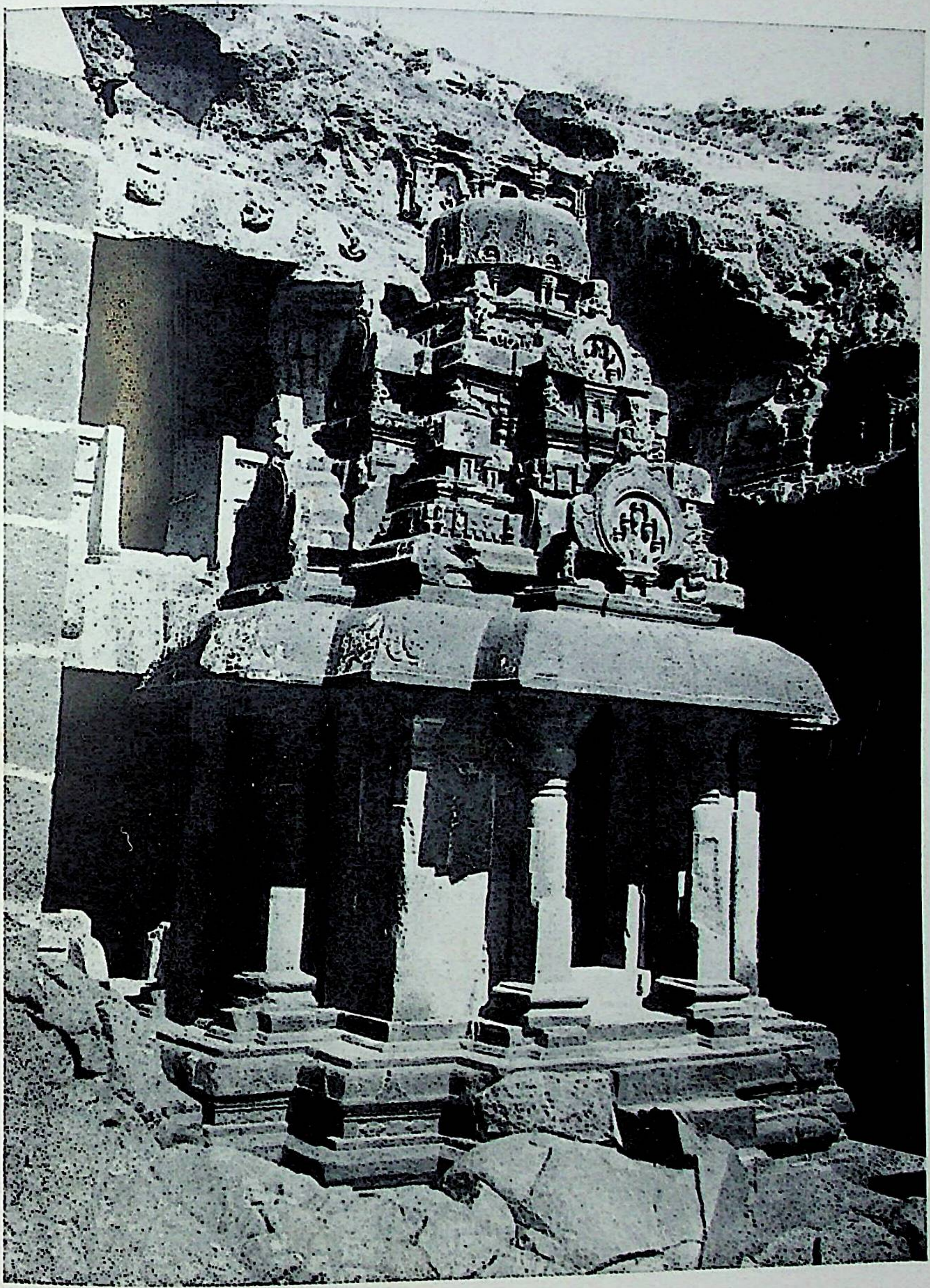

एलोरा — विमान-मन्दिर, गुफा सं० 33

चित्र 125

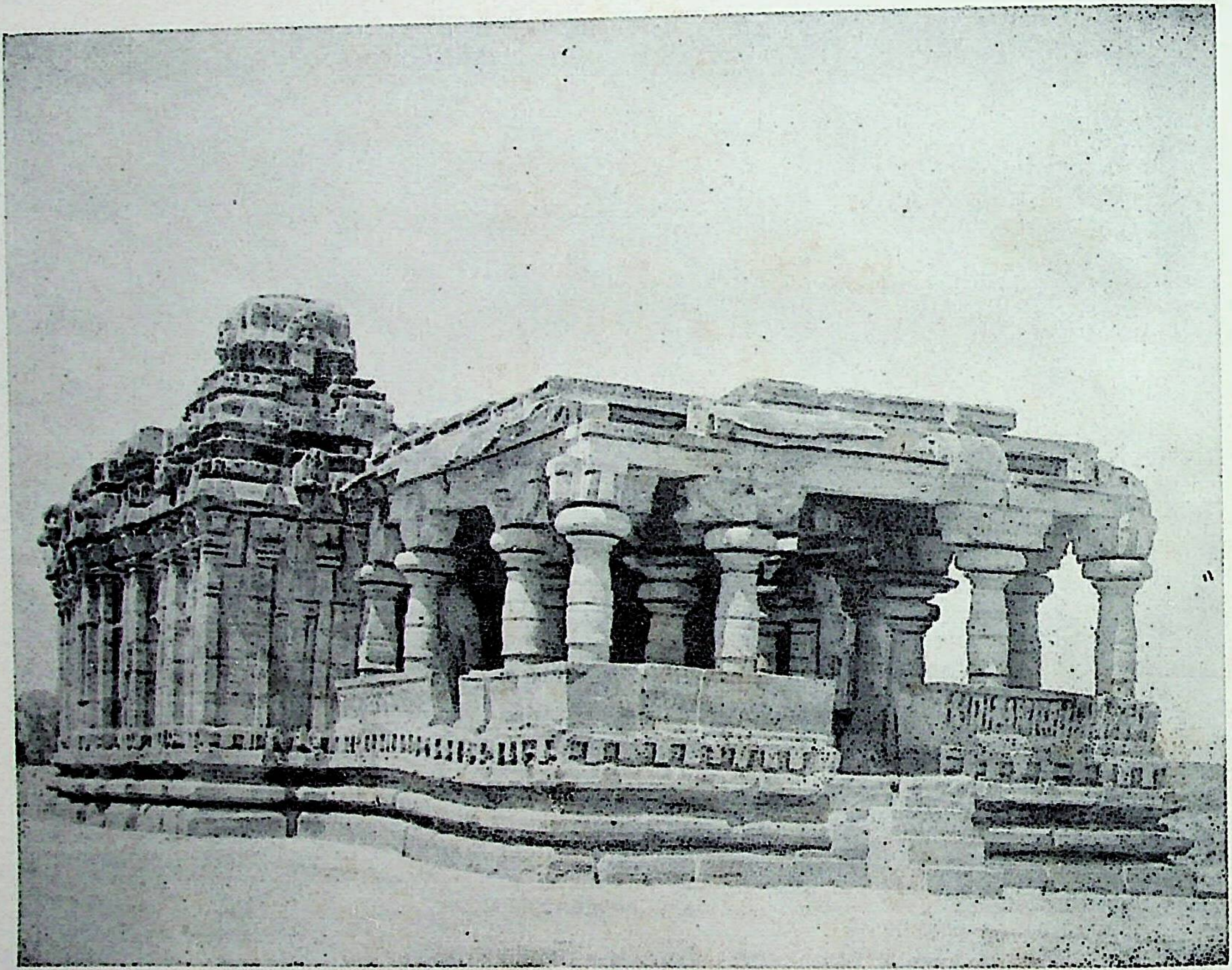

पटड्कल — जैन मन्दिर

चित्र 126

है। गर्भगृह में महावीर की पद्मासन मूर्ति है। जैसीकि जैन विमानों की विशेषता है, मुख्य मंदिर के दूसरे तल पर एक और मंदिर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए अखण्ड शैलोत्कीर्ण सीढ़ियाँ हैं, जो सभा मण्डप के उत्तरी-पूर्वी कोने पर हैं। सीढ़ियों के ऊपर एक द्वारक है जिससे खुली छत पर जा सकते हैं। ऊपरी तल के मंदिर में एक कक्ष और अग्रमण्डप है। अधिष्ठान पर उपान, पद्म, कण्ठ, त्रिपट्ट-कुमुद, गल और कपोत-बंध हैं। चालुक्य क्षेत्र में इसी प्रकार के अधिष्ठान का प्रचलन था। भित्तियों पर सादे प्राचीर-स्तंभ हैं जिनके शीर्ष पर प्रवणित धरनें हैं। अधिष्ठान एवं भित्तियों का विन्यास-सूत्र (रूपरेखा) चारों ओर से सीधी और प्रक्षेप या अंतरालविहीन है, जबकि येनियवागुंडि में ऐसा नहीं है। भित्तियों के केन्द्रीय और बाहरी भाग वेदिकायुक्त विमान-पंजरों द्वारा अलंकृत हैं। प्रस्तर पर बना हार येनियवागुंडि से कहीं अधिक रीत्यानुसार बनाया गया है। शिखर विशिष्ट दक्षिण शैली का है।

सभा-मण्डप के दोनों ओर छोटे मार्गों से जुड़े दो उपमंदिर हैं जिनमें से पूर्वी मंदिर में गर्भगृह और मुखमण्डप हैं तथा पश्चिमी मंदिर में गर्भगृह और अंतराल हैं। दोनों ही मंदिर बाद में बनाये गये लगते हैं। दोनों मंदिरों में सरदल के ऊपर ललाट-बिम्ब के रूप में तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं, किन्तु दोनों गर्भगृहों से मूर्तियाँ लुप्त हो गयी हैं। मंदिर की भित्ति पर अंकित १११६ ई० के कन्नड़-अभिलेख में परवर्ती चालुक्य राजवंश के राजा त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य-षष्ठ के समय में 'अय्यावोले के ५०० स्वामियों' (स्थानीय वाणिज्यक संघ) के व्यापारी द्वारा मंदिर की मरम्मत तथा कुछ नवनिर्माण करवाने का भी उल्लेख है। इस अभिलेख से मंदिर के निर्माण की अद्यावधि तिथि का ज्ञान होता है। स्पष्टतः, मंदिर का मुख्य भाग पर्याप्त समय पूर्व निर्मित हुआ होगा।

मंदिर के उत्तरी भाग में द्वार-मण्डप के समीप निर्मित उपसंरचना में दो मंदिर हैं जिनमें सामूहिक कक्ष, वीथी और दो ओर से प्रवेश के लिए सीढ़ियाँ हैं। भीतरी और बाहरी तोरण, वीथी के अग्रभाग पर प्रक्षिप्त कपोत, स्तंभयुक्त मण्डप एवं कक्ष – मूर्तियों के शिल्पांकनों से प्रचुर मात्रा में अलंकृत हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो फलक प्रवेश-द्वार के सरदल पर हैं जिनमें २४ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं।

समीपस्थ मठ (जिसके साथ एक आयातकार वीथी है) के द्वार की कपोतिका पर विमान अनुकृतियाँ अंकित हैं जो उत्तरी शैली की प्रतीत होती हैं; और पीठिका पर समकालीन तथा परवर्ती अनुकृतियाँ अंकित हैं जो सुदूर दक्षिण के होयसल क्षेत्र में प्रचलित थीं। मठ के अन्य अवयव ग्यारहवीं शती तथा पश्चातकालीन परवर्ती-चालुक्य-वास्तुकला के प्रारंभिक चरण के अनुसार हैं। इस स्थापत्य के अवशेष गडग, लक्कुण्डी एवं डम्बल इत्यादि स्थानों में पाये गये हैं।

राष्ट्रकूट काल और परवर्ती चालुक्यों के प्रारंभिक काल में, या किंचित् आगे-पीछे, पटडकल की सीमा पर निर्मित जैन विमान (चित्र १२६) एक विशिष्ट वास्तु-स्मारक है। यह तीन तल का सांधार-विमान है और आधार से शिखर तक चौकोर है। अधिष्ठान कम ऊंचा है और उसपर सामान्य

कपोत-वंध हैं। कपोतों की कुडु सदृश तोरणाकार नासिका लुप्त हो गयी है जिसके कारण वहाँ सपाट त्रिभुजी शिल्पांकन बन गया है जो परवर्ती चालुक्य और होयसल मंदिरों की दंतावलियों-जैसा लगता है। भित्ति-स्तंभों के शीर्ष का मूल रूप नष्ट हो चुका है और अवयवों का सौष्ठव पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है। विमानवाला भाग नवरंग मण्डप से अंतराल के माध्यम से जोड़ दिया है। नवरंग की भित्ति में प्रत्येक ओर सात खण्ड हैं जिनके वीच-वीच में छह अंतराल हैं। अंतराल नासिकाग्रों द्वारा अलंकृत हैं जिनमें पद्मासन तीर्थंकर-मूर्तियाँ तथा अन्य मूर्तियाँ हैं। निचले तल के मण्डप के प्रस्तर एवं अंतराल के कोने पर कूटों का हार है जिनके वीच में एकांतर क्रम से शाला और पंजर हैं। हार में शाला और कूट के आद्य रूप के साथ पंजर का समावेश इस बात का द्योतक है कि यह मंदिर आठवीं शती या परवर्ती काल का है। निचले तल की भित्तियाँ दुगुनी या सांधार हैं, शीर्ष का हार अनर्पित प्रकार का है, ऊपरी मंदिर के गर्भगृह की भित्तियाँ निचले तल की अन्त:भित्ति का ही विकास करके बनायी गयी हैं। अंतराल के सामने की भित्ति पर आधार भाग की शुकनासा द्रष्टव्य है जो अधिरचना के सामने प्रक्षिप्त है। ऊपरी तल के प्रस्तर के तीन ओर के चार कोनों पर चार कर्णकूट वने हैं एवं उनके पीछे, मध्य और पार्श्वों में शालाएँ हैं। कर्णकूटों के मध्य अग्रभाग में शुकनासा होने के कारण शाला वनाने का कोई स्थान ही नहीं था। कम लम्बाई-चौड़ाई के तीसरे तल के अग्रभाग को छोड़कर शेष शिल्पांकित हैं। अग्रभाग का विस्तार शुकनासा के ऊपरी स्तरों तक किया गया है। शिल्पांकित भागों पर उत्तर भारतीय मंदिरों की भाँति उद्गम प्रतीक बने हैं। ग्रीवा के ऊपर वर्गाकार शिखर, जिसकी रचना में वारंबार प्रक्षिप्त फलक बने हैं, परवर्ती चालुक्य मंदिरों की परिवर्तित वारह कुण्डलित अवयवों की शैली के अनुरूप है। ऐसा ही निचले तल में भी है। आवृत नवरंग के सामने अनेक स्तंभोंवाला अग्रमण्डप है जिसमें प्रवेश-खण्ड के अतिरिक्त सारी परिधि में स्तंभ हैं; जो कक्षासन द्वारा जोड़े गये हैं। नवरंग के सामने की परिधि-क्रम के दो आंतरिक स्तंभों के अतिरिक्त अन्य सभी स्तंभ वलुआ पत्थर के होते हुए भी आंशिक रूप से कुण्डलित हैं जो परवर्ती चालुक्य एवं होयसल काल के स्तरीभूत पत्थर या सेलखड़ी से वने पूर्ण कुण्डलित स्तंभों के पूर्वरूप प्रतीत होते हैं।

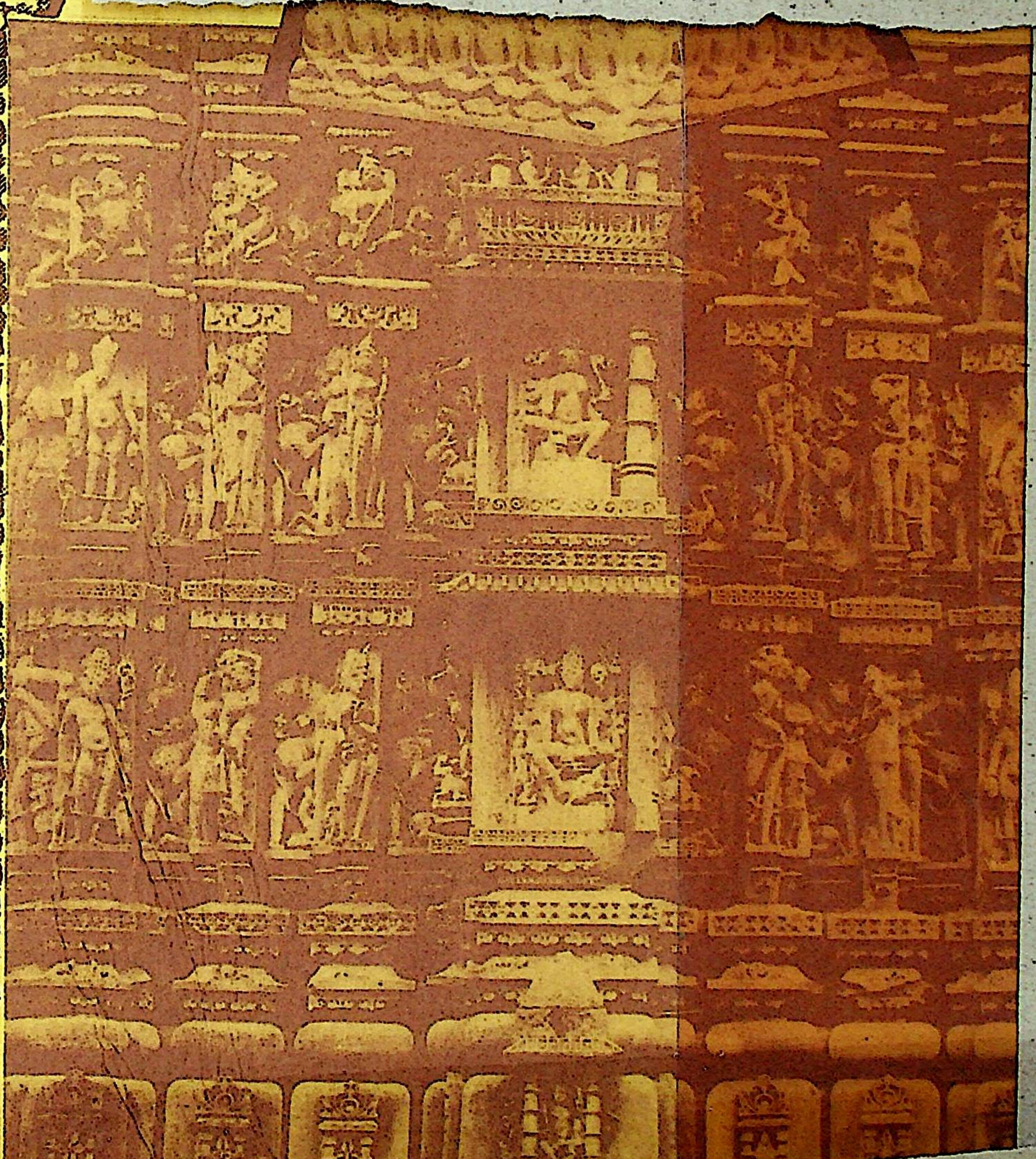के० आर० श्रीनिवासन